विषय-सूची

(ग्रन्थक्रमानुसार)

१—विषय के आगे निर्दिष्ट अङ्क सूत्र-संख्या है।

द्वितीय अध्याय, प्रथम आह्निक

द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक

तृतीय अध्याय, प्रथम आह्निक

तृतीय अध्याय, द्वितीय आह्निक

चतुर्थ अध्याय, प्रथम आह्निक

चतुर्थ अध्याय, द्वितीय आह्निक

पञ्चम अध्याय, प्रथम आह्निक

पञ्चम अध्याय, द्वितीय आह्निक

षष्ठ अध्याय, प्रथम आह्निक

षष्ठ अध्याय, द्वितीय आह्निक

सप्तम अध्याय, प्रथम आह्निक

सप्तम अध्याय, द्वितीय आह्निक

अष्टम अध्याय, प्रथम आह्निक

अष्टम अध्याय, द्वितीय आह्निक

नवम अध्याय, प्रथम आह्निक

नवम अध्याय, द्वितीय आह्निक

दशम अध्याय, प्रथम आह्निक

दशम अध्याय, द्वितीय आह्निक

• • •

ओ३म्

वैशेषिकदर्शनम्

विद्योदयभाष्यसहितम्

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

भारतीय वैदिक दर्शनों में वैशेषिकदर्शन प्रारम्भिक पदार्थ-विद्या का विवरण प्रस्तुत करता है। न्यायदर्शन वैशेषिक का समानशास्त्र माना जाता है। ये दोनों शास्त्र मिलकर किसी समान अर्थ का उपपादन करते हैं। अथवा कहना चाहिये, कि ये शास्त्र अपने विशेष प्रतिपाद्य अर्थ का विवरण प्रस्तुत करते हुए एक-दूसरे के पूरक हैं। वैशेषिक जहां पदार्थ और उनके धर्मों का उल्लेख, संगणन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहां न्यायदर्शन उन पदार्थों व धर्मों के जानने समझने की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण करता है।

इस दिशा में न्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। समस्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिये लिखा गया है। न्याय के प्रथम सूत्र में जिन सोलह विधाओं का संक्षेप से निर्देश है, उनमें प्रमेय के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिये है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है।

न्यायशास्त्र में आत्मा आदि बारह प्रमेय गिनाये हैं। गंभीरता से देखा जाय, तो इनमें 'आत्मा' मुख्य है। शेष—शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (रूप, रस आदि), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग ये सब आत्मा से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिये है। सूत्रकार ने शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण के लक्ष्य-क्षेत्र में आत्मा को विशेष स्थान देकर उसका और तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का 'प्रमेय' में परिगणन कर दिया है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के आशय को अन्तर्दृष्टि से समझकर शास्त्र के प्रारम्भ में समस्त यथार्थता व 'तत्त्व' को चार विधाओं में परिसमाप्त माना है - प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति। वस्तुतः अर्थतत्त्व को समझने और

उसके विवेचन की यह उपयुक्त प्रक्रिया है। इस प्रकार के समझने और विवेचन का प्रधान आधार 'प्रमाण' है। उसीका निरूपण पूर्णतया सांगोपांगरूप से न्याय-शास्त्र में हुआ है। वह अर्थतत्त्व क्या है, जो इन प्रमाणों का विवेच्य है ? इस भाग को वैशेषिक-दर्शन पूरा करता है। यद्यपि गौतमीय न्यायसूत्रों में प्रमाणों के विवेच्य प्रमेय पदार्थ का उल्लेख हुआ है, तथापि सूत्रव्याख्यान में जहां समस्त पदार्थ के निर्देश का अवसर आया है, वहां सूत्रकार के आशय को समझते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने एकाधिक बार वैशेषिक प्रतिपाद्य द्रव्यादि छह भाव पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है[1]; गौतमीय सूत्रों के प्रमेय का नहीं।

प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'न्याय' है। ऐसे शास्त्र —जिनमें पदार्थविद्या का विवेचन हुआ है—आन्वीक्षकी विद्या के अन्तर्गत माने जाते हैं। आन्वीक्षकी विद्या में सांख्य, योग और लोकायत दर्शन[2] का नाम लिया जाता है, इन दर्शनों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं भौतिक तत्त्वों का मुख्यतया विस्तृत विवेचन हुआ है।

उक्त तीन नामों में 'योग' पद वैशेषिक व न्यायदर्शन के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस पद का इसी अर्थ में प्रयोग गौतमीय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने किया है[3]। प्रतीत होता है, इस पद का प्रयोग किसी काल में पातञ्जलदर्शन तथा काणाद-गौतमीयदर्शन दोनों के लिये होता रहा है। आकृति व उच्चारण से पद समान होने पर भी धात्वर्थ के आधार पर इनका भेद है। पातञ्जलदर्शन के लिये 'योग' पद 'युज समाधौ' धातु से तथा काणाद-गौतमीयदर्शन के लिये 'युजिर् योगे' धातु से निष्पन्न होता है। परमाणुओं के योग से सृष्टि-प्रक्रिया मानने के कारण न्याय-वैशेषिक के लिए 'योग' पद का प्रयोग किया जाता रहा। कालान्तर में इस पद का प्रयोग लुप्त हो गया; समाधि अर्थवाला 'योग' प्रचलित रहा। आज साधारणरूप में यही जाना जाता है।

परमकारुणिक महर्षि कणाद ने—इन सब भावनाओं के साथ यह समझते हुए कि सर्वसाधारण जन जिस वातावरण के बीच रहता है, एवं उसके चारों ओर

१. द्रष्टव्य, न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य, २।१।३४॥ तथा ४।१।३८॥
२. सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी, कौट० अर्थ० १।२।१०॥
३. द्रष्टव्य, न्यायसूत्र (१।१।२९) का वात्स्यायनभाष्य, वहां पर सांख्यमत निर्देश के अनन्तर भाष्यकार ने लिखा है—'पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः, प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते, उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।' स्पष्ट है, ऐसा मत पातञ्जलयोग का न होकर कणाद-गौतम के दर्शन का है।

जो यह स्थूल जगत् बिछा पड़ा है, उसके विषय में मानव के लिए यथार्थ परिचय देना उसके जीवन की सुविधा के लिए आवश्यक है—प्रस्तुत शास्त्र का प्रवचन किया। सबसे प्रथम प्रतिभाशाली मानव को अपने चारों ओर बिखरे प्राकृतिक पदार्थों के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होना नैसर्गिक है; इसलिए इन व्यक्त भौतिक पदार्थों एवं उनके विशिष्ट धर्मों की व्याख्या की भावना से अपने लक्ष्य को प्रतिज्ञारूप में निर्देश करते हुए शास्त्र का प्रथम सूत्र कहा—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

[अथ] अनन्तर [अतः] इस कारण [धर्मं] धर्म की [व्याख्यास्यामः] व्याख्या करेंगे।

जगत् और जागतिक पदार्थों के विषय में जिज्ञासा रखने वाले विनीत छात्र अब उपस्थित हैं, इस कारण शिष्यों की जिज्ञासा—पदार्थ विषयक जानकारी की आकांक्षा—के अनन्तर धर्म की व्याख्या करने का उपयुक्त अवसर है। इस भावना से महर्षि कणाद ने प्रस्तुत शास्त्र का प्रारम्भ किया।

'अथ' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है[1]। विविध विषयों के प्राचीन ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रायः 'प्रारम्भ' अर्थ में किया गया है[2]। यद्यपि कोषकारों ने अनेक अर्थों में एक अर्थ 'मंगल' भी लिखा है; पर आचार्यों का ऐसा विचार है, कि 'मंगल' इसका अर्थ न होकर केवल इसका उच्चारण मांगलिक अर्थात् मंगल एवं कल्याण का द्योतक माना जाता है[3]। यहां 'अथ' पद के प्रयोग में दोनों भावनाएं हैं। कल्याण की कामना के साथ शास्त्र का प्रारम्भ किया जाता है। इसी-के साथ यह पद 'आनन्तर्य' का बोधक होता है। पदार्थज्ञान की इच्छा रखनेवाले विनीत अन्तेवासी-जनों ने कणाद मुनि के पास आकर निवेदन किया, आपके आश्रम में निवास करते हुए हम पदार्थों के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी इस जिज्ञासा के अनन्तर कणाद मुनि ने प्रस्तुत शास्त्र का आरम्भ किया। क्योंकि जिज्ञासुजनों ने शास्त्र-श्रवण की अभिलाषा अभिव्यक्त की, इसी कारण

१. (क) अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले।
विकल्पानन्तरप्रश्नकात्स्न्यारम्भसमुच्चये ॥　(मेदिनी)
(ख) मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ।　(अमर)

२. अथ शब्दानुशासनम्, महाभाष्य। अथ योगानुशासनम्, पा० यो० द०। अथातो धर्मजिज्ञासा, मीमांसा। अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, वेदान्त। अथ त्रिविधदुःखात्यन्त०, सांख्य।

३. ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

कणाद मुनि ने शास्त्र का प्रवचन किया।

शास्त्र में किसका प्रवचन होगा ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिये शास्त्रकार ने कहा--'धर्मं व्याख्यास्यामः' यहां धर्म का व्याख्यान किया जाएगा ॥१॥

प्रस्तुत शास्त्र में 'धर्म' पद से किस अर्थ का ग्रहण करना चाहिये ? अथवा इस प्रसंग में धर्म का स्वरूप क्या है? इस आशंका का सूत्रकार समाधान करता है--

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

[यतः] जिससे [अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः] अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि (प्राप्ति) होती है, [सः] वह [धर्मः] धर्म है।

जिसके द्वारा अभ्युदय--लौकिक कल्याण अर्थात् वर्तमान जीवन काल में सुख-सुविधाओं की प्राप्ति होती है; तथा निःश्रेयस-मोक्ष की प्राप्ति होती है; वह धर्म है। सूत्रकार ने धर्म का यह तटस्थलक्षण किया, [1]स्वरूपलक्षण नहीं। जिससे अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त हो, इतना मात्र कहने से उस धर्म का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं होता।

प्रायः सभी व्याख्याकारों ने इस 'धर्म' पद का अर्थ 'सत्-आचार, श्रेष्ठ आचार' आदि किया है; परन्तु प्रस्तुत रचना में प्रतिपादित विवरण के अनुसार यह अर्थ सर्वथा महत्त्वहीन है, क्योंकि यहां द्रव्य आदि छह पदार्थ और उनकी विभिन्न साधारण व असाधारण विशेषताओं का वर्णन है, सत्-आचार आदि का नहीं। मनु ने एक स्थल [६।९२] पर धृति आदि दस भावों को धर्म कहा है, और अन्यत्र [२।१२] वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी अनुकूलता, इन चार को साक्षात् धर्म का स्वरूप बताया है। मीमांसाशास्त्र प्रेरणा-वाक्यबोधित क्रिया व अनुष्ठान को धर्म कहता है [१।१।२]। परन्तु वैशेषिक के प्रथम सूत्र में कणाद ने जिस धर्म की व्याख्या करने के लिये प्रतिज्ञा की है, वह धर्म मनु एवं जैमिनि प्रतिपादित धर्म नहीं है। व्याख्याकारों ने प्रायः कणादोक्त धर्म की जो वैसी व्याख्या की है, उसपर किसी प्राक्तन अज्ञात कवि ने यह फबती कसी है, कि--वैशेषिक में प्रतिज्ञात धर्म की व्याख्या मनु आदि द्वारा प्रतिपादित धर्म के रूप में किया जाना ऐसा ही है, जैसे समुद्र की ओर जाने की इच्छा करके हिमालय

१--तटस्थलक्षण वह होता है, जहां बाह्य निमित्त से किसी का निर्देश किया जाय, जैसे--ईश्वर अथवा ब्रह्म वह है, जो जगत् के उत्पादन, स्थिति और प्रलय का कर्ता है। ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है--सत्, चित् आनन्द। इसी-प्रकार--जिससे अभ्युदय, निश्रेयस प्राप्त हो, वह धर्म है; यह धर्म का तटस्थलक्षण हुआ। स्वरूपलक्षण बताना चाहिये।

की ओर चल पड़ना[1]। क्योंकि वैशेषिक में धर्म के व्याख्यान की प्रतिज्ञा कर द्रव्यादि पदार्थों और उनकी विशेषताओं का निरूपण हुआ है, मनु आदि द्वारा कथित धर्म का नहीं।

वैशेषिक सूत्रों के सम्पुटित व्याख्याकार आचार्य प्रशस्तपाद ने कणाद के मनोभाव को अपने प्रथम मङ्गलाचरण श्लोक में स्पष्ट किया है। वह लिखता है—जगत्कर्त्ता ईश्वर को तथा कणाद मुनि को नमस्कार कर, पदार्थ और उनके धर्मों का संकलित विवरण प्रस्तुत किया जायगा; जिससे जगत् के विषय में यथार्थ प्रकाश प्राप्त होगा[2]। श्लोक के 'पदार्थधर्मसंग्रहः' पद ध्यान देने योग्य हैं। पदार्थ द्रव्य आदि, और उनके धर्मों का संग्रह प्रस्तुत शास्त्र में विवक्षित है। वे धर्म हैं—द्रव्यादि पदार्थों की साधारण-असाधारण विशेषताएं।

प्रथम सूत्र में केवल 'धर्म' पद का निर्देश है, पदार्थ अर्थात् धर्मी का नहीं। धर्म से धर्मी की पहचान होती है, गन्ध से पृथिवी पहचानी जाती है, शब्द से आकाश; धर्म, बिना धर्मी के रह नहीं सकता, इसलिये धर्म का निर्देश कर देने पर आवश्यकरूप से धर्मी का ग्रहण हो जाता, है अतः सूत्रकार ने लाघव की भावना से उसका साक्षात् निर्देश करने की उपेक्षा की। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं, कि 'धर्म'पद धर्मी का भी उपलक्षक है। तात्पर्य यह,कि समस्त पदार्थों का धर्म और धर्मी के रूप में निरूपण करना इस शास्त्र का लक्ष्य है।

द्रव्यादि पदार्थ धर्म और धर्मी उभयरूप हैं। एक स्थिति का धर्मी निमित्तान्तर की अपेक्षा से धर्म; तथा एक धर्म इसी प्रकार धर्मी बन जाता है। द्रव्य धर्मी तथा उसका गुण धर्म है। परन्तु इस स्थिति के धर्म गुण में जब 'गुणत्व' सामान्य धर्म का कथन किया जाता है, तब वह गुण धर्मी बन जाता है, इसीप्रकार द्रव्य धर्मी का जब कार्य-कारणरूप में कथन होता है, तब कार्यद्रव्य धर्म और कारण-द्रव्य धर्मी कहा जाता है। इस स्थिति का धर्म-कार्यद्रव्य स्वगत गुण आदि निमित्त से धर्मी होता है।

एक स्थिति ऐसी होती है, जब उस दशा का धर्मी केवल धर्मी रहेगा, और धर्म केवल धर्म। कार्यद्रव्य कारणद्रव्य का धर्म है, पर जो द्रव्य केवल कारण है, कार्य कभी नहीं होता, वह केवल धर्मी रहेगा, किसी का धर्म न होगा। गुण धर्म गुणत्व निमित्त से धर्मी कहा जाता है, और 'गुणत्व' धर्म। यह 'गुणत्व' सामान्य-

१—धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
समुद्रं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम्॥
२—प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः॥

रूप धर्म अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा से कभी धर्मी नहीं होता, यह केवल धर्म बना रहता है। इस विवरण के देने का इतना तात्पर्य है, कि सूत्रकार द्वारा कथित 'धर्म' पद से वस्तु की उभयरूप स्थिति का बोध हो जाता है; सूत्रकार का केवल 'धर्म' पद के प्रयोग में यही स्वारस्य है।

प्रथम सूत्र के 'धर्मं व्याख्यास्यामः' का यही भाव है, कि इस शास्त्र में वस्तु-तत्त्व का व्याख्यान किया जायेगा। गत विवरण के अनुसार 'धर्म' पद से वस्तु-तत्त्व का निर्देश हुआ है। अन्य किसी अनुष्ठान व सदाचरण आदि का नहीं।

अब यह जानना आवश्यक है, कि द्रव्यादि पदार्थ अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में किसप्रकार उपयोगी होते हैं। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में धर्म का स्वरूप बताया, कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। साधारण-तया यह बात कुछ अटपटी सी लगती है, कि द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान अभ्युदय के अतिरिक्त निःश्रेयस की प्राप्ति में भी उपयोगी साधन है। संभवतः इसी असामञ्जस्य की आपातरमणीय भावना से प्रभावित होकर कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्रार्थ को अन्यथा प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

सूत्रों की 'उपस्कार' नामक व्याख्या में 'अभ्युदय' पद का अर्थ 'तत्त्वज्ञान' किया है। अन्य एक व्याख्या में 'आगे होनेवाली उन्नति अथवा भावी उत्कर्ष' अर्थ किया है, जिसका तात्पर्य है—इस जन्म और पर जन्म में सांसारिक सुख व ऐश्वर्य का होना। एक अन्य अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'अभ्युदयः स्वर्गा-दिसुखम्' स्वर्गादि सुख को अभ्युदय कहा है। यहां 'आदि' पद का क्या अर्थ होगा, स्पष्ट नहीं है। 'स्वर्ग' पद से यदि पर-जन्म में होने वाला सुख अभिप्रेत हो, तो 'आदि' पद से वर्तमान जीवनकाल के सुख का ग्रहण किया जा सकता है।

शंकर मिश्र ने अपनी व्याख्या 'उपस्कार' में किसी प्राचीन वृत्तिकार का मत दिया है—अभ्युदय सुख[2] है, और निःश्रेयस है—एक काल में आत्मा के समस्त विशेषगुणों का नाश हो जाना। पर साथ ही मिश्र ने ऐसे अर्थ में उपेक्षा अभिव्यक्त की है। उसका कहना है, यदि 'अभ्युदय' पद का अर्थ 'सुख' किया जाता है, तो उसकी प्रत्येक एवं समुदाय के साथ व्याप्ति नहीं बनती। तात्पर्य यह है, कि ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे यह निश्चित हो, कि कोई एक कर्मानुष्ठानरूप धर्म स्वर्ग सुख को उत्पन्न करता है, अथवा कर्म-समुदाय। इसी कारण आधुनिकों ने

१—मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन. सं० २०१३। खी० १९५७,

२—'वृत्तिकृतस्तु—अभ्युदयः सुखम्, निःश्रेयसम्—एककालीनसकलात्मविशेष-गुणध्वंसः···इत्याहुः।'

इसकी उपेक्षा कर दी है।[1] परन्तु इसके आगे शंकरमिश्र स्वयं कहता है, कि जिससे अभ्युदय की सिद्धि हो, वह धर्म है; और जिससे निःश्रेयस की सिद्धि हो, वह भी; अर्थात् ये दोनों धर्म हैं।

प्रतीत होता है, प्रायः सभी व्याख्याकारों ने सूत्र में 'धर्म' पद के श्रवणमात्र से उसका अर्थ सद्-आचार, सद्-अनुष्ठान अथवा यागादि कर्म समझ लिया; प्रस्तुत शास्त्र के पौर्वापर्य पर ध्यान नहीं दिया। उक्त प्रकार के धर्मों में से किसी का व्याख्यान इस शास्त्र में नहीं है। फलतः जिस वस्तुतत्त्व का यहां व्याख्यान है, कणाद की दृष्टि से इस प्रसंग में वही 'धर्म' पदवाच्य है। वह केवल द्रव्यादि पदार्थ हैं। इनके यथार्थ ज्ञान से अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

अभ्युदय का तात्पर्य अपने चालू जीवन में विविध भौतिक साधनों के आधार पर अपनी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि करना है। पहले हमें वर्त्तमान जीवन की अनुकूलताओं को देखना है, इसकी उपेक्षा कर जन्मान्तरों की सुख-सुविधा के लिये छलांग या दौड़ लगाना फलहीन होता है, क्योंकि जन्मान्तरों के स्वर्गादि सुख के लिये विभिन्न शास्त्रों में जो उपाय बताये हैं, उनका संयोजन या अनुष्ठान ऐहिक साधनों के बिना संभव नहीं। इसलिए पहले चालू जीवन में ऐहिक साधनों की अनुकूलता होना नितान्त अपेक्षित है। ये भौतिक साधन चालू जीवन में जिस अनुकूलता को प्रस्तुत करते हैं, वही वास्तविक अभ्युदय का स्वरूप है। यह द्रव्यादि पदार्थों की यथार्थता को जानकर उनके अपेक्षित उपयोग के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। आज भौतिक तत्त्वों के यथायथ स्वरूप को जानकर वैज्ञानिक वर्ग ने ऐहिक सुख-सुविधाओं के उपकरणों का अम्बार लगा दिया है। यही है कणाद के 'अभ्युदय' का वास्तविक अर्थ। द्रव्यादि पदार्थों के यथार्थज्ञान से हम इस अभ्युदय की सिद्धि अनायास कर सकते हैं। अपने काल में कणाद का इसी दिशा के लिए यह अभिनन्दनीय प्रयास था।

निःश्रेयस की सिद्धि के लिए द्रव्यादि का यथार्थज्ञान किसप्रकार उपयोगी है, इसका समझ लेना आवश्यक है।

साधारणरूप में प्रत्येक व्यक्ति अपने देह को अपना-आपा समझता है। वह इस ओर दृष्टिपात नहीं करता, कि यह नश्वर है, एक दिन पैदा हुआ है, और वह दिन अवश्य आयेगा, जब यह नहीं रहेगा, नष्ट हो जायगा। इस वास्तविक स्थिति को न समझते हुए वह इसी के संवारने-सुधारने में फंसा रहता है, और चालू जीवनकाल पूरा हो जाता है। जन्मान्तर में फिर वही क्रम चल पड़ता है,

१—'तदेतद् व्याख्यानं प्रत्येकसमुदायाभ्यां न व्यापकमित्याधुनिकैरुपेक्षितम्।' यह प्राचीन वृत्तिकार कौन है, अन्वेष्य है।

एवं अनिश आवर्त्तमान इस चक्र में आत्मा घिरा रहता है। प्राणी के कल्याण की इस भावना से प्रेरित हो महर्षि कणाद ने प्रस्तुत शास्त्र का प्रवचन किया, और समझाया, कि जो द्रव्यादि पदार्थ यथार्थरूप में जाने जाकर हमारी विविध सांसारिक सुख-सुविधाओं के जनक होते हैं, ये अपने रूप में सब नश्वर परिस्थितियां हैं। इन पदार्थों या धर्मों की ऐसी यथार्थता को समझकर विवेकशील आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने की ओर आकृष्ट होता है। वह देखता है, द्रव्यादि धर्म नश्वर हैं, परिणामशील हैं, जड़ हैं; आत्मतत्त्व इनसे विपरीत है, इन पदार्थों का ऐसा वास्तविक ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस के मार्ग की ओर प्रवृत्त करता है। इसी रूप में द्रव्यादि-तत्त्वज्ञान निःश्रेयस सिद्धि के लिए उपयोगी समझना चाहिए।

यह सब होने पर भी विरले जन ऐसे होते हैं, जो इस ज्ञान को प्राप्त कर निःश्रेयस के मार्ग पर जाने के लिए रुचि रखते हों। कारण यह है, कि इन्द्रियग्राम बड़ा बलवान् है। बाह्य विषयों की ओर इसका नैसर्गिक प्रवाह है[1]। इन परिस्थितियों की यथार्थता को समझाने के लिए महर्षि कणाद का प्रयास है। इन धर्मों के यथार्थस्वरूप का बोध हो जाने पर हम सांसारिक सुविधाओं के लिए इनका उपयोग करते हैं, और इससे ऊपर उठकर निःश्रेयस के मार्ग पर चलने के लिए साधन के रूप में इन्हीं का सदुपयोग करते हैं। इनके सदुपयोग के बिना निःश्रेयस मार्ग के कोई कार्य या अनुष्ठान सम्पन्न नहीं किये जा सकते। इसी रूप में यह धर्म (द्रव्यादि समुदाय) अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि करता है। सूत्रकार ने जिस भाव को शास्त्रारम्भ के इस सूत्र में अभिव्यक्त किया है, वही भाव शास्त्र का निगमन करते समय अन्तिम सूत्रों में है। इसप्रकार उपक्रम और उपसंहार का सामञ्जस्य अक्षुण्ण रक्खा गया है ॥२॥

तटस्थ लक्षण द्वारा समझाये गए 'धर्म' का स्वरूप से निर्देश यद्यपि सूत्रकार अगले चौथे सूत्र में करेगा, उससे प्रथम यह जानते हुए, कि इस विस्तृत जगत् के रूप में सृष्ट द्रव्यादि पदार्थ ही 'धर्म' हैं; उसी धर्म का व्याख्यान इस काणादशास्त्र में किया गया है। सूत्रकार कहता है, उस धर्म का कथन करने से आम्नाय का प्रामाण्य है—

तद्वचनादाम्नायस्य[2] प्रामाण्यम् ॥३॥

[तत्] उसके [वचनात्] कथन से [आम्नायस्य] आम्नाय-वेद का

१. पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ क०२।१।१॥

२. '०म्नायप्रामा०' चन्द्रा०।

[प्रामाण्यम्] प्रामाण्य है।

'तद्वचनात्' यह समासयुक्त पद है—तस्य वचनात्-तद्वचनात्। यहां 'तत्' पद पूर्वोक्त अव्यवहित 'धर्म' पद का परामर्श करता है; जो दूसरे सूत्र का अन्तिम पद है। जगद्रूप में विस्तृत द्रव्यादि धर्म ईश्वर की रचना है; उस रचना के अनुरूप वेदों में इसका वर्णन है। इसी आधार पर वेद ईश्वर की रचना माने जाने से वेद का निर्भ्रान्त प्रामाण्य सिद्ध होता है।

इस तथ्य को गत पंक्तियों में स्पष्ट किया गया, कि प्रारम्भिक सूत्रों में कणाद ने द्रव्यादि पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् को 'धर्म' पद से कहा है, इस धर्म अर्थात् जगत् को बनाने वाला ईश्वर है, यह बात प्रायः प्रत्येक समझदार व्यक्ति बिना किसी बड़ी बाधा के साधारणरूप में समझ लेता है, पर बिना किसी बाधा के अनायास यह समझ लेना बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए भी कठिन होता है, कि वेद ईश्वर की रचना है। इसमें स्वारस्य यह है, कि कितना भी शक्तिशाली मानव प्राणी हो, उसके द्वारा जगद्रचना की कल्पना करना संभव नहीं; पर वेदों की रचना किसी सुबुद्ध प्रतिभाशाली मानव द्वारा की जा सकती है, ऐसी कल्पना में कोई विशेष बाधा प्रतीत नहीं होती। परन्तु मानव रचना होने पर उस रचना के प्रामाण्य में सन्देह किया जा सकता है; और होना संभव है।

मानव का किसी भी अवस्था में ज्ञान पूर्ण तथा निर्भ्रान्त नहीं होता। मानव के साथ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष सदा लगे रहते हैं। ज्ञानी हो जाने पर इन दोषों की संभावना दूर नहीं होती। केवल एक चेतन सत्ता ऐसी है, जो इन दोषों से सर्वथा रहित है। वह सत्ता 'ईश्वर' है। वेद का पूर्ण प्रामाण्य तभी संभव है, जब इसे जगत् के समान ईश्वर की रचना मानां जाय। वेद को ईश्वर की रचना माने जाने में कणाद ने यह तर्क दिया कि 'धर्म' पदवाच्य-द्रव्यादि पदार्थों के रूप में विस्तृत-जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है, उसका विवरण उसी रूप से वेदों में किया गया है। जब यह तथ्य स्वीकार है, कि इस जगत् को अभिव्यक्त करने वाला ईश्वर है, तब यह निश्चित है, कि उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को वही जान सकता है, जगत् को न बनाने वाला कोई मानव नहीं। इससे स्पष्ट है. ईश्वर-रचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यदि कहीं विवरण दिया गया है, तो वह विवरण ईश्वर की रचना हो सकता है। इस तर्क के आधार पर ईश्वरोक्त होने से वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

कणाद के अनुसार बादरायण [वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन] मुनि ने ब्रह्मसूत्रों [वेदान्त सूत्रों] के प्रारम्भिक भाग में इसी आशय को अधिक स्पष्ट रूप में निर्दिष्ट किया है। प्रथम सूत्र से ब्रह्म जिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर दूसरे सूत्र में

बताया, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करनेवाला ब्रह्म है। तीसरे सूत्र में कहा-वही ब्रह्म वेदरूप शास्त्र का कारण है, रचयिता है। जिज्ञासा हुई, यह कैसे जाना जाय; कि इन दोनों [जगत् और वेद] का रचयिता ब्रह्म है? इसका समाधान चौथे सूत्र से किया, कि यह इन दोनों के 'समन्वय' से जाना जाता है; दोनों के पारस्परिक सामञ्जस्य से इसका निश्चय हो जाता है। वेद ब्रह्म का सिद्धान्त-ज्ञान [Theory] है, और जगत् प्रयोगात्मक [Practical] रचना है। इन दोनों का पूर्ण सामञ्जस्य [Harmony-हॉर्मनी] तभी संभव है, जब इन दोनों का रचयिता एक हो। भिन्न रचयिता होने पर असामञ्जस्य की संभावना बराबर बनी रहती है।

इसी स्थिति को कणाद मुनि ने अपने शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप निर्दिष्ट किया—अब धर्म की व्याख्या करेंगे। धर्म उन साधनों का नाम है, जिनसे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। वे साधन विश्व के रूप में विस्तृत द्रव्यादि पदार्थ हैं। क्योंकि यह सब रचना ईश्वर की है, उसका पूर्ण ज्ञान उसीको होना सम्भव है। उसने वह ज्ञान जीवात्माओं के कल्याण की भावना से वेद-रूप में प्रकट किया। इसप्रकार द्रव्यादिपदार्थमय विश्व-रूप धर्म का कथन करने से वेद की ईश्वरोक्त स्पष्ट होती है; इसी आधार पर उसका प्रामाण्य निश्चित है।

संभवतः इन्हीं भावनाओं को मस्तिष्कगत कर अनेक व्याख्याकारों ने सूत्र के 'तत्' पद को सीधा ईश्वर का परामर्शक माना है और ईश्वर-वचन होने से वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया है। उनका कहना है—विशिष्ट स्थलों में कोई सर्वनाम पद अप्रसक्त [जिसका साक्षात् प्रसंग न हो, उस] का भी परामर्श कर लेता है। इसप्रकार यहां ईश्वर का प्रसंग न होने पर भी 'तत्' सर्वनाम पद से ईश्वर का ग्रहण कर लेने में कोई बाधा नहीं।

कहा गया—कणाद ने प्रस्तुत शास्त्र में जिन द्रव्यादि धर्मों का निरूपण किया है, वह सब वेदमूलक है। वेदाध्ययन से पदार्थविषयक मूलभूत ज्ञान प्राप्त कर उसके गम्भीर चिन्तन व मनन के फलस्वरूप प्रस्तुत शास्त्र के रूप में उसे निबद्ध किया। शास्त्र के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों का मूल वेद से लिया गया। इसके लिये वेदों के निम्ननिर्दिष्ट स्थल द्रष्टव्य एवं विचारणीय हैं— ऋ० १।१६३—१६४॥ १०। ८१-८२॥ १०।७२॥ १०। १२९॥ यजु० १७। २७-३१॥ तथा ३१ वां अध्याय। इस विषय के फुटकर मन्त्र अनेक हैं, यह दिग्दर्शनमात्र लिया गया है।

कतिपय विचारकों की ऐसी धारणा है, कि वैशेषिक दर्शन निरीश्वरवादी

है। मध्यकालिक आचार्यों ने ऐसे उल्लेख किये हैं[1]। वही परम्परा आधुनिक विचारकों द्वारा दुहराई जाती रहती है। परन्तु वैशेषिक दर्शन और उसकी प्रशस्त प्राचीन व्याख्याओं में इसप्रकार के कोई संकेत उपलब्ध नहीं होते। प्रत्युत इसके विपरीत अनेक उल्लेख ऐसे हैं, जिनमें स्पष्ट ईश्वर का निर्देश है। प्रशस्तपादभाष्य का सर्वप्रथम मंगलाचरण श्लोक इसमें प्रमाण है।[2] आगे इस भाष्य के सृष्टि-संहार प्रसंग में अनेक बार इस तथ्य का निर्देश उपलब्ध होता[3] है। अपनी रचना के प्रारम्भिक भाग में आचार्य ने कहा—'तच्चेश्वरचोदना-भिव्यक्ताद्धर्मादेव' यह वाक्य ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय कराता है। इस विषय में प्रस्तुत शास्त्र के दूसरे [१८-१९] तथा छठे अध्याय के प्रारम्भिक सूत्र द्रष्टव्य हैं। इससे स्पष्ट होता है, कणाद अनीश्वरवादी नहीं। वस्तुतः इस विषय का मुख्यरूप से उपपादन करना इस शास्त्र का लक्ष्य नहीं, यही समझना चाहिये॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, व्याख्यान के लिये प्रतिज्ञात धर्म का तटस्थ लक्षण जाना; पर उसका स्वरूप क्या है? और उससे कैसे निःश्रेयस प्राप्त होता है? सूत्रकार ने समाधान किया—

[4]धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

[धर्मविशेषप्रसूतात्] धर्मविशेष से उत्पन्न हुए, [द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानाम्] [द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक [पदार्थानाम्] पदार्थों के [साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्य और वैधर्म्य के साथ अथवा इसप्रकार के [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान से [निःश्रेयसम्] निःश्रेयस-मोक्ष प्राप्त होता है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छह पदार्थों के—परस्पर

१—हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' में वैशेषिकदर्शन को निरीश्वरवादी दर्शनों में माना गया है। पर इसका आधार क्या रहा ? यह विवेच्य है।

२—प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमन्वतः।

३—उस प्रसंग के अपेक्षित अंश—⋯सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य⋯। प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं⋯। समुत्पन्नेषु चतुर्षु महाभूतेषु महेश्वर-स्याभिध्यानमात्रात्⋯। स च महेश्वरेण विनियुक्तः⋯ इत्यादि।

४—वैशेषिकदर्शन की चन्द्रानन्दी व्याख्या तथा अन्य एक 'अविज्ञातकर्तृक' व्याख्या में यह सूत्र नहीं है। यह प्राचीन व्याख्या मिथिलाविद्यापीठ दरभंगा से सं० २०१३ में प्रकाशित हुई। सम्पादक—श्री अनन्तलालदेव शर्मा प्राध्यापक-विद्यापीठ।

साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ, धर्मविशेष से उत्पन्न हुए—तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

द्रव्यादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष मिलता है, यह सीधा वाक्य है। उस तत्त्वज्ञान का आधार या स्वरूप है—द्रव्यादि पदार्थों के परस्पर समान धर्म एवं विपरीत धर्मों का यथायथरूप में जान लेना। साधर्म्य और वैधर्म्य पदों में 'धर्म' पद का भाव है—विशेषता। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये उनकी साधारण एवं असाधारण विशेषताओं का जान लेना आवश्यक है। इसी ज्ञान पर द्रव्यादि का यथार्थज्ञान आधारित है। इन पदार्थों में कौन-सी विशेषता किन में समानरूप से पाई जाती है, तथा किन में इनका वैपरीत्य रहता है, इसको वास्तविकता के साथ जान लेना द्रव्यादि-विषयक तत्त्वज्ञान है।

यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक शाब्दिक, दूसरा साक्षात्कार। पहला ज्ञान गुरुमुख आदि के द्वारा श्रवण करने से प्राप्त हो जाता है। अतिस्थूलरूप में हम उन द्रव्य-धर्मों का बाह्य इन्द्रियों से स्वयं साक्षात्कार भी करते हैं। परन्तु मूल तत्त्वों के रूप में यथार्थ साक्षात् जानकारी बाह्य इन्द्रियों द्वारा नहीं होपाती, क्योंकि वे तत्त्व इतनी सूक्ष्म अवस्था में होते हैं, जिनका बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण किया जाना अशक्य है। उदाहरण के लिये स्थूल पदार्थ पृथ्वी को लीजिये, हम इसे और इससे सम्बद्ध लता-वनस्पति आदि को बाह्य इन्द्रिय से अति स्पष्टरूप में देखते और समझते हैं। परन्तु पृथिवी आदि की यह स्थिति अपने मूल तत्त्वों से चलकर विभिन्न स्थितियों में परिवर्तित होते यहां तक किस प्रकार पहुंचती है, इसको हम बाह्य इन्द्रिय से नहीं परख पाते; और न यह जान पाते हैं, कि उस मूलतत्त्व की स्थिति या उसका स्वरूप क्या है, जहां से चलती या परिवर्त्तित होती यह अपनी दृश्यमान अवस्था में पहुंच गई है। यथार्थता यह है, कि तत्त्व की वह अवस्था बाह्य इन्द्रिय का कभी साक्षात् विषय नहीं होती।

बाह्यरूप में उसके जानने के लिये हमारे पास दो ही साधन रहते हैं—शब्द और अनुमान। इन साधनों से हुआ ज्ञान मूलतत्त्व का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। जब तक तत्त्व का साक्षात्कार न हो—चाहे वह अपने स्थूलरूप में है अथवा सूक्ष्म—तब तक न वास्तविक अभ्युदय के लिये उसका प्रयोग संभव है, और न निःश्रेयस के मार्ग पर उसका उचित उपयोग किया जा सकता है। तब अपेक्षा होती है, कि पदार्थ की उस स्थिति तक का साक्षात् ज्ञान कैसे हो? इसको स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने तत्त्वज्ञान का विशेषण दिया—धर्मविशेषप्रसूतात् तत्त्व-ज्ञानात्। वह तत्त्वज्ञान—जिससे निःश्रेयस की प्राप्ति होती है—धर्मविशेष से उत्पन्न होता है। धर्मविशेष से उत्पन्न हुआ द्रव्यादि-तत्त्वज्ञान निःश्रेयस मार्ग में उप-

योगी होता है ।

जैसा कि गत पंक्तियों में कहा गया, भारतीय शास्त्रों में 'धर्म' पद का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। इस शास्त्र के प्रथम द्वितीय सूत्र तथा प्रस्तुत सूत्र के 'साधर्म्य' 'वैधर्म्य' पदों में 'धर्म' पद का जो अर्थ है, ठीक वही अर्थ तत्त्वज्ञान के इस विशेषण पद [धर्मविशेषप्रसूतात्] में आये 'धर्म' शब्द का नहीं है। इसी कारण संभवतः सूत्रकार ने इसके साथ 'विशेष' पद का प्रयोग किया है। विचारना चाहिये, वह 'धर्मविशेष' क्या है ?

लोककर्त्ता ऋषियों ने सूक्ष्म तत्त्वों के साक्षात्कार करने की दिशा में बाह्य इन्द्रियों की अक्षमता को जांच कर उनके साक्षात्कार का अन्य उपाय ज्ञात किया। ऋषियों ने अपने अनुभव से, प्रयोगात्मक प्रक्रिया से आन्तर इन्द्रिय मन की शक्तियों को पहचाना, और उसी साधन से सूक्ष्मतत्त्वों के साक्षात्कार करने में वे पूर्णरूप से सफल हुए। मानसिक शक्तियों के साथ लेने पर आत्मा एक दिव्य प्रतिभा से सम्पन्न हो जाता है। जो चमत्कारपूर्ण सामर्थ्य आत्मा का अभी तक एक प्रकार से सुप्त-जैसी अवस्था में पड़ा था, वह इस साधना से जागृत हो जाता है, और आत्मा उस समय एक दिव्य शक्ति से सम्पन्न होता है। मन को साधने की उस प्रक्रिया का नाम 'योग' अथवा 'समाधि' है। इस प्रक्रिया से आत्मा का जो दिव्य सामर्थ्य जागृत हो जाता है, उसी को यहां 'धर्मविशेष', कहा गया है।

इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से पदार्थों की सूक्ष्म स्थिति तक का जो यथार्थज्ञान होता है, वही द्रव्यादि का ऐसा तत्त्वज्ञान है, जो निःश्रेयस के मार्ग में सहायक होता है। इसी तथ्य को सूत्र में 'धर्मविशेषप्रसूतात्...तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसम्' इन पदों से कहा गया है। उक्त प्रकार के धर्मविशेष से उत्पन्न हुए तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस प्राप्त होता है।

वैशेषिक शास्त्र का तत्त्व-विवेचन आत्म-जिज्ञासु को उस अवस्था तक पहुंचा देता है, जहां से सीधा मोक्ष का मार्ग खुलता है। यह अवस्था उभयविध प्रवृत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है। ऐसा व्यक्ति जहां एक ओर भौतिक अन्वेषण की दिशा में प्रगति कर चमत्कृत निर्माणों में सफल होता है, वहां दूसरी ओर अध्यात्म-दिशा में प्रगति करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। प्रथम प्रवृत्ति वालों को प्रकृतिलीन योगी कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति प्राकृत तत्त्वों के अनुसंधान में लीन हुए विविध प्रकार की ऐसी अभिनव वस्तुओं का निर्माण कर जाते हैं, जो अनेक सांसारिक सुख-सुविधाओं के लिए सफल प्रभाव रखती हैं। आधुनिक भौतिक-विज्ञान इसी दिशा में एक प्रगत है।

भौतिक तत्त्वों की नश्वरता का साक्षात् हो जाने पर जब—ये हमारे लिये साधनमात्र हैं, हम इनके लिये नहीं; हमें इनका दास न होना चाहिये., प्रत्युत हमें अपने महान उद्देश्य व लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इन्हें केवल अपना साधन समझ उसी सीमा तक इनका उपयोग लेना चाहिये—ऐसा बोध हो जाता है, तब सीधा अध्यात्म का मार्ग उस व्यक्ति के आगे खुला होता है। उभयविध मार्गों पर प्रगति करते हुए जो महान आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, वे उस दशा में लोकोपकार की भावना से उच्चकोटि के ऐसे वाङ्मय का निर्माण कर जाते हैं; जिससे आगे आने वाला समाज उनके अनुभवों का उपयुक्त लाभ प्राप्त कर-सकता है। विविध प्रकार के शास्त्र इसी रूप से समय-समय पर प्रकाश में आये हैं।

प्रशस्तपादभाष्य में 'तत्त्वज्ञानात्' पद का विशेषण पद 'धर्मविशेषप्रसूतात्' नहीं है। पर इससे पूर्वोक्त अर्थ की अभिव्यक्ति में कोई न्यूनता नहीं आई है। क्योंकि इस सन्दर्भ के ठीक आगे भाष्यकार ने 'तच्चेश्वरचोदनाभिव्यक्ताद्धर्मा-देव' यह पंक्ति लिखकर उस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। यहां 'तत्' सर्वनाम पूर्व-सन्दर्भ-पठित 'तत्त्वज्ञान' का ग्रहण करता है। भाष्यकार ने कहा—वह तत्त्वज्ञान ईश्वर की प्रेरणा से अभिव्यक्त हुए 'धर्म' से ही होता है। वह योग से प्राप्त धर्म ही है. जिसे सूत्रकार ने 'धर्मविशेष' कहा है। योगजधर्म ईश्वर की प्रेरणा से अभिव्यक्त होता है; क्योंकि योग-प्रक्रिया में ईश्वर की उपासना तथा उसका 'प्रसाद' पूर्णरूप से अपेक्षित है। ईश्वर का अनुग्रह उस दिव्य सामर्थ्य के प्राप्त होने में परम सहायक होता है। इसप्रकार सूत्र और भाष्य में न कोई वैपरीत्य है, और न अर्थाभिव्यक्ति में कहीं किसी प्रकार की न्यूनता। एक प्रकार से भाष्य-कार ने उक्त पंक्ति से सूत्र के 'धर्मविशेष' पद की व्याख्या ही की है।

यह विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट कर देता है, कि द्रव्यादि पदार्थों का उस स्तर तक हुआ ज्ञान उनके परस्पर समान धर्मों तथा विपरीत धर्मों का साक्षात्कार करा देता है। उन धर्मों का ऐसा साक्षात्कार होजाने पर साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति उन तत्त्वों के उपयुक्त मात्रिक संमिश्रण द्वारा विविध प्रकार के निर्माण में सफल होजाता है। इसप्रकार यह वैशेषिक शास्त्र अपने रूप में विशुद्ध भौतिकीशास्त्र है, जिसमें भूत-तत्त्व सम्बन्धी विद्या का विवरण दिया गया है। अन्य भी अपेक्षित प्रासंगिक विवेचन है। यह चतुःसूत्री एक प्रकार से इस शास्त्र की आधार शिला है, अथवा आमुख-आदर्श; जिसमें समस्त शास्त्र का प्रतिपाद्य आभासित हो जाता है ॥४॥

शास्त्रों में तत्त्व-विवेचन की यह रीति है, कि प्रतिपाद्य विषय के कथन या

व्याख्यान की प्रतिज्ञा कर प्रथम उन तत्त्वों या पदार्थों के नाम-मात्र का निर्देश कर दिया जाता है, फिर अपेक्षानुसार उनके विभाग का कथन होता है; अनन्तर उनके स्वरूप अथवा लक्षण का निर्देश किया जाता है, अन्त में वह स्वरूप ठीक है, या नहीं? इसकी परीक्षा कीजाती है। प्रस्तुत शास्त्र में 'धर्म' नाम से जिन पदार्थों का व्याख्यान करना है, उनका गत सूत्र में नाम लेकर निर्देश कर दिया गया है, वे द्रव्य आदि छह पदार्थ हैं। शिष्यों की जिज्ञासा होने पर सूत्रकार ने क्रमशः उद्दिष्ट पदार्थों का विभाग बताया। सूत्रकार ने कहा—द्रव्यों का विभाग इस-प्रकार है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो
दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

[पृथिवी] पृथिवी, [आपः] जल, [तेजः] अग्नि, [वायुः] वायु, [आकाशं] आकाश, [कालः] काल समय, [दिक्] दिशा, [आत्मा] जीवात्मा, और परमात्मा [मनः] मन, [इति] ये अथवा इतने, [द्रव्याणि] द्रव्य हैं।

सूत्र में इनकी गणना का सूचक कोई संख्या पद नहीं दिया, परन्तु पृथक्-पृथक् प्रत्येक द्रव्य का नामोच्चारण कर बताये जाने से द्रव्य नौ हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। सूत्र में नामों के अन्त में पठित 'इति' पद इनके विभक्त स्वरूप को, अथवा ये 'इतने ही हैं' इस भाव को अभिव्यक्त करता है। इसका तात्पर्य है—विभाग की भावना से द्रव्य केवल नौ हैं; न न्यून न अधिक। इनके अवान्तर विभागों की गणना नहीं कीजासकती। एक पृथिवी के खण्ड ही अगणनीय हैं। फिर मानव दृष्टि से असीमित इस विश्व में यह तत्त्व संख्या में कितना है; इसकी गणना कौन करसकता है? इसीप्रकार जल आदि द्रव्यों के विषय में समझना चाहिये।

आकाश, काल और दिशा इन तीन द्रव्यों को एक-एक व्यक्तिरूप माना गया है। आकाश एकमात्र इकाई है, इस रूप में यह एक तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। इसी-प्रकार एकमात्र इकाईरूप काल और दिशा नामक द्रव्य हैं। परन्तु व्यवहार के लिये इनके औपचारिक अथवा आपेक्षिक अवान्तर भेद माने गये हैं। किसी भी सीमित अवकाश के लिये 'घटाकाश' 'गेहाकाश' आदि व्यवहार देखने में आता है। यहां व्यवहार में भेद प्रतीत होने पर भी आकाश तत्त्व में कोई वास्तविक भेद नहीं होता। इसीप्रकार भूत, वर्त्तमान, भविष्यत् के रूप में काल के भेद, तथा पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण रूप में दिशा के भेद व्यवहार में आते हैं; इस रूप में इनके और भी असीमित अवान्तर भेद संभव हैं; परन्तु वे सब केवल आपेक्षिक होने से औपचारिकमात्र हैं, उनसे तत्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर या

भेद किंचिन्मात्र भी नहीं होता।

वैशेषिक में 'आत्मा' पदबोध्य द्रव्यतत्त्व जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं। इनमें जीवात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्त और परमात्मा एकमात्र द्रव्य है। अन्तिम द्रव्य मन संख्या की भावना से अनन्त है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ साधन-रूप में एक मन सम्बद्ध रहता है; क्योंकि जीवात्मा अनन्त हैं, इसलिए मन भी अनन्त हैं। द्रव्यों की नौ संख्या केवल इनके वर्गीकरण को अभिव्यक्त करती है। इसीको वैशेषिक शास्त्र की परिभाषा में जाति अथवा उपाधिरूप धर्म से युक्त समुदाय कहा जाता है।

उदाहरण के लिए पृथिवी को लीजिये। जिस किसी वस्तुतत्त्व को हम पृथिवी कहेंगे, उसमें कोई एक ऐसी विशेषता है, जो केवल उसीमें है, अन्यत्र नहीं; उसी विशेषता के कारण हम उसी वस्तुतत्त्व को पृथिवी कहेंगे। मोटी भाषा में यह कहा जाता है—पृथिवी-पन या पृथिवी-पना; पृथिवी का एक निजी धर्म, जो पृथिवी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं संभव नहीं। वैशेषिक परिभाषा में यह है—'पृथिवीत्व'। इसीको जाति या सामान्य बोलते हैं। यह धर्म अनेक समान वस्तुओं में रहता है, जो उनका एक वर्ग बनाता है। ऐसे ही जल आदि में 'जलत्व' आदि धर्म हैं।

परन्तु जो वस्तु एकतत्त्वमात्र है, उसमें ऐसा धर्म 'जाति' या 'सामान्य' नहीं कहा जायगा, क्योंकि उसके लिए वस्तुतत्त्व का 'अनेक' होना अनिवार्य स्थिति है। वहां उस धर्म को 'उपाधि' पद से व्यवहार किया जाता है। शास्त्र-कारों ने इन पदों को व्यवहार की सुविधा के लिए नियत व सीमित अर्थों में परि-भाषित मान लिया है। इसप्रकार एकमात्र आकाश में 'आकाशत्व' धर्म जाति न कहा जाकर 'उपाधि' नाम से व्यवहृत किया जायगा। इसके अनुसार समस्त द्रव्य नौ वर्गों में विभाजित हैं। वैसे वे संख्यातीत हैं, यह एक परीक्षित तथ्य है।

यद्यपि लोक में 'द्रव्य' पद का प्रयोग धन-दौलत, सामग्री, होनहार-उपयुक्त पात्र-आदि अनेक अर्थों में होता है। पाणिनि [५।३।१०४] के अनुसार 'द्रु' पद से 'यत्' प्रत्यय होकर भव्य (होनहार) अर्थ में यह पद सिद्ध होता है। 'द्रु' पद वृक्ष का पर्यायवाची है; और इस पद की निष्पत्ति गत्यर्थक 'द्रु' धातु [भ्वा० प० अ०] से 'डु' प्रत्यय [पा० ३।२।१८०-वा०] होकर मानी गई है; जिसका अर्थ किया जाता है—द्रवति ऊर्ध्वं गच्छति इति द्रुः। जो ऊपर को बढ़ता जाय। 'द्रु' पद से 'इव' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय होकर 'द्रव्य' पद की सिद्धि माने जाने से भाव प्रकट होता है—वृक्ष के समान जो उन्नतिशील [भव्य] हो, अथवा जो उन्नत करनेवाला, प्रत्येक प्रकार की उन्नति का साधन हो, वह द्रव्य है। इसके

उदाहरण व्याकरण में—'द्रव्यो राजपुत्रः, द्रव्यो माणवकः' आदि दिये गए हैं, जिसका भाव है—होनहार राजपुत्र अथवा होनहार बालक।

विचारणीय है, पृथिवी आदि को द्रव्य नाम वैशेषिक में क्यों दिया गया? क्या इस पद की निष्पत्ति के प्रकारों में कोई ऐसी भावना अन्तर्निहित है, जिसके अनुसार पृथिवी आदि तत्त्वों को दिया गया यह नाम उपयुक्त कहा जासके? गंभीरता से विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि मानव की समस्त उन्नति और प्राणिमात्र के जीवन-निर्वाह का एकमात्र आधार पृथिव्यादि तत्त्व हैं। स्वयं वह प्राणी 'आत्मा' रूप से इन्हींके बीच प्रतिष्ठित है। पर इस समय इन गहरे पचड़ों में न पड़कर हमें इतना ही समझ लेना कार्य-निर्वाह के लिये पर्याप्त होगा, कि 'द्रव्य' पद को वैशेषिक में कणाद ने पृथिवी आदि नौ वर्गीकृत तत्त्वों के लिये परिभाषित कर दिया है। इस शास्त्र में 'द्रव्य' पद से इन्हींका ग्रहण होगा, अन्य किसीका नहीं।

धर्म रूप से गिनाये गये समस्त भाव पदार्थों में जैसे द्रव्य एक वर्ग है, इसी प्रकार पृथिवी आदि नौ, द्रव्य के अवान्तर वर्ग हैं। यह वर्गीकरण 'सामान्य' [जाति] के आधार पर होता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण 'सामान्य' के प्रसंग में किया जायगा ॥५॥

भाव पदार्थों की गणना में द्रव्य के अनन्तर गुण का निर्देश किया गया है। शिष्यों की जिज्ञासा होने पर क्रमप्राप्त गुण का विभाग बताने के लिए सूत्रकार ने सूत्र लिखा—

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च[1] गुणाः ॥६॥

[रूपरसगन्धस्पर्शाः] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, [संख्याः] संख्याएं-गिनतियां, [परिमाणानि] परिमाण-नाप, [पृथक्त्वं] पृथक्त्व-अलग होना, [संयोगविभागौ] संयोग और विभाग, [परत्वापरत्वे] परत्व-दूर होना, और अपरत्व-समीप होना, [बुद्धयः] बुद्धियां, [सुखदुःखे] सुख और दुःख, [इच्छा-द्वेषौ] इच्छा और द्वेष [प्रयत्नाः] प्रयत्न [च] और [गुणाः] गुण हैं।

रूप, रस आदि सत्रह गुण सूत्रकार ने सूत्र में पढ़ दिये हैं; लोक प्रसिद्ध अन्य सात गुणों का निर्देश सूत्रपठित 'च' पद से किया गया है। व सात गुण हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, शब्द। गुरुत्व—भारीपन; द्रवत्व—पिघलापन, स्नेह—बिखरे पदार्थ या द्रव्य को पिण्डरूप बना देने की क्षमता। संस्कार के तीन अवान्तर भेद हैं—वेग, स्थितिस्थापक, भावना। हाथ से फेंका

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'प्रयत्नश्च' एकवचनान्त पाठ है।

गया पत्थर, बंदूक से निकली गोली, धनुष से छोड़ा गया बाण; एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना प्रयत्न चले जाते हैं, इसमें वेग नामक संस्कार-गुण निमित्त होता है। पेड़ की टहनी को झुकाकर छोड़ देने से टहनी स्वतः अपने स्थान पर पहुंच जाती है, इसका निमित्त स्थितिस्थापक नाम का संस्कार-गुण है। किसी प्रकार के कार्य या अनुष्ठान से जो प्रभाव आत्मा में पड़ता है, वह भावना नामक संस्कार-गुण है। धर्म–पुण्यकर्म, अधर्म–पापकर्म और शब्द–प्रसिद्ध ध्वनिरूप है। रूप, रस आदि सब गुणों के स्वरूप का वर्णन यथाप्रसंग शास्त्र में आगे किया गया है।

सूत्र में पहले समस्त [समासयुक्त] पद से इकट्ठे चार गुणों का निर्देश किया है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। चारों को एक ही पद में कहने का तात्पर्य व्याख्याकार आचार्यों ने यह समझा है, कि ये चारों गुण ऐसे हैं, जो उसी द्रव्य में नित्य भी हैं और अनित्य भी। पृथिव्यादि-परमाणु में ये गुण नित्य हैं, और कार्य-पृथिव्यादि में अनित्य। परन्तु इस विषय में थोड़ा मतभेद है, जो इसप्रकार समझना चाहिये।

कच्चा घड़ा जब मट्टी से बनाया जाकर तय्यार होता है, उसका रूप काला-सा रहता है, गन्ध आदि कुछ विशेष प्रकार का रहता है; अनन्तर आवे में पकाने पर अग्निताप से रूपादि में परिवर्त्तन देखा जाता है। श्याम के स्थान पर रूप रक्त हो जाता है, स्पर्श अधिक कठोर हो जाता है, गन्ध आदि में भी अन्तर का अनुभव होता है। इसको पाकज-प्रक्रिया कहा जाता है। यहां पर आचार्यों का परस्पर थोड़ा मतभेद है। कुछ का कहना है, यह पाक परमाणु-पर्यन्त द्रव्य में होता है; इसके विपरीत कुछ कहते हैं, कि यह पाक कार्य-द्रव्य में होता है; परमाणुओं से कार्यद्रव्य बन चुका है, वही पकाया जाता है। पहले को पीलुपाकवादी और दूसरे को पिठरपाकवादी कहा जाता है। 'पीलु' परमाणु को कहते हैं, और 'पिठर' अवयवी को।

पहले मत में अग्निताप परमाणु-पर्यन्त होने से परमाणु के रूप आदि में परिवर्त्तन हो जाने से नित्य परमाणु के रूप आदि अनित्य होते हैं। इसलिए यह कहना ठीक नहीं, कि इन चारों गुणों के इकट्ठा एक पद द्वारा निर्देश का यह तात्पर्य है, कि एक ही द्रव्य में ये नित्यानित्य उभयरूप से रहते हैं। संभवतः इसी कारण आचार्य [1] आत्रेय ने इन चारों गुणों के इकट्ठा एक समस्त पद द्वारा कहने का प्रयोजन इन चारों गुणों का पाकज होना बताया है। सूत्रकार का यह निर्देश

१. देखें–वैशेषिकदर्शन के इस सूत्र का अज्ञातकर्तृक भाष्य। मिथिलाविद्यापीठ से २०१३ विक्रमी में प्रकाशित।

इन गुणों के पाकज होने का संकेत करता है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई गुण पाकज नहीं है।

'संख्याः' पद सूत्र में बहुवचनान्त निर्दिष्ट है। यह संख्या की अनेकता अथवा अनन्तता का द्योतक है। 'एकत्व' संख्या केन्द्रभूत है, इसको बढ़ाते जायें, तो उसकी सीमा नहीं; घटाते जायें तो उसका अन्त नहीं। इसीप्रकार, परिमाणानि' पद बहुवचनान्त है। वस्तुतत्त्व अनन्त हैं, उनके परिमाण भी अनन्त हैं; बहुवचन इसीका संकेत करता है। 'पृथक्त्व' गुण का एकवचन से निर्देश किया गया है। चाहे पृथक्त्व दो का कहा जाय अथवा अधिक का; पृथक्त्व के स्वरूप में कहीं कोई अन्तर नहीं रहता, यद्यपि वे पृथक्त्व अनेक व परस्पर भिन्न हैं। एक दूसरे से 'अलग-पना' सब जगह एक-सा रहता है, यही भाव एकवचनान्त प्रयोग से अभिव्यक्त किया गया है।

'संयोगविभागौ' 'परत्वापरत्वे' 'सुखदुःखे' 'इच्छाद्वेषौ' ये सब द्वन्द्व-जोड़े हैं। संयोग का अभाव विभाग है अथवा विभाग का अभाव संयोग है, ऐसा नहीं है। इन दोनों का स्वतन्त्र व वास्तविक अस्तित्व है, पर दोनों एक दूसरे से विपरीत हैं। शेष जोड़ों की स्थिति भी यही है। सूत्र में 'बुद्धयः' बहुवचनान्त पद बुद्धि अर्थात् ज्ञान की अनन्तता को अभिव्यक्त करता है। यही व्यवस्था 'प्रयत्नाः'[1] इस बहुवचनान्त पद के प्रयोग की है।

सूत्र के प्रथम समस्त पद में चार गुणों का जो क्रम रक्खा गया है, वह न तो भूतों की उत्पत्ति-क्रम के अनुसार है, और न उनकी स्थूल-सूक्ष्मता के क्रम के अनुसार। यदि उत्पत्तिक्रम के अनुसार निर्देश होता, तो 'स्पर्शरूपरसगन्धाः' यह क्रम होता। यदि स्थूल-सूक्ष्मता के अनुसार होता, अर्थात् स्थूलभूत का गुण पहले और उससे कम स्थूल का उसके बाद; तो क्रम होता—'गन्धरसरूपस्पर्शाः'। यदि सूक्ष्म से स्थूल की ओर होता, तो पहले क्रम के अनुसार ही रहता। वर्त्तमान क्रम इनमें से किसी व्यवस्था का अनुसरण नहीं करता। सूत्रकार का ऐसे क्रम-निर्देश में क्या अभिप्राय रहा होगा ? विचारणीय है।

प्रतीत होता है, आचार्य ने व्यावहारिक स्थिति को लक्ष्य कर भोक्ता के नैसर्गिक व्यवहार को महत्त्व देते हुए इन गुणों के वर्त्तमान क्रम का निर्देश किया, अन्य प्रवृत्ति-निमित्तों की उपेक्षा की। जब प्राणी जन्म के अनन्तर सर्वप्रथम आंखें खोलता है, तो रूपवान् पदार्थ समुदाय ही उसके सामने बिछा दिखाई देता है। कुछ ही काल के अनन्तर वह क्षुधा से पीड़ित होता है, और रसास्वादन का

१. वैशेषिकदर्शन के अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन भाष्य में यह पद एकवचनान्त पढ़ा गया है।

आनन्द लेता है। इसके अनन्तर ही गन्धानुभव की ओर प्रवृत्ति जागृत होती है। स्पर्श से अनुकूलता की भावनाओं का जागरण कुछ प्रबुद्ध हो जाने पर ही अभिव्यक्त होपाता है। संभवतः इस नैसर्गिक व्यवहार की भावनाओं को लक्ष्य करने के कारण गुणों के उक्त क्रम का निर्देश किया गया है ॥६॥

शिष्यों की जिज्ञासा होने पर सूत्रकार गुणविभाग के अनन्तर क्रमप्राप्त कर्म के विभाग का निर्देश करता है—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥७॥

[उत्क्षेपणं] ऊपर को उठाना या फेंकना, [अवक्षेपणं][1] नीचे को गिराना, [आकुञ्चनं] सिकोड़ना, सिकुड़ना, [प्रसारणं] फैलाना, फैलना, [गमनं] शेष सब प्रकार की सामान्य क्रिया, [इति] ये, इतने, [कर्माणि] कर्म हैं।

अन्न आदि या अन्य किसी वस्तु को कूटने के अवसर पर व्यक्ति मूसल या दुर्मठ को ऊपर उठाता है। यहां पहले आत्मा में इच्छा उत्पन्न होती है, कि मैं इसे उठाऊं। इच्छा से आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न होता है। प्रयत्न से प्रेरित हाथ ऊपर को उठता है, हाथ का संयोग मूसल या दुर्मठ आदि से है। हाथ के उठने से हाथ की पकड़ में मूसल आदि भी उठता है। यह उठना क्रिया उत्क्षेपण है। इसी प्रकार-हाथ में लेकर गेंद फेंकी जाय, डला या पत्थर फेंका जाय; बन्दूक से गोली या धनुष से बाण फेंका जाय या छोड़ा जाय; इत्यादि स्थलों में भी इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा जो वस्तु में ऊपर की ओर क्रिया या प्रवृत्ति होना है, वह 'उत्क्षेपण' नामक कर्म है।

ऊपर—जहां तक संभव है—ले जाने के अनन्तर जब हाथ में पकड़े हुए मूसल को नीचे की ओर लाने की इच्छा होती है, तब प्रयत्नपूर्वक नीचे लाते हुए मूसल से निम्नस्थित वस्तु में चोट दी जाती है। प्रयत्नपूर्वक नीचे को लाने की क्रिया 'अवक्षेपण' नामक कर्म है। यदि मूसल को ऊपर उठाकर वहीं से छोड़ दिया जाय, तो वह नीचे अवश्य आ गिरेगा, पर नीचे की ओर होने वाली उस क्रिया का नाम 'अवक्षेपण' न होकर सामान्य गति या क्रिया होगा। वहां इच्छापूर्वक प्रयत्न का उपयोग नहीं किया गया। इसीप्रकार यदि गेंद या मूसल को प्रयत्नपूर्वक नीचे की ओर फेंकने पर गेंद या मूसल नीचे तीव्र आघात पाकर स्वयं ऊपर उछल जाता है, तो वह ऊपर की ओर हुई क्रिया 'उत्क्षेपण' न होकर सामान्य गतिरूप क्रिया समझीजाती है। क्योंकि वहां इच्छापूर्वक प्रयत्न का अभाव है।

इसप्रकार की क्रियाओं में वस्तुओं का आघातरूप संयोग क्रिया के अधिकरण द्रव्य में 'वेग' नामक संस्कार को उत्पन्न कर देता है, वह आगे होनेवाली क्रिया

१. प्रशस्तपादभाष्य में 'अपक्षेपण' पाठ है; परन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं।

का निमित्त बनजाता है। हाथ से गेंद फेंकने, बन्दूक से गोली छोड़ने, धनुष से बाण फेंकने में जो आद्य क्रिया गेंद आदि में होगी, वह इच्छापूर्वक प्रयत्न के कारण होती है, अतः उस क्रिया को 'उत्क्षेपण' नामक कर्म कहना उचित है। यद्यपि प्रत्येक क्रिया के प्रारम्भ होने में इच्छापूर्वक प्रयत्न का होना अपेक्षित रहता है पर 'उत्क्षेपण' व 'अवक्षेपण' नियतदिग्देश में होनेवाली क्रिया होने के कारण इनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है; अर्थात् इन्हें सामान्य क्रिया में नहीं गिना जाता, इनका सामान्यगति नामक कर्म में समावेश नहीं होता।

'आकुञ्चन' का अर्थ है—सिकुड़ना या सिकोड़ना। एक लम्बी-चौड़ी चादर या किसी भी वस्त्र आदि को इधर-उधर से तहाकर छोटे आकार में कर दिया जाता है, इस स्थिति में लाने के लिये वस्त्र आदि में जो क्रिया होती है, वह 'आकुञ्चन' नामक कर्म है। इसप्रकार सिकुड़ने वाली कोई भी वस्तु अपने अवयवों के संयोग से बनती है। वह अवयवों का परस्पर संयोग उस द्रव्य का आरम्भक अर्थात् उत्पादक होता है। द्रव्य के 'आकुञ्चन' कर्म में भी अवयवों का संयोग अवश्य होता है, पर वह संयोग द्रव्यारम्भक नहीं है। इसलिये यह कहाजासकता है, कि किसी द्रव्य के अवयवों का परस्पर द्रव्यानारम्भक संयोग उस द्रव्य में 'आकुञ्चन' नामक कर्म का **बोधक** है। इसीप्रकार 'प्रसारण' वह कर्म है, जिसके द्वारा द्रव्यानारम्भक संयोग को हटा दिया जाता है।

इसके फलस्वरूप किसी वस्तु के फैलाव को थोड़े प्रदेश में सीमित कर देने वाली क्रिया 'आकुञ्चन' तथा उसीको पहली अवस्था में ले जाने वाली क्रिया 'प्रसारण' नामक कर्म है। सिंह अपने लक्ष्य शिकार पर आक्रमण करने से पूर्व अपने शरीर को सिकोड़ता है; उसकी यह क्रिया 'आकुञ्चन' कर्म की सीमा में आजाती है। हाथ की मुट्ठी बांधना और खोलना भी आकुञ्चन और प्रसारण हैं।

सूत्र के 'गमनम्' पद से—पूर्वोक्त उत्क्षेपण आदि से अतिरिक्त—उन समस्त क्रियाओं का ग्रहण होजाता है, जो द्रव्य-समुदाय में साधारणरूप से होती रहती हैं। भ्रमण [चाक या पहिये आदि का घूमना], रेचन [मल-मूत्र आदि का परित्याग करना], स्पन्दन [जल आदि द्रव पदार्थों का निरन्तर बहना], ऊर्ध्वज्वलन [अग्नि आदि का लौ या ज्वाला के रूप में ऊपर की ओर को गति करना] आदि विविध प्रकार की समस्त क्रियाओं का समावेश 'गमन' नामक पांचवें कर्म में होजाता है। निष्क्रमण और प्रवेशन भी इसी कर्म के अन्तर्गत आजाते है। घर में एक कमरे से निकलना दूसरे में प्रवेश करना, यह सामान्य गमन-कर्म की दशा है। इस [निष्क्रमण, प्रवेशन] नाम के कर्म अतिरिक्त नहीं। एक ही गमन-कर्म प्रकोष्ठ (कमरे) भिन्न होने के कारण निष्क्रमण व प्रवेशन कहा

जाता है ।।७।।

चौथे सूत्र में कहा है, द्रव्य आदि पदार्थों का यथार्थज्ञान इनके साधर्म्य–वैधर्म्य की जानकारी के साथ होना चाहिये। द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों का नाम-निर्देश तथा उनके विभागों का उल्लेख किया गया। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों पदार्थ शेष सामान्य आदि तीन पदार्थों के आश्रयभूत हैं। सामान्य-विशेष-समवाय तीनों, द्रव्यादि तीन पदार्थों में आश्रित रहते हैं। इन तीन में भी द्रव्य प्रधान है; गुण, कर्म दोनों द्रव्यों में आश्रित रहते हैं। सामान्य आदि तीनों का आश्रय होने से प्रथम द्रव्यादि पदार्थों के विभाग-निर्देश के अनन्तर इनके साधर्म्य को बताने के लिये शिष्यों की जिज्ञासा होने पर सूत्रकार साधर्म्य प्रकरण का प्रारम्भ करता है—

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेष: ।।८।।

[सत्] सत्ता वाले होना, [अनित्यं] सदा न रहने वाले, विनाशी, [द्रव्यवत्] द्रव्य समवायिकारण वाले, [कार्यं] किये जाने वाले, उत्पन्न होने वाले, [कारणं] कारण, किसी की उत्पत्ति में निमित्त होनेवाले, [सामान्यविशेषवत्] सामान्य-साधर्म्ययुक्त होने पर भी एक दूसरे से भिन्न रहने वाले, [इति] यह, [द्रव्य-गुणकर्मणां] द्रव्य-गुण-कर्मों का, [अविशेषः] साधर्म्य है।

द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का साधर्म्य है—सत्ता वाला होना। सत्ता सामान्य अर्थात् सत्ता जाति इन तीनों पदार्थों में समानरूप से रहती है। सूत्र में 'सत्' पद का साधारण अर्थ 'होना' अथवा 'विद्यमान रहना' मात्र नहीं है। ऐसा अस्तित्व तो सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों का भी है; इसीकारण छह भाव पदार्थों में उनकी गणना कीगई है। उनका अस्तित्व होने पर भी 'सत्ता' जातिरूप धर्म उनमें नहीं रहता। द्रव्य, गुण, कर्म ये तीन ही ऐसे पदार्थ हैं, जिनमें 'सत्ता' जाति रहती है।[1] इसप्रकार द्रव्यादि तीन पदार्थों का 'सत्तावत्त्व' साधर्म्य है।

द्रव्य, गुण, कर्म का अन्य साधर्म्य है–अनित्यत्व। सदा न रहने वाला पदार्थ

१. 'सत्ता' तथा अन्य जाति-धर्मों के विषय में अधिक विवेचन 'सामान्य' नामक पदार्थ के विवरण-प्रसंग में किया जायगा। 'सत्ता' जाति का क्षेत्र अन्य सब जाति-क्षेत्रों से अधिक है। 'सत्ता' जाति की अवान्तर जाति हैं–द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व। 'द्रव्यत्व' की अवान्तर जाति पृथिवीत्व जलत्व आदि हैं। पृथिवी की अवान्तर जाति घटत्व, पटत्व आदि हैं। 'सत्ता' के अतिरिक्त अन्य समस्त जाति 'सामान्यविशेष' कहाती हैं।

अनित्य कहा जाता है, अर्थात् विनाशी, कालान्तर में जो न रहे। कार्यद्रव्य, गुण और कर्म तीनों अनित्य होते हैं, उनका यह साधर्म्य है ऐसे ही 'द्रव्यवत्त्व' तीनों का साधर्म्य है **'द्रव्यवत्त्व'** पद में 'मतुप्' प्रत्यय 'नित्ययोग'[1] अर्थ में है। नित्ययोग-नित्यसम्बन्ध इस शास्त्र मे समवाय माना गया है; इसके अनुसार 'द्रव्यवत्' पद का तात्पर्य हुआ—द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहना, अथवा द्रव्य जिनका समवायिकारण हो। इसप्रकार 'द्रव्यवत्व' अर्थात् 'द्रव्याश्रितत्व' तथा 'द्रव्यसमवायिकारणत्व' साधर्म्य इन तीनों का स्पष्ट होता है। नित्य द्रव्यों को छोड़कर शेष सब का यह साधर्म्य होगा[2]।

'कार्यत्व' भी द्रव्य, गुण, कर्म का साधर्म्य है। 'कार्यत्व' पद का अर्थ है—किया जाना, उत्पन्न होना, उत्पन्न होने वाले द्रव्यों तथा गुण, कर्मों का यह साधर्म्य है। 'अनित्यत्व' साधर्म्य द्रव्यादि के विनाश की ओर संकेत करता है, और 'कार्यत्व' उत्पत्ति की ओर। ये दोनों साधर्म्य कार्य द्रव्य आदि के दोनों किनारों —ओर-छोर की दिशा में संकेत करते हैं। इन दोनों में यह थोड़ा अन्तर है।

अगला साधर्म्य बताया—'कारणत्व'। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों यथायथ द्रव्य, गुण, कर्म के कारण होते हैं। प्रत्येक कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव-द्रव्य हैं। उन अवयवों का संयोग उस कार्यद्रव्य का असमवायिकारण है। प्रत्येक उत्पन्न होने वाले द्रव्य का असमवायिकारण केवल 'संयोग' गुण होता है। कार्यद्रव्य के समान प्रत्येक गुण व कर्म का समवायिकारण वह द्रव्य होता है, जिसमें वह गुण व कर्म विद्यमान है। कारण का गुण कार्य में उत्पन्न होने वाले गुण का असमवायिकारण होता है। तन्तु के रूपादि गुण पट में रूपादि गुणों के असमवायिकारण हैं। गुण प्रायः अपने समानजातीय गुणों को उत्पन्न करते हैं, कहीं असमानजातीय गुण को भी। तन्तु के रूपादि गुण पट में समानजातीय रूपादि को उत्पन्न करते हैं, परन्तु तीन द्व्यणुकों से उत्पन्न होने वाले त्रसरेणु में महत्परिमाण की उत्पत्ति द्व्यणुकों की बहुत्व संख्या से होती है। तात्पर्य है—तीन द्व्यणुकों में रहने वाली बहुत्व संख्या त्रसरेणु के महत् परिमाण की उत्पत्ति में असमवायि-

---

१. **भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।**
संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥का. वृ., ५।२।९४।
द्रव्यादीनि नित्ययोगेन-नित्यसम्बन्धेन समवायेन अस्मिन् सन्ति इति द्रव्यवत्। द्रव्याश्रितानि द्रव्यसमवायिकारणकानि वा कार्यद्रव्यगुणकर्माणीति भावः।

२. **आचार्य प्रशस्तपाद ने निर्देश किया है—द्रव्याश्रितत्वं चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः।**

कारण है। यहां संख्या-गुण अपने असमानजातीय परिमाण-गुण को उत्पन्न करता है। इसीप्रकार संयोग, विभाग और वेग नामक संस्कार-गुणों की उत्पत्ति में कर्म असमवायिकारण होता है।

कारणत्व-साधर्म्य की व्यवस्था को संक्षेप में इसप्रकार समझना चाहिए—

१. द्रव्य—कार्यमात्र [द्रव्य, गुण, कर्म तीनों] का समवायिकारण[1] होता है।

२. गुण, कर्म—कार्यमात्र के असमवायिकारण[2]।

३. आत्मा के विशेषगुण[3] कहीं भी असमवायिकारण नहीं होते।

---

१. जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य [द्रव्य, गुण, कर्म] अपने अस्तित्व का लाभ करता है, वह उस कार्य का समवायिकारण होता है।

२. किसी कार्य के समवायिकारण में—समवाय सम्बन्ध से अथवा स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से—रहता हुआ जो उस कार्य का कारण होता है, वह असमवायिकारण कहा जाता है। जैसे—पट के समवायिकारण तन्तु हैं, उन्हीं तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ तन्तु-संयोग पट का कारण होता है, इसलिए तन्तु-संयोग पट का असमवायिकारण है। दूसरे सम्बन्ध का उदाहरण है, जैसे—पट के रूप का समवायिकारण पट है, पट तन्तुओं में समवेत [समवाय सम्बन्ध से रहने वाला] है, और तन्तुओं में उनका रूप समवेत है; इसप्रकार 'स्वसमवायिसमवेतत्व' सम्बन्ध से तन्तु का रूप पट के रूप का असमवायिकारण होता है। 'स्व' से लिया पटगत रूप, वह रूप समवायसम्बन्ध से पट में रहता है, इसलिए 'स्वसमवायी' हुआ पट; पट समवेत है तन्तुओं में, और उन्हीं तन्तुओं में समवेत है—तन्तुओं का रूप; अतः स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्ध से तन्तुओं का रूप पट के रूप का असमवायिकारण होता है। पहले उदाहरण में प्रत्यासत्ति [सम्बन्ध या सन्निकर्ष] कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति कही जाती है, और दूसरे उदाहरण में कारणैकार्थप्रत्यासत्ति। पहले में कोई कार्य स्वयं अपने असमवायिकारण के साथ एक अधिकरण में समवायसम्बन्ध से रहता है। दूसरे में कार्य का समवायिकारण, उस कार्य के असमवायिकारण के साथ एक अधिकरण में समवायसम्बन्ध से रहता है।

३. आत्मा के चौदह गुण माने गये हैं—बुद्धि [ज्ञान] सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार [भावना], संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग। इनमें पहले नौ विशेषगुण हैं, शेष पांच सामान्य गुण।

कौन-से विशेष गुण हैं, कौन-से सामान्य; तथा किस द्रव्य में कौन-से और कितने गुण रहते हैं, यह यथावसर आगे बताया जायगा।

सूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म का अन्तिम साधर्म्य 'सामान्य-विशेषवत्त्व' बताया। सूत्र के प्रथम 'सत्' पद की व्याख्या में सत्ता-सामान्य का उल्लेख किया गया है। आचार्य ने आगे शास्त्र में सामान्य [जाति] के दो प्रकार बताये हैं। एक—परसामान्य, दूसरा—अपरसामान्य। जो सामान्य सर्वाधिकदेशवृत्ति है, वह परसामान्य है। केवल सत्ता-सामान्य परसामान्य है। शेष सब अपरसामान्य हैं। इनको परापर सामान्य भी कहाजाता है। सत्ता-सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में समानरूप से रहता है। इन तीनों में अलग-अलग रहने वाले सामान्य हैं :— द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व। द्रव्यत्व सामान्य समस्त द्रव्यों में समानबुद्धि को पैदा करता है; इसीके साथ वह द्रव्यों को गुणादि से व्यावृत्त करता है; क्योंकि द्रव्यत्व गुणादि में नहीं रहता। इसीप्रकार गुणत्व, कर्मत्व, **सामान्य** गुण-कर्मों में समानबुद्धि को पैदा करते हैं, पर साथ ही अन्य विजातीय पदार्थों से इनको व्यावृत्त करते हैं। 'व्यावृत्त करने' के अर्थ में 'विशेष' पद का प्रयोग होता है। इसीकारण इन सामान्यों को 'सामान्यविशेष' कहाजाता है। इसी स्थिति के अनुसार सूत्रकार ने 'सामान्यविशेषवत्त्व' साधर्म्य इन तीनों का बताया है।

प्रस्तुत सूत्र में द्रव्य, गुण, कर्म के जो साधर्म्य बताये, वे इसप्रकार हैं— सत्तावत्त्व, अनित्यत्व, द्रव्याश्रितत्व, कार्यत्व, कारणत्व, सामान्यविशेषवत्त्व। व्याख्या में सबका विवरण दे दिया गया है ॥८॥

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का साधर्म्य कहकर सूत्रकार शिष्यों की जिज्ञासा के अनुसार अब द्रव्य, गुण दो का साधर्म्य बताते हैं—

द्रव्यगुणयो : सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्[1] ॥९॥

[द्रव्यगुणयोः] द्रव्यों और गुणों का [सजातीयारम्भकत्वम्] अपने समानजातीय पदार्थ का उत्पन्न करना, [साधर्म्यम्] साधर्म्य है।

जब कोई द्रव्य किसी द्रव्य को उत्पन्न करेगा, तो वह सजातीय द्रव्य को करेगा। पृथिवी परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, अन्य जलत्वजातीय आदि को नहीं। इसीप्रकार जलीयपरमाणु जलत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, पृथिवीत्वजातीय आदि को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्य-द्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को करता है, विजातीय को नहीं। तन्तुओं का नील अथवा श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। इसको ऐसे भी समझना

---

१. वैशेषिकदर्शन के अज्ञातकर्तृक प्राचीनभाष्य में तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में यह सूत्र नहीं है।

चाहिए, कि रूप रूप को उत्पन्न करेगा, रस आदि को नहीं।

इस व्यवस्था में यह नियम नहीं है, कि प्रत्येक द्रव्य, अवश्य किसी द्रव्य को; तथा प्रत्येक गुण किसी गुण को उत्पन्न करे। कारण यह है, कि विभु द्रव्य अथवा अन्त्यावयवी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के आरम्भक नहीं होते। यहां द्रव्य को द्रव्य का आरम्भक होने में समवायिकारण अथवा उपादानकारण होने से तात्पर्य है; इसीलिए समस्त विश्व का उत्पादक या आरम्भक होने पर भी परमात्मा इस कोटि में नहीं आता, अर्थात् इस आधार पर उक्त व्यवस्था में दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि परमात्मा विश्व का समवायिकारण या उपादानकारण नहीं है, केवल निमित्तकारण है। घट आदि अन्त्यावयवी द्रव्य भी किसी अन्य द्रव्य के आरम्भक नहीं होते ॥९॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने अगले सूत्र से अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च[1] गुणान्तरम् ॥१०॥

[द्रव्याणि] बहुत-से द्रव्य मिलकर, [द्रव्यान्तरम्] अन्य एक द्रव्य को, [आरभन्ते] उत्पन्न करते हैं, [गुणाः] बहुत-से गुण अलग-अलग, [च] और, [गुणान्तरम्] अन्य गुण को।

अनेक द्रव्य अन्य द्रव्य को और गुण अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं। सूत्र में 'अन्तर' पद पढ़ा है। इसका अर्थ है—भेद। सूत्रकार इस पद के द्वारा यहां यह स्पष्ट करना चाहता है, कि कारण द्रव्य से कार्यद्रव्य भिन्न है। सजातीय होते हुए भी अपने व्यक्तित्व से दोनों में भेद है। पृथिवी-परमाणुओं से पार्थिव द्व्यणुक उत्पन्न होता है। इन दोनों के सजातीय होने पर भी परमाणु का अपना अस्तित्व है, और द्व्यणुक का अपना। सूत्रकार यहां कार्य एवं कारण के भेद को स्पष्ट करना चाहता है। अन्य तन्त्रकारों[2] ने इसका अभिलापन भिन्न रीति पर किया है।

इसीप्रकार कारणद्रव्य में रहने वाले गुण, कार्यद्रव्य में अपने सजातीय गुणों को उत्पन्न करते हैं। रूप रूप को, रस रस को, गन्ध गन्ध को। पर यहां भी

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में 'गुणान्तरम्' पद नहीं है। शेष पाठ दो सूत्रों में विभक्त किया है—'द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते' एक; 'गुणाश्च' दूसरा। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में भी सूत्र दो हैं, परन्तु दूसरा सूत्र वहाँ 'गुणाश्च गुणान्तरम्' इतना है।

२. सांख्यतन्त्रकार आचार्य कार्य-कारण में इसप्रकार भेद न मानकर उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारणरूप में अस्तित्व स्वीकार करते हैं, अन्यथा किसी कार्य के लिए विशिष्ट कारणों के उपादान की व्यवस्था न बन सकेगी। इस स्थिति में कार्य, कारण से अभिन्न रहता है।

इतना समझना चाहिये, कि कारण द्रव्य में जो गुण है, वही गुण व्यक्तिरूप से कार्य में नहीं आता, प्रत्युत वह कार्य में सजातीय अन्य गुण-व्यक्ति को उत्पन्न करता है। तन्तु का रूप ही पटगत रूप नहीं है, प्रत्युत तन्तुगत रूप पट में अपने से भिन्न रूप-व्यक्ति को उत्पन्न करता है। दोनों रूप सजातीय हैं, पर अपने-अपने व्यक्तित्व के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न हैं।

कभी कोई गुण विजातीय गुण का भी आरम्भक होता है। तीन द्व्यणुकों की बहुत्व संख्या त्रसरेणु में महत् परिमाण को उत्पन्न करती है। यहां संख्या-गुण विजातीय परिमाण-गुण का आरम्भक है। ऐसे स्थलों में साधर्म्य के सामञ्जस्य के लिये जाति के आधार पर व्यवस्था कर लेनी चाहिये। गन्धादि सजातीयारम्भक गुण में रहने वाली 'गुणत्व' जाति, उस गुण में भी रहती है, जो सजातीयारम्भक नहीं है। दोनों में एक 'गुणत्व' जाति के आधार पर उनका 'सजातीयारम्भकत्व' साधर्म्य समझ लिया जाता है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे द्रव्य सजातीय द्रव्य के तथा गुण सजातीय गुण के आरम्भक होते हैं, उसीप्रकार क्या कर्म सजातीय कर्म का आरम्भक होता है? सूत्रकार ने समाधान किया—

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

[कर्म] कर्म, [कर्मसाध्यं] कर्म से साध्य-उत्पाद्य, [न] नहीं, [विद्यते] होता है।

कर्म अर्थात् उत्क्षेपण या गति आदि कोई क्रिया किसी अन्य क्रिया को कभी उत्पन्न नहीं करती। कोई क्रिया किसी अन्य क्रिया को उत्पन्न क्यों नहीं करती? यह विचारणीय है।

क्रिया यदि क्रियान्तर को उत्पन्न करे, तो अपनी उत्पत्ति के अनन्तर ही करेगी। जैसे शब्द जिस क्षण में उत्पन्न होता है, उससे अगले ही क्षण में अपने सजातीय अन्य शब्द को उत्पन्न कर देता है। इसीप्रकार यदि क्रिया अन्य क्रिया को उत्पन्न करे, तो अपनी उत्पत्ति के अनन्तर क्षण में करेगी। परन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि क्रिया के विषय में यह व्यवस्था है, कि क्रिया जिस क्षण में उत्पन्न होगी, उससे अगले क्षण में वह अपने अधिकरण में उस प्रदेश से विभाग को उत्पन्न कर देगी। कारण यह है, कि विभाग को उत्पन्न करने में क्रिया किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करती[1]। यदि उसी क्षण में पहली क्रिया अन्य क्रिया को उत्पन्न करती है, तो दूसरी क्रिया के लिए विभाग को उत्पन्न करना संभव ही

१. देखें—इसी आह्निक का १७ वां सूत्र।

नहीं होसकता। क्योंकि विभाग सर्वदा संयोगपूर्वक होसकता है, अभी प्रथम क्रिया से क्रियाधिकरण द्रव्य में विभाग उत्पन्न हुआ है, उस विभाग से पूर्व देश के साथ उस द्रव्य के संयोग का नाश होगा, उसके अनन्तर उत्तर देश के साथ संयोग होगा। तब कहीं अन्य क्रिया के उत्पन्न होने की संभावना आती है।

इस अवसर पर पहली बात यह है, कि तब तक प्रथम क्रिया का नाश हो-जाता है। दूसरे यह, कि यदि एक क्रिया अन्य क्रिया को उत्पन्न कर सके, तो वह उसके लिए प्रतीक्षा क्यों करेगी ? अपने जीवन काल में ही उसे उत्पन्न कर देगी। क्रिया का जीवनक्रम इसप्रकार है—प्रथम क्षण में उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में पूर्व देश से उस द्रव्य का विभाग, विभाग से पूर्वदेशसंयोग का नाश, उत्तरदेश-संयोग की उत्पत्ति, तदनन्तर क्रिया का नाश। यदि ऐसी स्थिति में प्रथम क्रिया अन्य क्रिया को उत्पन्न कर दे, तो हाथ से सरकाया गया पत्थर एवं वायु से उड़ाया गया तिनका या पत्ता कभी रुकेगा नहीं; एक क्रिया अन्य क्रिया को उत्पन्न करती रहेगी, और वह निरन्तर निरवधिक प्रदेशों तक चलता रहेगा। यही रहस्य है, जिससे एक कर्म अन्य कर्म का आरम्भक नहीं मानाजाता।

ऐसे स्थलों में—जहां क्रिया के उत्पन्न होने में अभिघात निमित्त रहता है, जैसे हाथ से गेंद या पत्थर फेंकना अथवा धनुष से बाण या बन्दूक से गोली छोड़ना—क्रिया उत्पन्न होकर वेग नामक संस्कार-गुण को उत्पन्न कर देती है, पुनः वेग क्रिया को और क्रिया वेग को उत्पन्न करते रहते हैं; एवं गति उस समय तक बनी रहती है, जबतक अभिघात की शक्ति के अनुसार क्रिया व वेग उत्पन्न होते रहते हैं। वह शक्ति क्षीण होजाने पर क्रिया उत्पन्न होनी बन्द होजाती है, और वेग का अन्त होजाता है, अथवा आगे किसी ठोस वस्तु से टकराकर क्रिया व वेग की परम्परा समाप्त होजाती है। इसप्रकार यह सिद्धांत प्रमाणित होता है, कि एक कर्म अन्य कर्म का कारण नहीं होता ॥११॥

शिष्य आशंका करता है, गुण और कर्मों में यह देखा जाता है, कि एक कार्य अपने कारण का नाश कर देता है; क्या द्रव्यों में भी ऐसा क्रम है ? गुरु समाधान करता है—

न द्रव्यं कार्यं कारणं च[१] वधति ॥१२॥

[न] नहीं, [द्रव्यं] द्रव्य, [कार्यं] कार्य को [कारणं] कारण को [च]

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में सूत्रपाठ इस-प्रकार है—'कार्याविरोधि द्रव्यं कारणाविरोधि च'। अर्थ में कोई भेद नहीं है।

और, [वधति] नाश करता है।

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और अपने कारण को नष्ट नहीं करता। गुण एवं कर्म से द्रव्य का यह वैधर्म्य है।

किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव और असमवायिकारण उन अवयवों का संयोग होता है। मुख्यरूप से अवयवी द्रव्य का नाश, उस द्रव्य के असमवायिकारण के नाश से होता है। यदि अवयवों का संयोग परस्पर न रहे, तो उन अवयवों से बना अवयवी न रहेगा। द्रव्य कभी किसी का असमवायिकारण नहीं होता, इसलिए वह अपने कार्य द्रव्य का नाश नहीं कर सकता। कार्यद्रव्य सदा अपने कारणद्रव्यों में समवेत रहता है, इसलिए यदि वह कारणद्रव्य का नाशक होगा, तो अपना ही नाश करेगा; अपने आश्रय को नष्ट कर वह स्वयं कैसे रहेगा? फलतः द्रव्य न कार्य का हनन करता है, न कारण का। जिन द्रव्यों का परस्पर कार्यकारणभाव है, उनमें से कोई किसीका नाशक नहीं होता।

कभी आश्रयनाश से कार्यद्रव्य का नाश हो जाता है। 'आश्रय' से तात्पर्य 'समवायिकरण' से है। यह नियम सार्वत्रिक नहीं है; द्वयणुक का नाश आश्रयनाश से असंभव है। द्वयणुक के आश्रय परमाणु नित्य हैं, उनका कभी नाश नहीं होता। द्वयणुक के असमवायिकारण—दो परमाणुओं के संयोग—के नाश से द्वयणुक का नाश होता है। इसप्रकार 'कार्यकारणाविनाश्यत्व' द्रव्यों का साधर्म्य है।

तन्तु-आश्रय के नाश से कार्य-पट का एवं तन्तु के रूपादि गुणों का नाश हो-जाता है। जहां किसी अवयवी के समवायिकारण अवयव स्वयं कार्य होते हैं, वहां यह व्यवस्था देखी जाती है। अथवा द्वयणुक-नाश के अतिरिक्त सर्वत्र नाश की यह प्रक्रिया संभव है। कहीं अन्य कारण होगा, कहीं यह ॥१२॥

इसी प्रसंग को लेकर सूत्रकार गुणों के विषय में कहता है—

उभयथा गुणाः[1] ॥१३॥

[उभयथा] दोनों प्रकार के, [गुणाः] गुण हैं।

गुण कार्यवध्य और कारणवध्य दोनों प्रकार के हैं। कारणगुण कहीं अपने कार्यगुण का नाश कर देता है, और कहीं कार्यगुण अपने कारणगुण का नाशक हो जाता है। इसप्रकार 'कार्यकारणनाश्यत्व' गुणों का साधर्म्य है।

संयोग आदि निमित्त से उत्पन्न होकर प्रथम शब्द, आगे उत्पन्न होने वाले शब्द का कारण होता है, अगला कार्यशब्द उत्पन्न होकर अपने से पहले कारण-

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'गुणः' एकवचनान्त पाठ है।

शब्द का नाशक होजाता है। इसीप्रकार यह शब्दसन्तति जब तक चलती रहती है, अगला कार्यशब्द अपने पहले कारणशब्द का नाशक रहता है। अन्तिम कार्यशब्द का नाशक उपान्त्य कारणशब्द माना गया है। सुन्दोपसुन्दन्याय से वे दोनों एक-दूसरे का नाश कर देते हैं, शब्दसन्तति समाप्त होजाती है। ऐसे ही उत्तरवर्त्ती कार्य-ज्ञान से पूर्ववर्त्ती कारण-ज्ञान का नाश होजाता है। फलतः गुणों का साधर्म्य है—'कार्यकारणविरोधित्व'। द्रव्य से गुणों का यह वैधर्म्य है ॥१३॥

द्रव्य और गुणों का परस्पर साधर्म्य एवं अन्योन्य से वैधर्म्य बताकर सूत्रकार कर्म का एक अंश में गुण से साधर्म्य बताता है—

कार्यविरोधि कर्म[1] ॥१४॥

[कार्यविरोधि] कार्य है विरोधि जिसका, ऐसा है [कर्म] कर्म। कर्म अर्थात् क्रिया का नाश, उससे उत्पन्न कार्य के द्वारा होता है। इसप्रकार कर्म कार्यनाश्य है।

'कार्यविरोधि' पद में व्याख्याकारों ने बहुव्रीहि समास माना है, जैसा कि ऊपर अर्थ करने में दिखा दिया है। अभिप्राय हुआ–कर्म अपने कार्य से नाश्य होता है। क्रिया से विभाग उत्पन्न होकर पूर्वदेशसंयोग के नाश के अनन्तर उत्तरदेश-संयोग उत्पन्न होजाता है। यह संयोग क्रिया [कर्म] का कार्य है, उत्पन्न हो-जाने पर यह संयोग अपने कारण क्रिया का नाश करदेता है। उत्तरदेशसंयोग होजाने पर क्रिया नष्ट होजाती है।

कतिपय व्याख्याकारों ने सूत्र के 'कार्यविरोधि' पद में षष्ठी-तत्पुरुष समास भी स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य हुआ—कर्म अपने कार्य का नाशक होता है। एक क्रिया से किसी वस्तु का उत्तरदेशसंयोग होजाने पर अन्य क्रिया के द्वारा विभागोत्पत्तिपूर्वक उस संयोग का नाश कर दिया जाता है। फलितार्थ हुआ—एक कर्म अपने कार्य से नाश्य है; अन्य कर्म उसी कार्य का नाशक हो जाता है। इन व्याख्याकारों ने गुण और कर्म दोनों का 'कार्य-कारणनाश्यत्व' साधर्म्य स्वीकार किया है।

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में यह सूत्र नहीं है, इसके विपरीत दो सूत्र—'कारणाभावात् कार्याभावः' तथा 'न तु कार्याभावात् कारणाभावः' एवं इनकी व्याख्या यहां मुद्रित है। ये दोनों सूत्र अन्य प्रतियों में प्रथमाध्याय के द्वितीय आह्निक के प्रारम्भिक सूत्र हैं। प्राचीन भाष्य में वहां मूल सूत्र छपे हैं, व्याख्यासहित यहाँ।

द्रव्यों में कार्य कारण का, अथवा कारण कार्य का विरोधी नहीं होते, ऐसी व्यवस्था है, परन्तु गुण-कर्म के विषय में ऐसा नहीं है। गुण का नाश आश्रय (द्रव्य) के नाश से होजाता है, असमवायिकारण के नाश से तथा निमित्तकारण के नाश से भी। कहीं विरोधी गुण के आजाने से गुण का नाश होजाता है। जैसे—आश्रय द्रव्य घट-पट आदि के नाश से तद्गत गुणों का नाश होजाता है, तन्तु-रूप असमवायिकारण के नाश से पटगत रूप का नाश होजाता है। तुरीतन्तुसंयोग के नाश से तुरीपटसंयोग का नाश होजाता है। ज्ञान के नाश से इच्छा का नाश होजाता है। श्याम घट में विरोधी पाकज गुण रक्त आजाने से श्यामरूप का नाश होजाता है। तीव्र आघात से द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होजाती है, उस क्रिया से वेग और वेग से क्रिया की उत्पत्ति-विनाश का प्रवाह उस समय तक चलता रहता है, जब तक आघात की क्षमता रहती, अथवा विरोधी स्थिति नहीं आ-जाती ॥१४॥

द्रव्य, गुण, कर्म के साधर्म्य और वैधर्म्य का उपदेश कर सूत्रकार द्रव्य आदि के लक्षणों का निर्देश करता है। प्रथम द्रव्य का लक्षण बताया—

क्रियागुणवत्[1] समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

[क्रियागुणवत्] क्रिया-कर्मों का आश्रय और गुणों का आश्रय, [समवायि-कारणम्] समवायिकारण (सब उत्पन्न होने वाले कार्यों का), [इति] यह, [द्रव्यलक्षणम्] द्रव्य का लक्षण-चिह्न है।

सूत्र का 'क्रियागुणवत्' पद अधिकरण अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय होकर बना है। कर्मों और गुणों का जो अधिकरण-आश्रय है, वह द्रव्य है। कर्म अर्थात् कोई क्रिया किसी द्रव्य में होसकती है। विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष समस्त नित्य परमाणु आदि एवं अनित्य घट आदि द्रव्यों में क्रिया-गति आदि कर्म बराबर हुआ करते हैं। पृथिवी आदि द्रव्यों को छोड़कर गुण आदि पदार्थों में क्रिया का होना संभव नहीं माना गया। इसलिए जहां क्रिया देखी जाय, समझ लेना चाहिये—यह द्रव्य है। किसी जगह क्रिया का होना, उसके द्रव्य होने का चिह्न है।

कहा गया, विभु द्रव्यों में क्रिया होना संभव नहीं; अतः सूत्रकार ने दूसरा अधिक व्यापक चिह्न बताया—'गुणवत्, गुण का अधिकरण, गुणों का आश्रय। प्रत्येक गुण, द्रव्य में आश्रित रहता हुआ आत्मलाभ करता है। द्रव्य को छोड़कर गुण का रहना संभव नहीं। प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य में रहता है। जहां कहीं

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'क्रियावत् गुणवत्' ऐसा असमस्त पाठ है।

कोई गुण जाना जाया समझ लेना चाहिए, इस गुण का जो आश्रय पदार्थ है, वह द्रव्य है।[1]

---

१. किस द्रव्य में कितने गुण रहते हैं, इसका संकलन किसी विद्वान् ने निम्न श्लोक से किया है—

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः,
जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे,
महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥

वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथिवी और जीवात्मा प्रत्येक के चौदह-चौदह, दिशा के पांच, काल के पांच, आकाश में छह, परमात्मा में आठ, और मन के आठ गुण माने गए हैं। इसे सरलता से समझने के लिए गुणों का क्रम इसप्रकार सामने रखना चाहिए—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,
विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व [सांसिद्धिक, नैमित्तिक],
गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म,
अधर्म, संस्कार [भावना, वेग, स्थितिस्थापक], शब्द।

वायु के नौ गुण—स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवां 'वेग' नामक संस्कार।

तेज, ११—रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दस, और ग्यारहवां वेग नामक संस्कार।

जल, १४—रस से स्नेह तक तेरह, और चौदहवां (वेग स्थितिस्थापक नामक) संस्कार। मध्यगत द्रवत्व (सांसिद्धिक) है।

पृथिवी, १४—गन्ध से गुरुत्व तक तेरह, और चौदहवां संस्कार (वेग, स्थितिस्थापक दोनों)। मध्यगत द्रवत्व नैमित्तिक है।

जीवात्मा, १४—संख्या से विभाग तक पांच, बुद्धि से संस्कार (भावना नामक) तक नौ।

दिशा, ५—संख्या से विभाग तक।

काल, ५—संख्या से विभाग तक।

आकाश ६—संख्या से विभाग तक पांच, छठा शब्द।

महेश्वर, ८—संख्या से विभाग तक पांच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न ये तीन।

मन, ८—संख्या से अपरत्व तक सात, आठवां संस्कार (वेग नामक)।

प्रत्येक उत्पन्न द्रव्य को—आचार्यों ने द्रव्य की उत्पत्ति के प्रथम क्षण—क्रिया-हीन और गुणहीन माना है। उस क्षण में 'क्रिया-गुणवत्त्व' लक्षण उस द्रव्य में घटित न होगा, इस आशंका की भावना से सूत्रकार ने कहा—'समवायि-कारणम्'।

किसी कार्य के आत्मलाभ के लिये उसके कारणों का पहले विद्यमान रहना आवश्यक है। क्योंकि यदि कारण न होगा, तो कार्य का उत्पन्न होना संभव नहीं। इसलिये द्रव्य में क्रिया व गुण की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है, कि क्रिया और गुण का कारण द्रव्य क्रिया और गुण की उत्पत्ति से पहले विद्यमान रहे। उत्पन्न द्रव्य को पहले क्षण में इसीकारण क्रियाहीन और गुणहीन माना गया है, ताकि क्रिया-गुण की उत्पत्ति से पहले द्रव्य की विद्यमानता स्थिर होजाय, तभी उसमें क्रिया व गुण की उत्पत्ति संभव है। यह हमें ज्ञात है, कि किसी भी कार्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। उत्पन्न द्रव्य के आद्य क्षण

कौन-सा गुण किन द्रव्यों में रहता है, गुणों के क्रम से यह इसप्रकार समझना चाहिए—

गन्ध—केवल पृथिवी में।

रस—पृथिवी और जल में।

रूप—पृथिवी, जल, तेज में।

स्पर्श—पृथिवी, जल, तेज वायु में।

संख्या से विभाग तक—सब द्रव्यों में।

परत्व, अपरत्व—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में।

द्रवत्व—जल में (सांसिद्धिक), पृथिवी, तेज में (नैमित्तिक),

गुरुत्व—पृथिवी, जल में।

स्नेह—केवल जल में।

बुद्धि से संस्कार (भावना) तक—जीवात्मा में।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न—जीवात्मा, परमात्मा दोनों में।

वेग संस्कार—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में।

स्थितिस्थापक—केवल पृथिवी में।

शब्द—आकाश में।

सब गुणों को दो भागों में विभक्त माना गया है। विशेष और सामान्य। विशेषगुण अपने आश्रय द्रव्य का लक्षण-चिह्न होता है। इसका निरूपण गुण-प्रसंग में किया जायगा।

में भी उस द्रव्य में उत्पन्न होने वाले क्रिया व गुण की समवायिकारणता विद्य-मान रहती है। यदि ऐसा न हो, अर्थात् उसमें क्रिया व गुण को उत्पन्न करने की क्षमता न हो, तो उसमें क्रिया व गुण का उत्पन्न होना संभव न होगा। फलतः उत्पन्न द्रव्य के आद्यक्षण में वहां क्रिया व गुण के न होने पर भी क्रिया व गुण की समवायिकारणता विद्यमान रहती है; इसलिये 'समवायिकारण होना' यह द्रव्य का सर्वथा निर्दोष लक्षण है। इसप्रकार सूत्रकार ने 'क्रियावत्, गुणवत्, समवायिकारणम्' इन तीन पदों के द्वारा द्रव्य के स्वरूप को स्पष्टता से अभि-व्यक्त किया है।

द्रव्य का जो लक्षण कहा गया—'क्रियावत्त्वम्, गुणवत्त्वम्, समवायिकारणत्वम्' यह सब द्रव्यों का साधर्म्य है, और द्रव्यों से अतिरिक्त समस्त पदार्थों का वैधर्म्य। क्रिया और गुण आधेय हैं, द्रव्य आधार; इनके आधाराधेयभाव में सम्बन्ध समवाय है। क्रिया और गुण का समवायसम्बन्ध से जो आश्रय हो, तथा कार्यद्रव्य एवं गुण आदि का जो समवायिकारण हो, वह द्रव्य है; यह फलितार्थ स्पष्ट होता है ॥१५॥

द्रव्य-लक्षण बताने के अनन्तर शिष्यों की जिज्ञासा पर सूत्रकार अब गुण का लक्षण बताता है—

द्रव्याश्रय्यगुणवान्[1] संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

[द्रव्याश्रयी] द्रव्य में आश्रय लेने का जिसका स्वभाव हो, [अगुणवान्] जो स्वयं गुण का आश्रय न हो, [संयोगविभागेषु] संयोग और विभागों में [अकारणम्] कारण न हो, [अनपेक्षः] अन्य किसी की अपेक्षा न रखता हुआ, [इति] ऐसा, अथवा यह [गुणलक्षणम्] गुण नामक पदार्थ का चिह्न है।

सूत्रकार ने सूत्रपठित पहले पद से 'गुण' पदार्थ का चिह्न बताया—जो पदार्थ स्वभावतः द्रव्य में आश्रय पाता हो, वह गुण है। गुण का यह आश्रय समवायसम्बन्ध से लिया जाता है। तात्पर्य हुआ, जो पदार्थ समवायसम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण है। परन्तु इस लक्षण में कुछ न्यूनता रहगई; क्योंकि जितने कार्यद्रव्य हैं, वे सब समवायसम्बन्ध से अपने कारणद्रव्यों में आश्रित रहते हैं। तब द्रव्याश्रयित्व–गुणों में रहते हुए–कार्य द्रव्यों में भी घटित होता है, इसलिये गुण का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। इस न्यूनता को दूर करने के

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'द्रव्याश्रयी न गुणवान्' पाठ है। अर्थ में भेद नहीं।

लिये सूत्रकार ने अगला पद पढ़ा—'अगुणवान्'। यहां 'मतुप्' प्रत्यय आश्रय अर्थ में है, वह आश्रय समवायसम्बन्ध से अपेक्षित है। तात्पर्य हुआ—जिस पदार्थ में समवायसम्बन्ध से गुण न रहते हों, वह गुण है। गुण में समवाय से गुण नहीं रहता; कार्यद्रव्य में गुण रहता है, इसलिये कार्यद्रव्य द्रव्याश्रयी होता हुआ भी अगुणवान् अर्थात् गुणों का अनाश्रय नहीं है, प्रत्युत गुणों का आश्रय है, इसलिये वह गुणलक्षण के क्षेत्र की सीमा से बाहर रहेगा।

कहावत है—'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' लशुन भी खाया, पर बीमारी न गई। 'अगुणवान्' कहने पर यद्यपि द्रव्य में अतिव्याप्ति न हुई; पर कर्म में अतिव्याप्ति बनी रही। कर्म द्रव्याश्रित है, और अगुणवान् है, लक्षण गुण का किया, पर कर्म में भी घटित होगया। इस दोष को दूर करने के लिये सूत्रकार ने अगला पद पढ़ा—'संयोगविभागेषु अकारणम्' जो द्रव्याश्रित और अगुणवान् होता हुआ, संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो, वह गुण है। द्रव्याश्रित और अगुणवान् होता हुआ भी कर्म संयोग और विभाग का कारण (असमवायिकारण) होता है, अकारण नहीं; अतः कर्म में अतिव्याप्ति न होगी।

फिर भी संयोग और विभाग में अव्याप्ति दोष होगा। संयोग, संयोगज-संयोग का कारण होता है, और विभाग, विभागज-विभाग का। लक्षण में कहा गया—जो संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो, वह गुण है; पर संयोग-विभाग इनकी [संयोगज-संयोग और विभागज-विभाग की] उत्पत्ति में कारण है; इसलिये संयोग और विभाग गुण की सीमा में नहीं आयेंगे, जोकि आने चाहिये। इनको गुण माना गया है। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये सूत्रकार ने कहा—'अनपेक्षः'। संयोग और विभाग की उत्पत्ति में जो अन्य की अपेक्षा न रखता हुआ कारण न हो; अर्थात् जो सापेक्ष कारण हो, वह गुण होगा। संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कर्म क्योंकि अनपेक्ष कारण है, अकारण नहीं; अतः उसका गुण की सीमा से परिहार होगा। संयोग और विभाग, संयोगज-संयोग व विभागज-विभाग की उत्पत्ति में अन्य-सापेक्ष कारण हैं, अतः उनका गुण की सीमा से बहिष्कार न होगा। हस्त-पुस्तक संयोग एवं हस्त-पुस्तक विभाग, देहपुस्तक संयोग की उत्पत्ति तथा देहपुस्तक विभाग की उत्पत्ति में देहसापेक्ष है, कर्म की तरह अनपेक्ष नहीं; अतः कर्म संयोगादि का अनपेक्ष कारण होने से गुण की श्रेणी में नहीं आयेगा, और संयोगादि अनपेक्ष अकारण होने से गुण की श्रेणी में बना रहेगा।

इसप्रकार सूत्र के अनुसार गुण का लक्षण हुआ—द्रव्याश्रित, अगुणवान् होते हुए जो संयोग-विभागों की उत्पत्ति में अनपेक्ष अकारण हो, वह गुण है।

इसका निष्कर्ष निकाल कर व्याख्याकारों ने गुण का लक्षण इस रूप में भी किया—द्रव्य और कर्म के अतिरिक्त जो पदार्थ सत्तासामान्य का आश्रय है, वह गुण है ॥१६॥

द्रव्य, गुण का लक्षण बताने के अनन्तर सूत्रकार ने शिष्यों की जिज्ञासा पर कर्म का लक्षण कहा—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्ष[1]कारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

[एकद्रव्यम्] एक द्रव्य में आश्रित रहना, [अगुणम्] गुणरहित, गुण का अनाश्रय, [संयोगविभागेषु] संयोग और विभागों की उत्पत्ति में [अनपेक्षकारणम्] अन्य की अपेक्षा न रखते हुए कारण होना, [इति] यह, [कर्मलक्षणम्] कर्म का लक्षण-चिह्न है।

कोई क्रिया जब होती है, उसका आश्रय द्रव्य केवल एक रहता है। एक क्रिया उसी काल अनेक द्रव्यों में नहीं होसकती। जैसे संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्व आदि अनेक गुण अनेकद्रव्याश्रित रहते हैं, इसप्रकार कर्म [क्रिया-गति आदि] कभी अनेकाश्रित नहीं रहता। कर्म कभी गुण का आश्रय नहीं होता। यहां आश्रयता समवायसंबन्ध से समझनी चाहिये। इसीप्रकार गुण भी गुण का आश्रय नहीं होता, यह गत सूत्र में बताया गया है। संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कर्म अनपेक्षकारण होता है। किसी भी द्रव्य में उत्पन्न गति आदि क्रिया उस द्रव्य में विभाग उत्पन्न कर देती है। विभाग होते ही उस द्रव्य का पूर्वदेश से संयोग का नाश होकर उत्तरदेश के साथ संयोग उत्पन्न होजाता है। संयोग-विभाग की उत्पत्ति में क्रिया किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखती।

कर्म के ये लक्षण कर्मों के साधर्म्य तथा कर्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थों के वैधर्म्य हैं। गुणों का आश्रय न होना [गुणानाश्रयत्व] गुण-कर्म दोनों का साधर्म्य है।

द्रव्य कुछ नित्य हैं कुछ अनित्य; गुण भी नित्य-अनित्य दोनों हैं; परन्तु कर्म कभी नित्य नहीं होता। प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती और अपना कार्य सम्पन्न कर नष्ट होती रहती है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में सत्तासामान्य समवेत रहता है। सत्ता की साक्षात् व्याप्यजाति द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व तीनों हैं। इसके अनुसार कर्म का लक्षण इसप्रकार भी किया जाता है—नित्य पदार्थ में न रहने वाली—

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'अनपेक्षं कारणं' पाठ है।

सत्तासामान्य की साक्षात् व्याप्य-जाति [कर्मत्व] का जो आश्रय है, वह कर्म है। 'द्रव्यत्व, गुणत्व' दोनों नित्य पदार्थ में रहने वाली व्याप्यजाति हैं, इसलिये उनका ग्रहण न होकर उक्त प्रकार की व्याप्य जाति केवल 'कर्मत्व' होगी; उसका आश्रय पदार्थ कर्म है, यह कर्म का निष्कृष्ट लक्षण हुआ।

सूत्र के 'अगुणं' पद का अर्थ बहुव्रीहि समास के अनुसार किया गया—अगुणवत्, जो गुणों का आश्रय न हो। इस पद का नञ्समास करने पर अर्थ होगा—जो गुण नहीं है, अर्थात् गुण को छोड़कर। सूत्र के प्रथम पदों को लेकर सूत्रार्थ होगा—जो केवल एक द्रव्य में आश्रित रहता है, पर गुण नहीं है, वह कर्म है। तात्पर्य हुआ—एक-द्रव्यवृत्ति गुण को छोड़कर जो पदार्थ केवल एक-द्रव्याश्रित रहता है, वह कर्म है। ऐसी व्याख्या करने से एकद्रव्यवृत्ति शब्द आदि गुण में अतिव्याप्ति का परिहार होजाता है। परन्तु सूत्रपठित लक्षण के पूरे अंगों का समन्वय करने पर ऐसी अतिव्याप्ति का कोई अवकाश नहीं रहता ॥१७॥

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों के लक्षण बताकर सूत्रकार शिष्यों की जिज्ञासा पर इन तीनों के साधर्म्य का निरूपण करता है—

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्[1] ॥१८॥

[द्रव्यगुणकर्मणाम्] द्रव्य, गुण और कर्मों का, [द्रव्यम्] द्रव्य, [कारणम्] कारण है, [सामान्यम्] समानरूप से।

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का-द्रव्य-समानरूप से कारण हैं। द्रव्य जैसा द्रव्य का कारण है, वैसा ही गुण और कर्म का। यहां कारणता समवाय सम्बन्ध से समझनी चाहिये। तात्पर्य हुआ–किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। प्रत्येक कार्यद्रव्य अवयवी कहा जाता है। यह अवयवी द्रव्य अपने कारण-द्रव्य अवयवों में समवायसम्बन्ध से आत्मलाभ करता है, इसप्रकार प्रत्येक अवयवी के–उसके कारणद्रव्य–अवयव समवायिकारण हैं। वे अवयव यदि अपने कारणद्रव्यों से उत्पन्न हुए हैं, तो वहां प्रत्येक अवयव अपने रूप में एक अवयवी है, और उसके समवायिकारण वे अवयव हैं, जिनसे वह बना व उत्पन्न हुआ है।

पट के अवयव तन्तु। तन्तु पट के समवायिकारण है। तन्तु के अवयव अंशु। अंशु तन्तु के समवायिकारण हैं। अंशु के और छोटे-छोटे रेशे उसके समवायिकारण हैं। यह कारणपरम्परा का क्रम द्व्यणुक तक चला जाता है। द्व्यणुक के

1. अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन व्याख्या में प्रस्तुत सूत्र का पाठ है—'द्रव्यं द्रव्यगुणकर्मणां सामान्यं कारणम्'।

अवयव दो परमाणु हैं, जो द्व्यणुक के समवायिकारण हैं। स्थूल से द्व्यणुक तक प्रत्येक इकाई अवयवी भी है और अवयव भी; परन्तु द्व्यणुक के समवायिकारण दो परमाणु अपने रूप में केवल अवयव हैं। वैशेषिक में द्रव्य-विवरण पृथिवी आदि के परमाणुओं को द्रव्य मानकर प्रस्तुत किया गया है, इसलिये यहां पृथिवी आदि द्रव्य का परमाणु अवयवमात्र इकाई है, उसके आगे अवयवों की कल्पना इस शास्त्र का प्रतिपाद्य लक्ष्य नहीं है।

द्रव्य जैसा द्रव्य का कारण है, वैसा ही वह गुण और कर्मों का। द्रव्य का समवायिकारण द्रव्य है; गुण और कर्मों का भी समवायिकारण द्रव्य है। तात्पर्य हुआ—'समवायिकारणत्व' द्रव्यमात्र का साधर्म्य है; अर्थात् किसी भी कार्यवस्तु का समवायिकारण केवल द्रव्य है, अन्य कोई नहीं ॥१८॥

द्रव्यों के साधर्म्य के समान गुणों के साधर्म्य का सूत्रकार अतिदेश करता है—

तथा गुणः ॥१९॥

[तथा] वैसा [गुणः] गुण है।

'तथा' पद से इस सूत्र में गतसूत्र के 'द्रव्यगुणकर्मणां, कारणं, सामान्यं' इन तीन पदों का अतिदेश अभिप्रेत है। जैसे द्रव्य तीनों–द्रव्य, गुण, कर्मों–का समान कारण है, ऐसे ही गुण तीनों द्रव्य, गुण, कर्मों का समान कारण है। विशेषता इतनी है, कि द्रव्य तीनों का समवायिकारण है, और गुण असमवायिकारण।[1]

समस्त कार्य द्रव्यों का असमवायिकारण अवयवसंयोग हैं। इसप्रकार द्रव्य का असमवायिकारण संयोग-गुण है। कार्यद्रव्यवर्त्ती रूप रस गन्ध स्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व आदि गुणों के असमवायिकारण समानजातीय कारणगत रूपादि गुण हैं। कतिपय गुण अपने असमानजातीय गुणों के असमवायिकारण होते हैं। जैसे बुद्धि सुख दुःख आदि आत्मगत गुणों की उत्पत्ति में आत्म-मनः-संयोग असमवायिकारण होता है। पृथिवी-परमाणुओं में पाकज रूपादि गुणों की उत्पत्ति में अग्निसंयोग असमवायिकारण होता है। तीन द्व्यणुकों की बहुत्व संख्या त्रसरेणुगत महत्-परिमाण की उत्पत्ति में असमवायिकारण होती है। तात्पर्य यह, कि किसी भी गुण का असमवायिकारण केवल गुण होता है, चाहे वह समानजातीय गुण हो, अथवा असमानजातीय।

---

१. समवायिकारण, असमवायिकारण पद इस शास्त्र के पारिभाषिक हैं। इनका विवरण यथावसर कर दिया गया है। इसके लिये परिशिष्ट (१) देखिये।

कर्मों का असमवायिकारण भी गुण होता है। कहीं द्रव्य में अग्नि एवं वायु के नोदन [प्रैशर-दबाव] से क्रिया उत्पन्न होती है। नोदन एक प्रकार का संयोग है। कहीं अभिघात से द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है। जिस द्रव्य में कर्म उत्पन्न होता है, वह द्रव्य कर्म का समवायिकारण है और नोदन व अभिघात उसके असमवायिकारण। अभिघात भी संयोगविशेष है; तीव्र संयोग को अभिघात कहा जाता है। इसीप्रकार गुरुत्व द्रवत्व वेग एवं स्थितिस्थापक-संस्कार कर्म के असमवायिकारण होते हैं। फल आदि की आद्य-पतन क्रिया में गुरुत्व; जल आदि के प्रस्रवण [बहाव] में द्रवत्व; फेंके हुए बाण व कन्दुक आदि की अगली क्रियाओं में वेग; टहनी को झुकाकर छोड़ देने पर टहनी के यथावस्थित ऊपर चले जाने की क्रिया में स्थितिस्थापकसंस्कार असमवायिकारण होता है। इसप्रकार द्रव्य, गुण, कर्म तीनों के असमवायिकारण केवल गुण होते हैं; इसरूप में 'असमवायिकारणत्व' गुणों का साधर्म्य है।

कतिपय[1] व्याख्याकारों ने सूत्र का पाठ माना है—'उभयथा गुण:'। अर्थ किया है—गुण कहीं द्रव्य, गुण, कर्म का कारण होता है, कहीं नहीं होता। अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्मों के प्रति गुण का नियतहेतुभाव नहीं है; फलतः गुणों का 'अनियतहेतुत्व' साधर्म्य समझना चाहिये। जैसे—कारण द्रव्यों का संयोग कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में हेतु है, रूपादि गुण हेतु नहीं। कारणगत रूपादि कार्यगत रूपादि में हेतु होते हैं, परन्तु उसमें संख्या आदि गुण हेतु नहीं। गुरुत्व आदि गुण कर्म को उत्पन्न करते हैं, रूपादि गुण नहीं।

यह सूत्रपाठ और व्याख्या सूत्रकार के आशय के अनुसार प्रतीत नहीं होते। इसप्रकार तो द्रव्यों की समवायिकारणता को भी उभयविध कहा जासकता है। जैसे कहा गया—संयोग द्रव्य का हेतु है, रूपादि नहीं; इसीप्रकार यह कहा जासकता है, कि तन्तु पट के समवायिकारण हैं, कपाल नहीं। कोई भी कारणद्रव्य वस्तुतः किसी विशिष्ट कार्यद्रव्य को ही उत्पन्न करता है। ऐसा नहीं है, कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक कार्य को उत्पन्न कर दे; यद्यपि प्रत्येक द्रव्य 'द्रव्यत्व' रूप से समान है। इसीप्रकार कोई गुण किसी द्रव्य, गुण, कर्म का असमवायिकारण होता है; ऐसा नहीं, कि प्रत्येक गुण प्रत्येक द्रव्यादि का कारण हो। यद्यपि वह गुण 'गुणत्व' रूप से समान है। सूत्रकार का केवल इतना तात्पर्य है, कि जैसे कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य है; ऐसे कार्यमात्र का असमवायिकारण गुण है। इसी अभिप्राय को सूत्रकार ने 'तथा' कहकर अभिव्यक्त किया

---

१. द्रष्टव्य, चन्द्रकान्त भट्टाचार्यकृत प्रस्तुत सूत्र का भाष्य।

है। फलतः व्याख्याकारों का सूत्र में 'उभयथा' पाठ संगत प्रतीत नहीं होता॥१९॥

द्रव्य और गुण का पृथक् साधर्म्य कहकर सूत्रकार कर्म-साधर्म्य का निर्देश करता है—

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्[1] ॥२०॥

[संयोगविभागवेगानां] संयोग, विभाग और वेग इन तीनों का [कर्म] कर्म [समानम्] समान (कारण है)।

गत सूत्र के 'कारणं' पद की यहां अनुवृत्ति है। गत दो सूत्रों में यथाक्रम यह बताया गया है, कि कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य तथा असमवायिकारण गुण हैं। प्रस्तुत सूत्र से सूत्रकार गुणों की असमवायिकारणता में अपवादका निर्देशन कर रहा है। कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य होता है, इस नियम में कोई अपवाद नहीं है। पहले के समान दूसरा नियम है—द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का असमवायिकारण गुण होता है। इस नियम में प्रस्तुत सूत्र से यह अपवाद बताया—अन्य कार्यों के प्रति गुणों के समान, संयोग, विभाग और वेग की उत्पत्ति में असमवायिकारण कर्म होता है, कोई गुण नहीं। तात्पर्य हुआ—जैसे द्रव्य की समवायिकारणता निरपवाद है, उसप्रकार गुण की असमवायिकारणता निरपवाद नहीं। कतिपय गुणों का असमवायिकारण गुण न होकर कर्म होता है। जिन गुणों का कर्म असमवायिकारण है, वे गुण हैं—संयोग, विभाग, वेग।

---

१. अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन भाष्य में सूत्र का पाठ है, 'संयोग-विभागानां कर्म कारणम्'। भाष्य में 'सामान्य' पद की अनुवृत्ति मानी है, और 'संयोग विभाग' को 'वेग' का उपलक्षण स्वीकार किया है। इससे प्रतीत होता है, उक्त भाष्यकार के समय सूत्र में 'वेग' पद का पाठ न था। परवर्त्ती व्याख्याकारों ने उक्त भाष्यकार के सुझाव पर मूलसूत्र में 'वेग' पद को सम्मिलित कर दिया। प्रशस्तपादभाष्य के कर्मपदार्थनिरूपण-प्रसंग में कर्म को वेग का असमवायिकारण बताया है। संभव है, उक्त भाष्यकार ने वहां से प्रेरणा पाकर प्रस्तुत सूत्र में संयोग-विभाग को 'वेग' का उपलक्षण मान वेग को भी संयोग-विभाग के साथ सम्मिलित करने का सुझाव दिया।

यह प्रसंग अज्ञात भाष्य के काल पर कुछ प्रकाश डालता है। यह भाष्यकार शङ्करमिश्र से पूर्व और प्रशस्तपाद का परवर्त्ती होना चाहिए। अध्याय के अन्त में प्रकरण का उपसंहार करते हुए इस आशय का जो सूत्र [१।१।३०] कहा है, वहां भी सूत्र में 'वेग' पद का पाठ नहीं है।

चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'संयोगविभागानां कर्म' इतना सूत्रपाठ है।

इसप्रकार 'संयोगाद्यसमवायिकारणत्व' कर्मों का साधर्म्य है।

सूत्र का यह भी तात्पर्य संभव है—संयोग, विभाग, वेग का असमवायिकारण एक कर्म होता है। तात्पर्य है—एक कर्म इन तीनों को उत्पन्न कर देता है। विचारणीय है—क्या एक ही क्षण में तीनों को उत्पन्न करता है, अथवा क्रम से? यह निश्चित है, विभाग और संयोग का एक क्षण में उत्पन्न होना असंभव है। अतः क्रम स्वीकार करना होगा। इस दृष्टि के अनुसार एक ही कर्म से पहले विभाग उत्पन्न होगा, फिर वेग, अनन्तर संयोग।

कतिपय व्याख्याकार[1] प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या इसप्रकार करते हैं—कहीं एक कर्म अनेक कार्यों को उत्पन्न करता है। जैसे ही किसी द्रव्य में कर्म उत्पन्न हुआ, उसके साथ ही—उस द्रव्य के जितने संयोग प्रदेश के साथ हैं उतने–विभागों को वह उत्पन्न कर देता है, तदनन्तर प्रदेशान्तर के साथ उतने संयोगों को उत्पन्न कर देता है। इसप्रकार एक ही कर्म अनेक विभाग और संयोगों का असमवायिकारण होता है। यद्यपि वह कर्म अपने आश्रय द्रव्य में वेग एक ही उत्पन्न करता है। यहां वेग, स्थितस्थापक संस्कार का उपलक्षण है, उसका भी यहां संग्रह कर लेता है।

इस व्याख्या में कोई असामञ्जस्य नहीं है; बात केवल इतनी है, कि मुख्य प्रसंग की उपेक्षा कर एक साधारण स्थिति को महत्त्व देदिया गया है। सूत्रकार ने प्रथम कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य बताया; उसके अनन्तर गुण को असमवायिकारण कहा। प्रसंग के अनुसार प्रस्तुत सूत्र में मुख्य प्रतिपाद्य यह है, कि जैसे समवायिकारण केवल द्रव्य है, वैसे असमवायिकारण केवल गुण हो, ऐसी बात नहीं है; प्रत्युत कतिपय कार्यों का असमवायिकारण कर्म होता है; जिनका असमवायिकारण कर्म है, वे हैं—संयोग, विभाग, वेग; यह प्रस्तुत सूत्र का मुख्य आशय है। वह एक का असमवायिकारण होता है, अथवा अनेक का, यह बात दूसरे स्तर पर आती है; वैसे इसकी यथार्थता में कोई बाधा नहीं। यद्यपि कर्म वेगरूप में एक ही कार्य को उत्पन्न करता है।

अन्य एक व्याख्याकार[2] का कहना है, कि जैसे अवयवसंयोग द्रव्य का असमवायिकारण है, ऐसे ही अवयवगत कर्म को द्रव्य का असमवायिकारण मानना चाहिये। अवयवसंयोग के बिना द्रव्य उत्पन्न नहीं होसकता, और कर्म के बिना अवयवसंयोग नहीं होसकता, इसलिये कर्म संयोगोत्पत्तिद्वारा द्रव्य का असमवा-

---

१. उपस्कार व्याख्याकार, आचार्य शङ्कर मिश्र।

२. भाष्यकार चन्द्रकान्त भट्टाचार्य।

यिकारण माना जाना चाहिए। द्रव्य के प्रति असमवायिकारणता का लक्षण कर्म में पूर्णरूप से घटित होता है।[1]

आपाततः यह व्याख्या प्रतिभापूर्ण एवं रुचिकर प्रतीत होती है, परन्तु गम्भीरता से विचारने पर इसकी न्यूनता स्पष्ट झलक आती है। सूत्रकार का स्वारस्य ऐसी व्याख्या में प्रतीत नहीं होता।

---

१. असमवायिकारण का लक्षण है—समवायिकारणे प्रत्यासन्नं सत् यत् कार्यस्य कारणं भवति, तत् असमवायिकारणम्। किसी कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न रहता हुआ जो उस कार्य का कारण बन जाता है, वह असमवायिकारण है। लक्षण में 'प्रत्यासन्नं' पद का अर्थ है—सम्बद्ध अथवा सन्निकृष्ट। यह सम्बन्ध या सन्निकर्ष 'समवाय' माना गया है। ऐसी यह प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) दो प्रकार की होती है—१ कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति, २—कारणैकार्थप्रत्यासत्ति। १—जैसे तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है, यहां कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति है, कार्य पट के साथ तन्तु-संयोग एक ही अर्थ (तन्तु) में प्रत्यासन्न है, समवेत हैं। अर्थात् कार्य पट समवायसम्बन्ध से तन्तुओं में रहता है, तन्तु-संयोग भी तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसप्रकार कार्य पट के साथ एक ही तन्तु अर्थ में प्रत्यासन्न संयोग पट का असमवायिकारण होता है। २—दूसरी प्रत्यासत्ति है—कारणैकार्थप्रत्यासत्ति। यह पट-रूप के असमवायिकारण तन्तु-रूप को निर्दिष्ट करती है। पटगत रूप का समवायिकारण है—पट। अपने रूप का समवायिकारण पट, समवेत हैं—तन्तु में; वहीं समवेत है—तन्तुगत रूप। इसप्रकार अपने कारण के साथ एक अर्थ (तन्तु) में समवेत होने से तन्तुगत रूप पटगत रूप का असमवायिकारण होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में अवयवगत कर्म की दोनों प्रत्यासत्ति यथाकथंचित् द्रव्योत्पाद में सम्पन्न होजाती है। पहली प्रत्यासत्ति के अनुसार कार्य पट तन्तुरूप अवयवों में समवेत है, उन्हीं अवयवों में कर्म समवेत है, इसप्रकार कर्म द्रव्य का असमवायिकारण माना जाना चाहिये। दूसरी प्रत्यासत्ति के अनुसार पट-कार्य का कारण संयोग तन्तु-अवयवों में समवेत है, उन्हीं अवयवों में कर्म समवेत है। ऐसे भी कर्म द्रव्य का असमवायिकारण प्राप्त होता है। यदि दूसरी कारणप्रत्यासत्ति समवाय सम्बन्ध से ही मानीजाय; तो पट के संयोगरूप असमवायिकारण के आधार पर दूसरी प्रत्यसत्ति उक्त प्रसंग में घटित न होगी। पहली तो ठीक है ही।

यहां पहली बात यह है, कि अवयवों में कर्म उत्पन्न होकर उनमें संयोग को उत्पन्न कर चरितार्थ होजाता है, कार्यान्तर की उत्पत्ति के लिये वह सावकाश नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वह चतुर्थ अन्यथासिद्ध की सीमा में आता है। कर्म अवयवसंयोग को उत्पन्न करके ही द्रव्य का कारण माना जाना संभव है, संयोगोत्पत्ति की उपेक्षा कर वह सीधा द्रव्य का जनक नहीं है; ऐसी स्थिति में उसे द्रव्य का असमवायिकारण नहीं माना जासकता[1]। इस विषय में यह भी विचारणीय है, कि कर्म अपने कार्य संयोग को उत्पन्न कर नष्ट होजाता है, अवयवसंयोग के अनन्तर द्रव्योत्पत्ति काल में कर्म का अस्तित्व ही नहीं है, तब वह द्रव्य का कारण कैसे होगा। इसीलिये उक्त व्याख्यान सूत्रकार की भावना के विपरीत है; सूत्रकार ने अगले सूत्र में ऐसे आशय का प्रतिषेध किया है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे कर्म कतिपय गुणों का असमवायिकारण होता है, क्या वैसे ही वह द्रव्य का असमवायिकारण माना जाना चाहिए? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

[न] नहीं [द्रव्याणां] द्रव्यों का [कर्म] कर्म (कारण होता)।

कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होगा। 'कारण' पद की यहां पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति समझनी चाहिए। द्रव्य के प्रति कर्म के असमवायिकारण होने का यहां प्रतिषेध किया गया है। संयोगोत्पत्ति द्वारा यथाकथंचित् यदि कर्म को द्रव्य के प्रति कारण माना जाय, तो निमित्तकारण की श्रेणी में उसे रक्खा जासकता है। पर इसकी पूर्ण वास्तविकता में सन्देह है ॥२१॥

कर्म द्रव्य का कारण क्यों नहीं होता? इसमें सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

व्यतिरेकात्[2] ॥२२॥

[व्यतिरेकात्] व्यतिरेक (अभाव) से।

---

१. चतुर्थ अन्यथासिद्ध का स्वरूप है—'यत्कार्यजनकं प्रति पूर्ववृत्तित्वं गृहीत्वैव यस्य यत्कार्यं प्रति पूर्ववर्त्तित्वं गृह्यते, तस्य तत्कार्यं प्रति—अन्यथासिद्धत्वम्, [न्यायमुक्तावली]

द्रव्यकार्य के जनक अवयवसंयोग के प्रति कारणता का ग्रहण करके ही द्रव्यकार्य के प्रति कर्म की कारणता का ग्रहण होता है; अतः द्रव्य कार्य के प्रति कर्म अन्यथासिद्ध है।

२. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में २१ तथा २२ सूत्रों को एक सूत्र मानकर व्याख्या कीगई है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'न द्रव्याणां व्यतिरेकात्' सूत्रपाठ है।

कर्म अवयवसंयोग को उत्पन्न कर निवृत्त होजाता है। पट आदि कार्य के उत्पत्तिकाल में अवयवसंयोग को उत्पन्न कर कर्म नष्ट होचुका होता है; इसलिये द्रव्यकार्योत्पत्तिकाल में कर्म का अभाव होने से वह द्रव्य का असमवायिकारण नहीं होसकता। वस्तुतः द्रव्यकार्य के प्रति द्रव्य और गुण ही कारण होते हैं; द्रव्य समवायिकारण और गुण असमवायिकारण। कर्म द्रव्यभाव तथा गुणभाव से व्यतिरिक्त होने के कारण द्रव्य का जनक नहीं माना जाता। कर्म द्रव्य का न असमवायिकारण होता है, न निमित्तकारण। असमवायिकारणनाश से द्रव्य का नाश माना जाता है, तब अवयवों में कर्म न रहने पर कार्य का नाश होजाना चाहिये; पर ऐसा नहीं होता। कर्म निमित्तकारण भी नहीं होता; क्योंकि चादर के टुकड़े हो जाने पर खण्डपट की उत्पत्ति अवयवों में कर्म हुए बिना देखी जाती है। फलतः द्रव्य के प्रति कर्म को कारण मानना प्रमाणित नहीं होता ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, कारणद्रव्य कार्यद्रव्य का समवायिकारण होता है। देखा जाता है, ऐसे कारणद्रव्य अनेक हैं। क्या उनका कार्य भी अनेकरूप होता है ? आचार्य ने समाधान किया—

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

[द्रव्याणाम्] अनेक द्रव्यों का, [द्रव्यम्] द्रव्य, [कार्यम्] कार्य, [सामान्यम्] सामान्य—एक होता है।

'सामान्य' पद का अर्थ साधर्म्य है। यह 'एक' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सूत्र का 'द्रव्याणाम्' बहुवचन प्रयोग कारण द्रव्य की अनेकता का बोधक है। एक से अधिक अनेक हैं; दो या बहुत। कहीं दो अवयवों को संयुक्त कर एक कार्य उत्पन्न किया जाता है; जैसे कलश, कन्दुक, द्व्यणुक आदि। अनेक तन्तुरूप कारणद्रव्यों को संयुक्त कर पट बनाया जाता है। सूत्रकार का तात्पर्य है, कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में कारणद्रव्य कभी एक नहीं होता; क्योंकि द्रव्य का असमवायिकारण—कारण द्रव्यों का—संयोग माना जाता है, एकमात्र कारणद्रव्य में संयोग की संभावना नहीं होसकती है, अतः कारणद्रव्य का अनेक होना आवश्यक है।

कतिपय विचारक यह कल्पना करसकते हैं, कि उत्पन्न कार्यद्रव्य कारणद्रव्यों का समूहमात्र है, कोई अतिरिक्त इकाई वह नहीं है। इसलिए कार्य भी अनेकरूप रहो, क्या हानि है ? इस भ्रम को दूर करने के लिये सूत्रकार ने 'द्रव्यम्' इस एकवचनान्त पद से कार्यद्रव्य के एक होने का निर्देश किया है। आचार्य यह स्पष्ट करना चाहता है, कि अनेक कारणरूप अवयव-द्रव्यों से मिलकर जो कार्य उत्पन्न होता है, वह एक अतिरिक्त इकाई है, उसीको प्रस्तुत शास्त्र में 'अवयवी' नाम से बताया गया है। अनेक कारणद्रव्य अवयवों से उत्पन्न कार्यद्रव्य अवयवी उनसे

भिन्न है। इसी आधार पर कारण-कार्य अथवा अवयव-अवयवी का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। इसके अनुसार द्रव्यों का 'एकद्रव्यारम्भकत्व' साधर्म्य स्पष्ट होता है।

यदि कार्य द्रव्य को एक अवयवीरूप नहीं माना जाता, तो लोकव्यवहार सिद्ध न होसकेगा, यह बड़ी हानि है। लोक में किसी एक वस्तु के लाने-लेजाने, उठाने-खींचने आदि का व्यवहार 'अवयवी' के आधार पर संभव है। घट को किनारा पकड़कर उठा लेते हैं, चादर को कोना पकड़कर खींच लेजाते हैं, यह सब उस वस्तु के एक अवयवीरूप होने से होपाता है। यदि वह वस्तु एकरूप न हो, तो घट या पट का वह अंश ही हाथ में पकड़ा रहजाना चाहिये, जो दबाया हुआ है, शेष वहीं छूटजाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। सूत्रकार ने 'द्रव्यम्' एकवचन कहकर इसी 'अवयवी' के अस्तित्व का संकेत किया है, और बताया है, कि यह अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई है ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे द्रव्यों का कार्य द्रव्य, और गुणों का गुण है; क्या वैसे ही कर्मों का कार्य कर्म होता है? आचार्य ने कहा—

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म[1] ॥२४॥

[गुणवैधर्म्यात्] गुणों के वैधर्म्य से [न] नहीं [कर्मणां] कर्मों का [कर्म] कर्म (कार्य)।

सूत्र में 'कर्मणाम्' पद बहुवचनान्त है। बहुत-से कर्मों का भी कार्य कर्म नहीं होता; क्योंकि गुणों के साथ इस विषय में कर्मों का वैधर्म्य है। सूत्र में 'गुण' पद द्रव्य का भी उपलक्षण है। द्रव्य और गुणों में यह बात देखी जाती है, कि अनेक द्रव्य मिलकर एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, जैसा गतसूत्र में बताया गया है। गुणों में भी यह देखा जाता है, कि कभी अनेक गुण मिलकर एक गुण को उत्पन्न करते हैं; जैसे तन्तुओं के अनेक रूप हरित नील पीत आदि पट में चित्ररूप[2] को उत्पन्न करते हैं। अनेकों से एक कार्य का उत्पन्न होना द्रव्य और गुण का

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में यह 'कर्म' पद पठित नहीं है। सूत्रपाठ में विपर्यय भी है। प्रस्तुत सूत्र संख्या २२ पर है, संख्या २३ पर गतसूत्र है। संख्या २४ पर 'तथा गुणाः' सूत्र है, जो अन्य व्याख्याओं में उपलब्ध नहीं है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में दोनों सूत्रों का पाठ उक्त भाष्यानुसार है; परन्तु 'तथा गुणाः' सूत्र इसमें नहीं है।

२. चित्ररस की कल्पना आचार्यों ने नहीं की है। पर विचारणीय है, अनुभव में ऐसा आता है।

साधर्म्य है; परन्तु कर्म का इन दोनों से इस विषय में वैधर्म्य है; अतः द्रव्य और गुणों की तरह अनेक कर्म मिलकर किसी एक कार्य को उत्पन्न कर दें; यह संभव नहीं।

'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' [१।१।११] सूत्र में कोई कर्म किसी कर्म का असमवायिकारण नहीं होता, यह बताया गया है। संभावना कीजासकती है, कि कोई एक कर्म अन्य कर्म का कारण न रहे; पर कदाचित् ऐसा हो, कि अनेक कर्म मिलकर किसी कर्म को उत्पन्न कर सकें। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने बताया, कि ऐसा भी संभव नहीं। एक कर्म हो अथवा अनेक, उनमें कर्मजनकता व कर्मजन्यता की क्षमता नहीं। इन दोनों सूत्रों में अर्थ की यही विशेषता है। व्याख्याकारों ने ऐसा भी कहा है, कि वहां कर्म के प्रति कर्मजनकता का निषेध है, यहां कर्मजन्यता का। अथवा यह समझ लिया जाय, कि अधिक स्पष्ट करने की भावना से उसी अर्थ को यहां दुहरा दिया गया है।

जब किसी कार्य के प्रति द्रव्य, गुण, कर्म की कारणता का उल्लेख किया जाता है, तब इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये, कि द्रव्य वहां केवल समवायिकारण होता है, गुण और कर्म असमवायिकारण। कार्यों के जो अन्य कारण समवायि-असमवायिकारणता की परिभाषा में नहीं आते, वे निमित्तकारण कहे जाते हैं। जैसे दो परमाणुओं से द्वयणुक उत्पन्न होता है, इसमें द्वयणुक के समवायिकारण परमाणु हैं, परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण है; कार्यमात्र में काल, दिशा, आकाश, ईश्वरेच्छा अथवा कर्त्ता की इच्छा (भावना) आदि भी कारण माने जाते हैं। द्वयणुक कार्य के प्रति ये सब निमित्तकारण हैं। दो परमाणुओं का संयोग कर्मजन्य होगा, द्वयणुक के प्रति वह कर्म निमित्तकारण है।

इसीप्रकार पट कार्य के प्रति तन्तु समवायिकारण है, तन्तुओं का परस्पर संयोग असमवायिकारण; आकाश, काल, दिशा, तन्तुवाय की भावना, प्रयत्न, तुरी-तन्तु संयोग, संयोग का जनक कर्म सब निमित्तकारण हैं। इसप्रकार के द्रव्य गुण, कर्म के परस्पर कार्य-कारणभाव का वैशेषिकशास्त्र के प्रत्येक अध्ययनार्थी को सदा ध्यान रखना चाहिये; अन्यथा याथार्थ्य से विचलित होजाने की संभावना बनी रहती है ॥२४॥

शिष्यों की जिज्ञासा पर सूत्रकार ने बताया—कतिपय गुण ऐसे हैं, जो अनेक द्रव्यों द्वारा मिलकर उत्पन्न किये जाते हैं। सूत्रकार ने कहा—

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च[1] ॥२५॥

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'पृथक्त्वं' पाठ है।

[द्वित्वप्रभृतयः] दो आदि [संख्याः] गिनतियां [पृथक्त्वसंयोगविभागाः] पृथक्त्व, संयोग, विभाग [च] और।

सूत्र का 'प्रभृति' पद दो संख्या से लगाकर आगे बढ़ती हुई समस्त संख्याओं का संग्रह करता है। एक संख्या को छोड़कर शेष दो आदि संख्या और पृथक्त्व, संयोग, विभाग इनमें से प्रत्येक गुण अपने अस्तित्व के अवसर पर अनेक द्रव्यों में समवेत रहता है। तात्पर्य यह, कि उक्त प्रत्येक गुण का समवायिकारण अनेक द्रव्य होते हैं।

गतसूत्रों में यह बताया गया, कि अनेक द्रव्यों से एक द्रव्य, और अनेक गुणों से एक गुण उत्पन्न होता है। प्रस्तुत सूत्र में बताया, अनेक द्रव्यों से मिलकर एक गुण उत्पन्न होता है। इसप्रकार कतिपय गुणों का साधर्म्य 'अनेकद्रव्यारभ्यत्व' है। इन गुणों के समवायिकारण अनेक द्रव्य होते हैं। पहले द्वित्व संख्या है। दो संख्या किन्हीं दो द्रव्यों में संभव है, तीन संख्या तीन में और चार चार में। इसीप्रकार शत, सहस्र, लक्ष, कोटि अर्बुद आदि संख्या उतने द्रव्यों में होनी संभव हैं। संख्या एक है—दो, पर उसके समवायिकारण अपनी भिन्न इकाईयों के साथ द्रव्य दो हैं। संख्या एक है—चार, उसके समवायिकारण उतने ही भिन्न द्रव्य हैं। तात्पर्य हुआ—अनेक द्रव्यों ने मिलकर किसी दो आदि एक संख्या को उत्पन्न किया है।

पृथक्त्व गुण भी ऐसा ही है। एक घट दूसरे से पृथक् है, ऐसा व्यवहार जब हम करते हैं, उससे स्पष्ट होता है, कि यह पृथक्त्व गुण एक-दूसरे से अलग हुए अनेक द्रव्यों में संभव होसकता है। इसप्रकार पृथक्त्व अपने अस्तित्व में तभी आता है, जब अनेक द्रव्य उसके आधार (समवायिकारण) माने जायें। एक संयोग सदा दो द्रव्यों में समवेत रहता है, इसीप्रकार विभाग भी। फलतः यह प्रत्येक गुण अनेक द्रव्याश्रित रहता है; अथवा यह कहिये, कि अनेक द्रव्य मिलकर द्वित्व संख्या आदि गुणों को उत्पन्न करते हैं। ये गुण व्यासज्यवृत्ति कहेजाते हैं, जो अनेक मिलित द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं ॥२५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे द्रव्य अथवा कतिपय गुण व्यासज्यवृत्ति हैं, क्या कर्म भी ऐसे होते हैं? आचार्य समाधान करता है—

असमवायात् सामान्यकार्यं[1] कर्म न विद्यते ॥२६॥

[असमवायात्] समवाय न होने से [सामान्यकार्यं] सामान्य-अनेक द्रव्यों

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या के सूत्रपाठ में 'सामान्य' पद नहीं है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'सामान्यं कर्म कार्यं' पाठ है।

का एक-कार्य [कर्म] कर्म कर्म [न] नहीं [विद्यते] जाना जाता।

अनेक द्रव्यों का एक कर्म कार्य कभी नहीं देखा गया; क्योंकि कोई एक कर्म अनेक द्रव्यों में–चाहे वे दो हों या दो से अधिक–कभी समवेत नहीं रहता। कोई क्रिया (कर्म) जब उत्पन्न होती है, वह केवल एक द्रव्य में होती है; एक क्रिया का अनेक द्रव्यों में समवेत होना संभव नहीं। क्रिया जिस द्रव्य में होगी, वही एकमात्र द्रव्य उस क्रिया का समवायिकारण है। एक क्रिया का एक द्रव्य समवायिकारण होने से अनेक द्रव्यों में उसका समवाय होना संभव नहीं। इसलिये कोई एक कर्म अनेक द्रव्यों से आरब्ध नहीं माना जाता। अतएव कतिपय गुणों एवं द्रव्यों का जो साधर्म्य 'अनेकद्रव्यारम्यत्व' बताया, वह उनके साथ कर्मों का वैधर्म्य है। एक कर्म एक द्रव्य में आश्रित रहता है; कर्म का ऐसा स्वरूप सूत्रकार ने गतसूत्र [१। १। १७] में बताया है ॥२६॥

प्रसंगवश सूत्रकार ने बताया—यद्यपि कर्म अनेकों का कार्य नहीं होता, पर द्रव्य अनेकों का कार्य होता है। सूत्रकार ने कहा—

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

[संयोगानाम्] दो अथवा बहुत-से संयोगों का [द्रव्यम्] द्रव्य (एक कार्य होता है)।

गत सूत्रों [१। १। १८, २३] में यह बताया गया है, कि एक द्रव्य के समवायिकारण अनेक द्रव्य होते हैं। एक अवयवीरूप कार्यद्रव्य अपने अनेक अवयवरूप कारणों में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होता अथवा आत्मलाभ करता है। वे अनेक कारणद्रव्य-अवयव कार्यद्रव्य–एक अवयवी–के समवायिकारण हैं। उस द्रव्य का असमवायिकारण उन अवयवों का संयोग है। अनेक अवयवों के परस्पर संयोग भी अनेक होंगे; वे संयोग एक अवयवी द्रव्य के आरम्भक होते हैं। यदि कोई अवयवी केवल दो अवयवों में समवेत हुआ आत्मलाभ करता है, तो वहां एक संयोग द्रव्य का आरम्भक है, जैसे द्व्यणुक में। पर अन्यत्र कार्यद्रव्य में कहीं ऐसा संभव न होगा, जहां उसके आरम्भक संयोग दो या दो से अधिक न हों। द्व्यणुक के अतिरिक्त अन्य समस्त कार्यद्रव्य एक अवयवी का आरम्भ अनेक संयोगों से होता है। फलतः अनेक संयोग एक अवयवीद्रव्य के आरम्भक होते हैं ॥२७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे अनेक संयोग-गुण एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही अनेक गुण क्या एक गुण को उत्पन्न करते हैं? सूत्रकार ने बताया—

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

[रूपाणाम्] अनेक रूप गुणों का [रूपम्] एक रूप गुण (कार्य होता है)।

सूत्र के 'रूप' पद अन्य कतिपय गुणों के उपलक्षण हैं। गत सूत्र में बताया गया, अनेक अवयव-कारण गत संयोग एक अवयवी-द्रव्य के आरम्भक होते हैं। अवयव कार्यद्रव्य के समवायिकारण हैं, और अवयवों के संयोग असमवायिकारण। कार्यद्रव्य में जो रूपादि गुण उत्पन्न होते हैं उनका समवायिकारण वह कार्यद्रव्य है, और असमवायिकारण हैं—अवयवों के रूपादि गुण। अवयव जितने हैं, उनमें रूपादि गुण भी उतने ही होंगे। यदि कोई पट दस तन्तुओं से बनाया जाता है, प्रत्येक तन्तु में अपना एक रूप होगा; दस तन्तुओं में दस रूप, यद्यपि वे सब समानजातीय हैं—श्वेत, नील या पीत आदि। दस तन्तुओं से उत्पन्न होने वाले एक पट में अपने कारणों के समान एक श्वेत आदि रूप होगा। पट का यह एक श्वेत-रूप दस तन्तुओं के दस श्वेत रूपों से आरम्भ हुआ है। दस तन्तुओं के दस श्वेतरूप असमवायिकारण हैं—एक पट के एक श्वेत रूप के। इसप्रकार अनेक रूपों का कार्य एक रूप होता है—'रूपाणां रूपम्' यह निश्चित हुआ।

सूत्र के 'रूप' पदों से रस, गन्ध आदि उन सब गुणों का संग्रह होजाता है, जिनके असमवायिकारण गुण अनेक द्रव्यों में निष्ठित रहते हैं। रसाश्रय द्रव्य एक मोदक अनेक अवयवों से बना है, उन अवयवों में स्थित अनेक रस-गुण मोदक में एक रस के असमवायिकारण रहते हैं। इसीप्रकार गन्ध का आश्रय पुष्प अनेक अवयवों से मिलकर बना है। उन अवयवों के अनेक गन्ध पुष्पवर्त्ती एक गन्ध के असमवायिकारण होते हैं। इसप्रकार जिन अनेकात्मक गुणों से एक गुण की उत्पत्ति होती है, उनकी सूची यह है—रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, एकत्व, एकपृथक्त्व, परिमाण, वेग, स्थितिस्थापक, गुरुत्व।

'रूप' गुण सूत्र में साक्षात् पठित है। इसप्रकार कार्यद्रव्य के समवायिकारण अवयवों में विद्यमान अनेक रूपादि गुण, उन अवयवों से उत्पन्न एक कार्यद्रव्य में एक रूपादि गुण के आरम्भक होते हैं। इससे यह स्पष्ट होजाता है, कि अनेक अवयवगत रूपादि का एक अवयविगत रूपादि कार्य होता है ॥२८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—जैसे अनेक गुणों का एक गुण कार्य होता है; वैसे क्या अनेक गुणों का एक कार्य कर्म भी होता है? सूत्रकार ने बताया—

गुरुत्व प्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

[गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानाम्] गुरुत्व, प्रयत्न, संयोग इन सब गुणों का [उत्क्षेपणम्] उत्क्षेपण कर्म (एक कार्य होता है)।

'उत्क्षेपण' एक कर्म है। यह गुरुत्व, प्रयत्न, संयोग इन गुणों का कार्य है। इन गुणों के मिलित सहयोग से उत्क्षेपण कर्म होपाता है।

देवदत्त ने पाषाण आदि भारी वस्तु को प्रयत्नपूर्वक फेंका। पाषाण आदि जो वस्तु फेंकी गई, उत्क्षेपण (फेंकने) में उस वस्तु का गुरुत्व कारण है, क्योंकि गुरुत्वहीन वस्तु का फेंकाजाना संभव नहीं होता। देवदत्त का प्रयत्न भी इसमें कारण है, क्योंकि प्रयत्न के विना यह कार्य संभव न होगा। प्रयत्न वाले देवदत्त के हाथ [प्रयत्नवदात्मसंयुक्तहस्त] का उत्क्षेप्य पाषाण के साथ संयोग होना आवश्यक है, अन्यथा पाषाण का उत्क्षेपण ही न होगा। फलतः पाषाण आदि किसी वस्तु के उत्क्षेपण कर्म में—उत्क्षेप्य वस्तु का 'गुरुत्व', उत्क्षेपक व्यक्ति का 'प्रयत्न', और उत्क्षेप्य-उत्क्षेपक का परस्पर 'संयोग'—ये तीनों गुण कारण होते हैं। इसलिये इन अनेक गुणों का एक कार्य 'उत्क्षेपण' कर्म होता है। सूत्र के 'उत्क्षेपण' पद से 'अवक्षेपण' आदि कर्मों का आकलन होजाता है ॥२९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, द्रव्यों का कार्य बताया; गुणों का कार्य बताया; परन्तु कर्मों का कार्य नहीं बताया। क्या कर्मों का कभी कोई कार्य होता ही नहीं ? आचार्य ने विचारा, शिष्य पिछला पाठ भूल-से गये हैं; स्मरण कराते हुए बताया—

संयोगविभागाश्च[1] कर्मणाम् ॥३०॥

[संयोगविभागाः] संयोग, विभाग [च] और [कर्मणाम्] कर्मों के (कार्य हैं)।

ऐसा नहीं है, कि कर्मों का कोई कार्य न हो। गत सूत्र [१।१।२०] में यह पाठ पढ़ा दिया गया है, कि संयोग, विभाग और वेग का कारण कर्म होता है। संयोग, विभाग, वेग ये कर्म के कार्य हैं। प्रस्तुत सूत्र में 'च' पद से वेग का ग्रहण कर लेना चाहिये। संयोगादि कार्य के रहते कर्म के कार्य की नितान्त दरिद्रता नहीं है ॥३०॥

सूत्रकार प्रकृत विषय का निगमन करता है—

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम्[2] ॥३१॥

[कारणसामान्ये] साधारणरूप से कारण बताये जाने वाले प्रकरण में [द्रव्यकर्मणाम्] द्रव्य और कर्मों का [कर्म] कर्म को [अकारणम्] अकारण

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'च' पद नहीं है। अन्य व्याख्याकारों ने 'च' पद को यहां 'वेग' गुण संग्राहक माना है। इस विषय में गत सूत्र [१।१।२०] पर दीगई टिप्पणी द्रष्टव्य है।

२. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'इति' पद अधिक है।

[उक्तम्] कहा गया है।

गत सूत्रों में जहां द्रव्यादि पदार्थों के कार्य-कारणभाव का वर्णन किया है, वहां यह नहीं बताया, कि कर्म किसीका कारण नहीं होता। वहां केवल इतना कहा है, कि कर्म द्रव्य और कर्म का कारण नहीं होता। कतिपय गुणों का कारण तो वह होता ही है। फलतः इसप्रकार के विरोध का कोई अवकाश नहीं रहता, कि पहले [१।१।११,२१,२४] कर्म को अकारण कहा है, और यहां [१।१।३०] कारण बताया जारहा है। सूत्रकार ने स्मरण कराया-केवल द्रव्य और कर्म के प्रति कर्म की अकारणता है, वह संयोग आदि का कारण तो होता ही है ॥३१॥

इति वैशेषिकविद्योदयभाष्ये प्रथमाध्यायस्य
प्रथममाह्निकम्।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

गत आह्निक में द्रव्य, गुण, कर्म तीन पदार्थों का विवरण प्रस्तुत किया गया। यह भी बताया गया, कि इनमें कौन किसका समवायिकारण और असमवायिकारण है। परन्तु पदार्थों के कार्य-कारणभाव सम्बन्ध का निरूपण किये विना किसीको कारण और किसीको कार्य बताये जाने की बात अधूरी रहजाती है। आचार्य ने इस विषय में बताया—

कारणाभावात्कार्याभावः[1] ॥१॥ (३२)

[कारणाभावात्] कारण के अभाव से [कार्याभावः] कार्य का अभाव (होता है)।

कौन किसका कार्य और कौन किसका कारण है, इसकी परख के लिये यह कसौटी है—जिसके रहने पर ही जो होता है, उनमें होने वाली वस्तु कार्य और दूसरी कारण है। इस व्यवस्था के अनुसार यह आवश्यक है, कि कार्य के आत्मलाभ से पूर्व कारण का अस्तित्व हो। क्योंकि कारण की विद्यमानता में कार्य उत्पन्न होपाता है। फलतः कारण वह पदार्थ है, जिसका आगे परिवर्त्तन होना

---

१. अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन भाष्य में इस सूत्र और अगले सूत्र का पाठ तथा इनकी व्याख्या प्रथम आह्निक के 'उभयथा गुणाः' इस सूत्र के आगे दिये गये हैं। मुद्रित पुस्तक में यहां केवल सूत्रों का मूल पाठ छपा है।

है। परिवर्त्तन किसी सद्वस्तु का संभव है, इस कारण परिवर्त्तन के लिये उस वस्तु का पहले विद्यमान होना अत्यावश्यक है। इसीलिये सूत्रकार ने बताया, कार्य उस समय तक अस्तित्व में नहीं आसकता, जब तक कारण विद्यमान न हो।

प्रत्येक कार्य के कारण अनेक होते हैं। कोई समवायिकारण है, कोई असमवायिकारण और कोई निमित्तकारण। उदाहरण के लिये एक कार्य पट लीजिये, पट के समवायिकारण तन्तु हैं, असमवायिकारण तन्तुओं के परस्पर संयोग हैं, शेष सब तुरी वेमा तन्तुवाय आदि निमित्तकारण हैं। इन कारणों में से किसीका अभाव रहेगा, अविद्यमानता होगी, तो पट बनना संभव न होगा। इसलिये वह प्रत्येक वस्तु पट का कारण है, जिसके विना पट का बनना संभव न हो। यह व्यवस्था वस्तुओं के पारस्परिक कार्य-कारणभाव सम्बन्ध को प्रमाणित करती है।

शास्त्रमें पदार्थों के तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण बताया। निःश्रेयस है—सांसारिक दुःखों से छुटकारा होजाना। इसका तात्पर्य हुआ, संसार में जन्म लेकर दुःखादि प्राप्ति का कारण मिथ्याज्ञान है। जबतक हम संसार में दुःखों का अनुभव करते हैं, समझना चाहिए, इसका कारण मिथ्याज्ञान विद्यमान है। इसप्रकार सांसारिक दुःख और मिथ्याज्ञान का परस्पर कार्य-कारणभाव सम्बन्ध ज्ञात होता है। इसी आधार पर दुःख से छुटकारा पाने की अभिलाषा वाला व्यक्ति दुःख के कारणभूत मिथ्याज्ञान को दूर हटाने के लिये प्रयत्नशील होता है। इस दृष्टि से कार्य-कारणभाव सम्बन्ध की व्यवस्था का वस्तुओं में होना और हमारे लिये उसका समझना अत्यावश्यक है।

अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या है—समवायिकारण असमवायिकारण के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होता है। समवायी-असमवायी-निमित्त इन तीनों में से किसी एक दो या तीनों के नाश से तथा गुणान्तर की उत्पत्ति से गुण का नाश होता है। समवायिकारण के नाश तथा संयोग की उत्पत्ति से कर्म का नाश होजाता है। अथवा द्रव्यविनाश का कारण सर्वत्र अवयवसंयोग-नाश को समझना चाहिए ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे कारण के अभाव में कार्य आत्मलाभ नहीं कर-सकता; ऐसे ही क्या यह संभव है, कि कार्य के अभाव में कारण का अभाव रहे? आचार्य ने समाधान किया—

न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥२॥ (३३)

[न] नहीं [तु] तो [कार्याभावात्] कार्य के अभाव से [कारणाभावः] कारण का अभाव।

कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता। किन्हीं पदार्थों के कार्य-

कारणसम्बन्ध के लिये यह आवश्यक बताया, कि प्रत्येक कार्य-वस्तु की उत्पत्ति से पहले उसके कारणों का अस्तित्व अपेक्षित रहता है। यदि कारणवस्तु का अस्तित्व न होगा, तो कार्य का होना असंभव है। पुत्रादि सन्तति का होना तभी संभव है, जब पति-पत्नी का अस्तित्व प्रथम रहे। मान लीजिए किन्हीं दम्पति की यदि सन्तति नहीं होती, तो पुत्रादि न होने से दम्पति के अस्तित्व को कोई भय नहीं है, उनका अस्तित्व तो बना ही रहेगा। इसलिये ऐसा नहीं है, कि कार्य के न होने या न रहने पर कारण का अभाव होजाये।

शंका कीजासकती है—कोई वस्तु कारण तभी कहीजासकती है, जब वह किसी कार्य को उत्पन्न करदेती है। तब कार्य के न होने पर किसी वस्तु को कारण कैसे माना जायगा ? इसलिये यह क्यों संभव नहीं, कि कार्य के अभाव में कारण का भी अभाव रहता है।

यह आशंका आपाततः सुरुचिपूर्ण प्रतीत होती है, पर इसमें वास्तविकता नहीं है। यह सत्य है, किसी पति-पत्नी के जब तक सन्तति न हो, तब तक पिता-माता आदि पदों से उनका व्यवहार नहीं होता, पर इससे उनके अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती, भले वह माता-पिता न कहलायें। पर यह सर्वथा एक गौण बात है, उनमें सन्तति की संभावना होने से वैसा व्यवहार होना अयथार्थ नहीं है। कारणतत्त्वों में कार्योत्पाद की क्षमता बराबर रहती है; कारणवैकल्य से कहीं कार्य उत्पन्न न हो, यह अलग बात है; पर कार्योत्पाद से पूर्व कारणतत्त्वों में कारणपद का व्यवहार असंगत नहीं है। तन्तुओं में पट के उत्पन्न करने की क्षमता है, इस वास्तविकता को पट की उत्पत्ति से पहले भी जाना जाता है। यदि ऐसा न जाना जाय, तो पट की उत्पत्ति के लिए तन्तुओं का ग्रहण न हो। किसी कार्य के लिये किन्हीं नियत वस्तुओं का उपादान होने से यह प्रमाणित होता है, कि कार्य की उत्पत्ति होने से पहले हम उन्हें किसी कार्य का कारण समझते व कहते हैं; उसमें किसी तरह की कोई असंगति नहीं होती। फलतः कार्य-कारणभावसम्बन्ध में यह व्यवस्था है, कि कारण वस्तु के न होने पर कार्य का होना संभव नहीं; इसके विपरीत यह कभी नहीं होता, कि कार्य के न होने पर कारण न रहे। कार्योत्पत्ति के लिये कारणसामग्री का नियतपूर्ववर्त्ती होना, और कारणवैकल्य का अभाव होना आवश्यक है। इसी आधार पर वस्तुओं व धर्मों का परस्पर कार्य-कारणभाव व्यवस्थित होता है।

अज्ञातकर्तृक भाष्य में इस सूत्र का अर्थ किया है—कार्यद्रव्य का नाश कारण-द्रव्य के नाश में हेतु नहीं होता; क्योंकि पट कार्य का नाश हो जाने पर तन्तु-कारणों की उपलब्धि होती रहती है।

प्रत्येक प्राणी चाहता है, उसके समस्त दुःखों का अभाव होजाय। दुःखों के अभाव होने का कारण क्या है ? तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञान हमें क्यों नहीं होरहा ? मिथ्याज्ञान के बने रहने के कारण। मिथ्याज्ञान का कारण क्या है ? राग, द्वेष, मोह आदि दोषों में लिप्त रहना। इन दोषों का कारण क्या है ? हमारी शुभाशुभ प्रवृत्तियां; शुभप्रवृत्तियां पुण्यात्मिका हैं, जो हमें धर्म की ओर लेजाती हैं; अशुभ प्रवृत्तियां पापात्मिका हैं, जो हमें अधर्म की ओर प्रेरित करती हैं। इन प्रवृत्तियों का कारण क्या है ? जन्मरूप में हमारा किसी देह के साथ सम्बन्ध होना। जब कोई दुःखों से बचने की अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध की इस परम्परा को समझ लेता है, तब वह तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होजाता है। शास्त्रद्वारा प्रतिपाद्य तत्त्वज्ञान के लिये मुमुक्षुजनों की प्रवृत्ति को उक्त प्रकार से उद्बोधित करना इस द्विसूत्री प्रकरण का अन्तर्हित प्रयोजन समझना चाहिए ॥२॥

प्रथम उद्दिष्ट द्रव्यादि छह पदार्थों में से द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों के लक्षण आदि विशेषताओं का विवरण गत प्रसंगों में प्रस्तुत किया गया। अब क्रम-प्राप्त सामान्य का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥ (३४)

[सामान्यं] सामान्य (है) [विशेषः] विशेष [इति] ऐसा [बुद्ध्यपेक्षम्] बुद्धि की अपेक्षा से।

सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ ज्ञान है। जिन अनेक पदार्थों में समान-जैसा ज्ञान होता है, वह ज्ञान उन पदार्थों में एक 'सामान्य' नामक धर्म का बोध कराता है। ऐसा सामान्य उस समय 'विशेष' कहा जाता है, जब उसका आधार-क्षेत्र विस्तृत क्षेत्र से हटकर सीमित रहता है। इसी आधार पर सामान्य दो प्रकार का है—पर और अपर। अधिकदेशवृत्ति सामान्य 'पर' और अल्पदेशवृत्ति 'अपर' है। पहला 'सामान्य' है, और दूसरा 'विशेष'।

सर्वाधिकदेशवृत्ति सामान्य केवल एक है—सत्ता सामान्य। यह द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहता है। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में 'सत्' बुद्धि समानरूप से देखी जाती है। तीनों में समानरूप से 'सत्' बुद्धि का होना उनमें सत्ता-सामान्य के होने का बोधक है। यह सामान्य कभी विशेष नहीं कहलाता, क्योंकि इससे अधिक क्षेत्र अन्य किसी सामान्य का नहीं है। इसकी अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति सामान्य 'द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व' हैं। ये सामान्य यथाक्रम समस्त द्रव्यों, गुणों और कर्मों में रहते हैं। समस्त द्रव्यों में समानबुद्धि का जनक होने से 'द्रव्यत्व' सामान्य है, पर 'सत्ता' के समान यह गुण-कर्मों में नहीं रहता, गुण-कर्मों से व्यावृत्त है, हटा

हुआ है, इसीकारण सत्ता की अपेक्षा अल्पदेशवृत्ति हैं; तब इसका नाम 'विशेष' होजाता है । इसप्रकार द्रव्यत्व 'सामान्य-विशेष' है। ऐसे ही गुणत्व और कर्मत्व भी 'सामान्य-विशेष' हैं।

इस विवरण के अनुसार 'सत्ता' केवल 'पर-सामान्य' है। द्रव्यत्व आदि तीनों सामान्य 'पर-अपर' दोनों हैं। सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर-सामान्य है; पृथिवीत्व, जलत्व आदि की अपेक्षा 'पर' है। इसीप्रकार गुणत्व और कर्मत्व सत्ता की अपेक्षा अपर-सामान्य है; और गन्धत्व, रसत्व आदि एवं उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व आदि की अपेक्षा 'पर' है। सामान्य को दार्शनिक व्यवहार में 'जाति' कहा जाता है।

सामान्य लक्षण केवल 'बुद्धि' है, चाहे वह सामान्यरूप में कहा जाय अथवा विशेषरूप में। सूत्र के **बुद्ध्यपेक्षम्** पद का अर्थ है—बुद्धि है अपेक्षा-लक्षण-चिह्न जिसका, ऐसा 'सामान्य' होता है। अनेक में एक बुद्धि ही 'सामान्य' का बोधक है। पृथिवी आदि अनेक में 'द्रव्य है' यह एक बुद्धि है। 'द्रव्य हैं' यह बुद्धि सामान्य है। इसीको जब कहा जाता है—'ये गुण नहीं हैं, कर्म नहीं हैं, तब यह बुद्धि विशेष का बोधक है। इसीको अन्य शब्दों में कहा जाता है–अनुवृत्त बुद्धि 'सामान्य' और व्यावृत्तबुद्धि 'विशेष' का प्रयोजक है । एक ही 'द्रव्यत्व' धर्म समस्त द्रव्यों में समानबुद्धि का प्रयोजक है, और वही धर्म द्रव्यों को गुणादि से हटाकर पृथक् रखता है। इस रूप में द्रव्यत्व 'सामान्य-विशेष' उभयात्मक जाति है ॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सामान्य दो प्रकार का बताया—पर और अपर। क्या कोई सामान्य केवल 'पर' होता है? और वह कौन-सा है? आचार्य ने समाधान किया—

भावोनुवृत्तेरेव[1] हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥ (३५)

[भावः] सत्ता [अनुवृत्तेः] अनुवृत्ति का [एव] ही [हेतुत्वात्] हेतु होने से [सामान्यं] सामान्य [एव] केवल।

सत्ता केवल सामान्य अर्थात् केवल 'पर-जाति' है क्योंकि वह अनुवृत्ति का हेतु होती है, व्यावृत्ति का नहीं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में सद्बुद्धि समान रूप से होती है, इसीलिये 'सत्ता' केवल सामान्य अथवा 'पर-जाति' कहीजाती है।

यदि कोई आशंका करे, कि द्रव्य, गुण, कर्म में समानबुद्धि होने से जैसे 'सत्ता' सामान्य है; वैसे द्रव्यादि तीनों को सामान्य, विशेष, समवाय से व्यावृत्त करने

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन भाष्य में सूत्र का पाठ 'भावः' केवल इतना है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'भावः सामान्यमेव' सूत्रपाठ है ।

के कारण इसे विशेष भी माना जाना चाहिए? ऐसी आशंका युक्त नहीं है। कारण यह है, कि सामान्य, विशेष, समवाय इन पदार्थों में 'जाति' नहीं रहती; जाति-केवल द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों में समवेत रहती है। ऐसा कोई जाति-रूप धर्म नहीं है, जो छहों पदार्थों में समवेत रहता हो, और जिसकी अवान्तर-जाति अथवा अपर-जाति अल्पदेशवृत्ति होने के कारण 'सत्ता' को मानाजाय। जिन पदार्थों में जाति समवेत रहती है, उन्हींमें अल्पदेश-अधिकदेशवृत्ति की संभावना कीजायगी; क्योंकि जातिरूप धर्म, द्रव्य, गुण, कर्म तीन में समवेत रहता है; इसलिए अल्पदेश-अधिकदेशवृत्ति का होना इन्हींमें देखा जायगा। सामान्य, विशेष, समवाय में कोई जाति-रूप धर्म समवेत[1] नहीं रहता; अतः 'सामान्य-विशेष' संज्ञा के लिये उनका उपयोग नहीं किया जासकता। फलतः 'सत्ता' जाति केवल सामान्य है, विशेष नहीं ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ऐसे सामान्य-धर्म कौन-से हैं। जिनको 'विशेष' भी कहा जाता है ? सूत्रकार आचार्य ने समाधान किया—

---

१. जातिरूप धर्म कहां रहता है और कहां नहीं, तथा जाति-धर्म कहीं न रहने के क्या बाधक कारण हैं; इनका संकलन प्राचीन आचार्यों ने एक पद्य में इसप्रकार कर दिया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

इस पद्य में जाति के बाधक छह कारणों का संकलन है। इनका यथा-क्रम विवरण निम्नप्रकार है—

१. व्यक्तेरभेदः—व्यक्ति का एक होना। जो पदार्थ एक व्यक्तिरूप है, अपने रूप में वही केवल इकाई है, उसमें जातिरूप धर्म नहीं रहेगा, क्योंकि जाति अनेक में समान बुद्धि का होना है। जैसे आकाश एक व्यक्तिमात्र है, उसमें 'आकाशत्व' धर्म जातिरूप नहीं होगा, आचार्यों ने ऐसे धर्म के लिए 'उपाधि' पद का प्रयोग स्वीकार किया है। 'आकाशत्व' उपाधि है, जाति नहीं।

२. तुल्यत्वम्—जो धर्म तुल्य हों, समान देश में रहें, वे भिन्न (अलग-अलग) जाति नहीं मानी जायेंगी। जैसे—घटत्व, कलशत्व। घट, कलश ये पर्याय-वाची पद हैं। एक ही अर्थ को कहते हैं, इसलिये ये अलग जातियां न होंगी, ऐसे ही मनुष्यत्व, मानवत्व अथवा अश्वत्व, वाजित्व आदि अलग-अलग जातियां न होंगी।

३. संकर :—संकर की परिभाषा आचार्यों ने की है—'परस्परात्यन्ताभावसमा-

नाधिकरणयोरेकत्र धर्मिणि समावेशः संकरः। तात्पर्य है—जिन दो धर्मों का परस्पर एक-दूसरे के अभाव के साथ सामानाधिकरण्य हो और वे दोनों धर्म कहीं अन्य धर्मों में एक जगह समाविष्ट दीखें, तो वे दोनों धर्म 'जाति' रूप नहीं माने जाते। जैसे—भूतत्व और मूर्त्तत्व दो धर्म हैं। भूतत्व आकाश में है, वहां मूर्त्तत्व का अभाव है, अर्थात् जहां मूर्त्तत्वाभाव है, वहां भूतत्व है; मूर्त्तत्वाभाव के साथ एक जगह भूतत्व का सामानाधिकरण्य होगया; इसीप्रकार भूतत्वाभाव के साथ मूर्त्तत्व का सामानाधिकरण्य मन में है, मन भूत नहीं, पर मूर्त्त है। इन दोनों–'भूतत्व, मूर्त्तत्व'–धर्मों का एकत्र पृथिवी आदि चार भूतों में समावेश है; पृथिवी आदि चार 'भूत' हैं और 'मूर्त्त' भी। फलतः 'भूतत्व-मूर्त्तत्व' धर्म सांकर्यदोष के कारण जाति नहीं माने जाते।

४. अनवस्थिति :—अनवस्था दोष जाति में अन्य जाति माने जाने का बाधक है। सामान्य में 'सामान्यत्व' जाति नहीं रहती, प्रत्येक जातिरूप धर्म अपने धर्मी को अन्य पदार्थों से व्यावृत्त रखने के लिये होता है। वह धर्म अन्य किसी का रूप नहीं है, उन सबसे यह व्यावृत्त है, इसके नियामक वे धर्मी होते हैं, जिनका वह धर्म है। इसलिये जातिरूप में उसे अन्यों से व्यावृत्त करने की भावना से उसमें अन्य जाति का मानना व्यर्थ है। यदि उसमें जाति मानी जाती है, तो उसकी व्यावृत्ति के लिये अन्य जाति माननी होगी, उसके भी लिये और, इसप्रकार अनवस्था होगी; अतः जाति में जाति का होना नहीं माना जाता।

समस्त जातियों में एक 'सामान्यत्व' जाति मान कर आगे 'व्यक्त्य-भेद, जाति का बाधक मान लिया जायगा, अनवस्था को जातिबाधक मानना व्यर्थ है। यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक वर्ग समस्त सामान्य का, और उनमें एक 'सामान्यत्व' अलग धर्म; ये दो वर्ग फिर बन जायेंगे, अनेकता रह जाने से व्यक्त्यभेद जातिबाधक न रहेगा, तब उन दो वर्गों में पुनः जाति माननी होगी। इसप्रकार दो वर्गों का अन्त कहीं न होगा, अतः अन-वस्था को जाति-बाधक माना गया है।

५. रूपहानि :—अपने रूप की हानि होजाना–अन्त्यनित्यद्रव्यवृत्ति—विशेष नामक पदार्थों में जाति का बाधक है। विशेष का स्वरूप है—स्वतः व्यावृत्त रहना। उनको अन्यों से व्यावृत्त करने के लिये यदि उनमें जातिरूप धर्म माना जाय; तो उनका 'स्वतः व्यावृत्त होना' जो रूप स्वीकार किया है, उसकी हानि होजायगी।

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च[1] सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥ (३६)

[द्रव्यत्वं] द्रव्यत्व, [गुणत्वं] गुणत्व, [कर्मत्वं] कर्मत्व, [च] और, [सामान्यानि] सामान्य (हैं), [विशेषाः] विशेष (होते हैं), [च] और।

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य-विशेष जाति हैं। केवल यही तीन जाति सामान्य-विशेष हों, ऐसा नहीं हैं। द्रव्यों में पृथिवीत्व, जलत्व, आदि, गुणों में गन्धत्व, रसत्व आदि, कर्मों में उत्क्षेपणत्व, अपक्षेपणत्व आदि जातियां भी सामान्य-विशेष है। सूत्र के 'च' पद से ऐसी सब जातियों का संग्रह कर लेना चाहिये।

पृथिवीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व 'पर' जाति है, इस स्थिति में वह 'सामान्य' है, और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' जाति होने से 'विशेष' है। इसीप्रकार पृथिवीत्व जाति घटत्व की अपेक्षा 'पर' होने से 'सामान्य' है, और द्रव्यत्व की अपेक्षा 'अपर' होने से 'विशेष' है। सत्ता किसी की अवान्तर जाति नहीं है, इसलिये वह केवल 'पर-सामान्य, है; इसीप्रकार घटत्व की कोई अन्य अवान्तर जाति नहीं है; इसलिये घटत्व केवल 'अपर-सामान्य' कहा जाता है ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रथम उद्दिष्ट छह पदार्थों में एक 'विशेष' नामक पदार्थ कहा गया है। क्या 'सामान्य-विशेष' में 'विशेष' पद उसी पदार्थ का निर्देश करता है ? यदि ऐसा है, तो पदार्थ छह हैं—इस कथन का विरोध होगा। आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥ (३७)

[अन्यत्र] अन्य में, (है, यह विशेष), [अन्त्येभ्यः] अन्त्य में रहने वाले, [विशेषेभ्यः] विशेषों से।

छह पदार्थों में जिस 'विशेष' नामक पदार्थ की गणना कीगई है, वे विशेष पदार्थ केवल नित्य परमाणुओं में रहते हैं। कार्य-परम्परा का जहां अन्त होजाता है, वे परमाणु हैं। परमाणु नित्य द्रव्य हैं, वे किसी का कार्य नहीं। कार्यद्रव्य प्रत्येक अन्य कार्यद्रव्य से भिन्न होता है, क्योंकि उनके कारणद्रव्य एक-दूसरे से

---

६. असम्बन्ध :—सम्बन्ध का न बन सकना, समवाय में जाति का बाधक है। जातिरूप धर्म अपने धर्मी में समवाय सम्बन्ध से रहता है। समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्धों का माना गया है; उनके पांच जोड़े निर्धारित हैं—गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, अवयव-अवयवी, अन्त्यनित्यद्रव्य-विशेष। समवाय में जाति रहे, तो समवाय सम्बन्ध से रहे, वह संभव नहीं। अतः असंबन्ध समवाय में जाति का बाधक है।

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में सूत्र का 'च' पद नहीं है।

भिन्न हैं। जो तन्तु एक पट के कारण हैं, वे अन्य पट के कारण नहीं हैं। इसलिये एक पट के कारणद्रव्य उस पट को अन्य पट आदि कार्यों से व्यावृत्त रखते हैं। तात्पर्य यह–कि एक कार्यद्रव्य दूसरे कार्यद्रव्य से भिन्न है; यहां भेदक या व्यावर्त्तक प्रत्येक कार्य के अपने कारण-अवयव हैं। परन्तु परमाणु का कोई कारण नहीं होता, तब एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न है, इसका भेदक या व्यावर्त्तक कौन होगा ? आचार्यों ने व्यावर्त्तक रूप से प्रत्येक परमाणु में एक 'विशेष' नामक पदार्थ का होना स्वीकार किया है। परमाणु क्योंकि अनन्त हैं, वे 'विशेष' नामक पदार्थ भी अनन्त हैं। सूत्र का बहुवचनान्त [विशेषेभ्यः] पद इसी भाव को अभिव्यक्त करता है।

ये विशेष केवल परमाणुओं में रहते हैं, परन्तु 'सामान्य-विशेष' पद में कथित विशेष धर्म उनसे अन्यत्र रहते हैं; अर्थात् केवल कार्य-पदार्थ में। इसलिये अन्त्य विशेषों को इस विशेष के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। इनका अपने-अपने रूप में सर्वथा पृथक् अस्तित्व है। इतना समझ लेने से पदार्थों की छह संख्या में कोई व्याघात नहीं आता ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सत्ता को पर-सामान्य बताया है, परन्तु सत्ता का स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सदिति[1] यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा[2] सत्ता ॥७॥ (३८)

[सत्] सत्, [इति] यह अथवा इस रूप में, [यतः] जिससे (ज्ञान होता है), [द्रव्यगुणकर्मसु] द्रव्य, गुण और कर्मों में, [सा] वह, [सत्ता] सत्ता सामान्य है।

द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में जिससे यह ज्ञान होता है, कि ये सत् हैं, वह धर्म 'सत्ता सामान्य' कहा जाता है। तात्पर्य हुआ, द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत्' प्रतीति का कारण सत्ता है। सत्तासामान्य इन तीनों पदार्थों में समवेत है, इसी कारण 'सत् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत् कर्म' इत्यादि ज्ञान होपाता है। यही सत्ता का लक्षण या स्वरूप है।

द्रव्यादि तीनों पदार्थों के विषय में—'यह सत् है, यह सत् है' इसप्रकार का अनुवृत्त-प्रत्यय और ऐसा ही व्यवहार सत्ता-सामान्य के स्वीकार किये जाने

---

१. अज्ञातकर्त्तृक प्राचीन व्याख्या में 'सन् यतो' ऐसा पाठ है। मध्य में 'इति' पद नहीं है।

२. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'सा सत्ता' ये पद नहीं हैं। इसके आगे अतिरिक्त सूत्र है—'ऐकद्रव्यवत्त्वान्न द्रव्यम् ।'

में प्रमाण है ॥७॥

शिष्य आशंका करता है, द्रव्यादि तीनों पदार्थों से पृथक् सत्ता का अनुभव नहीं होता। गोत्व अथवा अश्वत्व गौओं या अश्वों से अतिरिक्त कुछ नहीं दीखता; तब इसे द्रव्यादिरूप ही क्यों न मानलिया जाय? सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥ (३९)

[द्रव्यगुणकर्मभ्यः] द्रव्य, गुण और कर्मों से, [अर्थान्तरं] अतिरिक्त अर्थ है, [सत्ता] सत्ता सामान्य।

सत्ता सामान्य द्रव्यादिरूप न होकर उनमें समवेत रहता हुआ उनसे अतिरिक्त पदार्थ है। द्रव्यादि तीनों पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म में अनुगत नहीं हैं। द्रव्य, कर्म-गुण नहीं; गुण, द्रव्य-कर्म नहीं; कर्म, द्रव्य-गुण नहीं। परन्तु सत्ता तीनों में अनुगत देखी जाती है; इससे सिद्ध होता है—सत्ता इन तीनों से भिन्न है।

इस तात्पर्य को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्र में 'अर्थान्तरं' पद पढ़ा है। 'अर्थ' पद वैशेषिक में पारिभाषिक है—इस पद से केवल द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन का बोध होता है[१]। 'अन्तर' पद का तात्पर्य है—भेद। सारांश हुआ—अर्थों से अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म, इन तीनों से सत्ता का भेद है।

शंका कीजासकती है, स्वयं सूत्रकार ने [१।१।४] छह पदार्थों का उल्लेख किया है। फिर 'अर्थ' पद को केवल द्रव्यादि तीन में परिभाषित कर देना क्या परस्पर विरोध का द्योतक नहीं है?

गंभीरता से विचारने पर ज्ञात होता है, सूत्रकार के इस कथन में विरोध कोई नहीं है। कारण यह है, कि जहां सूत्रकार ने 'अर्थ' पद को द्रव्यादि तीन में परिभाषित किया है, वहां 'अर्थ' पद से सूत्रकार का तात्पर्य वस्तुतत्त्व से है। समस्त वस्तुतत्त्व का समावेश द्रव्य, गुण, कर्म तीन में सीमित है। जहां छह पदार्थों का उल्लेख किया है, वहां 'पदार्थ' पद में 'अर्थ' केवल वाच्य या अभिधेय को कहता है, यह आवश्यक नहीं, कि वह वाच्य वस्तुतत्त्व भी हो। यह स्पष्ट है, सामान्य, विशेष, समवाय वस्तु-तत्त्व नहीं हैं, यद्यपि पद के वाच्य अथवा अभिधेय हैं। वस्तुतत्त्व का तात्पर्य है—किसी आकारविशेष-अवयवसन्निवेश में अथवा किसी नियत विशेषस्थिति में अथवा क्रियारूप में किसीका अभिव्यक्त होना। यह व्यवस्था सामान्य आदि में नहीं। ये केवल पद के वाच्य हैं, वस्तुतत्त्व नहीं। ऐसे ही अभिप्राय के आधार पर कतिपय व्याख्याकार आचार्यों ने पदार्थ का लक्षण

---

१. द्रष्टव्य, वैशेषिक सूत्र—**'अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु'** [८।२।३]।

'प्रमितिविषयाः[1] पदार्थाः' किया है; जिसमें द्रव्यादि छहों पदार्थों का समावेश होजाता है।

द्रव्य, गुण, कर्म और सत्ता आदि सामान्य की अपनी यह स्थिति भी स्पष्ट करती है, कि 'सत्ता सामान्य' द्रव्यादि तीन से भिन्न है ॥८॥

आचार्य सूत्रकार स्वयं इस कथन की पुष्टि के लिये हेतु प्रस्तुत करता है—

गुणकर्मसु[2] च भावान्न कर्म न गुणः[3] ॥९॥ (४०)

[गुणकर्मसु] गुण, कर्मों में [च] और [भावात्] होने से [न]नहीं [कर्म] कर्म [न] नहीं [गुणः] गुण।

सत्ता-सामान्य क्योंकि गुण और कर्मों में समवेत रहता है, इसलिये वह द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों से भिन्न है। द्रव्य, गुण और कर्म, गुणों व कर्मों में समवेत नहीं रहते। गुणों में न द्रव्य रहता, न गुण रहता, न कर्म रहता; इसीप्रकार कर्मों में न द्रव्य रहता, न गुण रहता, न कर्म रहता; परन्तु सत्ता जाति गुण और कर्मों में रहती है; इसलिये द्रव्य गुण, कर्मों से वह भिन्न है।

सूत्र में यद्यपि 'द्रव्य' पद पठित नहीं है, तथापि कर्म और गुण के व्यतिक्रम-पाठ से व्याख्याकारों ने सूत्रकार का अभिप्राय प्रकट किया है, कि यहां द्रव्य का समावेश कर लेना चाहिये। पदार्थ-निर्देश के अनुसार 'न गुणो न कर्म' ऐसा क्रम सूत्र का होना चाहिये था। व्यतिक्रम-पाठ से सूत्रकार ने यहां द्रव्य का समावेश कर लेना सूचित किया है ॥९॥

आचार्य सूत्रकार उक्त कथन को प्रमाणित करने के लिये अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सामान्यविशेषाभावेन[4] च ॥१०॥ (४१)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्यविशेष के अभाव से [च] और, अथवा भी।

सामान्यविशेष के अभाव से भी सत्ता, द्रव्य, गुण, कर्मों से भिन्न है। द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्यविशेष रहता है; यदि सत्ता द्रव्य से अभिन्न होती, तो उसमें

---

१. 'सप्तपदार्थी' के रचयिता आचार्य शिवादित्य।

२. आचार्य चन्द्रकान्त ने सूत्र में 'च' नहीं पढ़ा।

३. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'गुणश्च' पाठ है। इस पाठ के अनुसार 'चकार' सूत्र में अपठित 'द्रव्य' का संग्राहक है।

४. 'सामान्यविशेषाभावाच्च,' चन्द्रानन्दीय व्याख्या।

भी 'द्रव्यत्व' सामान्यविशेष रहता; परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये सत्ता द्रव्यों से भिन्न है। गुणों में 'गुणत्व' सामान्यविशेष रहता है, सत्ता में 'गुणत्व' की उपलब्धि नहीं होती। यदि सत्ता गुण होती, तो वहां गुणत्व उपलब्ध होता; इसलिये सत्ता को गुणों के अन्तर्गत नहीं मानाजासकता। ऐसे ही 'कर्मत्व' सामान्यविशेष कर्मों में समवेत है, परन्तु सत्ता में 'कर्मत्व' सामान्यविशेष की प्रतीति नहीं होती; यदि सत्ता कर्म होती, तो उसमें 'कर्मत्व' समवेत रहता। फलतः द्रव्य, गुण, कर्मों में यथाक्रम द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व इन सामान्यविशेषों के रहने से तथा सत्ता में इनके अभाव से प्रमाणित होता है—सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है ॥१०॥

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में सद्भाव की प्रतीति का नियामक द्रव्यादि में समवेत सत्ता-सामान्य को माना गया है। इसके विपरीत सामान्य, विशेष, समवाय में सद्भाव की प्रतीति का नियामक सत्ता-सामान्य का संबंध न मानकर सामान्य आदि का स्वरूप ही उनके सद्भाव का नियामक माना गया है[1]। इसीकारण सामान्य, विशेष, समवाय में सामान्य का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता। इस परिस्थिति में शिष्य आशंका करता है—जैसे सामान्य आदि में सद्भाव व सद्व्यवहार का नियामक उनका स्वरूप है, ऐसे ही द्रव्यादि में सद्भाव व सद्व्यवहार का नियामक द्रव्यादि के स्वरूप को ही मानलिया जाय, उनमें अतिरिक्त सत्ता व द्रव्यत्व आदि का मानना व्यर्थ है?

इस आशंका का सत्ता-सम्बन्धी समाधान गत सूत्रों में कर दिया गया है—सत्ता द्रव्यादि-स्वरूप नहीं हैं। द्रव्यत्व आदि सामान्य भी द्रव्यादि-स्वरूप नहीं हैं, इसका निरूपण अग्रिम सूत्रों में कियागया है। प्रथम द्रव्यत्व सामान्य द्रव्यादि-रूप नहीं है, प्रत्युत द्रव्यादि से भिन्न है, इसके लिये सूत्रकार ने कहा—

[2]अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥ (४२)

[अनेकद्रव्यवत्त्वेन] अनेक द्रव्य समवायिकारणवाला होने से [द्रव्यत्वं] द्रव्यत्व-सामान्यविषयक [उक्तम्] व्याख्यान समझलेना चाहिये।

जिसप्रकार सत्ता जाति को द्रव्यादि से भिन्न प्रमाणित किया गया है, इसीप्रकार द्रव्यत्व जाति द्रव्यों से भिन्न है। इसमें सूत्रकार ने हेतु उपस्थित किया है-'अनेकद्रव्यवत्त्व'। 'अनेक' पद यहां 'सर्व' के अर्थ में समझना चाहिये। सब द्रव्यों

---

१. द्रष्टव्य, प्रशस्तपादभाष्य, तथा उसकी कन्दली व्याख्या; 'सामान्य' का साधर्म्य-निरूपण प्रसंग।

२. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में पाठ है—'एकद्रव्यवत्त्वेन'।

में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला 'द्रव्यत्व' सामान्य है, परन्तु कोई द्रव्य सब द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, केवल कार्यद्रव्य अवयवी अपने कारणद्रव्य अवयवों में समवाय सम्बन्ध से रहता है; इसलिये द्रव्य पदार्थ से 'द्रव्यत्व' सामान्य भिन्न है। सूत्र के 'अनेक' पद का 'सर्व' अर्थ करने से द्रव्य के एकांश अवयवी में अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि अनेक द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से तो अवयवी द्रव्य भी रहता है, पर वह समस्त द्रव्यों में नहीं रहता।

'अनेक' पद का 'सर्व' अर्थ करने का यह भी प्रयोजन है, कि पृथिवात्व, जलत्व आदि जातियों में अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि पृथिवीत्व आदि जातियां केवल पृथिवी आदि में रहती हैं, समस्त द्रव्यों में नहीं। इसलिये 'द्रव्यत्व' का द्रव्यों से भेद बताये जाने का प्रसंग द्रव्य के एकांश में प्रवेश नहीं करेगा।

इतना होने पर भी 'द्रव्यत्व' का द्रव्यों से भेद बताने वाले इस हेतु में पुनः एक दोष प्रतीत होरहा है। सब द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से न केवल 'द्रव्यत्व' रहता है, अपितु सत्ता-सामान्य भी सब द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहता है। तब द्रव्यत्व-सामान्य का द्रव्यों से भेद बताने वाला हेतु सत्ता-सामान्य में घटित होजाने के कारण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होगया।

इसके समाधान के लिये व्याख्याकार आचार्यों ने सुझाव दिया है, कि सूत्रगत हेतु में 'मात्र' अथवा 'केवल' पद का समावेश और कर लेना चाहिये। इसका तात्पर्य हुआ—समस्त द्रव्यमात्रवृति होने से, अथवा केवल समस्त द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण द्रव्यत्व सामान्य द्रव्यों से भिन्न होता है। सत्ता-सामान्य केवल द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, प्रत्युत गुण और कर्मों में भी रहता है; इसलिये यह हेतु सत्ता-सामान्य में अतिव्याप्त न होगा ॥११॥

द्रव्यों से द्रव्यत्व-सामान्य के भिन्न होने में आचार्य सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥(४३)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्यविशेष का अभाव होने से [च] और, अथवा भी।

सर्वद्रव्यमात्रसमवायी केवल 'द्रव्यत्व-सामान्य' है, कोई द्रव्य ऐसा नहीं; इसलिये 'द्रव्यत्व-सामान्य' द्रव्य नहीं, प्रत्युत द्रव्यों से भिन्न है; यह गतसूत्र मे कहा गया। इसके अतिरिक्त–'द्रव्यत्व' सामान्य के द्रव्यों से भिन्न होने में–यह हेतु है, कि पृथिव्यादि द्रव्यों में पृथिवीत्व, जलत्व आदि सामान्यविशेष समवेत रहते हैं; यदि 'द्रव्यत्व-सामान्य' पृथिव्यादि द्रव्यरूप होता, तो उसमें 'पृथिवीत्व' आदि समान्यविशेष समवेत रहते; परन्तु ऐसा नहीं है।

यह कभी किसी को प्रतीत नहीं होता, कि 'द्रव्यत्व-सामान्य' पृथिवी, जल, तेज आदि है। इसलिये प्रत्यक्ष से प्रमाणित होता है, कि 'द्रव्यत्व-सामान्य' पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्न है ॥१२॥

इसी प्रक्रिया का उपयोग सूत्रकार 'गुणत्व-सामान्य' को द्रव्यादि से भिन्न बताने में करता है—

तथा[1] गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ॥१३॥ (४४)

[तथा] वैसे ही [गुणेषु] गुणों में [भावात्] होने से [गुणत्वं] गुणत्व-सामान्य (द्रव्यादि से भिन्न है यह) [उक्तम्] कहा गया, व्याख्यान किया गया।

'गुणत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है, इसमें यह हेतु है, कि 'गुणत्व-सामान्य' गुणों में समवाय सम्बन्ध से रहता है; परन्तु द्रव्य, गुण, कर्म कोई भी गुणों में समवायसम्बन्ध से नहीं रहता; इसलिये 'गुणत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म नहीं है, तीनों से भिन्न है। यदि वह द्रव्यादिरूप होता, तो वह गुणों में समवेत न रहता ॥१३॥

पहले के समान सूत्रकार ने अन्य भेदक हेतु बताया—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१४॥ (४५)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्यविशेष के न होने से [च] और, अथवा भी।

'गुणत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है। यदि इनसे अभिन्न हो, तो जैसे द्रव्य, गुण और कर्मों में यथाक्रम पृथिवीत्व आदि, गन्धत्व आदि और उत्क्षेपणत्व आदि समान्यविशेष समवेत रहते हैं, वैसे 'गुणत्व-सामान्य' में भी प्रतीत हों। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता; इसलिये यह निश्चित होता है, कि 'गुणत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्मों से भिन्न है ॥१४॥

द्रव्य, गुण, कर्मों से सत्ता आदि सामान्य की भेदक प्रक्रिया का—सूत्रकार द्रव्यादि से 'कर्मत्व-सामान्य' का भेद बताने के लिये—प्रयोग करता है—

कर्मसु[2] भावात्कर्मत्वमुक्तम् ॥१५॥ (४६)

[कर्मसु] कर्मों में [भावात्] होने से [कर्मत्वम्] कर्मत्व (द्रव्यादि से भिन्न है, यह) [उक्तम्] कहा गया, अथवा व्याख्यान किया गया।

---

१. व्याख्याकार चन्द्रकान्त का विचार है, कि 'तथा' पद सूत्र का अंश प्रतीत नहीं होता। चन्द्रानन्दीय सूत्रपाठ में 'तथा' पद नहीं।

२. कर्मणि'—चान्द्रानन्दीय व्याख्या,

'कर्मत्व-सामान्य' कर्मों में समवेत रहता है। परन्तु द्रव्य, गुण, कर्म इनमें से कोई भी कर्मों में समवेत नहीं रहता। यदि 'कर्मत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से अभिन्न होता, तो वह द्रव्यादि के समान कर्मों में समवेत न रहता। परन्तु ऐसा नहीं है; इसलिये निश्चित होता है—'कर्मत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है ॥१७॥

पूर्वोक्त के समान सूत्रकार आचार्य ने इस विषय में अन्य भेदक हेतु प्रस्तुत किया—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१६॥ (४७)

[सामान्यविशेषाभावेन] सामान्यविशेष के अभाव से (च) और, अथवा भी।

'कर्मत्व' में सामान्यविशेष के अभाव से भी यह जाना जाता है, कि 'कर्मत्व-सामान्य' द्रव्यादि से भिन्न है। द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व सामान्य के अवान्तर सामान्यविशेष पृथिवीत्व आदि, गन्धत्व आदि, उत्क्षेपणत्व आदि यथाक्रम द्रव्य, गुण, कर्म में समवेत रहते हैं। यदि 'कर्मत्व-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न न होता, तो ये सामान्यविशेष द्रव्यादि की तरह 'कर्मत्व' में भी रहते। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये 'कर्मत्व' में सामान्यविशेष का अभाव होने से कर्मत्व-सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्न है, यह सिद्ध होता है।

ये छह सूत्र [११-१६] द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व सामान्यों का द्रव्य, गुण, कर्म से भेद प्रतिपादन के लिये सूत्रकार ने कहे हैं। प्रतिपादन की समान प्रक्रिया का आश्रय इनमें लिया गया स्पष्ट होता है ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व तीन भिन्न जातियों के समान इन द्रव्यादि तीनों में रहने वाली सत्ता जाति को भी अलग-अलग क्यों न मान लिया जाय? जो क्षेत्र द्रव्यत्व आदि का है, वही सत्ता का है। आचार्य ने समाधान किया—

सदिति[1] लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः ॥१७॥ (४८)

[सत्] सत् [इति] इसप्रकार [लिङ्गाविशेषात्] लिङ्ग-प्रतीति के समान होने से (तीनों द्रव्यादि में) [विशेषलिङ्गाभावात्] भेदक प्रमाण के अभाव से

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'सदिति' ये पद सूत्रपाठ के अन्तर्गत नहीं हैं। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'इति' पद यहां न पढ़, सूत्र के अन्त में पढ़ा है।

[च] और, अथवा भी [एकः] एक (है) [भावः] सत्ता-सामान्य।

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में 'सत्-सत्' इसप्रकार की समान प्रतीति होती है—'सत् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत् कर्म'। द्रव्यादि तीनों के लिये इस प्रत्यय में कोई भेद नहीं है। इसलिये तीनों में 'सत्ता' को एक माना जाता है। द्रव्यत्व, गुणत्व से भिन्न है, इसमें भेदक प्रमाण है, दोनों के आश्रयों का भिन्न होना। 'द्रव्यत्व' का आश्रय द्रव्य हैं, गुण नहीं, ऐसे ही 'गुणत्व' का आश्रय गुण हैं, द्रव्य नहीं। परन्तु 'सत्ता' का आश्रय समानरूप से द्रव्य, गुण, कर्म तीनों हैं। यहां किसी भेदक प्रमाण का अभाव होने से 'भाव' अर्थात् 'सत्ता-सामान्य' द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में एक होता है।

यद्यपि यह कहाजासकता है—कोई सामान्य जिन नियत समान अधिकरणों में रहता है, वह एक ही होता है। समान अधिकरणों में दो सामान्य नहीं माने जाते। यदि द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' के समान 'सत्ता' भी उन्हीं अधिकरणों में रहे, तो तुल्यवृत्ति होने से ये दोनों सामान्य नहीं माने जायेंगे; इनमें सामान्य एक रहेगा। प्रत्येक सामान्य का अपना-अपना आश्रय है, उन आश्रयों में सामान्य एक रहता है। जैसे अपने आश्रयों में 'सत्ता' सामान्य एक है; ऐसे ही अपने आश्रयों में 'द्रव्यत्व' सामान्य एक है। इसप्रकार 'सत्ता' सामान्य को एक बताना, अपनेरूप में प्रत्येक सामान्य को एक माने जाने का उपलक्षण समझना चाहिये। आचार्य ने 'सत्ता' की एकता को कहकर सब सामान्यों की एकता का संकेत किया है। तथापि विचारने पर सूत्रकार का आशय–केवल 'सत्ता' को एक जाति कहने से—यह अभिव्यक्त करना ज्ञात होता है, कि जितने पदार्थ जाति के आश्रय माने गए हैं, उन सबमें जो जाति समवेत है, वह केवल एक 'सत्ता' जाति है। उन आश्रयों के सीमित अंशों में भले अनेक जातियां है, पर समस्त में एक ही जाति है—'सत्ता' ॥१७॥

इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्।

सम्पूर्णश्चायं प्रथमोध्यायः।

अथ द्वितीयेऽध्याये प्रथमाह्निकम् ।

प्रथम अध्याय में पदार्थों का उद्देश; द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य के लक्षण उनके साधर्म्य-वैधर्म्य आदि का निरूपण किया गया। अब द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक में नौ द्रव्यों के लक्षण, ईश्वर व आकाश आदि के विषय में निरूपण किया जायगा। द्रव्यों में सर्वप्रथम पृथिवी का लक्षण सूत्रकार ने कहा—

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥ (४६)

[रूपरसगन्धस्पर्शवती] रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाली (होती है), [पृथिवी] पृथिवी।

सूत्र के प्रथम समासयुक्त पद में अन्तिम दो अक्षर 'मतुप्' प्रत्यय का स्त्रीलिंग रूप है। यहां यह प्रत्यय सप्तमी अर्थ में अर्थात् अधिकरण अर्थ में हुआ है, षष्ठी विभक्ति के अर्थ में नहीं। इसका तात्पर्य हुआ—रूपादि गुण पृथिवी में रहते हैं; पृथिवी रूपादि गुणों का अधिकरण है, आश्रय है। इस आश्रयाश्रितभाव का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। इसप्रकार समवायसम्बन्ध से रूपादि गुणों का जो आश्रय-आधार है, वह पृथिवी है, यह पृथिवी का लक्षण हुआ। पर इसका विशेष रूपादि विषयक विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

रूप दो प्रकार का है—भास्वर, अभास्वर। पहला तेज का गुण है। दूसरा पुनः दो प्रकार का है—स्वच्छ, अस्वच्छ। स्वच्छ-अभास्वररूप जल का गुण है। अस्वच्छ-अभास्वर पृथिवी का। यह विवरण केवल शुक्ल रूप के आधार पर है। इसका तात्पर्य हुआ—शुक्ल भास्वर रूप तेज का, शुक्ल स्वच्छ अभास्वर जल का, शुक्ल अस्वच्छ अभास्वर पृथिवी का गुण है। शुक्ल के अतिरिक्त पृथिवी में छह प्रकार के रूप और हैं। इसप्रकार पृथिवी में सात प्रकार का रूप देखा जाता है—शुक्ल, नील, पीत, हरित, रक्त, कपिश[1], चित्र। 'शुक्लत्व' आदि 'रूपत्व' के अवान्तरसामान्य समझने चाहियें; इसीप्रकार 'भास्वरत्व, स्वच्छत्व' आदि 'शुक्लत्व' के अवान्तरसामान्य। इसके अनुसार रूपगुण के आधार पर पृथिवी का लक्षण होगा—जो भास्वरता-स्वच्छतारहित रूप का समवायसम्बन्ध से आश्रय

---

१. **अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'कपिश' का पाठ नहीं है; सात संख्या पूर्त्ति के लिए 'कृष्ण' की गणना करलीगई है।**

है, वह पृथिवी द्रव्य है।

रूप के समान रस भी सात प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त, चित्र[1]। मधुर रस दो प्रकार का है—व्यक्त, अव्यक्त। अव्यक्त मधुररस केवल जल में रहता है। अव्यक्त का तात्पर्य है—अस्पष्ट, प्रखररूप में अनुभूत न होना। जल में स्वाद की अनुकूलता–खारी या कसैले आदि रसों का अनुभव न होना–उसका माधुर्य है। पार्थिव विकारों में जिस प्रखर मधुररस का अनुभव होता है, वह जल में नहीं है; यही, 'अव्यक्त' पद का तात्पर्य है।

व्यक्त मधुर तथा अन्य सब रस पृथिवी में रहते हैं। इसलिये व्यक्त रस-वाला द्रव्य, अथवा व्यक्तरस का समवायिकारण या आश्रय पृथिवी है, यह पृथिवी का लक्षण स्पष्ट होता है।

गन्ध गुण एकमात्र पृथिवीनिष्ठ है। गन्ध दो प्रकार का है—सुरभि, असुरभि। सब प्रकार का गन्ध पृथिवी के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं समवेत नहीं रहता। गन्धमात्र का समवायिकारण या आश्रय पृथिवी का निरपेक्ष लक्षण स्पष्ट होता है।

स्पर्श गुण तीन प्रकार का अनुभूत होता है—उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत। गरम, ठण्डा, न-गरम न-ठण्ढा। उष्ण-स्पर्श गुण तेज (अग्नि) में रहता है। शीत-स्पर्श जल में। अनुष्णाशीत स्पर्श दो प्रकार का है—स्पर्शान्तर-व्यञ्जक, स्पर्शा-न्तर-अव्यञ्जक। इसमें पहला गुण वायु में और दूसरा पृथिवी में रहता है। स्नान किये व्यक्ति के गीले शरीर पर जब वायु का स्पर्श होता है, तब वह स्पर्श देह-संपृक्त जल के शीत-स्पर्श का अभिव्यञ्जक होता है। इसप्रकार वायु में अनुष्णा-शीत स्पर्श स्पर्शान्तर-व्यञ्जक माना गया है। पृथिवीगत अनुष्णाशीत स्पर्श के मृदु, मध्य, कठोर आदि अनेक भेद तथा उनके भी अन्य अनेक अवान्तर-भेद संभव हैं। यह वस्तु की रचना पर आधारित है।

प्रस्तुत सूत्र में पृथिवी के चार गुणों की गणना की है। ये 'विशेषगुण' कहे जाते हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि अनेक गुण 'सामान्यगुण' कहे जाते हैं, जो सब द्रव्यों अथवा अधिक द्रव्यों में रहते हैं। साधारणरूप से 'विशेषगुण' वह है—जिसके द्वारा उसके आधार द्रव्य का लक्षण किया जासके। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पृथिवी के विशेषगुण हैं। इनमें भी 'गन्ध' प्रधानरूप से

---

१. आधुनिक प्रकरण ग्रन्थों में रसों के सप्तम भेद 'चित्र' का उल्लेख नहीं मिलता। अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में इसे स्वीकार किया है। यह अनु-भवगम्य भी है।

पृथिवी का विशेषगुण है। यह अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता। पृथिवी का—'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण, पूर्णरूप से अन्य निरपेक्ष है। रूपादि के आधार पर ऐसा लक्षण नहीं किया जासकता। रूपादि के साथ 'विविध' आदि कोई विशेषण पद पृथिवी का लक्षण करते समय लगाना होगा। 'रूपवती पृथिवी' कहने से यह लक्षण जल, तेज में अतिव्याप्त होगा। 'विविधरूपवती' अथवा 'विविधरसवती पृथिवी' कहने पर तेज या जल में यह अतिव्याप्त न होगा। आगे भी इसीप्रकार गुण के आधारपर द्रव्य का लक्षण समझना चाहिये ॥१॥

पृथिवी के अनन्तर आचार्य क्रमप्राप्त जल के स्वरूप का निरूपण करता है—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः[1] ॥२॥ [५०]

[रूपरसस्पर्शवत्यः] रूप, रस, स्पर्शवाले हैं [आपः] जल [द्रवाः] द्रव हैं [स्निग्धाः] स्निग्ध हैं। द्रवत्व-गुण वाले हैं तथा स्नेह-गुण वाले हैं।

प्रस्तुत सूत्र द्वारा जलों में पांच गुणों का उल्लेख हुआ है—रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह। इनमें स्नेह—जलका निरपेक्ष विशेषगुण है। स्नेह वह गुण है—जिसके कारण चून, मिट्टी, सीमन्ट आदि बिखरी हुई वस्तु पिण्डीभूत होजाती है। चूर्ण आदि में जल मिलाने पर ऐसा होता है; इसलिये स्नेह गुण केवल जल-वृत्ति है, यह स्पष्ट है।

जल में अभास्वर-स्वच्छ शुक्ल रूप रहता है। रसगुण केवल—'अव्यक्त मधुर' तथा स्पर्श शीत। अन्य रूप, रस, स्पर्श का जल में अनुभव द्रव्यान्तर के संपर्क से होता है; वह नैमित्तिक प्रतीति है, जल का अपना गुण नहीं।

द्रवत्व गुण जल में सांसिद्धिक माना गया है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है—जल का स्वतः ऐसा [द्रवरूप] होना, किसी बाह्य निमित्त के कारण न होना। पृथिवी, तेज में द्रवत्व नैमित्तिक है, जो अग्नि संयोग—बाह्य निमित्त के कारण होता है। 'सांसिद्धिक द्रवत्व' जल के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में न रहने के कारण इसके द्वारा जल का लक्षण स्पष्ट होता है—जो सांसिद्धिक द्रवत्व का समवायिकारण अथवा आश्रय है, वह जल है।

स्नेह जल का निरपेक्ष विशेषगुण है, यह गत पंक्तियों में कहा गया। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने घृत-तैल आदि में उपलब्ध स्नेह को जलगत स्नेह से अभिन्न समझकर कुछ तर्क-वितर्क प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः घृतादिगत स्नेह चिकनापन हैं, जलगत स्नेह ऐसा नहीं है। यह गुण बिखरी वस्तु को संश्लिष्ट करने में

---

१. 'स्निग्धाश्च' चन्द्रानन्दीय व्याख्या।

निमित्त होता है, घृतादि के चिकनेपन में यह विशेषता नहीं है। घृतादिगत स्नेह को जलगत स्नेह से न मिलाकर मृदुतर-स्पर्श से इसका मिलान करना चाहिये। जलगतस्नेहजनित पिण्डीभाव में घृतादिगत स्नेह अधिक शिथिलता उत्पन्न करता है, न कि पिण्डीभाव में सहयोग। इसीकारण घृतादि के आधिक्य से चूर्णादिनिर्मित मिष्टान्न में अधिक खस्तापन [पिण्डीभाव में शैथिल्य] आ-जाता है।

व्याख्याकार शंकर मिश्र ने स्नेह गुण के साथ द्रवत्व को भी चूर्णादि के पिण्डीभाव में हेतु माना है; परन्तु यह युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जल के मिलाये बिना केवल पिघले घृतादि के द्वारा चूर्णादि का पिण्डीभाव संभव नहीं होता ॥२॥

क्रमप्राप्त तेज का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥ (५१)

[तेजः] तेज (अग्नि), [रूपस्पर्शवत्] रूप और स्पर्श वाला है।

तेज में भास्वर शुक्ल रूप और उष्ण स्पर्श समवेत रहते हैं। भास्वर शुक्ल रूप का एवं उष्ण स्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय तेज है, यह तेज का लक्षण स्पष्ट होता है। तप्त पाषाण, धातु आदि में, तथा भर्जनपात्र आदि अनेक वस्तुगत तेज में भास्वर शुक्ल रूप अनुद्भावित रहता है; परन्तु उन स्थलों में उष्ण स्पर्श उद्भावित रहता है; अतः तादृश स्थलों में अव्याप्ति आदि की आशंका का अवसर नहीं।

तेज में इन गुणों के उद्भावन [प्रकट होना], अनुद्भावन [प्रकट न होना] के आधार पर चार परिस्थिति देखने में आती हैं। १—जहां रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत रहते हैं। जैसे—सौर तेज तथा काष्ठादिप्रज्वलित अग्नि। २—जहां कथंचित् रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत रहते हैं। जैसे—मानव आदि का चक्षु-तेज। ३—जहां रूप उद्भूत रहता है, स्पर्श अनुद्भूत। जैसे—चन्द्र-प्रकाश। ४—जहां रूप अनुद्भूत रहता है, स्पर्श उद्भूत। जैसे—तप्त पाषाण व भर्जनकपालस्थ बालू आदि ॥३॥

क्रमप्राप्त वायु का स्वरूप सूत्रकार बताता है—

स्पर्शवान्[1] वायुः ॥४॥ (५२)

[स्पर्शवान] स्पर्श वाला है [वायुः] वायु।

---

१. 'वायुः स्पर्शवान्।' चन्द्रानन्दीय व्याख्या।

वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है, यह गत पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है। अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में भी रहता है; परन्तु वायुगत स्पर्श अन्यत्र स्पर्शान्तर का अभिव्यञ्जक होता है, पृथिवीगत स्पर्श ऐसा नहीं होता, यह इनका अन्तर समझना चाहिये, यह विवरण प्रथम सूत्र की व्याख्या में देदिया गया है। उक्त स्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय वायु है, यह वायु का लक्षण व स्वरूप स्पष्ट होता है।

वायु और पृथिवी के स्पर्शों में पूर्वोक्त भेद के अतिरिक्त यह भी भेद है, कि पृथिवीगत स्पर्श पाकज होता है, और वायुगत स्पर्श अपाकज। फल आदि तथा अन्य घट, ईंट, अन्न आदि विविध पार्थिव विकारों में पाकज प्रक्रिया देखी जाती है, वहां स्पर्श पाकज रहता है। यह स्थिति वायु में न होने से वहां स्पर्श अपाकज है।

पृथिवी, जल, तेज, वायु चार द्रव्यों के लक्षण व स्वरूप का उपयुक्त विवरण इन चार सूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया। समस्त कार्य-विश्व के मूल उपादान कारण वैशेषिक शास्त्र में चार प्रकार के परमाणु स्वीकार किये गये हैं। इन्हीं परमाणुओं से बनने वाला समस्त विश्व प्रकाश में आता है। ये परमाणु-'पृथिवी, जल, तेज, वायु' नाम से व्यवहृत होते हैं। प्रस्तुत सूत्रों में स्पष्ट कहा है— पृथिवी में चार, जल में तीन, तेज में दो, वायु में एक गुण है। कतिपय[1] व्याख्याकारों ने ऐसा लिखा है, कि उत्पत्तिक्रम के कारण पूर्वोत्पन्न द्रव्य के सहयोग से उत्तरोत्पन्न द्रव्य में एक गुण अधिक आता जाता है। प्रथम उत्पन्न वायु में एक गुण है—स्पर्श। तदनन्तर उत्पन्न तेज में दो—रूप, स्पर्श। फिर जल में तीन—रस, रूप, स्पर्श। पृथिवी में चार—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। परन्तु वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार पृथिवी में चारों गुण अपने ही हैं। पृथिवी-परमाणु में चारों गुण हैं; उनके कार्यों में भी। ये किसीके संपर्क से इनमें नहीं आते। इसी प्रकार जल में तीन और तेज में दो गुण अपने ही हैं, किसी अन्य के संपर्क से नहीं।

वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक कार्य-द्रव्य उत्पत्ति के अनन्तर पहले क्षण में निर्गुण व निष्क्रिय माना जाता है; क्योंकि वह द्रव्य अपने में उत्पन्न होने-वाले गुण, कर्मों का समवायिकारण है, और कारण का कार्योत्पत्ति से पहले क्षण में विद्यमान होना आवश्यक है; क्योंकि यदि कारण न होगा, तो गुणादि कार्य उत्पन्न किसमें होगा? अतः गुणादि की उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न हुआ कार्य-द्रव्य एक क्षण गुणादि से रहित माना जाता है। ऐसी स्थिति में उत्पन्न पृथिवी आदि द्रव्य

---

१. वैशेशिक सूत्रों के भाष्यकार चन्द्रकान्त भट्टाचार्य।

का जो लक्षण–'गन्धवती पृथिवी' आदि किया गया है, वह पृथिवी के आद्यक्षण में पृथिवी में घटित न होगा। यह लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

इसके परिहार के लिये व्याख्याकारों ने रीति निकाली है–जातिघटित लक्षण करने की। उसके अनुसार पृथिवी का लक्षण होगा–'गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं पृथिवीत्वम्।' इसका तात्पर्य है–गन्ध का जो अधिकरण है (पृथिवी), उसीमें रहने वाली जो द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्यजातिहै (पृथिवीत्व), उसका जो आश्रय है, वही पृथिवी है। इसका सारांश यही है— पृथिवी के गन्धहीन क्षण में भी पृथिवी में 'पृथिवीत्व' जाति रहती है, इसलिये उस द्रव्य के पृथिवी होने में कोई बाधा नहीं है। इसीप्रकार यह आपत्ति और परिहार प्रत्येक कार्यद्रव्य के विषय में समझ लेना चाहिये। ऐसा लक्षण कार्य-द्रव्य के प्रत्येक विशेषगुण के आधार पर किया जा सकता है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या ये गन्धादि गुण आकाश द्रव्य में रहते हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

त आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥ (५३)

[ते] वे [आकाशे] आकाश में [न] नहीं [विद्यन्ते] उपलब्ध होते।

वे–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श–गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते। सूत्र में 'आकाश' पद काल आदि शेष सब द्रव्यों का उपलक्षण है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इन सभी द्रव्यों में रूपादि[1] उक्त गुण नहीं रहते ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, द्रवत्व गुण जलों में समवेत बताया गया; परन्तु घृत तैल आदि पार्थिव द्रव्यों में वह देखा जाता है। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टाना[2]मग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥ (५४)

[सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानाम्] घृत (सर्पि), लाख (जतु), मोम (मधूच्छिष्ट) इन वस्तुओं का [अग्निसंयोगात्] अग्निसंयोग से [द्रवत्वम्] द्रवत्व गुण [अद्भिः] जलों के साथ [सामान्यम्] समान धर्म।

घी, लाख, मोम आदिका जो द्रवत्व गुण जलों के साथ समान धर्म बताया जाता है, वह वस्तुतः घृत आदि में अग्निसंयोग-निमित्त से होता है। जल के लक्षण सूत्र

---

१. रूप के विषय में परिशिष्ट (२) देखिये।

२. '०च्छिष्टानां पार्थिवानामग्निसंयोगाद् द्रवताऽद्भिः सामान्यम्'। चन्द्रानन्दीय व्याख्या।

(२।१।२) में 'द्रव' पद सांसिद्धिक द्रवत्व गुण का बोधक है। जलों में द्रवत्व स्वतः उसकी रचना के साथ होता है; परन्तु घृतादि पार्थिव द्रव्य स्वभावतः द्रवीभूत दशा में उत्पन्न नहीं होते, इनमें द्रवत्व अग्निसंयोग-निमित्त से आता है, अतः यह 'नैमित्तिक द्रव्यत्व' है। द्रवत्व रूप में दोनों–पृथिवी और जल–में भले समानता हो, परन्तु नैमित्तिक-सांसिद्धिक भेद से अन्तर समझना चाहिए।

सूत्र के 'सर्पि' आदि पद अन्य द्रवीभूत पार्थिव वस्तुओं के उपलक्षण समझने चाहियें। इससे तैल, वसा आदि का संग्रह होजाता है। 'अग्निसंयोग' पद उद्भूत उष्णस्पर्श वाले तेज का उपलक्षण है। इससे साक्षात् अग्नि का संयोग न होने पर तीव्र आतप व शारीर ऊष्मा आदि के संपर्क में घृतादि वस्तुओं का पिघलजाना संभव होता है ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, घृतादि में अतिव्याप्ति द्रवत्व लक्षण की न रहो; परन्तु सुवर्ण आदि धातुओं में अतिव्याप्ति रहेगी। उनमें पिघलाया जाना देखा जाता है। सूत्रकार ने समाधान किया—

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णाना[1] मग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥ (५५)

[त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानाम्] रांगा, सीसा, लोहा, चांदी, सोना इन धातुओं का [अग्निसंयोगात्] अग्नि के संयोग से [द्रवत्वम्] द्रवत्व गुण [अद्भिः] जलों के साथ [सामान्यम्] समानधर्म है।

रांगा आदि धातुओं का जलों के साथ समानधर्म-द्रवत्व गुण अग्नि-संयोग से होता है; उनमें स्वभावसिद्ध द्रवत्व नहीं है। जलों में सांसिद्धिक द्रवत्व है और रांगा आदि धातुओं में अग्निसंयोग-निमित्त से होने के कारण नैमित्तिक है। जललक्षण सूत्र [२।१।२] में जल का लक्षण 'सांसिद्धिक द्रवत्व का समवायिकारण' अभिप्रेत है; अतः त्रपु आदि में नैमित्तिक द्रवत्व होने से अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं।

गतसूत्र में 'अग्निसंयोगात्' हेतु कहने से उसीका अनुवर्त्तन इस सूत्र में हो-सकता था, पुनः 'अग्निसंयोगात्' हेतुनिर्देश द्वारा सूत्रकार यह प्रकट करना चाहता है, कि त्रपु आदि धातुओं में द्रवत्व गुण का उद्भव साक्षात् अग्निसंयोग से होता है; घृतादि द्रवत्व के समान प्रकार आतप आदि से नहीं।

अज्ञातकर्त्तृक व्याख्या में इस सूत्र का पाठ निम्नप्रकार है—

---

१. '०वर्णानां तैजसानामग्निसंयोगाद् द्रवताऽद्भिः सामान्यम्।' चन्द्रानन्दीय व्याख्या।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णादीनां च तैजसानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्। इस पाठ में त्रपु आदि का 'तैजस' विशेषण देने से सूत्रकार द्वारा सुवर्ण आदि धातुओं का 'तैजस' होना प्रमाणित होता है। वैशेषिक शास्त्र के समस्त व्याख्या व विवरण ग्रन्थों में सुवर्ण आदि धातुओं को 'तैजस' सिद्ध किया गया है; परन्तु सूत्रकार का इस विषय में साक्षात् निर्देश अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है। अधिक संभव है, सूत्र का प्राचीन पाठ ऐसा रहा हो। कदाचित् लेखकों के प्रमाद से भ्रष्ट होगया हो। इस पाठ में 'आदि' पद से अन्य कांसा, तांबा, पीतल, पारद (पारा) प्रभृति अनुक्त धातुओं का संग्रह होजाता है। प्रचलित पाठ में 'त्रपु' आदि को अनुक्त धातुओं का उपलक्षण मान लिया जाता है। इसप्रकार समस्त धातुओं का 'तेज' द्रव्य में अन्तर्भाव समझना चाहिए।

सुवर्ण आदि धातुओं को 'तैजस' क्यों माना गया है, इस विषय में व्याख्याकारों ने सुझाव दिया है, कि संशोधन द्वारा धातुओं के मलरहित होजाने पर इनमें भास्वर रूप प्रस्फुटित होजाता है। भास्वर रूप केवल तेज में समवेत रहता है, अतः सब धातुओं को तैजस माना गया है। मलरहित हो जाने पर भी अन्य तत्त्वों के अंश धातुओं में मिश्रित रहते हैं, पर वह मिश्रण उस दशा में मूल उपादान के भास्वर रूप को अभिभूत नहीं करता। क्वचित् धातुओं में रूप की शुक्लता न रहने पर भी भास्वरता निर्बाध बनी रहती है। उसके साथ रूपान्तर तथा गुरुत्व आदि की प्रतीति का कारण अन्य तत्त्वों के मिश्रण का होना संभव है। नीलम, पुखराज आदि मणियों के विषय में यह सुझाव लागू होता है या नहीं? विचारणीय है। धातु-शोधन व उसके मूल उपादानों की जांच का यह विषय प्रयोगात्मक रीति पर अधिक निर्भर करता है ॥७॥

पृथिवी, जल, तेज तीन द्रव्य प्रत्यक्ष हैं, और उनके गुण भी। वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके प्रत्यक्ष-स्पर्श गुण से वायु का अनुमान होता है। इसके लिये सूत्रकार ने प्रथम अनुमान का प्रकार बताया—

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेबालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥८॥ (५६)

[विषाणी] सींग वाला होना [ककुद्मान्] ठाठ वाला होना [प्रान्तेबालधिः] पूंछ के सिरे पर बालों के गुच्छे वाला होना [सास्नावान्] गले के नीचे लटकती खाल वाला होना [इति] यह सब [गोत्वे] गौ के होने में [दृष्टं] देखा जाता है [लिङ्गम्] चिह्न।

विषाण, ककुद्, प्रान्तेबालधि, सास्ना ये सब गाय या बैल के विशेष अंग हैं।

विषाण का अर्थ सींग है। सींग शब्द संस्कृत के 'शृङ्ग' शब्द का अपभ्रंश [बिगड़ा रूप] है। सींग यद्यपि भैंस, बकरी तथा अन्य जंगली जानवर हरिण, महा, झांख आदि के होते हैं, पर इन सभी के सींगों में अपनी-अपनी विशेषता रहती हैं। गाय का सींग यहां अपनी विशेषता के साथ ग्रहण कियाजाना अभिप्रेत है। विशेष सींग के द्वारा अज्ञात गाय का अनुमान होजाता है—यह गाय है, विशेष सींग वाली होने से, पूर्वदृष्ट गाय के समान। अनुमान का यह प्रकार 'सामान्यतोदृष्ट अनुमान' कहाजाता है। इसमें दृष्ट हेतु के द्वारा अदृष्ट वस्तु का अनुमान कर-लियाजाता है।

अदृष्ट गाय का अनुमान करने के लिये विषाण के समान गाय का ककुद् [ठाठ, जो गर्दन से पीछे की ओर उभरा हुआ मांसपिण्ड रहता है, यह बैल या सांड के अधिक स्पष्ट रहता है], 'प्रान्तेवालधि'[1] पद में 'प्रान्त' का अर्थ किनारा-छोर-सिरा है, और 'वालधि' का अर्थ है—बालों का गुच्छा। लम्बी पूंछ के साथ सिरे पर बालों का गुच्छा केवल गाय बैल की पूंछ में होता है। इस सबको मिलाकर इस पद का तात्पर्य–'पुच्छविशेष' है। सास्ना गले में लटकता हुआ चर्मविशेष। ये सभी चिह्न-विशेष गाय के पहचानने–अनुमान कराने में साधक होते हैं। अन्तिम 'सास्ना' लिङ्ग तो लोक व शास्त्रीय व्यवहार में अतिप्रसिद्ध है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्रद्वारा अदृष्ट वस्तु को जानने के लिये अनुमान प्रमाण का प्रकार बताया ॥८॥

वायु को जानने के लिए सूत्रकार अनुमान के उक्त प्रकार का वायु में अति-देश करता है—

स्पर्शश्च वायोः[2] ॥९॥ (५७)

[स्पर्शः] स्पर्श गुण [च] और [वायोः]वायु के (जानने का साधन-लिङ्ग है)।

पृथिवी, जल, तेज के साथ जब हमारे अङ्गों का कोई संपर्क नहीं रहता, तब भी हमें एक विशेष स्पर्श का अनुभव होता है। यह अनुभव सत्य है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं। स्पर्श एक गुण है, गुण कभी द्रव्य के आश्रय विना रह नही सकता।

---

१ व्याकरण के नियमानुसार 'प्रान्तेवालधि' इस समासयुक्त पद में 'प्रान्त' की सप्तमी विभक्ति के प्रत्यय का अलुक् होने से यह रूप बना है। अन्यथा 'प्रान्तवालधि' होता।

२. 'वायोः' पद नहीं है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या। अ० प्रा० में 'वायोः स्पर्शश्च' पाठ है।

तब इस स्पर्श गुण का जो आश्रय द्रव्य है, वह वायु है, ऐसा स्वीकार करना पड़ता है।

यद्यपि स्पर्श गुण पृथिवी, जल, तेज तीनों द्रव्यों में रहता है, तब वह स्पर्श इन्हींमें से किसी द्रव्य का गुण मानलिया जाय, अतिरिक्त वायु द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है; ऐसा कहाजा सकता है। परन्तु ऐसा कथन युक्त नहीं। कारण यह है, कि जब अधिक उष्ण व शीत स्पर्श का अनुभव होता है, उस समय तैजस और जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, पर अनुद्भूतरूप तैजस व जलीय सूक्ष्म कणों का अस्तित्व वहां मानाजाता है। प्रश्न होता है, उन सूक्ष्म कणों का अस्तित्व वहां कैसे संभव हुआ? उसका उत्तर सिवाय इसके और कुछ नहीं, कि वे सूक्ष्म कण किसी अन्य द्रव्य के साथ संयुक्त होकर वहां पहुंचते हैं, जहां उस स्पर्श का अनुभव होता है। वह द्रव्य वायु है, जो उन कणों को अपने साथ मिलाकर वहां ले आता है। इससे भी वायु द्रव्य का अस्तित्व सिद्ध होता है।

एक ऐसा अवसर है, जब अधिक उष्ण व शीत स्पर्श का अनुभव न होकर 'अनुष्ण-अशीत' स्पर्श का अनुभव होता है, वह स्पर्श वायु द्रव्य का अनुमापक है। वहां तैजस व जलीय द्रव्य के अस्तित्व की कल्पना का संभव नहीं, क्योंकि वह स्पर्श न उष्ण है न शीत; जो तेज व जल द्रव्य की संभावना का द्योतक हो। वह स्पर्श पृथिवी का कल्पना नहीं कियाजासकता, क्योंकि पृथिवीगत स्पर्श में विशेष प्रकार के काठिन्य का अनुभव होता है, जो उक्त अनुभूयमान स्पर्श में नहीं रहता। वस्तुतः वह काठिन्य स्पर्श का नहीं, स्पर्श के अधिकरण द्रव्य का है, यदि वही द्रव्य अनुभूयमान स्पर्श का आधार होता, तो वहां काठिन्य का अनुभव रहता। अतः उक्त स्पर्श का आश्रय वायु द्रव्य माना जाता है। पार्थिव सूक्ष्मकणों की वहां कल्पना का भी वही समाधान है, जो तैजस-जलीय कणों की कल्पना का। अन्य द्रव्य के सहयोग के विना पार्थिव कणों का स्वयं वहां पहुंचना संभव नहीं। वह सहयोगी द्रव्य वायु स्वीकार करना ही होगा।

सूत्रकार ने वायु द्रव्य के अनुमापक स्पर्श गुण का स्वतः सूत्र में साक्षात् निर्देश किया, इसके अतिरिक्त 'च' पद से शब्द, धृति, कम्पन आदि साधनों का संकेत किया। शब्द से तात्पर्य उस विशेष ध्वनि से है, जो तीव्र वायु के चलने पर अन्य द्रव्यों के साथ संघात से उत्पन्न होती है। ऊपर अधर में पत्ते आदि उड़ते दिखाई देते हैं, उनका आधार वायु है। वृक्ष आदि का कम्पन-हिलना-डुलना भी वायु के कारण होता है। ये सब निमित्त वायु के साधक हैं ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गो-विषाण अथवा वह्नि-धूम आदि में लिङ्ग-लिङ्गी का व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष से होता है, वहां अनुमान ठीक है। परन्तु वायु-

स्पर्श के प्रसंग में ऐसा नहीं; अतः अनुभूयमान स्पर्श को पृथिवी आदि का गुण क्यों न मान लिया जाय, गत सूत्र के व्याख्यागत अभिप्राय को समाधान रूप में सूत्रकार स्वतः प्रस्तुत करता है—

न च[1] दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥१०॥ (५८)

[न] नहीं [च] और [दृष्टानां] देखे हुओं का [स्पर्शः] स्पर्श [इति] इस कारण [अदृष्टलिङ्गः] न देखे हुए के चिह्न वाला है [वायुः] वायु।

अनुभूयमान स्पर्श दीखते हुए पृथिवी, जल, तेज का गुण नहीं है, क्योंकि पृथिव्यादि में स्पर्श गुण, रूपादि गुणों के साथ अनुभूत होता है; परन्तु यह स्पर्श ऐसा नहीं है। इसलिये न दीखते हुए द्रव्य का यह चिह्न है, लिङ्ग है, साधक है। ऐसे चिह्न से पहचाने जाने वाला द्रव्य वायु है। अन्य उपयुक्त व्याख्या गत सूत्र पर कर-दीगई है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अनुभूयमान स्पर्श का आश्रय वायु कभी प्रतीत होता है, कभी नहीं। तीव्रता, मन्दता आदि भी इसमें प्रतीत होती हैं। इससे यह वायु कार्यभूत द्रव्य है, घटादि के समान। तब क्या पृथिवी आदि के समान इसके भी उपादान परमाणु होते हैं ? आचार्य ने बताया—

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्[2] ॥११॥ (५९)

[अद्रव्यवत्त्वेन] द्रव्य समवायिकारण वाला न होने से [द्रव्यम्] द्रव्य (परमाणुरूप वायु द्रव्य स्वीकार किया जाता है।)

पृथिव्यादि कार्य द्रव्य का विभाग करते-करते अन्त में एक अवयवरूप परमाणु रहजाता है। अन्त्य अवयव होने से उस परमाणु का कोई आश्रय द्रव्य अथवा समवायिकारण नहीं होता। पृथिव्यादि द्रव्य की इस अवस्था को परमाणु कहा जाता है। जैसे पृथिवी, जल, तेज के मूल उपादानकारण परमाणु हैं, ऐसे ही अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादान-समवायिकारण परमाणु द्रव्य हैं। कार्य-वायु के अवयव विच्छिन्न होते हुए जब अन्त्य अवयवरूप अवस्था में पहुंच जाते हैं, तब वह वायु की परमाणु-दशा है। वह मूल द्रव्य है, आगे उसका कोई समवायिकारण द्रव्य नहीं होता। इसप्रकार पृथिव्यादि परमाणु के समान वायु के परमाणु स्वीकार किये जाते हैं।

अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में इस सूत्र का पञ्चम्यन्त पाठ—**'अद्रव्य-**

---

१. **न चान्येषां स्पर्श ...' अ० प्रा०।**

२. **'अद्रव्यवत्वाद् द्रव्यम्' चन्द्रा०**

वत्त्वाद् द्रव्यम्' दिया है। व्याख्या की है—सूत्र के प्रथम 'द्रव्य' पद का अर्थ कार्य-द्रव्य अभिप्रेत है। नञ्-समास करके—जो कार्य-द्रव्य नहीं है, वह 'अद्रव्य' है। 'नञ्' को पर्युदासवृत्ति[1] मानकर 'अद्रव्य' पद का तात्पर्य प्रकट किया, जो कार्य-द्रव्य न हो, पर उसके सदृश हो; अर्थात् कार्य—गुण और कर्म। वह अद्रव्य (गुण-कर्म) जिसमें रहते हैं, वह हुआ—अद्रव्यवान्। ऐसा होने से [अद्रव्य-वत्त्वात्] वायु नामक द्रव्य [-द्रव्यम्] सिद्ध होता है। अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण पदार्थ गुण वाला है, और गतिशील होने से क्रियावाला है, इसलिये यह द्रव्य है। वह गुण और क्रिया पृथिवी, जल, तेज सम्बन्धी नहीं है; अतः चौथे द्रव्य वायु की सिद्धि होती है[2]।

अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादानकारण परमाणु द्रव्य हैं, इसकी सिद्धि के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु उपस्थित किये—

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च[3] ॥१२॥ (६०)

[क्रियावत्त्वात्] क्रियावाला होने से [गुणवत्त्वात्] गुणवाला होने से [च] और (-अन्य कारण से)।

---

१. 'नञ्' के दो अर्थ शास्त्रकारों ने माने हैं—पर्युदास और प्रसज्य। 'नञ्' का सीधा अर्थ-निषेध या प्रतिषेध है, इस रूप में 'नञ्' के दो अर्थ—पर्युदास-प्रतिषेध और प्रसज्य-प्रतिषेध हुए। इसके लिए व्यवस्था कीगई है—'पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्।' पहला प्रतिषेध अपने सदृश का ग्रहण करता है, और दूसरा सर्वथा निषेध कर देता है। जैसे—'अब्राह्मणः' कहने से ब्राह्मण से भिन्न पर उसके सदृश क्षत्रियादि का ग्रहण होता है। यह पहला प्रतिषेध है। इसीप्रकार 'अद्रव्य' पद से द्रव्य-भिन्न द्रव्य-सदृश—गुण और कर्म का ग्रहण करना चाहिये।

२. इस व्याख्या का अनुकरण चन्द्रकान्त भट्टाचार्य तथा आधुनिक व्याख्याता स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि ने किया है। अन्य एक आधुनिक व्याख्याता ने पृथिवी, जल, तेज में यथाक्रम रूप-रस-स्पर्श, रूप-स्पर्श और स्पर्श को अन्य द्रव्य (यथाक्रम-जल-तेज-वायु, तेज-वायु, वायु) के संसर्ग से मानकर सूत्रार्थ किया है। परन्तु यह वैशेषिक सिद्धान्त के विपरीत है। वैशेषिक पृथिवी परमाणु में चारों गुण मानता है, ऐसे ही जलीय परमाणु में तीन और तैजस में दो।

३. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में यह सूत्र नहीं है। इस सूत्र का जो प्रयोजन है, वह गत सूत्र के 'अद्रव्य' पद की उस व्याख्या से पूरा होजाता है, जो

क्रियावाला एवं गुणवाला होने तथा अन्य कारण से वायवीय द्रव्य-परमाणु का होना सिद्ध होता है। सूत्र का 'च' पद अन्य कारण अर्थात् समवायि-कारण होने का समुच्चय करता है। वायवीय परमाणु क्रिया का अधिकरण है, एक परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संयोग होने के लिये आवश्यक है, कि उसमें क्रिया हो; अन्यथा द्व्यणुक आदि के उत्पन्न न होने से सृष्टि का आरम्भ संभव न होगा।

कारण के गुण कार्य में अपने समानजातीय गुणों को उत्पन्न करते हैं। कार्य वायु में स्पर्श आदि गुणों का अनुभव होता है। इससे निश्चय कियाजाता है, कि गुणोत्पत्ति का यह क्रम मूल उपादानतत्त्व से प्रारम्भ हुआ है, अन्यथा कार्य-द्रव्य में इसका उपलब्ध होना संभव न था। इसप्रकार क्रिया और गुण इन दोनों का आश्रय होने से वायवीय परमाणु का द्रव्य होना स्पष्ट होता है।

यह एक व्यवस्था है—कोई कार्य-द्रव्य अपने कारण-द्रव्यों से उत्पन्न होता है। कारण-द्रव्य कार्य-द्रव्य के समवायिकारण होते हैं। अनुभूयमान वायु कार्य-द्रव्य है। इसके समवायिकारण द्रव्यों का होना आवश्यक है। कार्य-भूत वायु के जो सबसे मूलभूत समवायिकारण अवयव हैं; कार्य-वायु के समान उनका भी द्रव्य होना निश्चित होता है, क्योंकि प्रत्येक कार्य का समवायिकारण द्रव्य ही होसकता है ॥१२॥

शिष्य आशंका करता है, क्रियावाला और गुणवाला होने से घट आदि के समान परमाणु को अनित्य क्यों न मानाजाय ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान

अज्ञातकर्तृक रचना में कीगई है। यहां यह सन्देह कियाजासकता है, कि कदाचित् प्राचीन-व्याख्याकाल में प्रस्तुत सूत्र [१२ वां] न रहा हो; और वायु का द्रव्यत्व सिद्ध करने के लिये इन हेतुओं का प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होने से गतसूत्र के 'अद्रव्य' पद की उक्त व्याख्या कीगई हो। कालान्तर में इसको आवश्यक समझकर हेतुरूप से पृथक् सूत्र यहां सन्निविष्ट करदिया गया। दूसरी कल्पना यह कीजासकती है, कि प्राचीन व्याख्याकार के सन्मुख मूलसूत्र की प्रति में लेखक आदि प्रमाद से सूत्र खण्डित होगया हो, तथा आवश्यक होने से व्याख्याकार ने गतसूत्र के 'अद्रव्य' पद से उस अर्थ को अभिव्यक्त करने का यह प्रयास किया हो। प्राचीन व्याख्या में प्रस्तुत सूत्र न होने के दोनों कारण कल्पना किये जा-सकते हैं।

चन्द्रानन्दीय व्याख्या में यह सूत्र उपलब्ध है।

किया—

अद्रव्यत्वेन[1] नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥ (६१)

[अद्रव्यत्वेन] कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से [नित्यत्वं] नित्य होना [उक्तम्] कहा गया है, (परमाणु का)।

परमाणु के अन्त्य द्रव्य होने से उसका समवायिकारण अन्य कोई द्रव्य नहीं होता। समवायिकारण न होने से उसका असमवायिकारण भी कोई संभव नहीं। परमाणु स्वयं एक अवयवरूप है, अवयवी नहीं। अवयवी द्रव्य, अपने कारणभूत अवयव द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से आत्मलाभ करता है। प्रत्येक अवयवी के वे अवयव समवायिकारण होते हैं। उन अवयवों का संयोग उस कार्य-द्रव्य का असमवायिकारण होता है। कार्य-द्रव्य का नाश समवायिकारण अथवा असमवायिकारण के नाश से होजाता है; इसप्रकार वह कार्य द्रव्य उत्पाद-विनाशशील होने से अनित्य कहाजाता है। परन्तु परमाणु का न कोई समवायिकारण है, न असमवायिकारण; इसलिये परमाणु तत्त्व को नित्य कहा गया है। वे परमाणु चाहे वायु के हों, अथवा पृथिवी आदि के; वे सब नित्य–अनुत्पादविनाशशील होते हैं ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या आकाश की तरह वायु एकमात्र इकाई है, या पृथिवी आदि की तरह अनेक खण्डों वाला है? सूत्रकार ने समाधान किया—

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वे[2] लिङ्गम् ॥१४॥ (६२)

[वायोः] वायु के [वायुसंमूर्च्छनं] अनेक वायु-खण्डों की परस्पर टक्कर

---

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में सूत्र का पाठ—'अद्रव्यत्वेनानित्यत्वमुक्तम्' दिया है। अर्थ किया है—जिसका कोई स्थिर आश्रय द्रव्य न हो, वह अद्रव्य है। गंगा नदी जैसे किनारों से बंधी स्थिर आश्रय के सहारे निरन्तर एक समान बहा करती है; ऐसी स्थिति वायु के विषय में नहीं है। इसीरूप में वायु आश्रयरहित होनेसे अनित्य है अस्थायी है, घटादि के समान।

ऐसी व्याख्या कार्य-वायु के विषय में व्यावहारिक दशा के प्रवाह की दृष्टि से उपयुक्त कहीजासकती है। प्रासंगिक शास्त्रीय दृष्टि से यह कोई उपयुक्त व्याख्या नहीं है। कतिपय आधुनिक व्याख्याकारों ने इस अनुभूयमान वायु-द्रव्य को नित्य मान लिया है। यह मन्तव्य अशास्त्रीय है। 'अद्रव्यवत्त्वेन नित्यत्वमुक्तम्' चन्द्रा०

२. 'नानात्वे लिङ्गम्' चन्द्रा०

[नानात्वलिङ्गम्] नाना होने का चिह्न है।

दो या दो से अधिक वायु खण्डों की परस्पर टक्कर होना, वायु के नाना-अनेक होने का चिह्न है। कईबार ऐसा देखा जाता है—भिन्न दिशा और भिन्न गति वाले वायुखण्ड जिस जगह पर आपस में टकराते हैं, वहां के धूलकण, तिनके व पत्ते आदि ऊपर की ओर आकाश में उड़ जाते हैं। वायु स्वभावतः तिर्यग्गति रहता है, पर आपस में टकराकर ऊर्ध्वगति होजाता है, और अपने साथ तृण आदि को उड़ा लेजाता है। तिनकों केऊपर की ओर उड़ने से वायु की ऊर्ध्वगति का ज्ञान होता है, और ऊर्ध्वगति से आपस में टकराने का। यह टकराना [संमूर्च्छन] वायु के नाना होने का लिङ्ग है।

आपस में टकराने की इस स्थिति को हम जलों में प्रत्यक्ष देखते हैं। जब जलों की दो धाराएं भिन्न दिशाओं से आकर आपस में टकराती हैं, तो वे जल टक्कर खाकर ऊपर को उछल जाते हैं, उनमें बहने वाले तिनके आदि भी उनके साथ जाते हैं। ठीक यही दशा वायुओं की टक्कर में होती है। इससे जलादि के समान वायु का नाना होना सिद्ध होता है।

यद्यपि परमाणु से द्व्यणुकादिक्रम द्वारा वायु के अनुभूयमान स्थिति में आने से वायु का नानात्व पृथिवी आदि के समान स्पष्ट है, फिर भी सूत्रकार ने शिष्यों की जिज्ञासा पर विषय को अधिक स्पष्ट करने की भावना से लौकिक व व्यावहारिक परिस्थिति के आधार पर अर्थ को अभिव्यक्त किया है ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, वायुखण्डों का परस्पर संमूर्च्छन [टकराव] होता है, यह कैसे जानाजाय? जबकि वायु का प्रत्यक्ष ही नहीं होता। अनुमान के लिये व्याप्ति का ज्ञान आवश्यक है। दो पदार्थों का नियम से सहचारी होना व्याप्ति है। धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान, धूम और अग्नि के साहचर्य को प्रत्यक्ष से देखने पर होता है, तभी अन्यत्र धूम के दीखने से उसके सहचारी अदृष्ट अग्नि का अनुमान होता है। वायु तो प्रत्यक्ष ही नहीं, तब हेतु के साथ उसकी व्याप्ति का प्रत्यक्ष न होने से वायु का अनुमान संभव न रहेगा। आचार्य ने आशंका की यथार्थता को स्वीकार करते हुए अग्रिम सूत्रों द्वारा समाधान प्रस्तुत किया—

वायुसन्निकर्षे[1] प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं
लिङ्गं न विद्यते ॥१५॥ (६३)

[वायुसन्निकर्षे] वायु का सन्निकर्ष-सम्बन्ध होने पर [प्रत्यक्षाभावात्] प्रत्यक्ष न होने से [दृष्टं] देखा हुआ (प्रत्यक्ष) [लिङ्गम्] चिह्न (व्याप्तिज्ञान)

१. 'वायुरिति सति सन्निकर्षे' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

[न] नहीं [विद्यते] है।

वायु द्रव्य है, और चक्षु इन्द्रिय भी द्रव्य है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से संयोग होना संभव है। वायु का चक्षु से सन्निकर्ष होने पर भी चक्षु द्वारा वायु का प्रत्यक्ष संभव नहीं; क्योंकि चक्षु इन्द्रिय रूप गुण तथा रूप के आश्रय द्रव्य का ग्रहण करसकता है, वायु-द्रव्य रूप का आश्रय न होने से चक्षु द्वारा सर्वथा अग्राह्य है। त्वक् इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण करता है, अर्थात् त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्श गुण का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु स्पर्श के आश्रय द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। अनेक बार ऐसा होता है, कि चारों ओर वायुमण्डल के भरा रहने पर भी ऐसा अनुभव होता है, कि हवा बिल्कुल बन्द है। यह अनुभव स्पष्ट करता है, कि त्वक् इन्द्रिय के साथ वायु का सन्निकर्ष होने पर भी त्वक् के द्वारा वायु का प्रत्यक्ष नहीं हो-पाता। अन्यथा 'हवा बन्द है' ऐसा अनुभव न होता, जबकि हमारे चारों ओर हवा विद्यमान रहती है।

यदि कहा जाय, कि 'बन्द है' अनुभव हवा की गति के अभाव को प्रकट करता है, हवा के अभाव को नहीं। तो भी यह स्पष्ट है, कि हवा का अस्तित्व स्वीकार किया जारहा है, पर उसका अनुभव त्वगिन्द्रिय द्वारा नहीं होरहा; यद्यपि गति उस समय भी हवा में रहती है, परन्तु वह इतनी मन्द होती है, कि न उससे वृक्षों के पत्ते हिल पाते हैं, और न हमें उसके स्पर्श का अनुभव होता है। यह सब स्थिति स्पष्ट करती है, कि त्वगिन्द्रिय का वायु के साथ सन्निकर्ष होने पर भी उसके द्वारा वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता। आचार्यों ने इसीकारण त्वगिन्द्रिय को द्रव्य-ग्राहक नहीं माना। आंख बन्दकर जब हम पूर्वदृष्ट वस्तु को हाथ आदि से छूते हैं, तब वहां केवल स्पर्श गुण का प्रत्यक्ष होता है, वस्तु का नहीं। वस्तु का केवल अनुमान होता है। इसी अभिप्राय को सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र से अभिव्यक्त किया. वायु के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर भी वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता; इसकारण वायु के अनुमान के लिये व्याप्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होपाता, यह कथन ठीक है ॥१५॥

सूत्रकार ने बताया, उक्त कथन ठीक होने पर भी हम एक सामान्य नियम का प्रत्यक्ष करते हैं। वह है—गुण का गुणी के आश्रित रहना। प्रत्येक गुण गुणी के आश्रित रहता है, गुणी को छोड़कर नहीं रहसकता; गुण-गुणी का यह साह-चर्य-नियम प्रत्यक्ष है। इसके द्वारा वायु द्रव्य का अनुमान होता है। आचार्य ने कहा—

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥ (६४)

[सामान्यतोदृष्टात्] सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग से [च] तथा [अविशेषः] भेद नहीं (कोई; वायु का अनुमान कर लेने में)।

धूम-अग्नि स्थल में दोनों के साहचर्यनियम का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है; वैसे ही गुण-गुणी के सामान्य साहचर्य-नियम का प्रत्यक्षज्ञान होने से स्पर्श-गुण के आश्रय द्रव्य का अनुमान होने में पहले से इसका कोई भेद नहीं है, दोनों प्रकार से अनुमान कियाजाना समान है। स्पर्श गुणविशेष के साथ वायु के साहचर्यनियम का प्रत्यक्षज्ञान न होने पर गुण-सामान्य का गुणी के साथ साहचर्यनियम प्रत्यक्ष ज्ञात होने से इसे 'सामान्य-तोदृष्ट' नाम दियागया है।

जब हम बैठते-उठते चलते-फिरते एक प्रकार के स्पर्श का अनुभव करते हैं, और उसके आश्रयद्रव्य के रूप में पृथिवी-जल-तेज को नहीं पाते, तो इनसे भिन्न किसी ऐसे द्रव्य का अनुमान होता है, जो उस अनुभूयमान स्पर्श गुण का आश्रय हो। इसप्रकार गुण-सामान्य से उसके आश्रयभूत गुणी का अनुमान होजाता है। वही वायु है ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सामान्यतोदृष्ट अनुमान के अनुसार गुण से गुणी-द्रव्य का बोध होजायगा; पर वह द्रव्य 'वायु' है, यह कैसे जाना गया? सूत्र-कार ने समाधान किया—

तस्मादागमिकम् ॥१७॥ (६५)

[तस्मात्] इस कारण से [आगमिकम्] आगम द्वारा जानागया है।

क्योंकि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से यह निश्चित ज्ञान नहीं होपाता, कि वह अनुमित द्रव्य वायु है, इस कारण उसके वायु होने का ज्ञान आगम के आधार पर होता है। आगम वेद को कहते हैं। मनु महाराज [१।२०] ने बताया है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

सर्ग के आदि में ब्रह्मा आदि ऋषियों ने सब वस्तुओं के नाम और उनके कर्म तथा वर्णाश्रम आदि की व्यवस्था का वेदोक्त शब्दों के आधार पर ही निर्माण किया। वेद[1] तथा वैदिक साहित्य में प्रस्तुत अर्थ के लिए अनेकत्र 'वायु'

---

१. ऋ० १।२।१॥ १।१४।१०॥ १।३५।६॥ ५।४१।६॥ यजु० १।१॥ ३।१३॥ तै० सं०२।१।१।१॥ मै० २।५।१॥ जै० ब्रा० १।३१४॥ ऐ० ब्रा० २।३४।

पद का प्रयोग देखा जाता है; उसीके अनुसार ऋषियों ने इस द्रव्य को वह नाम दिया। फलतः यह नाम वेद द्वारा निश्चित है ॥१७॥

शिष्य आशंका करता है, आगमबोधित चतुर्थ द्रव्य का नाम सर्वात्मना तभी स्वीकार्य होसकता है, जब आगम के प्रामाण्य का निश्चय हो। यह कैसे संभव होगा? आचार्य ने समाधान किया—

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥१८॥ (६६)

[संज्ञा] नाम [कर्म] कर्त्तव्य [तु] तो [अस्मद्-विशिष्टानां] हमसे विशिष्ट का [लिङ्गम्] चिह्न है।

पदार्थों का नाम रक्खा जाना और मानवों के कर्त्तव्यों का बोध कराना हमसे विशिष्ट किसी सर्वोच्च सत्ता का द्योतक है। जिसने इन पदार्थों की रचना की, उसीने इनके नामों का संकेत किया, वह नाम और रूप दोनों का निर्माता है। यद्यपि ऋषि और लोककर्त्ता आचार्यों ने अनेक नाम-संकेतों की कल्पना की है; परन्तु सर्वप्रथम सर्गादिकाल के अवसर पर इस दिशा में ईश्वर द्वारा वेदरूप से कियागया उद्बोधन ही है। इस तात्पर्य की अभिव्यक्ति के लिये सूत्रकार ने 'अस्मद्विशिष्टानां' यह बहुवचनान्त निर्देश किया है। इससे ईश्वर-बोधित वेद और साक्षात्कृत धर्मा आप्त ऋषियों द्वारा किये संकेतों का ग्रहण होजाता है। फलतः चतुर्थ द्रव्य का 'वायु' नामकरण वेदादि के अनुसार होने से प्रामाणिक एवं स्वीकार्य है।

अस्मदादि सदृश पुरुष भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से दूषित रहते हैं, उनके कहे वाक्यों में अप्रामाण्य की आशंका होसकती है; परन्तु ईश्वर-सत्ता दोषों से सर्वथा परे है। उसके द्वारा बोधित वेद में अप्रामाण्य की शङ्का का अवकाश नहीं रहता। इस रूप में प्रस्तुत प्रसंग से ईश्वर का अस्तित्व भी 'नाम-रूप' के रचयिता होने के कारण सिद्ध होता है ॥१८॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत कर पुष्ट किया—

प्रत्यक्षप्रवृत्त[1]त्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥ (६७)

[प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्] प्रत्यक्ष होने पर प्रवृत्त होने से [संज्ञाकर्मणः] संज्ञा और कर्म के।

किसीके द्वारा वस्तु का नाम करना और कर्त्तव्य का बोध कराना तभी संभव है, जब कर्त्ता को दोनों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो। नामकरण में नाम और नामी का प्रत्यक्ष होना चाहिये; कर्त्तव्यबोध में समस्त कर्त्तव्यों और उन प्राणियों का

१. 'प्रत्यक्षपूर्वकत्वात्' अ० प्रा०। चन्द्रा०

बोध होना चाहिये, जिनके लिये कर्त्तव्य-बोध कराना है। साकल्येन नाम-रूप का ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वज्ञ सर्वशक्ति सर्वनियन्ता परमेश्वर के सिवाय अन्य किसी को होना संभव नहीं। 'अन्य किसी' में जीवात्मा आता है, वह अपनी उच्चतम दशा में पहुंचने पर भी सर्वज्ञता आदि स्थिति को प्राप्त नहीं करपाता। फलतः संज्ञा और कर्म-बोधन के लिये प्रवृत्ति सबका प्रत्यक्ष होने पर ही संभव है; इसलिये संज्ञा-संज्ञी और कर्म-कर्मी समस्त का प्रत्यक्ष-द्रष्टा होने से परमेश्वर का निर्बाध अस्तित्व सिद्ध होता है।

इन दो सूत्रों का प्रतिपाद्य यहां प्रसंगवश आगया है। यहां तक वायु-परीक्षा का प्रकरण पूरा होता है ॥१९॥

पृथिव्यादि चार द्रव्यों की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त आकाश द्रव्य का निरूपण करने की भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥२०॥ (६८)

[निष्क्रमणं] निकलना, अन्दर से बाहर आना, [प्रवेशनं] प्रवेश करना, बाहर से भीतर जाना, [इति] यह, इसप्रकार की क्रिया का संभव होना, [आकाशस्य] आकाश का, आकाश के अस्तित्व का [लिङ्गम्] चिह्न है।

घर के भीतर-बाहर आना-जाना अथवा कहीं भी घूमना-फिरना यह क्रिया या गति ऐसे द्रव्य का अनुमान कराती है, जो इन क्रियाओं के लिये अवकाश प्रदान करता है। न केवल क्रिया, प्रत्युत कोई भी मूर्त्त पदार्थ उस अवकाश के विना आत्मलाभ करने में अक्षम रहता है, जो आकाश के अस्तित्व से प्राप्त होता है। यदि उस अवकाश को कोई एक मूर्त द्रव्य घेर लेता है, तो उसमें दूसरे मूर्त्तद्रव्य का आना संभव नहीं। एक मूर्त्त द्रव्य का अपनी स्थिति में आत्मलाभ करने के लिये अवकाश का होना आवश्यक है; इसकारण सूक्ष्मतम मूर्त्त द्रव्यों से लगाकर महान से महान अनन्त मूर्त्त द्रव्यों तक की स्थिति ऐसे पदार्थ का अनुमान कराती है, जो इनके लिये अवकाश प्रदान करता है। वही द्रव्य आकाश है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पृथिवी आदि के लिङ्ग गन्ध-रूप-रसादि, इनके (गन्धादि के) समवायिकारण होने के आधार पर कहे गये हैं। क्या आकाश के ये लिङ्ग इसी आधार पर हैं, कि आकाश निष्क्रमण-प्रवेशन का समवायिकारण है? आचार्य ने समाधान किया—

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात्[1] कर्मणः ॥२१॥ (६९)

[तदलिङ्गम्] उस रूप से लिङ्ग नहीं है [एकद्रव्यत्वात्] एक द्रव्य समवायिकारण वाला होने से [कर्मणः] कर्म के।

कर्म अर्थात् क्रिया जिस द्रव्य में होती है, वही द्रव्य उस कर्म का समवायिकारण होता है। भीतर-बाहर प्रवेश व निष्क्रमण करने वाला व्यक्ति उस कर्म का समवायिकारण है, अन्य कोई द्रव्य नहीं। इसलिये निष्क्रमण-प्रवेशन आदि कर्म आकाश के लिङ्ग इस आधार पर नहीं हैं, कि आकाश इनका समवायिकारण है। निष्क्रमण आदि क्रिया अथवा किसीप्रकार की गति उसी द्रव्य में समवेत रहती है, जो क्रिया व गति करता है। ऐसी क्रिया व गति केवल एकदेशी-मूर्त्त द्रव्य में संभव है, वही उसका समवायिकारण होता है। विभु होने से आकाश किसीप्रकार की क्रिया का समवायिकारण होना संभव नहीं ॥२१॥

शिष्य ने पुनः जिज्ञासा की, यदि समवायिकारण होने के आधार पर लिङ्ग नहीं, तो क्या असमवायिकारण होने के आधार पर लिङ्ग कहा गया है ? आचार्य ने बताया—

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥ (७०)

[कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्यात्] अन्य कारण की स्थिति के वैधर्म्य से [च] भी।

यहां गत सूत्र से 'तदलिङ्गम्' पद की अनुवृत्ति है। समवायिकारण से अन्य जो असमवायिकारण है, उसकी स्थिति से द्रव्य का वैधर्म्य है। किसी कार्य पदार्थ का—चाहे वह कार्य द्रव्य, गुण, कर्म कोई हो—असमवायिकारण केवल गुण अथवा कहीं कर्म होसकते हैं; द्रव्य कहीं किसीका असमवायिकारण नहीं होता। जो असमवायिकारण होते हैं, उनके साथ द्रव्य का यह वैधर्म्य है। इसलिये आकाश निष्क्रमण आदि क्रियाओं का असमवायिकारण नहीं होसकता। अतः इस आधार पर भी निष्क्रमण आदि आकाश के लिङ्ग नहीं कहे जा सकते ॥२२॥

शिष्य ने पुनः जिज्ञासा की, तब किस आधार पर निष्क्रमण आदि को आकाश का लिङ्ग कहा गया ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

संयोगादभावः कर्मणः ॥२३॥ (७१)

[संयोगात्] संयोग से [अभावः] अभाव—नाश [कर्मणः] कर्म का—

---

१. '०द्रव्यवत्त्वात्' चन्द्रा० ;

क्रिया का।

किसी मूर्त्त द्रव्य में क्रिया होने के लिये आकाश निमित्तकारण रहता है। क्रिया है क्या? किसी द्रव्य का एक प्रदेश से वियोग या विभाग होकर अन्य प्रदेश के साथ संयोग होजाना। वे प्रदेश–जहां से विभाग होता है, अथवा जहां संयोग होता है–आकाश के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। तात्पर्य हुआ—किसी द्रव्य में क्रिया का होना आकाश के विना संभव नहीं। वह मूर्त्त द्रव्य क्रिया का समवायिकारण है, आघात व संयोग आदि असमवायिकारण, शेष सब साधन निमित्तकारण रहते हैं। इसप्रकार आकाश, काल आदि को कार्यमात्र का निमित्त कारण मानागया है।

आशंका कीजाती है, यदि आकाश क्रिया में कारण है, तो धनुष् से छुटे बाण, बन्दूक से निकली गोली, हाथ से फेंकी गई गेंद की क्रिया–आकाश के नित्य व व्यापक होने से कभी समाप्त न होनी चाहिये। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक कार्य के कारण अनेक होते हैं, तथा कार्य के बाधक कभी कार्य का अबरोध कर देते हैं। फेंका हुआ द्रव्य यदि किसी भींत आदि अवरोधक से टकरा जाता है, तो यह क्रिया को रोक देता है, या समाप्त कर देता है। इसी स्थिति को सूत्रकार ने बताया–अवरोधक संयोग से क्रिया का अभाव होजाता है। इससे क्रिया के प्रति आकाश की निमित्तकारणता में कोई बाधा नहीं आती।

जब कहीं किसी क्रिया का कोई अवरोधक सामने नहीं आता, वहां किन्हीं कारणों की अक्षमता क्रिया की समाप्ति का हेतु होता है। हाथ या बन्दूक से वस्तु के फेंके जाने की क्षमता सीमित होती है। उसके रहने तक क्रिया होती रहती है, न रहने पर समाप्त होजाती है। कार्य के अनेक कारणों में से जब कोई कारण कार्य के प्रति अक्षम होजाता है, तो वह कार्य नहीं रहता। आकाश या कोई अन्य असमग्र कारण न तो कार्य का आरम्भ कर सकते हैं, न उसे सुरक्षित रख सकते हैं। केवल आकाश को लेकर यह आशंका उठाई जाती है, कि उसके कारण मानने पर–उसके रहते–क्रिया निरन्तर बनी रहे; पर जिस द्रव्य में क्रिया समवेत है, उसके बने रहने पर–जब तक वह बना रहे–क्रिया निरन्तर क्यों नहीं होती रहती? स्पष्ट है, किन्हीं अन्य कारणों की अक्षमता क्रिया को समाप्त कर देती है। अतः निष्क्रमणादि क्रियाओं का निमित्तकारण है—आकाश; उसी रूप में ये आकाश के लिङ्ग हैं ॥२३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे गन्धादि गुणों के समवायिकारण होने से पृथिवी आदि द्रव्यों का लिङ्ग गन्धादि को बताया गया। क्या ऐसे आकाश किसी का समवायिकारण नहीं है, जिसे आकाश का लिङ्ग कहा जासके? इस तथ्य

को उपपादन करने की भावना से सूत्रकार ने प्रथम परिशेषानुमान को स्पष्ट करने के लिये भूमिकारूप में कहा—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो[1] दृष्टः ॥२४॥ (७२)

[कारणगुणपूर्वकः] कारण के गुण के अनुसार [कार्यगुणः] कार्य में गुण [दृष्टः] देखा जाता है।

पृथिवी आदि कार्य-द्रव्यों में जो गन्धादि विशेषगुण देखे जाते हैं, वे कारण-गत गुणों से उत्पन्न होते हैं। कारण के गुण कार्य में गुणों को उत्पन्न करते हैं। शुक्ल तन्तुओं से उत्पन्न पट में शुक्लरूप देखा जाता है। पट के शुक्लरूप का समवायिकारण पट है, और असमवायिकारण तन्तुओं का शुक्लरूप। शब्द भी रूपादि के समान विशेषगुण है। ऐसा कोई कार्यद्रव्य दृष्टिगोचर नहीं होता, जहां शब्द कारणगुणपूर्वक उत्पन्न हुआ ज्ञात हो। ऐसे द्रव्य की खोज होनी चाहिए, जिसका विशेषगुण शब्द है; अथवा जो शब्द का समवायिकारण है ॥२४॥

शिष्यों ने जिज्ञासा अभिव्यक्त की, वीणा-बांसुरी-ढोलक-शंख आदि कार्य द्रव्यों में शब्द उपलब्ध होता है, इसे कारणगुणपूर्वक क्यों न मानलियाजाय? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च[2] शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥२५॥ (७३)

[कार्यान्तराप्रादुर्भावात्] कार्यान्तरों (अवयवों) से प्रादुर्भूत न होने के कारण [च] और [शब्दः] शब्द गुण [स्पर्शवताम्] स्पर्शवाले द्रव्यों का [अगुणः] गुण नहीं है।

स्पर्शवाले द्रव्य चार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु। पृथिवी आदि कार्यों में गन्धादि गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। किसी कार्य-अवयवी में गन्ध-रस-रूपादि

---

१. 'कार्ये गुणो दृष्टः' चन्द्रा०। इसी व्याख्या में २४-२५ संख्या के दो सूत्रों को एक माना है।

२. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में प्रस्तुत सूत्र से पूर्व 'शब्दः स्पर्शवतामगुण इति' ऐसा सूत्र पढ़ा है। तथा प्रस्तुत सूत्र के अनन्तर दो सूत्रों के रूप में ऐसा पाठ दिया है—'कार्यान्तराप्रादुर्भावात्'। 'शब्दः स्पर्शवतामगुणः'। आगे २६ वें सूत्र को तीन सूत्रों के रूप में विभक्त करदिया है, और तीसरे सूत्र में दिक् तथा काल को जोड़कर कुछ पाठभेद किया है; जो सब इसप्रकार हैं—'परत्र समवायात्'। 'प्रत्यक्षत्वाच्च'। 'न [दिक्] कालात्मगुणो न मनसो गुणः'।

गुण उसके [अवयवी के] कारण–अवयवगत गन्ध-रस-रूपादि गुणों के समान देखे जाते हैं। आम फल में जो गन्ध-रस आदि हैं, उनके समानजातीय गन्ध-रस आम के अवयवों में उपलब्ध हैं। अवयवगत गन्ध–रस–कार्य अवयवी आम में–अपने सजातीय गन्ध-रस के आरम्भक होते हैं। शुक्लपटगत शुक्ल-रूप पट के कारण तन्तु-अवयवगत शुक्लरूप के समानजातीय होता है। अर्थात् तन्तुकारणगत शुक्लरूप कार्य-पट में अपने समानजातीय शुक्लरूप का आरम्भक होता है। यह स्थिति–कार्यगुण कारण गुणपूर्वक होता है–इस व्यवस्था के अनुसार है।

इसीके अनुरूप यदि वीणा आदि में श्रूयमाण शब्द कारणगुणपूर्वक माना जाय, तो वीणा आदि के कारण-अवयवों में उसीका समानजातीय शब्द अभिव्यक्त होना चाहिये। पर उन अवयवों में ऐसा शब्द अभिव्यक्त किया जाता अनुभव में नहीं आता। तात्पर्य यह—यदि रूपादि गुणों के समान शब्द पृथिवी आदि चार द्रव्यों में से किसी का गुण होता, तो जैसे कार्यगत रूपादि गुणों के समान कारण में गुण उपलब्ध होते हैं; ऐसे ही वीणा आदि कार्यों में उपलब्ध शब्दगुण के समान ही शब्द वीणा आदि के कारण-अवयवों में उपलब्ध होता; परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये शब्द को स्पर्शवाले पृथिवी आदि चार द्रव्यों में से किसीका गुण नहीं माना जासकता। यह स्पष्ट है—वीणा आदि के कारण-अवयव शब्द रहित होते हुए वीणा आदि कार्यों के आरम्भक होते हैं। तब कार्यगुण के कारण-गुणपूर्वक होने के नियमानुसार पृथिवी आदि चार द्रव्यों का लिङ्ग शब्द को नहीं कहा जासकता।

इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि के रूपादि गुण–जब तक कार्य द्रव्य बना रहता है–बराबर एकसमान उपलब्ध होते हैं। पटगत शुक्लरूप जबतक पट बना रहता है; एक-सा प्रतीत होता रहता है; उसमें तारतम्य प्रतीत नहीं होता। परन्तु वीणा आदि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा तार, तारतर, तारतमरूप में उपलब्ध होता है; यद्यपि वीणागत रूप सदा समान बना रहता है। इससे स्पष्ट होता है, जैसे वीणा आदि का रूप गुण उसका अपना है, ऐसे शब्द गुण उसका अपना नहीं है। तब शब्द किसका गुण है, खोजना चाहिये ॥२५॥

शिष्यों ने सुझाव दिया, गुरुजी ! यदि शब्द को आत्मा आदि किसीका गुण मान लियाजाय, तो कैसा है ? आचार्य ने बताया—

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥२६॥ (७४)

[परत्र] अन्यत्र [समवायात्] समवाय से [प्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष होने से [च] और [न] नहीं [आत्मगुणः] आत्मा का गुण [न] नहीं [मनोगुणः] मन का

गुण (शब्द)।

शब्द गुण आत्मा में समवेत न रहकर आत्मा से अन्य किसी द्रव्य में समवेत रहता है; इसलिये शब्द को आत्मा का गुण नहीं मानना चाहिये। यदि शब्द को आत्मा का गुण मानाजाय, तो जैसे आत्मा अपने सुखादि गुणों के ग्रहणकाल में 'अहं सुखी, अहं यते, जानामि, इच्छामि' इत्यादि अनुभव करता है; ऐसे 'अहं वाद्ये अहं शब्दवान्' यह अनुभव होना चाहिये। सुखी, दुःखी, ज्ञानवान् आदि के समान–मैं बज रहा हूं, मैं शब्द वाला हूं–ऐसा अनुभव हो; परन्तु इसके विपरीत अनुभव यह होता है–वीणा बजाई जारही है, शंख पूरा जारहा है, इत्यादि। इससे स्पष्ट होता है, शब्द आत्मा का गुण न होकर अन्य किसी का है।

इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है, कि आत्मा के गुण सुख, ज्ञान, प्रयत्न आदि का प्रत्यक्ष किसी बाह्य इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। परन्तु शब्द का प्रत्यक्ष बाह्येन्द्रिय श्रोत्र के द्वारा होता है। पृथिवी आदि के एक-एक विशेषगुण एक-एक बाह्य इन्द्रिय से गृहीत होते हैं। गन्ध घ्राण से, रस रसन से, रूप चक्षु से, स्पर्श त्वक् से। शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है। जैसे गन्धादि आत्मा के गुण नहीं, ऐसे शब्द भी आत्मा का गुण नहीं है।

मन का गुण भी शब्द नहीं है, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है; परन्तु मन के किसी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता। गुण का प्रत्यक्ष होने के लिये गुणाधिकरण द्रव्य का महत्परिमाणवाला होना आवश्यक मानाजाता है, मन ऐसा नहीं है; इसलिये यदि शब्द मन का गुण होता, तो इसका प्रत्यक्ष न होना चाहिये था। यह भी विचारणीय है–यदि आत्मा का गुण शब्द हो, तो जिनका श्रोत्रेन्द्रिय नष्ट हो गया है, ऐसे बधिर व्यक्तियों को शब्द उपलब्ध होना चाहिये; जैसे आत्मा के अन्य गुण सुखादि उस अवस्था में उपलब्ध होते हैं।

सूत्र में हेतुपद दो हैं–'परत्र समवायात्, प्रत्यक्षत्वात्'। आत्मा और मन को अलग-अलग पढ़ा है। आत्मा में शब्दगुण के निषेध के लिये दोनों हेतु प्रयुक्त हैं; और मन में निषेध के लिये केवल दूसरा हेतु। इसीकारण सूत्रकार ने 'नात्ममनसो-र्गुणः' ऐसा समासयुक्त पाठ नहीं किया। दूसरे हेतु का केवल मन के साथ समन्वय से दिक् और काल का यहां समुच्चय कर लेना चाहिये; क्योंकि यह हेतु समान स्थिति (गुण के प्रत्यक्ष न) होने से दिक् और काल में भी शब्द गुण होने का प्रतिषेधक है ॥२६॥

ऐसी दशा में शब्द किस द्रव्य का गुण हो? सूत्रकार ने बताया।—

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य[1] ।।२७।। (७५)

[परिशेषात्] सबसे बचकर बाकी रह जाने से [लिङ्गम्] लिङ्ग है [आकाशस्य] आकाश का (शब्द)।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से जिन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होसकता, उनसे बचकर एक द्रव्य शेष रहजाता है—आकाश। इसलिये शब्द गुण आकाश का लिङ्ग-चिन्ह-लक्षण है, यह प्रमाणित होता है। शब्द का समवायिकारण आकाश है; अथवा आकाश द्रव्य में शब्द समवेत रहता है; यह निश्चित होता है। शब्द गुण है, गुण किसी द्रव्य के आश्रय के विना नहीं रहसकता। पृथिवी आदि आठ द्रव्य शब्द के आश्रय संभव नहीं, अतः शब्द गुण अपने आश्रय के रूप में नवम द्रव्य आकाश को लक्षित करता है ।।२७।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या आकाश दृश्यमान पृथिवी, जल आदि द्रव्यों के समान द्रव्य एवं अनित्य है, अथवा वायु-परमाणु आदि के समान नित्य है? आचार्य सूत्रकार इसका समाधान अतिदेश द्वारा प्रस्तुत करता है—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२८।। (७६)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्य होना और नित्य होना (आकाश का) [वायुना] वायुविषयक कथन से [व्याख्याते] व्याख्यात होगये।

आकाश का प्रकरण प्रारम्भ होने के अव्यवहित पूर्व में वायु का विवरण प्रस्तुत किया गया है। वहां बताया गया है—गुणवाला (गुणाधिकरण, गुण का समवायिकारण) होने से वायु द्रव्य है; तथा वायुपरमाणु इस कारण नित्य हैं, कि उनका कोई द्रव्य समवायिकारण नहीं होता। इसीप्रकार शब्द-गुण का समवायिकारण होने से आकाश द्रव्य है; तथा आकाश का कोई समवायिकारण द्रव्य न होने से वह नित्य है।

यहाँ वायु द्वारा अतिदेश संभवतः इसीलिये किया गया, क्योंकि अव्यवहित पूर्व में वायु के प्रसंग से इन धर्मों [द्रव्यत्व-नित्यत्व] का उपपादन किया गया है ।।२८।।

शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, क्या आकाश—वायु परमाणु आदि के समान—अनेकरूप है, अथवा एकमात्र तत्त्व है? सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा समाधान किया—

तत्त्वं भावेन ।।२९।। (७७)

[तत्त्वं] एक होना (आकाश का) [भावेन] भाव-सत्ता जाति के द्वारा

१. 'शब्दो लिङ्गमाकाशस्य इति' अ० प्रा०। 'लिङ्गमाकाशस्य' चन्द्रा०।

(व्याख्यात होगया)।

गत सूत्र से 'व्याख्याते' पद वचनविपर्यय के साथ अनुवृत्त है। गत प्रकरण [१।२।१७] में सत्ता जाति के एकत्व का उपपादन किया गया है। उसके समान आकाश एक-व्यक्तिरूप पदार्थ है। इसके अंश व खण्ड आदि का व्यवहार औपचारिक होता है। घटाकाश आदि पद आकाश के किसी वास्तविक खण्ड व अवयव का निर्देश नहीं करते; प्रत्युत एक देशी घटआदि से उपहित आकाश का बोध कराते हैं। घट आदि की परिच्छिन्नता (एक-देशिता) आकाश में उपचरित (व्यवहृत) करदीजाती है। आकाश के वास्तविक अंश व अवयव कोई नहीं रहते ॥२९॥

शिष्य आशंका करता है, सत्ता की एकता सर्वत्र–द्रव्य, गुण, कर्म में–अनुगत [सत्-सन्-सत् इसप्रकार की] प्रतीति के कारण सिद्ध है; आकाश में–सत्ता के अनुसार–एकता कैसे सिद्ध होगी? सूत्रकार ने समाधान किया—

शब्दलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च ॥३०॥ (७८)

[शब्दलिङ्गाविशेषात्] शब्द-लिङ्ग के समान होने से [विशेषलिङ्गाभावात्] विशेष–भेद का लिङ्ग कोई न होने से [च] और।

जैसे सत्ता जाति की एकता के लिए–'सत्-सत्' इसप्रकार की अनुगत प्रतीति नियामक है, ऐसे ही आकाश का सर्वत्र शब्द गुण समानरूप से एकमात्र लिङ्ग उपलब्ध होता है, उसके आधार पर आकाश का एकत्व प्रमाणित है। यदि आकाश के अंशों व अवयवों की अथवा अन्य आकाश की कल्पना कीजाय, तो वहां उसका लिङ्ग शब्द ही होगा। इसप्रकार शब्द के एकमात्र लिङ्ग होने से आकाश का एक व्यक्तिमात्र होना युक्तियुक्त है।

इसके अतिरिक्त आकाश के भेद का साधक अन्य कोई लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता; इस कारण भी आकाश को एक मानना सर्वथा संगत है। इन्हीं आधारों पर एकता के साथ आकाश को विभु माना जाता है ॥३०॥

एकता के साथ सूत्रकार आकाश के एकपृथक्त्व का निर्देश करता है—

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ॥३१॥ (७९)

[तदनुविधानात्] तत्–उस एकता के अनुविधान-अनुसारी होने से [एक-पृथक्त्वम्] एकपृथक्त्व गुण [च] और [इति] समाप्त।

एकपृथक्त्व एकत्व का अनुविधायी, अनुसारी अर्थात् 'पिछलग्गू' है। जहां एकत्व रहता है, वहां एकपृथक्त्व का होना अनिवार्य है। जहां एकत्व है, वहां

एकपृथक्त्व है, यह नियम है। तात्पर्य है—जैसे 'घटाकाश' आदि व्यवहार आकाश की एकता में बाधक नहीं होता, ऐसे ही जब विभिन्न अनेकानेक वस्तुओं से आकाश के पृथक्त्व का निर्देश कियाजाता है, उस पृथक्त्व के आधार पर पृथक्त्व गुण के अधिकरण आकाश में अंश या खण्डों की कल्पना असंगत है। पार्थक्य के निमित्त वस्तुओं के अनेक होने पर भी पृथक्त्व का आधार एकमात्र आकाश है; यही एकमात्र आकाश में समवेत पृथक्त्व 'एकपृथक्त्व' कहाजाता है।

सूत्र[1] का 'इति' पद आह्निक की समाप्ति का द्योतक है ॥३१॥

इति वैशेषिकदर्शने विद्योदयभाष्यसहिते द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

गत आह्निक में पृथिवी, जल, तेज द्रव्यों की उनके गुणों के साथ परीक्षा कीगई। बाह्येन्द्रिय से अग्राह्य वायु और आकाश की परीक्षा भी हुई। अब द्वितीय आह्निक में पृथिवी, जल, तेज के गन्ध आदि गुणों की परीक्षा का उपक्रम है। उनमें सर्वप्रथम गन्ध की परीक्षा प्रारम्भ करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो[2] वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥१॥ (८०)

[पुष्पवस्त्रयोः] फूल और कपड़े का [सति] होने पर [सन्निकर्षे] सन्निकर्ष [गुणान्तराप्रादुर्भावः] अन्य गुण का प्रादुर्भाव न होना [वस्त्रे] कपड़े में [गन्धाभावलिङ्गम्] गन्ध के अभाव का चिह्न है।

कपड़े में यदि सुगन्धित फूल को लपेट कर रख दिया जाय, तो उसमें अन्य किसीप्रकार के गन्ध गुण का प्रादुर्भाव नहीं होता, प्रत्युत वही गन्ध अनुभूत होता है, जो उस कपड़े में **लिपटे** हुए फूल का है। इससे प्रतीत होता **है—** कपड़े में गन्ध नहीं रहता। यदि केतकी का फूल कपड़े में लपेटा गया हो, तो

---

१. ३० व ३१ संख्या के सूत्र उपलब्ध नहीं हैं—अ० प्रा०; चन्द्रा०।

२. **'गन्धान्तरा०'** चन्द्रा०।

केतकी का गन्ध प्रतीत होगा; और गुलाब का लपेटा गया हो, तो गुलाब का। इससे ज्ञात होता है—वस्त्र में अपना कोई गन्ध नहीं है। गत प्रसंग [२।१।१] में बताया—पृथिवी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुण रहते हैं। वस्त्र एक पार्थिव विकार है, इसमें गन्ध गुण समवेत होना चाहिये। परन्तु सूत्रकार यहां वस्त्र में गन्ध के अभाव का निर्देश करता है। यह कैसे ?

वस्तुतः पृथिवी व पार्थिव विकारों में सर्वत्र गन्ध का अस्तित्व है। परन्तु वहां एक-समान उत्कट गन्ध हो, ऐसा नहीं है। अनेक पुष्पों व केसर-कस्तूरी आदि विविध पार्थिव विकारों में उत्कट गन्ध रहता है; बहुत-से पुष्पों में भी गन्ध प्रतीत नहीं होता, अथवा अतिमन्द रहता है। जहां पार्थिव विकार अथवा पृथिवी के किसी तरह के भाग में गन्ध स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, वहां उसे अप्रकट [अविभावित व अनभिव्यक्त] समझना चाहिये। सूत्रकार के द्वारा उक्त प्रकार से वस्त्र में गन्ध का अभाव बतलाने का तात्पर्य यही है, कि पुष्पादि के संपर्क से जो गन्ध वस्त्र में प्रतीत होता है, वह औपाधिक है, वस्त्र का अपना गन्ध नहीं। औपाधिक गन्ध या अन्य किसी ऐसे गुण को यदि किसी द्रव्य में अनुभव किया जाय, तो उसे उस द्रव्य का निज-गुण न समझना चाहिये।

जिन व्याख्याकारों ने ऐसा समझा है, कि पृथिवी में गन्ध के अतिरिक्त रूप, रसादि गुण औपाधिक हैं, वह प्रस्तुत शास्त्र की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। यह शास्त्र पृथिवी-परमाणु में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श चारों गुणों का अस्तित्व स्वीकार करता है, तब पृथिवी में रसादि गुणों को औपाधिक कैसे कहाजासकता है ? फलतः सूत्रकार का प्रस्तुत सूत्र द्वारा यही अभिप्राय प्रकट करना अभिप्रेत है, कि वस्त्र आदि में अन्य संपर्क से जो गन्ध प्रतीत होता है, उसे वस्त्र का स्वगत गन्ध न समझना चाहिये। पार्थिव होने से वस्त्र का अपना गन्ध, पुष्पादि गन्ध से अतिरिक्त है, जो प्रायः अप्रकट रहता है। वस्त्र के जलाये जाने पर प्रतीत होता है ॥१॥

वस्त्र में पुष्पादि गन्ध के औपाधिक होने के समान जल में उष्ण स्पर्श औपाधिक है, इसका अतिदेश सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र मे किया—

एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता[1] ॥२॥ (८१)

---

१. यह सूत्र शंकर मिश्र आदि व्याख्याकारों ने संख्या ३ पर दिया है। तथा सूत्र में 'अप्सु' पद नहीं पढ़ा। यहां प्राचीन व्याख्याओं [अ० प्रा०, तथा चन्द्रा०] के अनुसार पाठ दिया है। इसके अनन्तर सूत्र है—'व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः।' आगे सूत्रक्रम समान है।

[एतेन] इससे [अप्सु] जलों में [उष्णता] गरमी का [व्याख्याता] व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

वस्त्र में पुष्प-गन्ध के व्याख्यान से जलों में उष्णता का व्याख्यान समझ लेना चाहिये। जैसे वस्त्र में पुष्प का गन्ध औपाधिक है; वैसे जल में उष्णता अर्थात् उष्ण-स्पर्श औपाधिक है; तेज के सहयोग से जल में प्रतीत होता है, जल का अपना गुण नहीं है।

सूत्र में 'अप्सु' पद पृथिवी और वायु का उपलक्षण समझना चाहिये। पृथिवी एवं वायु में उष्णस्पर्श तेज के सहयोग से होने के कारण औपाधिक है। इसीप्रकार पृथिवी और वायु में 'शीतता' अर्थात् शीतस्पर्श को औपाधिक समझना चाहिये। आगे सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है, कि उष्णस्पर्श तेज में तथा शीतस्पर्श गुण जलों में व्यवस्थित रहता है ॥२॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, पृथिवी आदि में वे गुण कौन-से हैं, जो औपाधिक नहीं। इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया—

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः[१] ॥३॥ (८२)

[व्यवस्थितः] व्यवस्थित है [पृथिव्याम्] पृथिवी में [गन्धः] गन्ध।

पृथिवी में गन्ध गुण व्यवस्थित है, अर्थात् विशेषरूप से अवस्थित है। केवल पृथिवी में गन्ध रहता है, और पृथिवीमात्र में रहता है। पृथिवी व पार्थिव विकारों का कोई भाग ऐसा नहीं, जहां गन्ध विद्यमान न हो। गन्ध यद्यपि सुरभि-असुरभि भेद से दो प्रकार का जाना जाता है; पर प्रत्येक प्रकार का गन्ध पृथिवी के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं रहता, इसीलिये इसको पृथिवी में व्यवस्थित कहा है; और इसी कारण 'गन्धवती' कहकर पृथिवी का पूरा लक्षण होजाता है। फलतः वस्त्र आदि पार्थिव विकारों में गन्ध का स्वीकार किया जाना आवश्यक है। गन्ध के समान 'रूपवती' या 'रसवती' कहकर पृथिवी का लक्षण नहीं करसकते; क्योंकि रस जल में और रूप जल तथा तेज दोनों में रहते हैं। यदि रस व रूप के आधार पर पृथिवी का लक्षण करना चाहें, तो 'षड्रसवती' अथवा 'सप्तरूपवती' ऐसा लक्षण कियाजासकता है।

आधुनिक विज्ञान सात प्रकार का रूप सूर्य-रश्मियों में स्वीकार करता है। कणाद ने इसे पृथिवी का गुण माना है। इस विषय का विवेचन 'परिशिष्ट (२)' में देखना चाहिये ॥३॥

---

१. शंकरमिश्र आदि व्याख्याकारों ने इस सूत्र को संख्या २ पर रक्खा है; पर यहां प्राचीन व्याख्याओं का अनुसरण किया गया है।

शिष्य ने जिज्ञासा की, पृथिवी में जैसे गन्ध व्यवस्थित है, ऐसे तेजस् द्रव्य में कौन-सा गुण व्यवस्थित है? सूत्रकार ने समाधान किया—

तेजस्युष्णता[1] ॥४॥ (८३)

[तेजसि] तेज में [उष्णता] उष्ण स्पर्श।

गत सूत्र से 'व्यवस्थितः' पद लिङ्गविपर्यय के साथ यहां अनुवृत समझना चाहिये। अर्थ होगा—'तेजसि उष्णता व्यवस्थिता'। तेज अर्थात् अग्नि में उष्ण-स्पर्श व्यवस्थित है; अपना नैसर्गिक गुण है, औपाधिक नहीं। जिसप्रकार पृथिवी के व्यवस्थित गुण गन्ध के आधार पर पृथिवी का लक्षण 'गन्धवती पृथिवी' किया जाता है, इसीप्रकार तेजस् द्रव्य में व्यवस्थित गुण उष्णस्पर्श के आधार पर तेजस् का लक्षण 'उष्णस्पर्शवत्तेजः' किया जाता है। यद्यपि स्पर्श गुण पृथिवी, जल, वायु में भी रहता है; पर 'उष्णस्पर्श' उनमें नहीं रहता; वह केवल तेज में रहता है। इसलिये वह तेज का मुख्य लक्षण-लिङ्ग व चिह्न है ॥४॥

जलों का ऐसा लक्षण क्या होगा ? शिष्यों के यह पूछने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अप्सु शीतता ॥५॥ (८४)

[अप्सु] जलों में [शीतता] शीत स्पर्श (व्यवस्थित है)।

गत सूत्र के समान यहां भी 'व्यवस्थितः' पद लिङ्गविपर्यास के साथ अनुवृत्त समझना चाहिये। अर्थ होगा 'अप्सु शीतता व्यवस्थिता'। जलों में शीत स्पर्श स्वाभाविक गुण है, किसी अन्य के सहयोग से नहीं आता; अतः औपाधिक नहीं। जलों के अतिरिक्त यदि अन्यत्र कहीं द्रव्य में यह उपलब्ध होगा, तो वहां औपाधिक समझना चाहिये। इसलिये पृथिवी अथवा वायु में शीतस्पर्श औपाधिक होगा। इसके अनुसार जलों का यह मुख्य लक्षण-लिङ्गव चिह्न है; जैसा अन्यत्र—'शीतस्पर्शवत्य आपः' लक्षणआचार्यों ने स्वीकार किया है।

उद्देश सूत्र [१।१।५] में 'आपस्' प्रथम और 'तेजस्' अनन्तर पठित है,

---

१. शंकर मिश्र आदि व्याख्याकारों ने 'तेजस उष्णता' ऐसा षष्ठयन्त पाठ स्वीकार किया है। अर्थ में यद्यपि कोई भेद नहीं। पर सूत्रकार की अन्य सूत्रों में प्रवृत्ति के अनुसार सप्तम्यन्त पाठ अधिक आदरणीय है। अ० प्रा० में 'तेजःसूष्णता' इसप्रकार 'तेजःसु' बहुवचनान्त 'अप्सु' के समान पाठ दिया है। 'आपस्' पद का प्रयोग नित्य बहुवचनान्त होने से 'अप्सु' पाठ का औचित्य है; पर यह स्थिति 'तेजस्' पद की न होने से यहां 'पृथिव्याम्' के समान एकवचनान्त पाठ अधिक युक्त है।

सूत्रकार ने यहां उस क्रम में विपर्यय यह प्रकट करने के लिये किया, कि तेजस् का उष्णस्पर्श जल, पृथिवी, वायु के स्पर्श को अभिभूत करदेता है। अथवा यह समझना चाहिये—यदि क्रमशः विवरण दिया जाता, तो वायु के विवरण न देने की न्यूनता यहां अभिलक्षित होती। क्रम-विपर्यास से सूत्रकार का संकेत है, कि तेज व जल के समान वायु के विजातीय [विलक्षण]स्पर्श को भी यहां समझ-लेना चाहिये, जो वायु का लक्षण है। वह अनुष्णाशीत स्पर्श है, जो पृथिवी के अनुष्णाशीत स्पर्श से विलक्षण है। पृथिवी का स्पर्श कठोर-जैसा रहता है, जिसका वायुगत स्पर्श में अभाव है ॥५॥

शब्द और उसके आधार आकाश की परीक्षा आगे विशेष उपक्रम के साथ किये जाने के कारण अनन्तर क्रमप्राप्त काल की परीक्षा के लिये सूत्रकार ने कहा—

अपरस्मिन्नपरं[1] युगपच्चिर क्षिप्रमिति
काललिङ्गानि ॥६॥ (८५)

[अपरस्मिन्] अपर में [अपरम्] अपर, [युगपत्] एक साथ [चिरम्] देर [क्षिप्रम्] जल्दी [इति] इसप्रकार (जो ज्ञान व व्यवहार होते हैं, वे) [काललिङ्गानि] काल के लिङ्ग-लक्षण हैं।

'अपर' पद का अर्थ है—छोटा; आयु की दृष्टि से छोटा। इसके विपरीत बड़े के लिये 'पर' पद का प्रयोग होता है। यदि किसी वस्तु में इस अर्थ का कथन किया जायेगा, तो उसके लिये 'नया-पुराना' इन पदों का प्रयोग होगा। जो पदार्थ थोड़े समय का है, वह नया; और अधिक समय का पुराना कहा जाता है। किसी व्यक्ति या पदार्थ को जब 'अपर' अर्थात् छोटा या नया कहा-जाता है, वह किसी 'पर' अर्थात् बड़े या पुराने की अपेक्षा से होता है। चैत्र पांच वर्ष का और मैत्र सात वर्ष का, इस ज्ञान व व्यवहार से स्पष्ट है—चैत्र में अपरत्व है और मैत्र में परत्व। इसीप्रकार इस चादर को बने दो वर्ष होगये, और दरी को तीन। यहां चादर में 'अपरत्व' और दरी में 'परत्व' गुण का बोध होता है। चैत्र, मैत्र एवं चादर व दरी इन गुणों के समवायिकारण हैं। असमवायिकारण क्या होगा? यह विचार्य है।

गन्ध,रूप, रस तीनों गुण इनके [परत्व, अपरत्व के] असमवायिकारण नहीं होसकते, क्योंकि वायु में ये गुण नहीं हैं, परन्तु वहां परत्व-अपरत्व की

१. 'अपरस्मिन् परं युगपदयुगपच्चिरं' सूत्रपाठ है। अ० प्रा०; चन्द्रा०। अ० प्रा०में बताया—'अपरस्मिन् परमित्यत्र परस्मिन्नपरमिति पूरणीयम्।

उत्पत्ति होती है। स्पर्श असमवायिकारण नहीं होसकता, क्योंकि शीत-उष्ण आदि भेद से जो स्पर्श जहां न होगा, वहां परत्व-अपरत्व उत्पन्न न होंगे। यदि स्पर्शमात्र को असमवायिकारण कहा जाय, तो उसके सर्वत्र समान होने से कहीं भी परत्व-अपरत्व का नियमन न होगा। क्योंकि इन गुणों की उत्पत्ति अन्य की अपेक्षा पर निर्भर है, स्पर्श सर्वत्र समान होने से अपेक्षा का अवकाश ही न रहेगा।

विचारणीय है–वर्ष, मास, दिन, रात आदि व्यवहार सूर्य आदि ग्रह संबन्धी गति के आधार पर गणना किया जाता है। परन्तु उन पिण्डों के साथ इस गति का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, जिनमें परत्व-अपरत्व गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिये किसी ऐसे द्रव्य को स्वीकार किया जाना चाहिये, जिसके आधार पर उस गति का प्रसंख्यान संभव हो। उस द्रव्य का सूर्य आदि गतिसंबन्धी ग्रहों के साथ संबन्ध हो, और उन पिण्डों के साथ भी, जिनमें परत्व-अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसा द्रव्य 'काल' नामक स्वीकार किया जाता है, जिसका सूर्य आदि ग्रहों के साथ संयोग रहते हुए उन पिण्डों के साथ भी संयोग रहता है, जहां परत्वापरत्व उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार परत्व अपरत्व की उत्पत्ति में सूर्यादि संयुक्त काल का पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकारण होता है।

कहा गया, इन गुणों की उत्पत्ति आपेक्षिक होती है। काल की न्यूनता अधिकता सूर्यादि-संबन्धी न्यून-अधिक गतियों पर आधारित हैं। जिस पिण्ड का सम्बन्ध अन्य की अपेक्षा अधिक गतियों से रहा है, वह 'पर' कहा जायेगा; दूसरा अपर। 'पर' भी अन्य किसी की अपेक्षा 'अपर' है; जिसका सम्बन्ध सूर्यादि संबन्धी गतियों के साथ अधिक रहा है। ऐसे ही एक जगह 'अपर' उस अन्य की अपेक्षा 'पर' है, जिसका सम्बन्ध सूर्यादि गतियों के साथ न्यून रहा है। इसप्रकार यह सब व्यवहार जिस द्रव्य से नियमित होता है, वह 'काल' है। लोक में साधारणरूप से यह कहते सुना जाता है, अमुक ने साठ दिवाली या होली देखी हैं, और उसने अभी केवल बत्तीस; उनकी कैसी समानता? यह व्यवहार काल-कृत परत्वापरत्व का बोधक है। इसलिये जहां परत्वापरत्व का अस्तित्व है, वह काल के अस्तित्व को लक्षित करता है।

यह कार्य एक साथ हुआ युगपत् हुआ; ऐसा व्यवहार इस रूप में काल का लक्षण है, कि अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दीख रही है, वह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा होगया, दोनों के सम्पन्न होने के काल की समानता में 'युगपत्' व्यवहार होता है। जहां असमानता हो, वहां 'चिर', और 'क्षिप्र' व्यवहार। जहां देर लगे,

वहां 'चिर', जहां जल्दी हो, वहां 'क्षिप्र'। यह जल्दी और देर का व्यवहार 'काल' पर आधारित है; अत: 'काल' का लक्षण है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'काल' पदार्थ सिद्ध होने पर भी यह ज्ञात न हो-सका, कि क्या वह द्रव्य है? तथा द्रव्य होने पर उसे नित्य मानना चाहिये, अथवा अनित्य ? सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥ (८६)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्य होना और नित्य होना (काल का) [वायुना] वायु (विवरण) द्वारा [व्याख्याते] व्याख्यात समझना चाहिये।

गत प्रकरणों [२।१।११-१३] में सिद्ध किया है, गुणों का अधिकरण होने से वायु द्रव्य है। उसीके समान गुणों का अधिकरण होने से 'काल' द्रव्य है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग ये पांच गुण 'काल' में समवेत रहते हैं। काल के व्यापक होने से यद्यपि क्रिया काल में समवेत नहीं रहती; परन्तु किसी क्रिया का होना काल के अस्तित्व के विना संभव नहीं। अत: कार्यमात्र का निमित्त होने से 'काल' का 'द्रव्य' होना सिद्ध होता है। सूत्रकार ने स्वयं काल को कार्यमात्र में कारण [२।२९, तथा ५।२।२६] बताया है।

अनुभूयमान विलक्षण स्पर्श का अधिकरण वायु कार्य-द्रव्य है। कार्य-द्रव्य होने की दशा में इसके उपादानकारण द्रव्यों का होनाआवश्यक है। मूलरूप में वे कारणद्रव्य वायु के परमाणु हैं। आगे परमाणु द्रव्यों का अन्य कोई द्रव्य उपादान कारण नहीं होता, वायु परमाणुओं का—अन्य कोई द्रव्य—समवायिकारण न होने से वे नित्य हैं। उन्हींके समान 'काल' द्रव्य का भी कोईअन्य द्रव्य समवायि-कारण नहीं है; इसलिए 'काल' द्रव्य को नित्य मानना चाहिये। इस प्रकार वायु के द्रव्य और नित्य सिद्ध किये जाने की प्रक्रिया से 'काल' के द्रव्य और नित्य होने का व्याख्यान कियागया ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, नित्य वायुरूप परमाणु-द्रव्य अनेक होते हैं। क्या उनके समान काल को अनेक मानना चाहिये ? सूत्रकार ने स्मरण कराया—

तत्त्वं भावेन[1] ॥८॥ (८७)

[तत्त्वम्] एक होना (काल का) [भावेन] सत्ता जाति के (विवरण) द्वारा (व्याख्यात है)।

---

१. सातवां और आठवां दोनों सूत्र अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में नहीं हैं। इनके स्थान पर 'कार्यविशेषेण नानात्वम्' सूत्र दिया है। शंकर मिश्र आदि के अनुसार यह सूत्र केवल दिशा-प्रकरण में है। प्राचीन व्याख्या में वहां

गत सूत्र से वचनविपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की यहां अनुवृत्ति है। अर्थ होगा—'तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।' काल के एक होने का व्याख्यान सत्ता जाति के एक सिद्ध किये जाने की प्रक्रिया के अनुसार समझ-लेना चाहिये। जैसे द्रव्यादि पदार्थों में 'सत्-सत्' इसप्रकार का एक-रूप ज्ञान 'सत्ता' जाति की एकता को सिद्ध करता है; द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में एक सत्ता जाति समवेत रहती है; वैसे ही चिर, क्षिप्र, युगपत्, पर, अपर आदि लिङ्ग एकरूप से उस द्रव्य का बोध कराते हैं, जिसके अस्तित्व पर ये व्यवहार निर्भर हैं। अतः काल का एक होना सिद्ध होता है।

भूत, भविष्यत्' वर्त्तमान, चिर, क्षिप्र आदि भेद वस्तुओं की क्रमिक स्थिति व क्रियाकलापों के आधार पर प्रतीत होते हैं, इससे काल की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। अन्य भी कोई ऐसा भेदक लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर 'काल' को नाना मानाजाय ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पृथिव्यादि द्रव्य अनेक वस्तुओं के कारण बताये गये हैं। क्या 'काल' द्रव्य भी उनके समान किसीका कारण होता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्[1] कारणे
कालाख्येति ॥९॥ (८८)

[नित्येषु] नित्य पदार्थों में [अभावात्] न होने से [अनित्येषु] अनित्य पदार्थों में [भावात्] होने से (चिर, क्षिप्र, युगपत् आदि व्यवहार) [कारणे] कारण होने में [कालाख्या] 'काल का नाम (लिया जाता है) [इति] इसप्रकार (अथवा प्रकरण की समाप्ति)।

पर भी है। सूत्र का तात्पर्य है—काल के चिर, क्षिप्र, युगपत्, भूत, भविष्यत् आदि भेद कार्यभेद के द्वारा प्रतीत होते हैं; वस्तुतः 'काल' एक-मात्र द्रव्य है, नाना नहीं।

मूल सूत्रपाठ चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'अ० प्रा०' के समान है।

१. अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में 'भावात्' पर्यन्त एक सूत्र और 'कारणे कालाख्येति' यह दूसरा अतिरिक्त सूत्र माना है। पहले अंश की व्याख्या में कोई भेद नहीं है। दूसरे भाग का अर्थ किया है—देवदत्त-यज्ञदत्त आदि देहों में यौगपद्य आदि व्यवहार के असमवायिकारण संयोग का जो समवायिकारण है, वह 'काल' संज्ञक पदार्थ है।

चन्द्रानन्दीय व्याख्या में भी दो सूत्र हैं, पर दूसरे सूत्र में 'इति' पद नहीं है।

नित्य आकाश, परमाणु आदि पदार्थों में—यह देर में हुआ, यह जल्दी हुआ, यह एक साथ हुआ, यह पर है, यह अपर—इत्यादि व्यवहार नहीं होता। परन्तु अनित्य घट, पट आदि पदार्थों में ऐसा व्यवहार होता है। इससे सिद्ध है, कार्य-मात्र के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त किया गया है। देर, जल्दी, साथ में होने अथवा नये, पुराने के व्यवहार से कोई कार्य अछूता नहीं रहसकता। तात्पर्य है—उक्त व्यवहार प्रत्येक कार्य में आवश्यकरूप से होता है, चाहे वह कार्य द्रव्य, गुण, कर्म कुछ भी हो। वह व्यवहार कालनिमित्तक है; इसलिये कार्यमात्र का कारण काल को मानागया है।

काल का बोध कराने अथवा उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लक्षण न केवल यौगपद्य आदि व्यवहार हैं; प्रत्युत विभिन्न ऋतुओं के अनुसार विभिन्न वनस्पति, पुष्प, फल आदि का उत्पन्न होना काल के अस्तित्व का लिङ्ग है। बसन्त हेमन्त, प्रावृट् आदि ऋतु काल का स्वरूप हैं। इन पदों से काल का अभिव्यञ्जन होता है। उन-उन कालों में विशिष्ट वनस्पति आदि का उत्पन्न होना उनके प्रति काल की कारणता को स्पष्ट करता है। सूत्र का 'इति' पद प्रकरण की समाप्ति का द्योतक समझना चाहिये ॥९॥

काल-विवरण के अनन्तर क्रमप्राप्त 'दिक्' का लक्षण प्रस्तुत करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं[1] लिङ्गम् ॥१०॥ (८९)

[इतः] इधर से, यहां से [इदम्] यह है, [इति] इसप्रकार (का व्यवहार) [यतः] जिस (निमित्त) से (होता है) [तत्] वह [दिश्यम्] दिक् का द्योतक [लिङ्गम्] लिङ्ग-लक्षण-चिह्न है।

लोक में सर्वत्र ऐसा व्यवहार देखाजाता है, कि अमुक वस्तु इधर से उतनी दूर है, अथवा समीप है; इधर है या उधर है। यह व्यवहार जिस निमित्त से होता है, उस निमित्त—दिशा नामक पदार्थ—का यह लिङ्ग है। इससे दिक् नामक पदार्थ पहचाना जाता है। लोक में प्रयुक्त 'दूर' और 'समीप' पदों के अर्थ के लिये शास्त्र में 'पर-अपर' पदों का प्रयोग होता है। जैसे कालकृत परत्वापरत्व में बड़े-छोटे का बोध होता है, ऐसे दिक्कृत परत्वापरत्व में दूर-समीप का बोध होता है। इसीप्रकार पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर-ऊपर-नीचे आदि व्यवहार का निमित्त जो पदार्थ है, उसीका नाम 'दिक्' है।

सामने खड़े पेड़ की अपेक्षा वह दूर दीखता हुआ पेड़ 'पर' है, और उसकी

---

१. 'तद्दिशां' अ० प्रा०। 'तद्दिशो' चन्द्रा०।

अपेक्षा यह सामने का पेड़ 'अपर'। इन परत्व और अपरत्व के समवायिकारण ये पेड़ हैं। असमवायिकरण कौन है, यह विचार्य है। जिन पेड़ों के विषय में एक दूसरे की अपेक्षा पर-अपर बुद्धि होरही है; देखाजाता है—जहां 'अपर' बुद्धि है, उसके साथ अल्पदेश का संबन्ध है; जहां 'पर' बुद्धि है, उसके साथ अधिक देश का। ढूंढना चाहिये, ऐसी स्थिति में इन 'परत्व-अपरत्व' का असमवायिकारण कौन होसकता है। यह आवश्यक है, जो असमवायिकारण हो, वह 'परत्व-अपरत्व' के अधिकरण से सम्बद्ध हुआ विद्यमान रहे, अन्यथा उसका कारण होना संभव न होगा। फलतः किसी ऐसे पदार्थ को स्वीकार करना पड़ता है, जिसका उन विभिन्न प्रदेशस्थित वृक्षों से सम्बन्ध हो, जहां 'परत्व-अपरत्व' की उत्पत्ति है। उस पदार्थ का वृक्षों के साथ संयोग-सम्बन्ध ही उनमें 'परत्व-अपरत्व' उत्पत्ति का असमवायिकरण है। वह पदार्थ 'दिक्' अथवा 'दिशा' नाम से कहाजाता है।

समीप की सीमा बताने या कहनेवाले की अपनी स्थिति है। परन्तु दूर की कहीं सीमा नहीं, वह अनन्त है। इसलिये उस पदार्थ की विद्यमानता अनन्त दूरी तक स्वीकार करनी पड़ती है। इसका तात्पर्य है–उस पदार्थ को विभु अर्थात् सर्वत्र व्याप्त मानना आवश्यक है ॥१०॥

वह पदार्थ द्रव्य है और नित्य है, इस अर्थ का पूर्ववत् अतिदेश करते हुए सूत्रकार ने कहा—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते[1] ॥११॥ (९०)

[द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्य होना और नित्य होना [वायुना] वायु द्वारा [व्याख्याते] व्याख्यान किये गये।

गुण और क्रिया का कारण होने से वायु द्रव्य है, यह पहले बताया गया [२।१।११-१३]। इसीप्रकार गुण और क्रिया का कारण होने से दिशा द्रव्य है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग इन पांच गुणों का समवायिकारण है-दिशा। अन्य कार्य-मात्र में दिशा निमित्तकारण मानाजाता है। दिशा का नित्य होना वायु-परमाणु के समान समझ लेना चाहिये। जिसका कोई द्रव्य समवायिकारण न हो, वह नित्य मानाजाता है। दिशा का कोई द्रव्य समवायिकारण नहीं है, अतः दिशा द्रव्य को नित्य मानना चाहिये ॥११॥

शिष्यों की जिज्ञासा पर सूत्रकार ने दिशा के एक होने का पूर्ववत् अतिदेश किया—

तत्त्वं भावेन[2] ॥१२॥ (९१)

---

१. अ० प्रा० में यह सूत्र नहीं है।
२. 'भावात्' अ० प्रा०।

[तत्त्वम्] एक होना (दिशा का) [भावेन] सत्ता जाति के द्वारा (व्याख्यात समझ लेना चाहिये)।

गत सूत्र से वचनविपर्यास के साथ यहां 'व्याख्याते' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। अर्थ होगा—'तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।' दिशा के एक होने का व्याख्यान 'सत्ता' जाति के समान समझ लेना चाहिये। जिसप्रकार द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में 'सत्-सत्' ऐसी समानबुद्धि होने से उनमें 'सत्ता' एक जाति मानी जाती है; इसीप्रकार 'परत्व-अपरत्व' आदि बुद्धि से दिशा का बोधन कराने में सर्वत्र समान प्रक्रिया है, इसलिये उस बुद्धि से बोधित पदार्थ एक माना जाना चाहिये, यह प्रमाणित होता है ॥१२॥

शिष्य आशंका करता है, पूर्व-पश्चिम आदि भेद से लोक में अनेक दिशा व्यवहार में आती हैं, उसे एक कैसे मानाजाय? सूत्रकार ने बताया—

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥१३॥(८२)

[कार्यविशेषेण] कार्य भेदसे [नानात्वम्] नाना—अनेक होना (प्रतीत होता है)।

दिशा वस्तुतः एक है, पर मानव ने पृथिवी पर रहते हुए सूर्यादि ग्रहों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर अपने व्यवहार के लिये प्रतीति के अनुसार दिशा की अनेकता कल्पना करली है। सर्ग के आदि में सर्वप्रथम सूर्य जिस ओर दृष्टिगोचर हुआ, उस ओर को प्राची व पूर्व दिशा कहा जाने लगा। 'प्राची' पद का निर्वचन संस्कृत में इसी आधार पर किया जाता है—'प्राक् सविता अस्यां अञ्चतीति प्राची' सूर्य जिस ओर सबसे पहले प्राप्त होता व दृष्टिगोचर होता है, उस ओर को 'प्राची' दिशा कहा जाता है। इसी आधार पर अन्य नाम 'पूर्व' है। यह प्रतीति और वैसा व्यवहार इसी विशेषता के आधार पर प्रवृत्त हुआ; जो निरन्तर प्रचलित है[1] ॥१३॥

सूत्रकार इसी तथ्य को अग्रिम सूत्रों से स्वतः स्पष्ट करता है—

---

१. चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने इस सूत्र [१३] की व्याख्या अन्य प्रकार की है उनका कहना है—सूत्रकार की आन्तरिक भावना यह प्रतीत होती है, कि काल और दिशा आकाश से भिन्न तत्त्व नहीं। आकाश के अस्तित्व को सूत्रकार ने स्पर्शवाले द्रव्य, आत्मा एवं मन से भिन्न सिद्ध करने में पूरा बल लगाया है; और काल-दिशा के भेद को उसीमें समझ लिया है। इनके द्रव्यत्व, नित्यत्व और एकत्व को वायु-परमाणु तथा सत्ता जाति के समान कह कर सन्तोष कर लिया है। इसके अतिरिक्त काल व दिशा में कोई

आदित्यसंयोगाद्[1] भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ (१४॥६३)

[आदित्यसंयोगात्] सूर्य के संयोग से [भूतपूर्वात्] पहले हुए हुए [भविष्यतः] आगे होनेवाले [भूतात्] वर्त्तमान में हो रहे [च] और तथा भी [प्राची] प्राची–पूर्व दिशा।

सर्ग के आदि काल से एक निर्धारित ओर सर्वप्रथम सूर्य दिखाई देता आया है; आगे आने वाले काल में निरन्तर इसीप्रकार दिखाई देता रहेगा; अब वर्त्त-मान में ऐसा ही दिखाई देता है। यह एक निर्धारित ओर–जिधर सर्वप्रथम सूर्य सदा दिखाई देता है–प्राची दिशा कही जाती है। सूत्रकार ने तीनों कालों का निर्देश इसी प्रयोजन से किया, कि ऐसी प्रतीति एवं व्यवहार में कभी विपर्यास नहीं होता, अतीत, वर्त्तमान और अनागत में विभिन्न व्यवहर्त्ताओं द्वारा इस विषय की प्रतीति एवं व्यवहार समान रहता है। यह आवश्यक नहीं, कि सूर्य प्रतिपल उसी ओर दिखाई देता रहे, तभी यह प्रतीति एवं व्यवहार हो। सर्वप्रथम दिखाई देना ही अपेक्षित है ॥१४॥

व्यवहृत अन्य दिशाओं के विषय में इसी प्रक्रिया का अतिदेश करते हुए सूत्रकार ने कहा—

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥१५॥ (६४)

[तथा] उसी प्रकार [दक्षिणा] दक्षिण दिशा [प्रतीची] पच्छिम दिशा [उदीची] उत्तर दिशा [च] भी (समझनी चाहियें)।

गत सूत्र में बताया गया, जिस ओर सबसे पहले सूर्य दिखाई देता है, उस ओर को प्राची दिशा कहा जाता है, इसके ठीक उलटी ओर जब सूर्य दृष्टिगोचर होता है, वह प्रतीची-पच्छिम दिशा है; 'प्रत्यग् अञ्चति यस्यां सा' पहले से ठीक विपरीत दिशा में जब सूर्य प्राप्त हो, सूर्य के उदय से विरीत दर्शन सूर्य का अस्त होना है। सूर्य के अस्त होने की दिशा पच्छिम है। अब कोई व्यक्ति सर्व-प्रथम सूर्य को उदय होते देखता है, उस समय उसका मुख सूर्य की ओर होता है

विशेषगुण समवेत नहीं रहता। वस्तुतः आकाश एक तत्त्व ही कार्यभेद से काल व दिशा के रूप में नाना वर्णित हुआ है। उसी कार्यभेद का दिशा की दृष्टि से अग्रिम सूत्रों में निर्देश है।

१. इस सूत्र से पूर्व अज्ञातकर्तृक व्याख्या में 'भूतपूर्वात्' और 'भविष्यतः' ये अतिरिक्त दो सूत्र दिये हुए हैं। दूसरे की व्याख्या नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में 'प्राची' पद नहीं है।

उससे ठीक विपरीत दिशा पीठ की ओर पच्छिम है। दाएं हाथ की ओर दक्षिण तथा बाएं हाथ की ओर उदीची–उत्तर दिशा कही जाती है।

इस दिशा का 'उत्तर' अथवा 'उदीची' नाम क्यों रक्खा गया, विचारणीय है 'उदीची' अथवा 'उत्तर' पद का निगूढ तात्पर्य है–उभरना अथवा ऊपर को उठना। जिस भूभाग के निवासियों ने इस दिशा का नाम 'उदीची' रक्खा, कदाचित् उनके मस्तिष्क में यह भावना जागृत रही होगी, कि सूर्य जब दिवसकाल को बढ़ाने के लिये उभरता है, अधिक ऊपर की ओर उठता दिखाई देता है, और पृथिवी का जो गोलार्द्ध मध्याह्न में ठीक सूर्य के सामने पड़ता है ; उस ओर की दिशा का 'उदीची' नाम उपयुक्त होना चाहिये। दिशा के एकमात्र द्रव्य होने पर भी विशेष निमित्तों के कारण व्यवहार की सुविधा के लिये औपचारिकरूप में ये भेद कल्पना करलिये गये हैं ॥१५॥

इसी प्रक्रिया का–अवान्तर दिशाओं को समझाने के लिये–सूत्रकार ने अतिदेश किया—

एतेन दिगन्तरालानि[1] व्याख्यातानि ॥१६॥ (६५)

[एतेन] इससे [दिगन्तरालानि] दिशाओं के अन्तराल-मध्य की अवान्तर दिशाओं का [व्याख्यातानि] व्याख्यान–विवरण समझ लेना चाहिये।

प्राची, प्रतीची आदि दिशाओं के विवरण से उनके मध्यवर्त्ती अवान्तर दिशाओं का विवरण जान लेना चाहिये।

पूर्व और दक्षिण के अन्तराल की दिशा = आग्नेयी।
दक्षिण और पश्चिम के अन्तराल की दिशा = नैर्ऋति।
पश्चिम और उत्तर के अन्तराल की दिशा = वायवी।
उत्तर और पूर्व के अन्तराल की दिशा = ऐशानी।

इनके अतिरिक्त ऊर्ध्व और अधः, अर्थात् ऊपर और नीचे की ओर। एकमात्र दिशा द्रव्य के ये सब औपचारिक भेद हैं; केवल व्यवहार की सुविधा के लिये।

किसी एक बिन्दु को केन्द्र मानकर मुख्यरूप से चार और उनके अवान्तर विभाग कल्पना कर दिशाओं के दस नाम व्यवहार में आते हैं। पर इस प्रकार के अवान्तर विभागों की कोई सीमा नहीं है। अतः व्यवहार-सिद्धि के लिये किन्हीं सीमित रेखाओं में उन्हें निर्धारित करलिया गया है; जो दस दिशाओं के माने जाने का आधार है ॥१६॥

---

१. 'दिगन्तराणि' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

गत प्रकरणों में पृथिवी, जल, तेज, वायु, द्रव्य और उनके गुणों का विवरण दिया गया। आकाश द्रव्य का निरूपण किये जाने पर उसके विशेषगुण 'शब्द' का विवरण देना अपेक्षित है। 'शब्द' के विषय में अनेक विप्रतिपत्ति हैं। विप्रतिपत्ति का तात्पर्य है–शब्द के विषय में अनेक प्रकार के संशय होना। उनका विवेचन करने की भावना से सूत्रकार प्रथम संशय का स्वरूप बताता है—

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥ (६६)

[सामान्यप्रत्यक्षात्] सामान्य-साधारणधर्म के प्रत्यक्ष से [विशेषाप्रत्यक्षात्] विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने से [विशेषस्मृतेः] विशेषधर्मों का स्मरण होआने से [च] और [संशयः] संशय (होजाता है, किसी वस्तु के विषय में)।

एक व्यक्ति मार्ग पर सायंकाल के झुटपुटे में चला जारहा है, अन्धेरा कुछ देर में झुकआने को है। मार्ग जंगल से शून्य स्थान में होकर है, यातायात नहीं के बराबर है। यात्री के पास रकम है, अपने जीवन का भय भी होसकता है। सामने थोड़ी दूर पर मार्ग के साथ उसे कुछ खड़ा हुआ दिखाई देता है। उसकी ऊंचाई-गोलाई साधारण दीख रही है। यह कोई पेड़ का ख़ाली तना भी होसकता है, अथवा कोई हानिकारक पुरुष होसकता है। यात्री निश्चय नहीं करपाता। उसे लम्बाई-चौड़ाई आदि समान धर्म दोनों के दिखाई देरहे हैं; पर विशेषधर्म पुरुष के हाथ-पैर-सिर आदि, तथा ठूंठ या तने के लता-बेल या खोखल, टेढ़ापन व टहनी आदि कुछ स्पष्ट नहीं दीख रहा। परन्तु यात्री को उनके विशेष धर्मों का स्मरण होरहा है। दोनों को पहले अच्छी तरह देखा हुआ है। यात्री दोनों में से किसी एक को पहचान कर निश्चय नहीं करपाता, दोनों के विषय में डांवाडोल है। इसप्रकार के ज्ञान को संशय कहाजाता है।

सूत्र में कही तीनों बातें संशय के लिये आवश्यक हैं—सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष, विशेष धर्मों का उस समय प्रत्यक्ष न होना, पर विशेषधर्मों का स्मरण होना। ऐसे संशय आदि के मूल में भय अथवा हानि आदि की आशंका अवश्य रहती है। यदि यात्री को किसी प्रकार का भय अथवा आशंका आदि न हो, तो प्रायः संशय-ज्ञान होने का अवसर नहीं आता। शास्त्रीय प्रसंगों में भय आदि के न रहते हुए भी यथार्थ की जिज्ञासा संशय का मूल रहती है। वस्तुतः यथार्थ की जिज्ञासा सर्वत्र मूल है, पर उसके उभरने के आधार विभिन्न होसकते हैं ॥१७॥

आधार की विभिन्नता को स्पष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने अग्रिम सूत्रों में बाह्यविषयक और आन्तरविषयक संशय का निर्देश किया है। बाह्य-विषयक संशय कहीं दृश्यमानधर्मिक और कहीं अदृश्यमानधर्मिक रहता है। प्रथम

दृश्यमानधर्मिक बताया—

दृष्टं च दृष्टवत्[1] ॥१८॥ (९७)

[दृष्टम्] देखा हुआ [च] और [दृष्टवत्] देखे हुए के तुल्य है, अथवा देखे हुए धर्मों वाला है।

दृश्यमानधर्मिक बाह्यविषयक संशय का उदाहरण गत सूत्र की व्याख्या में दिया है। स्थाणु और पुरुष दोनों के सामान्यधर्म तथा विशेषधर्म यात्री व्यक्ति ने पहले देखे हुए हैं। सायंकाल झुटपुटे के समय यात्री को कुछ दूरी पर सामने जो आकार दीख रहा है, वह पहले देखे हुए स्थाणु-पुरुष दोनों के समानधर्म से युक्त है, अथवा समानधर्मवाला है। इस अर्थ को यूँभी कह सकते हैं, सामने दीखते आकार में जो धर्म दिखाई देरहे हैं, वह पहले देखे स्थाणु-पुरुष के समान धर्मों के तुल्य हैं। जो धर्म दीख रहे हैं, वे दोनों में समान हैं, इस कारण उनमें से किसी एक का निश्चय संभव न होकर संशय उत्पन्न होजाता है— यह स्थाणु है या पुरुष? इस संशय के आधार व निमित्त दृश्यमान-समानधर्म हैं; इसलिये यह 'बाह्य-विषयक दृश्यमानधर्मिक संशय कहाजाता है ॥१८॥

बाह्यविषयक अदृश्यमानधर्मिक संशय के विषय में सूत्रकार ने बताया—

[2]यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥ (९८)

[यथादृष्टम्] जैसा देखा है [अयथादृष्टत्वात्] वैसा न देखे जाने के कारण [च] भी।

किसी व्यक्ति ने देवदत्त को पहले एकवार जटाधारी दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये हुए देखा। दुबारा फिर कभी घोटा-घोट देखा। कालान्तर में द्रष्टा व्यक्ति देवदत्त से मिलने जारहा है। उसने कभी देवदत्त को जटाधारी देखा, कभी मुण्डी। अभी देवदत्त उसके सामने नहीं है, पर उसका स्मरण करते हुए पूर्वद्रष्टा को यह संशय होता है, कि वह आजकल जटाधारी है, या मुण्डी? किसी अन्य निमित्त से देव-दत्त का **स्मरण** हो जाने पर ऐसा संशय होसकता है। यहां संशय के निमित्त धर्म—जटाधारी या मुण्डी होना—दिखाई नहीं देरहे; इसलिये यह 'बाह्यविषयक अदृश्यमानधर्मिक संशय' कहाजाता है।

संशय-लक्षण सूत्र के 'विशेषाप्रत्यक्षात्' पद से अभिव्यक्त भावना के अनुसार सूत्र का अर्थ इसप्रकार भी संभव है—द्रष्टा व्यक्ति सामने खड़े आकार को देख-

---

१. 'दृष्टमदृष्टं च' अ० प्रा०। 'दृष्टमदृष्टम्। दृष्टं च दृष्टवत्' चन्द्रा०।

२. 'यथादृष्टमयथादृष्टम्। उभयथादृष्टत्वाच्च।' अ० प्रा०। 'दृष्टं यथादृष्टम-यथादृष्टमुभयथा दृष्टत्वात्।' चन्द्रा०।

कर कहता या सोचता है, मैंने पुरुष के जिन हाथ-पैर-सिर आदि विशेष धर्मों को पहले देखा है, वे यहां दिखाई नहीं देरहे। स्थाणु के भी जिन वक्र-कोटर आदि विशेष धर्मों को मैंने पहले देखा है, वे भी यहां दिखाई नहीं देरहे। पहले विशेष-धर्मों के साथ इनको जैसा देखा है, वैसा न देखे जाने के कारण संशय उत्पन्न होजाता है, इसे स्थाणु समझाजाय या पुरुष ?

संशय के इन दोनों रूपों का वर्णन यथाक्रम सामान्य धर्मों के प्रत्यक्ष [दृश्य-मानधर्मिक], और विशेषधर्मों के अप्रत्यक्ष [अदृश्यमानधर्मिक] के आधार पर कियागया है ॥१९॥

आन्तर विषयक संशय का रूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विद्याविद्यातश्च संशयः[1] ॥२०॥ (९९)

[विद्याविद्यातः] विद्या तथा अविद्या से [च] भी [संशयः] संशय (होजाता है)।

विद्या यथार्थ ज्ञान, अविद्या अयथार्थ ज्ञान। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति इस स्थिति को जानता है, कि कभी किसी विषय का ज्ञान सत्य होता है कभी असत्य। उसके सत्य-असत्य होने का बोध उसकी परीक्षा व फल से होता है। अनन्तर कोई ज्ञान होने पर ज्ञाता को स्वयं यह संशय होजाता है, कि न मालूम मेरा यह ज्ञान सत्य होगा या असत्य ?

कोई ज्योतिर्विद् एक बात बताता है; वह सत्य निकल जाती है; कभी असत्य। अनन्तर कभी कोई बात बताने पर उसे स्वयं संशय होजाता है, कि यह बात सत्य निकलेगी, या असत्य ?

एक वादी कहता है—आत्मा नित्य है; दूसरा कहता है—नित्य नहीं है। एक अधिकरण में विना किसी अपेक्षा के दो विरोधी धर्म नहीं रहसकते। उन दोनों में से कोई एक सत्य होता है, दूसरा असत्य। ऐसे परस्पर विरोधी कथन को सुनने पर जिज्ञासु व्यक्ति को संशय होजाता है—इनमें से कौन-सा सत्य है, कौन-सा असत्य ?

संशय के इस हेतु को 'विप्रतिपत्ति' कहाजाता है। विप्रतिपत्ति है—एक अधिकरण में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान होना। जैसे एक आत्मा में अस्तित्व-नास्तित्व अथवा नित्यत्व-अनित्यत्व। परन्तु संशय का जो एक हेतु पहले कहागया है—समानधर्मों का प्रत्यक्ष होना; उसीमें 'विप्रतिपत्ति' हेतु अन्तर्हित है। आत्मा में 'गुणवान्' होना धर्म नित्य-अनित्य दोनों के समान देखाजाता है। गुणवान् आकाश

---

१. 'विद्योपलब्धिरविद्यानुपलब्धिः' अ० प्रा०।

नित्य है, घटादि पदार्थ अनित्य। आत्मा गुणवान् होने से आकाश के समान नित्य मानाजाय, अथवा घटादि के समान अनित्य ? यह संशय होजाता है। पूर्वोक्त हेतु की दृढ़ता-द्योतन के लिये सूत्र में पुनः 'संशय' पद पढ़ा है। 'संशय' प्रसंग की समाप्ति का द्योतक भी यह पद संभव है ॥२०॥

जिस विशिष्ट अर्थ की परीक्षा के लिये संशय का स्वरूप बताया गया; सूत्रकार उसका निर्देश करता है—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥ (१००)

[श्रोत्रग्रहणः] श्रोत्र इन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला [यः] जो [अर्थः] अर्थ है [सः] वह [शब्दः] शब्द (कहाजाता है)।

श्रोत्रग्राह्य अर्थ 'शब्द' है; सूत्र में 'अर्थ' पद का प्रयोग ऐसे धर्मी के कथन करने में है, जो जाति-धर्म वाला हो, जिसमें कोई जातिरूप धर्म रहता हो। यदि ऐसी भावना से 'अर्थ' पद सूत्र में न पढ़ाजाता, केवल 'श्रोत्रग्रहणः' इतना स्वरूप शब्द का बताया जाता, तो जो शब्दवृत्ति धर्म शब्दत्व-तारत्व-मन्दत्व आदि श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होते हैं, उनमें अतिव्याप्ति होजाती। वे श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य हैं, पर 'शब्द' नहीं। इससे यह भी ध्वनित होता है, कि जो आचार्य शब्दवृत्ति एक 'स्फोट' नामक अन्य शब्द की कल्पना करते हैं, वह अनावश्यक है।

यदि कहाजाय, पद और वाक्य में 'एक पद है, एक वाक्य है' इसप्रकार एकत्व की प्रतीति होती है। अनेक वर्णों का क्रमिकरूप में एकत्र होना—पद है, इसीप्रकार अनेक पदों का एकत्र होना—वाक्य। अनेक वर्णात्मक पद और अनेक पदात्मक वाक्य में एकत्व बुद्धि का आधार स्फोट को मानना चाहिये। पद का एक-एक वर्ण अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करता, अन्तिम वर्ण पर पहुचने तक पहले वर्ण नष्ट होजाते हैं। उच्चारण के रूप में कोई पद या वाक्य अर्थबोधन के लिये टिक नहीं पाता; फिर भी एक पद व एक वाक्य के आधार पर जो विशिष्ट अर्थबोध होता है, उसका प्रयोजक शब्दवृत्ति 'स्फोट' को मानना आवश्यक है। वह पद के अन्तिम वर्ण तथा वाक्य के अन्तिम पद पर पहुंचते ही अभिलषित अर्थ को अभिव्यक्त करदेता है। अर्थ का स्फोटन-अभिव्यञ्जन करने के कारण इसका 'स्फोट' नामकरण हुआ।

इस विषय में वैशेशिक आचार्यों का विवेचन है—पद से जो अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसका आधार है—पद का विशिष्ट अर्थबोधन में संकेत। अनेकवर्णात्मक पद जिस संकेतित एक अर्थ को अभिव्यक्त करता है, उसी आधार पर उसमें एकता का औपचारिक व्यवहार होता है। यदि शब्दवृत्ति स्फोट के आधार पर अर्थ का अभिव्यञ्जन निर्भर होता, तो अर्थ-संकेत के बिना स्वतः पद से अर्थ

अभिव्यक्त हुआ करता। पर न ऐसा देखा जाता है, न संभव है। अतः अर्थबोध का प्रयोजक 'संकेत' सिद्ध होने पर शब्दगत 'स्फोट' का स्वीकार करना अनावश्यक है, व अप्रामाणिक भी। सूत्रकार ने सूत्र में 'अर्थ' पद का निर्देश कर इस भाव को ध्वनित किया है ॥२१॥

शब्द का यह स्वरूप–जो श्रोत्रग्राह्य अर्थ है, वह शब्द है–शब्द के विषय में संशय का जनक है। इसीको स्वयं सूत्रकार ने कहा—

[1]तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥ (१०१)

[तुल्यजातीयेषु] समानजातीय पदार्थों में [अर्थान्तरभूतेषु] असमानजातीय पदार्थों में [विशेषस्य] विशेष के [उभयथा] दोनों प्रकार अथवा दोनों में [दृष्टत्वात्] देखे जाने से अथवा 'अदृष्टत्वात्' न देखे जाने से (शब्द में संशय उत्पन्न होता है)।

सूत्र में 'विशेष' पद का तात्पर्य 'असाधारण धर्म' अथवा 'व्यावृत्ति' है। तथा सूत्र के 'उभयथादृष्टत्वात्' पाठ में सन्धि के आधार पर 'उभयथा अदृष्टत्वात्' ऐसा पदच्छेद संभव है। 'विशेष' पद के पहले तात्पर्य के साथ 'अदृष्टत्वात्' पाठ का सम्बन्ध होगा; दूसरे 'व्यावृत्ति' तात्त्पर्य के साथ 'दृष्टत्वात्' का। दोनों प्रकार से कथन करने में परिणाम समान है।

अब विचार कियाजाता है—शब्द का असाधारण धर्म 'श्रोत्रग्राह्यत्व' बताया गया। यदि शब्द को द्रव्य मानाजाय, तो तुल्यजातीय द्रव्यों और अर्थान्तरभूत (अतुल्यजातीय) गुण-कर्मों—उभय स्थलों में कहीं भी श्रोत्रग्राह्यत्व नहीं देखा जाता। न कोई द्रव्य श्रोत्रग्राह्य है, न गुण-कर्म। यदि शब्द को गुण मानाजाता है, तो समानजातीय गुणों और अर्थान्तरभूत (असमानजातीय) द्रव्य-कर्मों–दोनों स्थलों में कोई भी श्रोत्रग्राह्य नहीं है। यदि शब्द को कर्म कहाजाय; तो समानजातीय कर्मों और असमानजातीय द्रव्य-गुणों में श्रोत्रग्राह्य कोई नहीं दीखता। इसप्रकार शब्द के असाधारण धर्म 'श्रोत्रग्राह्यत्व' के समानासमानजातीय उभयविध पदार्थों में कहीं भी न देखे जाने से संशय होता है, कि शब्द को द्रव्य, गुण, कर्म में से क्या मानाजाय ?

जब सूत्र के 'विशेष' पद का तात्पर्य 'व्यावृत्ति' है, अर्थात् असाधारण धर्म की व्यावृत्ति। तब सूत्रार्थ की योजना होगी—समानासमानजातीय उभयविध

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। इससे पूर्व अतिरिक्त सूत्र है—'तस्मिन् द्रव्यं कर्म गुण इति संशयः।' चन्द्रा०।

पदार्थों में शब्द के असाधारणधर्म श्रोत्रग्राह्यत्व की व्यावृत्ति (अभाव) के देखे जाने से शब्दविषयक संशय होता है, द्रव्यादि पदार्थों में शब्द को क्या माना-जाय ? इस अर्थयोजना में असाधारण धर्म–श्रोत्रग्राह्यत्व–गतसूत्र के अनुसार निश्चित है ॥२२॥

द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में से शब्द क्या है ? यह संशय दिखाकर सूत्रकार ने संशय-निवारण के लिए बताया—

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥ (१०२)

[एकद्रव्यत्वात्] एक द्रव्य समवायिकारण होने से (शब्द का), [न] नहीं [द्रव्यम्] द्रव्य (शब्द)।

कोई कार्यद्रव्य ऐसा संभव नहीं, जिसका समवायिकारण एक द्रव्य हो। अनेक द्रव्य मिलकर किसी कार्य-द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, यह एक प्रमाणित व्यवस्था है। शब्द क्योंकि ऐसा कार्य है, जिसका समवायिकारण केवल एक द्रव्य आकाश है। फलतः शब्द द्रव्य नहीं होसकता। कार्यद्रव्य की उत्पत्ति पार्थिव द्व्यणुक आदि से प्रारम्भ होती है। द्व्यणुक का आश्रय अथवा समवायिकारण दो परमाणु द्रव्य हैं। द्रव्य के इस कार्यक्रम में आगे अनेक अवयव-द्रव्य किसी कार्य-द्रव्य-अवयवी के आश्रय व समवायिकारण होते हैं। इसलिये शब्द कार्य को द्रव्य मानना संभव नहीं, क्योंकि इसका आश्रय व समवायिकारण एकमात्र द्रव्य आकाश है ॥२३॥

शब्द, कर्म नहीं होसकता। सूत्रकार ने बताया—

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात्[1] प्रत्ययस्य ॥२४॥ (१०३)

[न] नहीं [अपि] भी [कर्म] कर्म [अचाक्षुषत्वात्] चक्षु इन्द्रिय द्वारा गृहीत न होने के कारण [प्रत्ययस्य] ज्ञान के (शब्द-ज्ञान के)।

कर्म का प्रत्यक्ष-ज्ञान चक्षु इन्द्रिय के द्वारा होता है। उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि कर्म को प्रत्येक व्यक्ति चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करता है। परन्तु शब्द का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से न होकर श्रोत्र द्वारा होता है; यह शब्द का कर्म के साथ वैधर्म्य है; शब्द अचाक्षुष है, और कर्म चाक्षुष। इसलिये शब्द को कर्म नहीं माना जासकता ॥२४॥

शिष्य आशंका करता है—आशुविनाशित्व धर्म, शब्द और कर्म दोनों में देखा जाता है, इस साधर्म्य से शब्द को कर्म मानाजाना चाहिये ? आचार्य सूत्र-कार ने समाधान किया—

१. 'अचाक्षुषत्वाच्च प्रत्यक्षस्य शब्दो न कर्म।' अ० प्रा०। 'अचाक्षुषत्वान्न कर्म।' चन्द्रा०।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥ (१०४)

[गुणस्य] गुण [सतः] होते हुए (शब्द के) [अपवर्गः] आशुविनाशित्व [कर्मभिः] कर्मों के साथ [साधर्म्यम्] साधर्म्य (संभव है)।

सूत्र के 'अपवर्ग' पद का अर्थ 'समाप्ति' या 'विनाश होना' है। शब्द व कर्म के अल्पस्थितिकाल की भावना से यहां उसका तात्पर्य आशु-विनाश अर्थात्–जल्दी नाश होजाना–है। कर्मों के साथ शब्द का यह साधर्म्य है। यह साधर्म्य शब्द के गुण माने जाने पर भी संभव है। इसलिये यह आवश्यक नहीं, कि आशु-विनाशी होने के कारण शब्द को कर्म मानाजाय। द्वित्व आदि संख्या, तथा आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख आदि अनेक गुण आशुविनाशी होते हैं, उनके समान शब्द गुण होता हुआ आशु-विनाशी होसकता है। वस्तुतः आशुविनाशित्व कर्मों का व्याप्यधर्म नहीं है। जहां कर्मत्व हो, वहीं आशुविनाशित्व हो, ऐसा नियम नहीं है। इसलिये कर्मों के साथ शब्द का यह साधर्म्य होते हुए भी शब्द को कर्म मानना आवश्यक नहीं है ॥२५॥

यद्यपि शब्द को आशुविनाशी कहने से उसकी अनित्यता अभिव्यक्त होजाती है; तथापि इसको न समझता हुआ शिष्य आशंका करता है; शब्द को गुण मानने पर भी वह आकाश का लिंग नहीं होसकता; क्योंकि वह लिंग उस अवस्था में संभव है, जब वह आकाश का कार्य हो? शब्द नित्य है, किसीका कार्य नहीं। सूत्रकार ने समाधान किया—

सतो लिङ्गाभावात् ॥२६॥ (१०५)

[सतः] विद्यमान रहते शब्द का [लिङ्गाभावात्] लिंग-बोधक प्रमाण न होने से (शब्द नित्य नहीं मानाजाता)।

प्रत्येक व्यक्ति यह प्रत्यक्ष अनुभव करता है, कि उच्चारण से पहले और उच्चारण के अनन्तर शब्द का अस्तित्व नहीं रहता। केवल उच्चारणकाल में शब्द की प्रतीति होती है। इसलिये शब्द को नित्य कहना अप्रामाणिक है।

यदि कहा जाय—उच्चारण से पूर्व और पश्चात् शब्द विद्यमान रहता है। जब उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त उपस्थित होते हैं, तब वह अभिव्यक्त-प्रतीत हो जाता है, निमित्तों के अभाव में–होता हुआ भी–प्रतीत नहीं होता। ऐसा कथन युक्त नहीं; क्योंकि उच्चारण से पूर्व और पश्चात् शब्द के विद्यमान रहने में कोई लिङ्ग-प्रमाण नहीं है, जो अनुच्चारण काल में उसके अस्तित्व को सिद्ध करसके। अतः शब्द कार्य है, आकाश के आश्रित है। आकाश उसका आश्रय व समवायिकारण है; इसलिये शब्द के आकाश का लिंग-बोधक होने में कोई बाधा नहीं ॥२६॥

आचार्य सूत्रकार ने शब्द के अनित्य होने का आधार बताया—

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥ (१०६)

[नित्यवैधर्म्यात्] नित्य के साथ वैधर्म्य से (शब्द नित्य नहीं)।

ओट में बैठे दो व्यक्ति परस्पर वार्त्तालाप कर रहे हैं। तीसरा व्यक्ति उनके वार्त्तालाप को केवल सुन रहा है, वार्त्तालाप करने वाले उसे दीख नहीं रहे। तीसरा व्यक्ति शब्दमात्र सुनने से उन्हें पहचान लेता है, और कहता है—इनमें एक देवदत्त और दूसरा यज्ञदत्त है। प्रत्येक व्यक्ति इस तथ्य से परिचित है, कि व्यक्ति अपनी आवाज से प्रायः पहचाना जाता है। यदि शब्द नित्य होता, तो वह सदा एकरूप प्रतीत होता। शब्द का प्रतिव्यक्ति यह भेद स्पष्ट करता है, कि शब्द अपने साधनों के अनुसार विभिन्नरूप में उत्पन्न होता है। उत्पन्न होना नित्य पदार्थ का धर्म नहीं है, इससे शब्द का अनित्य होना निश्चितरूप से प्रमाणित होता है ॥२७॥

सूत्रकार ने इसी अर्थ को स्पष्ट किया—

अनित्यश्चायं कारणतः[1] ॥२८॥ (१०७)

[अनित्यः] अनित्य है [च] और [अयम्] यह शब्द [कारणतः] कारण से—उत्पत्ति देखे जाने से।

प्रत्येक व्यक्ति मुख से उच्चरित होते हुए शब्दों को सुनता व अनुभव करता है। ढोलक पर जब थाप पड़ती है, नगाड़े पर दण्ड और सारंगी पर गज फिरने लगता है, शब्द उत्पन्न होता प्रतीत होता है। अपने विभिन्न निमित्तों से उत्पन्न होने के कारण शब्द को अनित्य मानना युक्तियुक्त है ॥२८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह कैसे पहचाना जाय, कि शब्द कारणवाला है, अर्थात् कारण से उत्पन्न होता है? जबतक इसकी पहचान न हो, इसे सिद्ध कैसे माना-जायगा? सूत्रकार ने बताया—

न चासिद्धं विकारात्[2] ॥२९॥ (१०८)

[न] नहीं [च] और [असिद्धम्] असिद्ध [विकारात्] विकार से।

शब्द में विकार–विविधरूप में उत्पन्न होना–अनुभूत है। तीव्र, मन्द, मधुर, कठोर आदि शब्दगत भेद प्रत्येक व्यक्ति को प्रतीत होते हैं। व्यक्ति की आवाज से उसे पहचाना जाना, पशु-पक्षियों की ध्वनियों का परस्पर विलक्षण होना शब्द

---

१. 'कारणवत्तो विकारात्।' अ० प्रा०। 'कार्यत्वात्। अभावात्। कारणतो विकारात्।' चन्द्रा०।

२. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

के विकारयुक्त होने में स्पष्ट प्रमाण है। शब्द का यह विकार अथवा विभिन्नता व विलक्षणता उसके विभिन्न निमित्तों-कारणों पर आधारित है। उत्पत्ति के निमित्त जैसे होंगे, उन्हींके अनुकूल शब्द उत्पन्न होगा। इसलिये शब्द की कारण-वत्ता असिद्ध नहीं है ॥२९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जिनको शब्द का निमित्त कहाजाता है, उन्हें अभिव्यञ्जक क्यों न माना जाय ? शब्द का तीव्र-मन्द होना उसीपर आधारित होगा, सूत्रकार ने बताया—

अभिव्यक्तौ दोषात्[१] ॥३०॥ (१०९)

[अभिव्यक्तौ] अभिव्यक्ति में [दोषात्] दोष से।

शब्द नित्य है, जो उसकी उत्पत्ति के कारण बताये जाते हैं, वस्तुतः वे शब्द की अभिव्यक्ति के निमित्त हैं। शब्द सदा विद्यमान रहता है, जब उसके अभि-व्यक्त—प्रकट होने के निमित्त उपस्थित होजाते हैं, उस समय वह सुनाई देजाता है। यह कथन दोषयुक्त होने से मान्य नहीं। शब्द को अभिव्यङ्ग्य मानने में अनेक दोष हैं।

१. किसी एक देश में व्यञ्जक के उपस्थित होने पर वहां समानेन्द्रिय-ग्राह्य जितनी वस्तु विद्यमान रहती हैं, उन सबका ग्रहण होजाता है। जैसे एक भवन में व्यञ्जक प्रकाश के होने पर वहां विभिन्न प्रकार की जितनी रूपवाली वस्तु विद्यमान हैं, सभीका—चाहे वह वस्त्र हो, पात्र हो, फल हो, अथवा अन्य कोई वस्तु हो—समानरूप से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होजाता है। जहां व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव रहता है, वहां सर्वत्र यह स्थिति देखी जाती है। परन्तु शब्द के विषय में ऐसा नहीं है। वहां विभिन्न प्रत्येक शब्द के लिये अलग-अलग नियत व्यञ्जक रहते हैं। भेरी (नगाड़ा) शब्द का जो व्यञ्जक है, वही तन्त्रीशब्द का व्यञ्जक नहीं। जो तन्त्री (तुरही) शब्द का व्यञ्जक है, वह मुरज (ढोलक) शब्द का नहीं। इसप्रकार समान देश के एक इन्द्रिय से गृहीत होने वाले शब्द को अभिव्यक्त हुआ मानने में प्रतिनियत-व्यञ्जक-व्यङ्ग्यभाव दोष प्राप्त होता है, क्योंकि जहां व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव होता है, वहां एक-०व्यङ्ग्यभाव का नियम है। इससे ज्ञात होता है, दण्डभेरीसंयोग आदि शब्द के व्यञ्जक नहीं हैं, यदि व्यञ्जक होते, तो प्रकाश-व्यञ्जक के रहने पर सभी घट-पट-फल आदि पथार्थों की अभिव्यक्ति के समान दण्डभेरी-संयोग होने पर उस देश के सभी शब्दों की अभिव्यक्ति होजाती।

---

१. केवल 'दोषात्' सूत्रपाठ है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. व्यञ्जक के रहने पर अभिव्यक्त हुई वस्तुओं में कोई एक दूसरे का अभिभव नहीं करती, सभी वस्तु समानरूप से प्रत्यक्ष-गोचर होती हैं। ऐसी व्यवस्था वहां देखी जाती है, जहां पदार्थों का परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव रहता है। परन्तु शब्द के विषय में यह स्थिति नहीं देखी जाती, समान देश में होने वाला भेरीशब्द तन्त्रीशब्द का अभिभव कर देता है, दोनों शब्दों के होते हुए भेरीशब्द सुनाई देता है, तन्त्रीशब्द नहीं। यदि भेरी व तन्त्री अभिव्यञ्जक होते और शब्द अभिव्यङ्ग्य होता; तो प्रकाश व्यञ्जक के रहते जैसे सभी घट, पट, फल पुष्प आदि दृष्टिगोचर होते रहते हैं, कोई किसी का अभिभव नहीं करता, ऐसे ही समान देश में भेरी-तन्त्री आदि से अभिव्यङ्ग्य सभी प्रकार के शब्द सुनाई देते रहते, कोई किसीका अभिभव न करता, परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे स्पष्ट है, शब्द व्यङ्ग्य नहीं है, इसी कारण नित्य नहीं।

३. शब्द को अभिव्यक्त मानने में जो प्रथम दोष बताया गया है, यदि उसे स्वीकार नहीं किया जाता, और यह नहीं माना जाता, कि शब्द तथा उसके निमित्त का प्रतिनियत॰व्यङ्ग्य-व्यञ्जक॰भाव नहीं है, तो दण्ड-भेरी संयोग होने पर वहां विद्यमान सभी शब्द अभिव्यक्त होकर सुनाई देने चाहियें, किसी व्यक्ति के द्वारा 'क' शब्द का उच्चारण करने पर सभी शब्द अभिव्यक्त होकर श्रुतिगोचर होने चाहियें। पर ऐसा न होने से प्रमाणित होता है, शब्द व्यङ्ग्य नहीं है, और इसी कारण नित्य नहीं।

४—जहां व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है, वहां देखा जाता है—व्यञ्जक के रहते ही व्यङ्ग्य की प्रतीति होती है। जबतक प्रकाश व्यञ्जक रहता है, तबतक घट पट आदि की प्रतीति रहती है; पर यह स्थिति शब्द में नहीं देखी जाती। तथाकथित व्यञ्जक न रहने पर भी शब्द सुनाई देता है। दूर कपड़े धोता हुआ धोबी दिखाई देरहा है। वह कपड़े का पटड़े पर जब पटकता है, कपड़े और पटड़े के संयोग से शब्द होता है, दूर खड़ा हुआ व्यक्ति उस शब्द को उस समय सुनपाता है जब दुबारा पटकने के लिये धोबी कपड़े को ऊपर उठा लेता है। तात्पर्य, कपड़ा और पटड़े का संयोग न रहने पर शब्द सुनाई देता है। यदि वह संयोग शब्द का व्यञ्जक होता, तो संयोग के न रहने पर शब्द सुनाई नहीं देना चाहिये था। इससे ज्ञात होता है, शब्द व्यङ्ग्य नहीं है, इसलिये नित्य नहीं। शब्द की अभिव्यक्ति मानने में सूत्रकार ने जो दोष का संकेत किया, उक्तरूप में उन दोषों का निर्देश कर दिया गया ॥३०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि शब्द नित्य माना जाकर व्यङ्ग्य नहीं, उत्पाद्य है, तो उसकी उत्पत्ति के कारण क्या हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान

किया—

संयोगाद् विभागाच्च[1] शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः[2] ॥३१॥ (११०)

[संयोगात्] संयोग से [विभागात्] विभाग से [च] और [शब्दात्] शब्द से [च] तथा अथवा भी [शब्द-निष्पत्तिः] शब्द की उत्पत्ति (होती है)।

संयोग, विभाग और शब्द से भी शब्द उत्पन्न होता है। शब्द की उत्पत्ति के तीन कारण हैं—संयोग, विभाग तथा शब्द। शब्द का **समवायिकारण** आकाश है **असमवायिकारण**-संयोग विभाग, शब्द। शेष भेरी दण्ड वादक आदि सब **निमित्तकारण** होते हैं।

भेरी-दण्ड संयोग, कपड़ा-पटड़ा संयोग, कुठार-काष्ठ संयोग, कण्ठ तालु आदि के साथ वायु का संयोग, आदि शब्द की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

जब बांस को फाड़ाजाय, कपड़े या कागज आदि को फाड़ाजाय, या उसके अलग-अलग टुकड़े किये जायें, तो उससे शब्द उत्पन्न होता है, यह विभाग से शब्द की उत्पत्ति है।

किसी एक देश में शब्द उत्पन्न होकर जब दूरस्थ व्यक्ति के द्वारा सुना जाता है, तब उत्पत्तिस्थान से उत्पन्न हुआ शब्द समानजातीय शब्दान्तरों को उत्पन्न करता हुआ, अथवा उस रूप में उत्पन्न होता हुआ श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुंचता है, तब सुनाई देता है। बादलों का परस्पर संघर्ष होने पर विद्युत्-प्रकाश और गर्जना का शब्द दोनों साथ उत्पन्न होते हैं, विद्युत्प्रकाश बहुत जल्दी दृष्टिगोचर होता है; परन्तु गर्जन-ध्वनि कुछ कालान्तर में सुनाई देती है। प्रकाश और ध्वनि की गति [अथवा तरंगित होने] में अन्तर रहता है।

वस्तुतः ध्वनि या शब्द में अपनी गति नहीं रहती, वह किसी वाहक अर्थात् सवारी पर चलता है। इसकी साधारण सवारी वायुमण्डल है। वायु जब विपरीत दिशा में वह रहा हो, उस समय शब्द बहुत मन्द सुनाई पड़ता है, अथवा नहीं भी सुनाई पड़ता, उसकी अपेक्षा, जब वायु अनुकूल दिशा में बहता हो। यदि किन्हीं विशेष निमित्तों से शब्द के वाहन को बदल दिया जाय, तो वह जल्दी सुना जासकता है। रेडियो आदि के द्वारा जो शब्द सुनाजाता है, वह साधनों द्वारा विद्युत्तरंगों पर सवार करा दियाजाता है।

वाहन बदलने का यह तात्पर्य नहीं, कि वायु अथवा शब्द को स्वयं विद्युत्तरंगों में परिवर्त्तित कर दिया जाता है, प्रत्युत सवार को वायु पर से उतार कर

१. 'च' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।
२. 'निष्पत्तेः' चन्द्रा०।

विद्यु त्तरंगों पर सवार करादेना है। जैसे किसी सवार को घोड़े से उतारकर मोटर में या वायुयान व राकेट आदि पर सवार करा देना। प्राचीन आचार्यों ने शब्द में स्वतः गति को नहीं माना, वह स्वयं अगति है, किसी अन्य पर सवार होकर चलता है। सवारी की गति का सवार में उपचार कर दिया जाता है। रेडियो आदि के द्वारा शब्द-प्रसारण में भी सर्वत्र समानता नहीं है, यह साधन पर निर्भर करता है, कि वह कितना शक्तिशाली है। उसीके अनुसार शब्द को सवारी उपलब्ध होपाती है। अन्यथा उसकी नैसर्गिक साधारण स्थिति सदा एक-समान बनी रहती है। इसप्रकार शब्द के तीन कारणों का यथामति यह विवरण प्रस्तुत कियागया ॥३१॥

शब्द के अनित्य होने के विषय में सूत्रकार ने पुनः बताया—

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः[1] ॥३२॥ (१११)

[लिङ्गात्] लिङ्ग से अनुमान से (जानाजाता है), [च] तथा, भी [अनित्यः] अनित्य है [शब्दः] शब्द।

अनुमान प्रमाण के आधार पर भी शब्द की अनित्यता जानी जाती है। गत सूत्र में शब्द की उत्पत्ति के कारण बताये गये। जो भाववस्तु उत्पन्न होती है, उसका विनाश अवश्य होता है, यह नियम है। किसी पदार्थ का उत्पाद-विनाशशील होना उसकी अनित्यता को सिद्ध करता है। उत्पादविनाशशील होने से सब प्रकार का शब्द अनित्य है। चाहे वह ध्वनिरूप हो अथवा वर्णरूप।

इसके अतिरिक्त लोक में सर्वत्र शब्द विषय का व्यवहार अनित्य के समान होता है। मन्द, तीव्र, मधुर, कठोर आदि व्यवहार इसीप्रकार का है। बाह्येन्द्रियग्राह्य पदार्थ सभी अनित्य होते हैं। शब्द भी श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से उन सभी के समान अनित्य है[2] ॥३२॥

शिष्यों द्वारा आशंका किये जाने पर उनकी भावनाओं को समझते हुए आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से उन भावनाओं को स्पष्ट किया—

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥ (११२)

[द्वयोः] दोनों की [तु] तो [प्रवृत्त्योः] प्रवृत्तियों का [अभावात्] अभाव होने से (अभाव प्राप्त होजाने से)

दोनों की प्रवृत्तियों का अभाव प्राप्त होजाने से तो यही प्रतीत होता है,

---

१. 'शब्दः' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. द्रष्टव्य, गौतमीय न्यायदर्शन—'आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च [२।२।१३]।

कि शब्द अनित्य आशुविनाशी न मानाजाकर स्थिर मानना चाहिये।

शब्द दो प्रकार का जाना जाता है—एक ध्वन्यात्मक, जिसमें वर्णों का पृथक् विभाजन नहीं होपाता, जैसे—भेरी, पटह, शंख आदि से होनेवाली ध्वनियां। दूसरा वर्णात्मक शब्द है, जिसमें अकार ककार आदि वर्णों का विभाजन है। शिष्यों की आशंका का यही आशय है, कि हम शिष्य अध्ययन करते हैं, आचार्य अध्यापन कराते हैं। उस समय आचार्य कुछ वर्णों, पदों व वाक्यों का उच्चारण करते हैं, अर्थात् उनको शिष्यों के प्रति प्रदान करते हैं, शिष्य उनका आदान करते, उनको ग्रहण करते हैं। यदि ये शब्द आशुविनाशी हों, तो यह शिष्य-गुरु दोनों की आदान-प्रदान प्रवृत्ति का अभाव प्रसक्त होजायगा; यह प्रवृत्ति संभव न रहेगी। इसलिये वर्णात्मक शब्द को अवश्य स्थिर मानाजाना चाहिये; ध्वन्यात्मक शब्द भले अनित्य व आशुविनाशी रहे।

उत्तमवृद्ध ने मध्यमवृद्ध को उसकी बाल्यावस्था में यह बता दिया है—'गामानय' पदों का अर्थ है—'गाय ले आओ'। कालान्तर में उत्तमवृद्ध ने मध्यमवृद्धको कहा—'गामानय'। आदेशानुसार वह उस प्राणी को ले आता है। यदि ये वर्ण व पद स्थिररूप से एक न हों, तो इन दोनों की प्रवृत्ति संभव न होगी। मध्यमवृद्ध ने जिन वर्णों व पदों का अर्थ पहले समझा था, यदि वे ही वर्ण व पद इस समय उच्चारित नहीं हैं, तो न मध्यमवृद्ध को उन पदों का अर्थबोध होगा, और न उत्तमवृद्ध इस रूप में उसे प्रेरित करेगा। फलतः शब्द को स्थिर न मानने पर इन दोनों की प्रवृत्ति संभव न होपायेगी, अतः शब्द को नित्य मानना चाहिये ॥३३॥

सूत्रकार ने उसी आशय को और स्पष्ट किया—

प्रथमाशब्दात्[1] ॥३४॥ (११३)

[प्रथमाशब्दात्] प्रथमा शब्द से।

सूत्र में 'प्रथमा' पद संख्यावाचक है, ऐसे अन्य पदों का उपलक्षण है। ऋग्वेद [३।२७।१-११] में सामिधेनी ऋचा ग्यारह हैं, परन्तु सामिधेनी आहुतियों का पन्द्रह का विधान है, तब ग्यारह ऋचाओं से पन्द्रह आहुतियां कैसे दीजायें? इसके लिये आचार्यों ने उपाय बताया-'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' [—] पहली ऋचा 'प्रथमा' अन्तिम ऋचा 'उत्तमा' और मध्यगत ऋचा 'मध्यमा' कही जाती हैं। आहुति संख्या की पूर्त्ति के लिए 'प्रथमा' ऋचा की तीन बार

१- चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने 'प्रथमादिशब्दात्' पाठ मानकर 'आदि' पद से 'मध्यमा, उत्तमा' का ग्रहण किया है। यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। इससे पूर्व सूत्र है—'संख्याभावान्' चन्द्रा०। अ० प्रा०।

आवृत्ति कर उससे तीन आहुति देवे, इसीप्रकार उत्तमा-अन्तिम ऋचा से तीन वार। दो ऋचाओं से छह आहुतियां हुईं, शेष नौ मध्यमा ऋचाओं से नौ आहुति। ऐसे पन्द्रह सामिधेनी आहुति पूरी होती हैं।

प्रस्तुत प्रसंग के लिये ज्ञातव्य है, ये सब ऋचा वर्णों व पदों का समूह हैं। यदि इन्हें स्थिर न मानाजाय, तो उन ऋचाओं के लिए 'प्रथमा' आदि शब्दों का प्रयोग तथा 'त्रिः' कहकर उनकी आवृत्ति का होना या मानाजाना संभव न होगा। स्थिर का ही इसप्रकार विभाजन व आवर्त्तन होसकता है। अन्यथा जो वर्ण उच्चरित हुआ, उसके अनन्तर नष्ट होगया, तब आवर्त्तन किसका होगा ? जो आगे उच्चारण किया जायगा, वह तो नया वर्ण होगा। तात्पर्य है—'दो वार' या 'तीन वार' इन पदों का प्रयोग स्थायी के लिये होता है। ऐसी स्थिति में वर्णात्मक शब्द को नित्य मानना युक्त है।

सूत्रकार ने शिष्यों के उक्त आशय को पुनः स्पष्ट किया—

संप्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥ (११४)

[संप्रतिपत्तिभावात्] संप्रतिपत्ति-प्रत्यभिज्ञा के होने से [च] तथा, अथवा भी।

प्रत्यभिज्ञा के होने से भी वर्णात्मक शब्द का नित्य मानाजाना युक्त प्रतीत होता है। किसी को पहले देखकर कालान्तर में पुनः देखने पर यह ज्ञान होता है—यह वही है जिसको मैंने पहले देखा था। यह आज दिल्ली में दीखरहा वही नारायण है, जिसे दो वर्ष पूर्व वाराणसी में देखा था। ऐसे ज्ञान को 'प्रत्यभिज्ञा' कहाजाता है। सूत्र में 'संप्रतिपत्ति' पद है। 'प्रतिपत्ति' ज्ञान को कहते हैं, जिसमें पहला और अबका दो ज्ञान संमिलित हों, वह 'संप्रत्तिपत्ति' है। इसीके लिये दूसरा पद 'प्रत्यभिज्ञा है। वर्णात्मक शब्द के विषय में प्रत्यभिज्ञा होने से शब्द की नित्यता प्रतीत होती है। 'सोऽयं गकारः, तदिदं पद्यम्' इत्यादि व्यवहार प्रत्याभिज्ञारूप शब्द के विषय में बराबर होता है। यह वही 'ग' वर्ण है, जिसको मैंने पढ़ा या सुना था, यह वही पद्य है, जिसको गत वर्ष गुरुजी ने याद कराया था। यह प्रत्यभिज्ञा-मूलक व्यवहार शब्द की स्थिरता का बोध कराता है। इतनी स्थिरता मानने पर उसकी नित्यता में कोई बाधा नहीं रहजाती ॥३५॥

शिष्यों की आशंका के आशय को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुतकर आचार्य सूत्रकार समाधान करता है—

संदिग्धाः सति बहुत्वे ॥३६॥ (११५)

[संदिग्धाः] संदिग्ध हैं (अनैकान्तिक हैं, पूर्वोक्त हेतु) [सति] होने पर [बहुत्वे] नानाओं-अनेकों अस्थिरों में।

जो नित्यरूप अथवा स्थिर नहीं हैं, उनमें उक्त हेतुओं का प्रयोग देखे जाने से वे हेतु सन्दिग्ध हैं, किसी एक अर्थ के निश्चायक नहीं। सर्वसम्मत अनित्य विषयों में उनका प्रयोग व व्यवहार होने से–अभिमत (नित्य) से विपरीत (अनित्य) अर्थ में प्रवृत्त होने से–वे हेतु अनैकान्तिक हैं।

वर्णात्मक शब्द के नित्य होने में तीन हेतु सुझाये गये–अध्ययनाध्यापन, आवृत्ति –अभ्यास, प्रत्यभिज्ञान। पहला—अध्ययनाध्यापन जैसे वर्णात्मक शब्दों द्वारा सम्पन्न होता है; ऐसे नृत्य आदि का क्रिया द्वारा संपन्न होता देखा जाता है। प्रयोग होता है—'नृत्यमधीते, नृत्यमध्यापयति' आजकल वह नृत्य का अध्ययन करता है, नृत्य सीखता है; वह नृत्य का अध्यापन कराता है, नृत्य सिखाता है। ऐसे प्रयोग व व्यवहार में कोई असांगत्य नहीं है। नृत्य एक क्रियारूप है—विशेष प्रकार की अंग भंगिमा, एक नियत क्रमिक व्यवस्था के रूप में अंगों का चालन व अभिनय। निश्चय ही यह सब क्रियारूप है, और क्रिया आशुविनाशी व अस्थिर होती है। यह भी अध्ययनाध्यापन का रूप होने से वह [अध्ययनाध्यापन] शब्द की नित्यता का साधक नहीं होसकता। अनित्य शब्द द्वारा भी वैसा होना संभव है।

दूसरा हेतु—आवृत्ति व अभ्यास भी नृत्य में देखा जाता है। 'द्विरनृत्यत्' वह दो बार नाचा, वह तीन बार नाचा; यह क्रियारूप नाच में 'दो वार' या 'तीन वार' इत्यादि आवृत्ति व अभ्यास के देखेजाने से यह हेतु भी नित्यता का साधक नहीं मानाजासकता।

तीसरा हेतु—प्रत्यभिज्ञान भी ऐसा ही है। प्रत्यभिज्ञान के आधार पर जैसा व्यवहार शब्द के विषय में होता है, वैसा सर्वथा अस्थिर क्रियात्मक नृत्य के विषय में। आज जो नृत्य हमने चित्रवर्मा का गाजियाबाद में देखा, यह वही नृत्य है, जो हमने दो वर्ष पूर्व लखनऊ में देखा था। यह व्यवहार किसी तरह अयथार्थ नहीं है। इसलिये यह हेतु अनित्य विषय में प्रवृत्त होने से शब्द के नित्यत्व का साधक नहीं माना जासकता।

अध्ययनाध्यापन आदि में गुरु के द्वारा कुछ दियाजाता हो, और शिष्यों के द्वारा ग्रहण कियाजाता हो; ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः अध्यापन है क्या ? जैसे नृत्य आदि में शिष्य गुरु की अंग-क्रियाओं का अनुकरण करता है, ऐसे ही गुरु के द्वारा उच्चरित वर्ण-समुदाय का शिष्य अर्थबोध सहित अनुकरण करता है, यही अध्ययनाध्यापन है। पद और अर्थ का वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध शिष्य को प्रथम ज्ञात है; यदि किन्हीं का ज्ञात नहीं होता, तो उस समय पूछने पर बता दियाजाता है। इस सब व्यवहार के लिये शब्द की नित्यता अपेक्षित नहीं

रहती। नियत आनुपूर्वीवाले वर्णसमुदाय को सुनने पर अर्थबोध होता है, वही व्यवहार आगे चलता रहता है; यह अनुकरण का रूप है।

उत्तमवृद्ध-व्यवहार आदि में यही स्थिति है। बाल्यकाल में अथवा प्रथम किसी दशा में पद का अर्थबोध करा देने पर जब उन वर्ण-समुदाय पदों का उसी आनुपूर्वी में उच्चारण कियाजाता है, तब बोद्धा पूर्वबोधित अर्थ को जानलेता है। इसमें वर्णों का स्थिर होना अपेक्षित नहीं है, केवल उस नियत आनुपूर्वी के साथ उन वर्णों का उच्चरित होना आवश्यक रहता है; भले हा वे वर्ण आशु-विनाशी व अनित्य हों॥३६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, वर्ण अथवा वर्णसमुदाय के विषय में अभ्यास व आवृत्ति की दृष्टि से जो संख्या का निर्देश किया जाता है, वहां भले ही शब्द की स्थिरता अपेक्षित न हो; परन्तु शास्त्र में जहां वर्णों की नियत संख्या का निर्देश किया जाता है; वहां वर्ण को स्थिर माने विना कार्य कैसे चलेगा? जैसे—'त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शब्दागमे मताः' शब्द-शास्त्र में वर्ण केवल त्रेसठ या चौंसठ माने गये हैं। यदि वर्ण स्थिर व नित्य न हों, तो यह संख्या नियत कैसे कीजासकती है? क्योंकि आशुविनाशी मानने पर 'अकार, ककार' आदि वर्णों का उच्चारण अनन्त होता है, उसकी संख्या नियत करना असंभव है। इसी-प्रकार—यह मन्त्र व छन्द आठ अक्षर का है, यह बारह का—इत्यादि व्यवहार है, इसके लिये वर्णात्मक शब्द का नित्य मानना आवश्यक है। सूत्रकार ने समाधान किया—

संख्याभावः सामान्यतः[1] ॥३७॥ (११६)

[संख्याभावः] संख्या का होना [सामान्यतः] सामान्य से—जाति से (होता है)।

वर्णों के विषय में उक्त प्रकार से संख्या का निर्देश समान वर्णों में रहनेवाली एक जाति के आधार पर है। अतीत, वर्त्तमान, अनागत कालों में उच्चरित होने वाले 'अकार, ककार' आदि अनन्त समान वर्णों में समवेत 'अत्व, कत्व' आदि जाति के आधार पर वर्ण की नियत संख्या का आचार्यों ने निर्देश किया है।

मानव शरीर की रचना के अनुसार विशिष्ट अंगों के सहयोग से शब्द का उच्चारण होता है, उच्चारण की विभिन्न ध्वनियों को चिह्नों द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट रेखाओं के रूप में कुछ संकेत हैं, वे वर्ण कहाते हैं।

---

१. 'सामान्यवतः' अ० प्रा०। इसके आगे इसी व्याख्या में 'संप्रतिपत्तिभावाच्च', इस सूत्र को पुनः पढ़ा है।

विभिन्न भाषाओं व बोलियों के संकेत विभिन्न व न्यूनाधिक होसकते हैं; पर भारतीय भाषाओं के लिये—अथवा उन ध्वनियों की दृष्टि से—जो संकेत निर्धारित किये गये हैं; उनकी संख्या त्रेसठ व चौंसठ हैं। उनमें समस्त ध्वनियों का समावेश है, जो उच्चारण में संभावित हैं। उन्हींकी समानताके आधार पर वर्णों का वर्गीकरण है। किसी काल में किसी व्यक्ति के द्वारा कोई ध्वनि उच्चरित हो, वह अपने उसी निर्धारित वर्ग में समाविष्ट रहती है। उसी आधार पर वर्णों की संख्या का निर्देश है।

ध्वनियों की विशृंखलित सूक्ष्मताओं का ध्यान कर यदि यह कहाजाय, कि वर्णों या संकेतों की इसप्रकार संख्या का नियत कियाजाना युक्त न होगा; तो यह कहाजाना किसी सीमा तक सत्य है। फिर भी समय व आवश्य-कता के अनुसार तात्कालिक आचार्यों द्वारा पूर्वनिर्धारित संकेतों में विशिष्ट चिह्नों द्वारा उस न्यूनता को पूरा कर लिये जाने पर वर्णों की नियत संख्या में किसी विशेष परिवर्तन की अपेक्षा नहीं रहती। कभी कुछ न्यूनाधिक होजाने पर संख्या वहीं लटकी रहती है, अथवा कहिये अटकी रहती है। वर्त्तमान संस्कृत व भारतीय भाषाओं में संस्कृत-वर्णमाला के 'लृ' वर्ण का प्रयोग नष्टप्राय होगया है। मन्त्रों व छन्दों आदि में वर्णो की संख्या का निर्देश भी उनकी समानता व वर्गी-करण के आधार पर समझना चाहिये ॥३७॥

इति द्वितीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्।

द्वितीयाध्यायः सम्पूर्णः।

अथ तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम्

द्वितीयाध्याय में बाह्य द्रव्यों की परीक्षा प्रस्तुत कीगई। क्रमप्राप्त आत्मा की परीक्षा के लिये सूत्रकार अपेक्षित भूमिका आरम्भ करता है—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥ (११७)

[प्रसिद्धाः] प्रसिद्ध हैं, निश्चयपूर्वक जाने हुए हैं, [इन्द्रियार्थाः] इन्द्रियों के अर्थ-विषय-ग्राह्य, अथवा इन्द्रिय और अर्थ दोनों।

बाह्येन्द्रियों में ज्ञानेन्द्रिय पांच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र। सूत्र के 'अर्थ' पद का तात्पर्य है—विषय अथवा ग्राह्य। इन्द्रियों के विषय, अथवा इन्द्रियां जिनको ग्रहण करती हैं। वे अर्थ हैं यथाक्रम—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। ये सब क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के विशेषगुण हैं। घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। रसन रस का, चक्षु रूप का, त्वक् स्पर्श का, श्रोत्र शब्द का। इसमें हमने देखा, जिस इन्द्रिय का जो उपादान द्रव्य है, वह इन्द्रिय उस द्रव्य के विशेष-गुण—असाधारणगुण का ग्रहण करता है। यद्यपि आकाश और श्रोत्र का परस्पर उपादानोपादेयभाव नहीं, श्रोत्र इन्द्रिय आकाशरूप ही मानाजाता है; पर अन्य उपादान द्रव्यों की श्रेणी में ऐसा उल्लेख कोई आपत्तिजनक नहीं है। फलतः ये इन्द्रियां हैं, ये उनके ग्राह्य विषय हैं; यह स्थिति प्रसिद्ध है, सर्वजनविदित है, इसकी सिद्धि के लिये अन्य किसी हेतु की आवश्यकता नहीं ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, इस प्रसिद्धि का प्रस्तुत प्रसंग में क्या प्रयोजन है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः[1] ॥२॥ (११८)

[इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः] इन्द्रिय अर्थ की प्रसिद्धि [इन्द्रियार्थेभ्यः] इन्द्रिय और अर्थों से [अर्थान्तरस्य] किसी भिन्न अर्थ की [हेतुः] साधक है।

इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध की उक्त जानकारी इन्द्रिय और उनके विषयों से भिन्न किसी अर्थतत्त्व को सिद्ध करती है। 'इन्द्रियां किन्हीं नियत विषयों का

---

१. **इस सूत्र के स्थान पर दो सूत्र इसरूप में उपलब्ध हैं—"इन्द्रियार्थप्रसिद्धि-रिन्द्रियार्थेभ्यः ॥२॥ इन्द्रियार्थप्रसिद्धे रिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥३॥" अ० प्रा०।**

ग्रहण करती हैं' यह ऐसा व्यवहार व प्रयोग है, जैसे कोई कहे, कि कुल्हाड़ी लकड़ी को काटती है। वस्तुतः सत्य यह है—कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी से लकड़ी को काटता है। कुल्हाड़ी लकड़ी काटे जाने का साधन है, काटनेवाला कर्त्ता वह व्यक्ति है, जो इस कार्य के लिये कुल्हाड़ी का प्रयोग करता है। इसीप्रकार 'घ्राण गन्ध को ग्रहण करता है' इसका तात्पर्य है—घ्राण से गन्ध को ग्रहण कियाजाता है, अर्थात् गन्ध को ग्रहण करने का एक साधन है—घ्राण। घ्राण करण है, गन्धग्रहण अर्थात् गन्धज्ञान कार्य है; इस कार्य का कर्त्ता कौन है? ज्ञातव्य है।

ज्ञान का कर्त्ता व आश्रम देह नहीं, क्योंकि वह जड़ है, अचेतन है, ज्ञानरहित है। मन भी इसका आश्रय संभव नहीं, क्योंकि वह स्वयं करण है। जैसे इन्द्रियां विषयग्रहण अर्थात् विषयज्ञान के बाह्य साधन हैं, ऐसे मन आन्तरिक साधन है। एक बाह्य इन्द्रिय एक नियत विषय का ग्रहण करती है, चक्षु से रूप का ग्रहण होता है, गन्धादि का नहीं; घ्राण से केवल गन्ध का, अन्य किसी रूप रसादि का नहीं। परन्तु मन रूपादि सभी विषयों के ग्रहण करने में साधन होता है। विषय का ग्रहण करने के समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध रहता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होपाता है। इसीकारण युगपत् अनेक ज्ञान नहीं होते, एक समय में एक ज्ञान का होना मन के करण होने का लिङ्ग है। बाह्य इन्द्रियां नियतविषय और मन अनियतविषय मानाजाता है।

स्वयं इन्द्रियां उसी ज्ञान के कर्त्ता व आश्रय नहीं मानेजासकते। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है—मैंने जिस आम को देखा सूंघा और छुआ था उसीको चूस रहा हूं, उसके मधुर रस का स्वाद लेरहा हूं। पहले यह जाना-जाचुका है, कि एक इन्द्रिय एक नियत विषय का ग्रहण करती है, परन्तु उक्त प्रतीति में रूप, गन्ध, स्पर्श और रस का ग्रहण करने वाला एक ग्रहीता भासरहा है। इसलिये इस ग्रहण का आश्रय इन्द्रियां संभव नहीं। तब देह, इन्द्रिय और मन से अतिरिक्त एक ऐसे द्रव्य को मानना पड़ता है, जो इसप्रकार के ज्ञान का कर्त्ता व आश्रय है। ज्ञानाश्रय होने से वह चेतन तत्त्व है। इसप्रकार इन्द्रियों से अर्थ की प्रसिद्धि अर्थात् ज्ञान, इन्द्रिय और अर्थों से अतिरिक्त ज्ञानाश्रय द्रव्य का साधन है, यह स्पष्ट होता है। इसी भाव को सूत्रकार ने अग्रिम सूत्रों में अभिव्यक्त किया है ॥२॥

शिष्यों ने जिज्ञासा की, इन्द्रियार्थप्रसिद्धि अर्थात् इन्द्रियों द्वारा होनेवाले अर्थों के ज्ञान का आश्रय देहादि को मानलेना चाहिये; देहादि के अतिरिक्त किसी ज्ञानाश्रय द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ होगा। लोक में ज्ञानी, सुखी, दुःखी आदि व्यवहार देहादि के साथ संपन्न होता देखाजाता है। आचार्य सूत्रकार ने

बताया—

सोऽनपदेशः ॥३॥ (११९)

[सः] वह [अनपदेशः] अहेतुक है।

ऐसे कथन में कोई हेतु नहीं, कि ज्ञान के आश्रय देहादि हैं। देहादि भौतिक रचना है। देहादि को ज्ञान का आश्रय कहना भूतचैतनिकवाद है, यह वाद अहेतुक है, इस वाद को सिद्ध करने के लिये कोई हेतु दिखाई नहीं देता ॥३॥

उक्त वाद में हेतुहीनता को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

कारणाज्ञानात् ॥४॥ (१२०)

[कारणाज्ञानात्] कारणों में ज्ञान न होने से, अथवा कारणों के ज्ञानरहित होने से।

देहादि कार्य भौतिक रचना है। भौतिक कार्यों में यह व्यवस्था है, कि कार्यों में जो गुण होते हैं, वे कारणगुण-पूर्वक होते हैं। कारण के गुणों से ही कार्य में गुण उत्पन्न हुआ करते हैं। देहादि के जो अवयव कारण हैं, उनके भी जो कारण हैं, मूल अवयव, वे पृथिव्यादिरूप परमाणु हैं। वे परमाणु ज्ञान-गुण से रहित होते हैं। जब मूल कारण में ज्ञान-गुण नहीं, तो उसके कार्य देहादि में कैसे मानाजा-सकता है? इसलिये देहादि को ज्ञानाश्रय कहना अहेतुक है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करते हैं, यदि देहादि के कारण परमाणुओं में ज्ञान अर्थात् चैतन्य को सूक्ष्मरूप से मानलियाजाय, तो क्या हानि है? देहादि कार्यों में वह स्पष्टरूप से अभिव्यक्त होजाता है। सूत्रकार ने बताया—

कार्येषु ज्ञानात्[1] ॥५॥ (१२१)

[कार्येषु] कार्यों में [ज्ञानात्] ज्ञान की प्रसक्ति से।

यदि देहादि कार्यों के कारण परमाणुओं में ज्ञान सूक्ष्मरूप से रहता, तथा देहादि कार्यों में अभिव्यक्त होजाता है, ऐसा मानाजाय, तो उन्हीं पृथिव्यादि परमाणुओं से उत्पन्न होनेवाले घट पटादि पदार्थों में देहादि के समान ज्ञान उपलब्ध होना चाहिये। न होने से स्पष्ट होता है, परमाणुओं में चैतन्य न सूक्ष्मरूप से रहता है, न अन्य किसी प्रकार से। इसलिये चैतन्य-ज्ञान का आश्रय देहादि को मानना सर्वथा अहेतुक है ॥५॥

प्रकारान्तर से इसी भाव को सूत्रकार ने पुनः स्पष्ट किया—

---

१. 'कार्याज्ञानात्' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

अज्ञानाच्च[1] ॥६॥ (१२२)

[अज्ञानात्] ज्ञान रहित अथवा ज्ञानशून्य होने से [च] और अथवा भी।

ज्ञानशून्य कारणों से यदि ज्ञानयुक्त देहादि उत्पन्न होजाते हैं, तो घटादि भी ज्ञानयुक्त होने चाहियें। यहां प्रश्न यह है, कि मूलकारण—परमाणुओं में ज्ञान चाहे सूक्ष्म-रूप से मानाजाय अथवा अन्य किसी प्रकार से; पर मुख्य बात यह है, कि परमाणुओं में ज्ञान को स्वीकार कर उनके कार्यों में कारणगुणपूर्वक ज्ञान-गुण की उत्पत्ति मानीजाती है; अथवा कारण में ज्ञान न रहने पर भी—कारणगुणपूर्वक कार्य में गुणोत्पत्ति की व्यवस्था का उल्लंघन करके—कार्य में ज्ञानोत्पत्ति को स्वीकार कियाजाता है? दोनों अवस्थाओं में यह होना संभव नहीं, कि किन्हीं कार्यों में ज्ञान की उत्पत्ति होजाय, और किन्हीं में न हो।

यदि परमाणुओं में ज्ञान रहने पर देहादि में उत्पन्न होता है, तो समान कारण होने से घटादि में भी उत्पन्न होना चाहिये। यदि परमाणुओं में न रहते हुए ही देहादि कार्य में ज्ञान उत्पन्न होता है, तो घटादि में क्यों उत्पन्न नहीं होता? वहां भी होना चाहिये। इस अव्यवस्था से, तथा कार्य की स्थिति से कारण की स्थिति का ज्ञान होने से यह स्पष्ट होता है, कि परमाणुओं में ज्ञान नहीं रहता; इसी कारण देहादि को ज्ञानाश्रय कहना सर्वथा अहेतुक है। इन सूत्रों में तृतीय सूत्र से 'अनपदेशः' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये।

प्रस्तुत प्रसंग का स्वारस्य यह अभिप्राय प्रकट करने में है, कि जैसे गन्धादि गुणों से उनके आश्रय पृथिव्यादि द्रव्यों के अस्तित्व का बोध होता है; ऐसे ही ज्ञान-गुण से उसके आश्रय आत्मा द्रव्य का अनुमान होता है। तथा वसूला एवं कुल्हाड़ी आदि करणों से जैसे उनके अधिष्ठाता बढ़ई आदि का बोध होता है; ऐसे ही घ्राण आदि करणों से उनके अधिष्ठाता आत्मा का अनुमान किया जाता है ॥६॥

याथार्थ्य को पूर्णरूप से न समझते हुए शिष्य आशंका करते हैं; ज्ञान व करणों से यथाक्रम आश्रयरूप में एवं अधिष्ठातृरूप में आत्मा का अनुमान होना बताया गया। यहां ज्ञातव्य है—ज्ञान एवं आत्मा तथा करण व आत्मा परस्पर अभिन्न हैं, या भिन्न? दोनों अवस्थाओं में अनुमान होना संभव नहीं। शिष्यों के भाव को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार ने अगले दो सूत्र कहे—। अथवा स्थूणा-निखननन्याय के अनुसार प्रस्तुत प्रसंग सूत्रकार ने बोध्य-बोधक संबन्ध को स्पष्ट करने के लिये पूर्वपक्षरूप से कहा—

---

१. चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने पांचवें और छठे सूत्र को एक ही सूत्र माना है।

अन्यदेव[1] हेतुरित्यनपदेश : ॥७॥ (१२३)

[अन्यत्] अन्य [एव] ही (लिङ्ग) [हेतुः] हेतु (होता है), [इति] इस कारण [अनपदेश :] अपदेश—हेतु नहीं।

ज्ञान और आत्मा के एवं करण और आत्मा के अभिन्न माने जाने में प्रस्तुत सूत्र से दोष उपस्थित कियागया है। यदि ज्ञान और करण आत्मा से अभिन्न हैं, तो ये आत्मा के लिङ्ग नहीं होसकते। ज्ञान और करण लिङ्ग है, आत्मा लिङ्गी है; अथवा ज्ञान और करण हेतु हैं आत्मा साध्य है। साध्य और हेतु एक नहीं होसकता, यदि लिङ्ग ही लिङ्गी है, तो लिङ्ग से लिङ्ग का बोध बताना निरर्थक है। साध्य से भिन्न लिङ्ग साध्य का साधक अर्थात् हेतु होता है। इसलिये ज्ञान अथवा करण-लिङ्ग को अभिन्न कहाजाता है, तो वह अनपदेश है-अहेतु है; हेतु नहीं होसकता। तृतीय सूत्र से 'अनपदेश,' पद की अनुवृत्ति संभव थी, पुनः 'अनपदेशः' पद का पाठ पूर्व प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है। ॥७॥

ज्ञान और करण के आत्मा से भिन्न होने में दोष देता है—

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेश : ॥८॥ (१२४)

[अर्थान्तरं] एक भिन्न अर्थ [हि] कोई भी [अर्थान्तरस्य] किसी दूसरे अर्थ का [अनपदेशः] अपदेश-हेतु नहीं होता।

यदि कोई भी भिन्न अर्थ किसी दूसरे अर्थ का हेतु हुआ करे, तो रासभ से वह्नि का अनुमान होजाय, गन्ध से तेज का, रूप से वायु का, रस से आकाश का अनुमान होजाया करे; पर ऐसा संभव नहीं। इसलिये लिङ्ग-लिङ्गी को भिन्न मानने पर भी उनका परस्पर साध्य-साधक भाव नहीं बनता। ऐसी दशा में यथार्थता का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है।

यहां यह समझ रखना चाहिये—लिङ्ग और लिङ्गी के अभेद तथा भेद से उनके तादात्म्य एवं तदुत्पत्ति-सम्बन्ध को प्रकट करना है। तादात्म्य-सम्बन्ध पूर्व कथनानुसार संभव नहीं, तदुत्पत्ति सम्बन्ध में भी कार्य और कारण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। वैशेषिक शास्त्र कार्य-कारण में भेदवादी हैं। जहां कार्य-कारणभाव है, और जहां कार्य-कारणभाव नहीं है; दोनों जगह अर्थान्तरता समान है। ऐसी स्थिति में अर्थान्तर होते हुए कहां साध्य-साधनभाव होता है, कहां नहीं? इसका स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। गत सूत्र से 'अनपदेशः' पद की अनुवृत्ति संभव थी, पुनः 'अनपदेशः' पद का पाठ अतिरिक्त दोष के उद्भावन को प्रकट करता है। ॥८॥

---

१. 'अन्य एव' अ० प्रा०। चन्द्रा०।
२. 'हि' पद पठित नहीं है, अ० प्रा०। यह सूत्र नहीं, चन्द्रा०।

पूर्वपक्ष की इस भावना को ध्यान में रखते हुए सूत्रकार ने बताया—

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि,[1] च ॥६॥ (१२५)

[संयोगि] संयोग संबन्धवाला [समवायि] समवाय संबन्धवाला [एकार्थ-समवायि] एक अर्थ में समवाय संबन्ध से रहने वाला [विरोधि] परस्पर प्रतिकूल [च] और।

सूत्र के 'संयोगि' आदि पद नपुंसक 'लिङ्ग' पद के विशेषणरूप में प्रयुक्त हैं। लिङ्ग, साधन, हेतु ये पर्याय पद हैं। साध्य के साथ हेतु के अनेक संबन्धों का निर्देश कर आचार्य सूत्रकार ने यह अभिव्यक्त किया, कि साध्य-साधन का परस्पर कोई एक तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति आदि संबन्ध नियत नहीं है। साध्य-साधन के लिये उनके परस्पर साहचर्य-नियम की जानकारी का होना आवश्यक है, उसके रहते जो सम्बन्ध उनका संभव हो, उसे स्वीकार कर लेना उपयुक्त है। साध्य-साधन के साहचर्य-नियम की आवश्यकता को सूत्रकार ने आगे [सूत्र १४] स्पष्ट किया है।

संयोग संबन्ध वाला हेतु, जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान होता है; त्वक् से शरीर का; सुपथ पर जाते हुए रथ आदि सवारी से सारथि का। इनमें साहचर्य-नियम की जानकारी का होना आवश्यक है। धूम अग्नि के बिना नहीं होसकता; जीवित शरीर त्वक् के बिना नहीं रहता; ठीक मार्गपर रथ, मोटर आदि किसी सवारी का चलना संचालक के बिना संभव नहीं होता। इनका परस्पर साहचर्य निश्चित है। इन सब स्थलों में साध्य [अग्नि, शरीर, सारथि आदि] के साथ हेतु [धूम, त्वक्, रथ आदि] का संबन्ध संयोग है।

समवाय संबन्धवाला हेतु, जैसे—शब्द से आकाश का अनुमान कियाजाता है। शब्द हेतु है, आकाश साध्य है। शब्द आकाश में समवाय-संबन्ध से रहता है। स्पर्श से वायु का अनुमान[2] होता है। ज्ञान-गुण से आत्मा का अनुमान होता है। यद्यपि इन सब स्थलों में साध्य-साधन का कार्य-कारणभाव है; और कार्य से कारण का अनुमान होना कहा जासकता है; परन्तु कार्य-कारणभाव धूम और अग्नि में भी है, वहां भी धूम कार्य से अग्नि कारण का अनुमान किया-जाता है। आचार्य प्रस्तुत प्रसंग में साध्य-साधन के सम्बन्ध को समझाना चाहता

---

१. 'च' नहीं हैं, अ० प्रा०। संख्या ६ से १३ तक पांच सूत्रों के स्थान पर चन्द्रानन्दीय व्याख्या में एक सूत्र इसप्रकार पठित है—'संयोगि, समवायि, एकार्थ-समवायि, विरोधि च। कार्यं कार्यान्तरस्य, कारणं कारणान्तरस्य। विरोध्यभूतं भूतस्य, भूतमभूतस्य, अभूतमभूतस्य, भूतं भूतस्य।'

है; साध्य-साधन का कार्य-कारणभाव चाहे किसी प्रकार का हो। अग्नि धूम का निमित्त-कारण होता है, समवायिकारण नहीं[1] ॥६॥

एकार्थसमवायि सम्बन्ध का उदारण सूत्रकार स्वयं उपस्थित करता है—

कार्यं कार्यान्तरस्य[2] ॥१०॥ (१२६)

[कार्यम्] एक कार्य [कार्यान्तरस्य] अपने से भिन्न कार्य का (साधन होता है)।

पटसमवेत 'रूप' एक कार्य है; पटसमवेत स्पर्श अन्य कार्य है। जहां 'रूप' रहता है, वहां 'स्पर्श' का रहना आवश्यक है, स्पर्श को छोड़कर रूप नहीं रह-सकता। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहां रूप रहता हो, पर स्पर्श न रहता हो। इनका साहचर्य नियत है। जब पटसमवेत रूप का प्रत्यक्ष होता है, उससे पट-समवेत स्पर्श का अनुमान होजाता है—रूपसमवेत पट में स्पर्श अवश्य है। साध्य-स्पर्श और साधन-रूप का संबन्ध एकार्थसमवायित्व है। रूप जिस पट-अर्थ में समवेत है, उसी अर्थ में स्पर्श समवेत है। ऐसे ही पृथिवीसमवेत गन्ध पृथिवीसमवेत रूप-रसादि के अस्तित्व में साधन होता है। जहां गन्ध रहता है, वहां रूप-रस अवश्य रहते हैं ॥१०॥

सूत्रकार ने 'विरोधि', लिङ्ग के उदाहरण अग्रिम सूत्रों द्वारा स्वयं इसप्रकार उपस्थित किये—

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥११॥ (१२७)

[विरोधि] विरोधी (हेतु होता है, जैसे-) [अभूतं] न होना (किसी कार्य का, अपने विरोधी के) [भूतस्य] विद्यमान होने का (अनुमापक होता है)।

---

२ अनेक आचार्य चक्षु के समान त्वक् को द्रव्यग्राहक इन्द्रिय मानते हैं। स्पर्श के साथ स्पर्शवद् द्रव्य-वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है। परन्तु जो आचार्य ऐसा नहीं मानते, उनके अनुसार यह उदाहरण है।

१. शङ्करमिश्र ने समवायि का उदाहरण आकाश अधिकरण में परिमाण साध्य के लिये द्रव्यत्व हेतु दिया है—'आकाशं परिमाणवत्'। यहां 'परिमाण' साध्य और 'द्रव्यत्व' हेतु का परस्पर संबन्ध द्रष्टव्य है। यह उदारहण 'समवायि' का न होकर 'एकार्थसमवायि' का होसकता है। 'परिमाण' साध्य और 'द्रव्यत्व' साधन दोनों एक अर्थ—आकाश में समवेत रहते हैं। इस सम्बन्ध से द्रव्यत्व हेतु आकाश में परिमाण को सिद्ध करता हैं; जैसे किसी द्रव्य में रूप स्पर्श को।

२ इस सूत्र के आगे 'कारणं कारणान्तरस्य' एक अन्य सूत्र है। अ० प्रा०।

बादल अड़े हैं, वर्षा नहीं होरही, वर्षा का न होना, वर्षा के विरोधी–विघारक वायु और अभ्र (बादल) के संयोग–का अनुमान कराता है। बादलों की घटा छाये रहने पर जब बादलों के साथ–वर्षा के विरोधी–विघारक वायु का सम्बन्ध रहता है, वह वर्षा को नहीं होने देता। वर्षा का न होना अपने विरोधी-वायु की उपस्थिति का अनुमान कराता है।

विरोधी का अनुमान तीन प्रकारों में सामने आता है। किसी कार्य के 'न होने' और 'होने' से विरोधी के 'होने' व 'न होने' का अनुमान तथा दोनों की उपस्थिति में एक की विशिष्ट स्थिति से दूसरे की विद्यमानता का अनुमान। पहले प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत सूत्र में दियागया ॥११॥

दूसरे प्रकार का उदाहरण सूत्रकार ने बताया—

भूतमभूतस्य ॥१२॥ (१२८)

[भूतम्] हुआ कार्य [अभूतस्य] अविद्यमान विरोधी का (अनुमान करा-देता है)।

गतसूत्र में दिये उदाहरण को उलट दीजिये। बादल घहराये, वर्षा होगई। वर्षा का होना, विरोधी वायु की अविद्यमानता का बोधक होता है। समाज में भ्रष्टाचार का फैलना न्याय्य प्रशासन की अविद्यमानता का बोध कराता है। रोग का होना स्वास्थ्यनियमों के पालन न कियेजाने का अनुमान कराता है ॥१२॥

तीसरे प्रकार का उदाहरण सूत्रकार ने बताया—

भूतो[1] भूतस्य ॥१३॥ (१२९)

[भूतः] विद्यमान (विरोधी हेतु) [भूतस्य] विद्यमान विरोधी का (अनुमान करा देता है)।

फुफकारते हुए सांप को देख-सुनकर झाड़ी की ओट में छिपे नकुल [नेवले] का अनुमान होजाता है। यहां साध्य [नेवला] और साधन [फुफकारता सांप] दोनों एक दूसरे के विरोधी विद्यमान हैं। साधन की विशेष स्थिति, विरोधी–विद्यमान अन्तर्हित नकुल–का अनुमान करा देती है। इसके विपरीत नेवले की विशेष दौड़-धूप से उसके विरोधी छिपे हुए सांप का अनुमान होजाता है। दोनों

---

१. अ० प्रा० में सूत्रपाठ 'भूतं भूतस्य' है। इसके आगे एक अतिरिक्त सूत्र पठित है —'अभूतमभूतस्य' अविद्यमान कार्य अविद्यमान कारण का' तथा अविद्यमान कारण अविद्यमान कार्य का बोधक होता है। न हुई वर्षा अविद्यमान मेघ का; तथा अविद्यमान मेघ न होनेवाली वर्षा का अनुमान करा देते हैं। व्याख्या में दियागया यह उदाहरण विरोध का कैसे है? विचारणीय है।

विद्यमान विरोधियों में कोई भी साध्य या साधन हो, एक साधन से दूसरे का अनुमान होता है। इनका परस्पर संबन्ध विरोध या प्रातिकूल्य है। इसप्रकार साध्य-साधन के परस्पर संभावित सम्बन्ध का उपपादन किया गया। यहां अकथित अन्य संबन्ध कहीं संभव हों, तो उनके मानने में कोई बाधा नहीं। सूत्रकार का प्रस्तुत निर्देश पथप्रदर्शनमात्र है ॥१३॥

आत्मा की सिद्धि के लिये पहला हेतु दियागया, ज्ञानगुण का कोई आश्रय द्रव्य होना चाहिये, वह द्रव्य आत्मा है; जैसे गन्धादि गुणों के आश्रय पृथिव्यादि द्रव्य हैं। दूसरा हेतु बताया गया–घ्राण आदि करण किसी अधिष्ठाता से प्रेरित होने चाहियें, जैसे कुल्हाड़ी आदि करण (साधन) चैत्र आदि अधिष्ठाता द्वारा छिदा आदि क्रिया के लिये प्रयुक्त होते हैं। शरीर में घ्राण आदि करणों का अधिष्ठाता आत्मा है। इस विषय में साध्य-साधन के सम्बन्ध की जिज्ञासा कीगई थी, जिसका विस्तृत विवेचन कियागया। फलस्वरूप पूर्वोक्त हेतु यथार्थ हैं, हेत्वाभास नहीं। क्योंकि—

प्रसिद्धि[1]पूर्वकत्वादपदेशस्य ॥१४॥ (१३०)

[प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्] प्रसिद्धिपूर्वक होने से [अपदेशस्य] अपदेश के।

'अपदेश पद हेतु का पर्याय है। जिसके द्वारा किसी के अस्तित्व को उभारा जाय, कहाजाय, उपपादन कियाजाय। साध्य का उपपादन हेतु द्वारा होता है। वह हेतु कैसा होना चाहिये? सूत्र के 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वात्' पद से स्पष्ट किया। हेतु प्रसिद्धिपूर्वक होना चाहिये। 'प्रसिद्धि' पद का तात्पर्य है—साध्य-साधन का सर्वविदित सम्बन्ध, अर्थात् साध्य-साधन के नियत साहचर्य की यथार्थ जानकारी; इसीका नाम व्याप्तिज्ञान है। साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति का ज्ञान। साध्य के क्षेत्र को हेतु व्याप्त कर रहा हो, न न्यून न अधिक। यदि क्षेत्र के किसी अंश को छोड़ेगा, न्यून में रहेगा, तो अव्याप्ति दोष से दूषित होगा; तथा साध्य के क्षेत्र से अतिरिक्त अधिक देश में प्रवृत्त होगा, तो वह हेतु अतिव्याप्ति दोष से दूषित होगा। अतः हेतु की यथार्थता के लिये साध्य और हेतु के व्याप्य-व्यापकभाव को जानलेना आवश्यक है। आत्मा की सिद्धि के लिने जो हेतु प्रथम प्रस्तुत कियेगये हैं, वे प्रसिद्धिपूर्वक होनेसे निर्दोष हैं ॥१४।

शिष्य जिज्ञासा करता है, हेतु में दोष होने से वह यथार्थ हेतु नहीं रहता, हेत्वाभास कहाजाता है। वे दोष क्या होते हैं? सूत्रकार ने बताया—

१—'प्रसिद्धपूर्व०' चन्द्रा०

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः[1] ॥१५॥ (१३१)

[अप्रसिद्धः] प्रसिद्धि से रहित [अनपदेशः] अपदेश—हेतु नहीं (अर्थात् अहेतु है—हेत्वाभास है) [असन्] न रहता हुआ (साध्याधिकरण में), [सन्दिग्धः] सन्देह से युक्त [च] और [अनपदेशः] अहेतु—हेत्वाभास है।

सूत्र में तीन हेत्वाभासों का निर्देश है—पहला जहां प्रसिद्धि-व्याप्ति गृहीत न हो। दूसरा है—जहां साध्याधिकरण में हेतु न रहे, प्रत्युत साध्याभाव के अधिकरण में रहे। तीसरा है—सन्दिग्ध, जो साध्य और साध्याभाव दोनों के अधिकरण में रहे। इनमें असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक अथवा सव्यभिचार हेत्वाभास आजाते हैं। सूत्र के 'च' पद से बाधित और सत्प्रतिपक्ष का संग्रह होजाता है, ऐसा व्याख्याकारों ने माना है। कतिपय व्याख्याकार सूत्रनिर्देश के अनुसार आचार्य के विचार में केवल तीन हेत्वाभासों को मान्यता देते[2] हैं ॥१५॥

इनके उदाहरण अग्रिम दो सूत्रों द्वारा सूत्रकार स्वयं प्रस्तुत करता है—

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः[3]। १६ (१३२)

[यस्मात्] जिस कारण [विषाणी] सींग वाला है, [तस्मात्] उस कारण [अश्वः] घोड़ा है।

यहां अनुमान का प्रयोग है—'अयं अश्वः विषाणित्वात्, शशशृगालादिवत्।' 'अयं' पद से बोधित पक्ष (साध्याधिकरण) यदि रासभ है, तो यह उदाहरण दोनों असिद्ध (आश्रयासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध) और विरुद्ध हेत्वाभास का बनता है। यदि पक्ष अश्व ही है, तो आश्रयासिद्ध नहीं बनेगा। इस अनुमान में 'रासभ' पक्ष, 'अश्वत्व' साध्य और विषाणित्व हेतु है। रासभ पक्ष में अश्वत्व स्वरूप से असिद्ध है। साध्य और हेतु की व्याप्ति नहीं बनती, क्योंकि—जो अश्व है वह विषाणी है—यह कहीं नहीं देखाजाता, इसलिये यही उदाहरण व्याप्यत्वासिद्ध का है। अगृहीतव्याप्तिक हेतु व्याप्यत्वासिद्ध

१—'अप्रसिद्धोऽनपदेशः। असन् सन्दिग्धश्च।' दो सूत्र हैं, अ०प्रा०। 'अप्रसिद्धोऽनपदेशः।' असन् सन्दिग्धश्चानपदेशः।' दो सूत्र हैं, चन्द्रा०।

२. 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्।,'

प्रशस्तपादभाष्य, अनुमान प्रकरण,

प्रस्तुत सूत्र पर जयनारायण भट्टाचार्यकृत-विवृत्ति।

३. अ० प्रा० में यह सूत्र नहीं। 'विषाणी तस्मादश्वो विषाणी तस्माद् गौरिति च।' चन्द्रा०। प्रचलित पाठानुसार ये उदाहरण दो सूत्रों (१६-१७) में दिये गये हैं।

कहाता है। सोपाधिक हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहने पर 'एकशफवत्त्व' उपाधि प्रस्तुत कीजासकती है। यह साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है। जहां अश्वत्व है वहां एकशफवत्व है, यह साध्य के साथ व्याप्ति बन जाती है, पर 'जहाँ विषाणित्व है वहाँ 'एकशफवत्त्व' है, ऐसी साधन के साथ व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि गौ, अजा, महिषी, मृग आदि सभी विषाणी पशुओं के शफ [खुर] चिरे हुए होते हैं। घोड़े आदि का 'सुम' और गौ आदि का 'खुर' कहा जाता है। सोपाधिक हेत्वाभास में वह धर्म उपाधि होता है, जो साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक हो। इसप्रकार यह उदाहरण आश्रयासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध दोनों असिद्ध हेत्वाभासों का बनजाता है। यदि पक्ष में 'रासभ' न होकर 'अश्व' है, तो यह आश्रयासिद्ध का उदाहरण न रहेगा, केवल व्याप्यत्वासिद्ध का होगा।

यही उदाहरण विरुद्ध हेत्वाभास का है। अनुमान का स्वरूप है—'अयं अश्वः, विषाणित्वात्' विरुद्ध हेत्वभास वहां होता है, जहां हेतु साध्याधिकरण में न रहकर साध्याभाव के अधिकरण में रहे। साध्य 'अश्वत्व' है। अश्वत्व के अधिकरण अश्वमात्र में विषाणित्व हेतु नहीं रहता; पर जहां 'अश्वत्व' का अभाव है—गौ, अजा, महिषी आदि में, वहां 'विषाणित्व' रहता है। यह हेतु 'अश्वत्व' का साधक न होकर 'अश्वत्व' के विरोधी 'गोत्व' आदि का साधक है; इसलिये यह विरुद्ध हेत्वभास का उदाहरण है। इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार ने असिद्ध और विरुद्ध दो हेत्वाभासों का उदाहरण प्रस्तुत किया ॥१६॥

अब सन्दिग्ध अर्थात् अनैकान्तिक का उदाहरण सूत्रकार प्रस्तुत करता है—

[1]यस्माद्विषाणी तस्माद्गौरिति चानेकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥ (१३३)

[यस्मात्] जिस कारण से [विषाणी] सींगवाला है [तस्मात्] उस कारण

१. अ० प्रा० में यह सूत्र नहीं है। उदाहरण के दोनों सूत्र इस व्याख्या में नहीं हैं। विशेषरूप से प्रस्तुत सूत्र का अन्तिम भाग 'इति चानैकान्तिकस्योदाहरणम्' सूत्ररचना प्रतीत नहीं होता। अधिक सम्भव है, ये उदाहरण पठन पाठन के समय हस्तलिखित पुस्तकों के हाशियों (प्रान्तभागों) पर कभी लिखेगये हों। अनन्तर प्रतिलिपिकारों के द्वारा मूल पाठ में जोड़ दिये गये हों। मूल लक्षणसूत्र में इस हेत्वाभास के लिये 'सन्दिग्ध' पद दिया गया है, पर यहाँ 'अनैकान्तिक' पद देना ध्वनित करता है, यह सूत्ररचना न होकर व्याख्या-जैसा पाठ है।

से [गौः] गाय है, [इति] यह [च] और [अनैकान्तिकस्य] अनैकान्तिक का [उदाहरणम्] उदाहरण है।

जो हेतु साध्याधिकरण और साध्याभावाधिकरण दोनों स्थलों में रहता है, वह एक अर्थ का निश्चायक न होने से सन्दिग्ध अथवा अनैकान्तिक कहाजाता है। जब 'अयं गौः' यह गाय है, कहकर 'विषाणित्वात्'–सींग वाला होने से–हेतु दिया जाता है; तब यह सन्दिग्ध है। यहाँ पुरोवर्त्ती द्रव्य में गोत्व साध्य है, विषाणित्व हेतु के साथ उसकी [गोत्व की] ऐकान्तिक व्याप्ति नहीं है। जहाँ विषाणित्व है वहाँ गोत्व है, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। कहीं गाय के भी सींग नहीं होते; और जहाँ गोत्व नहीं है भैंस बकरी आदि में, वहां भी सींग रहते हैं। इसप्रकार गोत्व की सिद्धि में विषाणित्व हेतु अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोनों दोषों से दूषित है। एक ही गोत्व अर्थ का साधक न होने से यह सन्दिग्ध है। यदि गाय के सिवाय और किसी पशु के सींग न हुआ करते, तो यह गोत्व का साधक हेतु संभव था ॥१७॥

हेत्वाभासविवेचन से यह स्पष्ट किया, कि आत्मा के अनुमान के लिये जो हेतु प्रस्तुत किये गये, वे यथार्थ हेतु हैं, हेत्वाभास नहीं। इस रूप में प्रसंग का निगमन करते हुए, प्रकारान्तर से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये सूत्रकार ने कहा—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते[1]
तदन्यत् ॥१८॥ (१३४)

[आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्] आत्मा इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से [यत्] जो [निष्पद्यते] सिद्ध होता अथवा उत्पन्न होता है [तत्] वह [अन्यत्] अन्य है (हेत्वाभास से, अथवा हेत्वाश्रित अनुमान से)।

---

१. अ० प्रा० में सूत्र के प्रथम पद का पाठ—'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात्' है। यहां आन्तर इन्द्रिय 'मनस्' का अतिरिक्त निर्देश है। सूत्रकार की भावना संभवतः 'इन्द्रिय' पद से आन्तर-बाह्य उभय इन्द्रिय का ग्रहण कर-लेने में रही हो। 'मनस्' पद का पाठ उसी भावना को स्पष्ट करता है। बाह्य विषय का ग्रहण करने के लिये आत्मा और इन्द्रिय के मध्य में 'मनः-सन्निकर्ष' अनिवार्य है। सुख, दुःखादि की अनुभूति अथवा अन्य किसी प्रकार के बाह्य विषय का ज्ञान आत्मा को मनःसन्निकर्ष के विना संभव नहीं होता। आगे सूत्रकार ने स्वयं [५।२।१५ में] 'सुख-दुःखादि ग्रहण के लिये कहा है—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे।' इसके

सूत्र में 'इन्द्रिय' पद आन्तर और बाह्य उभय इन्द्रिय का बोधक है। आन्तर इन्द्रिय मन है और घ्राण आदि पांच बाह्य इन्द्रियां है। जब किसी बाह्य इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होता है, उस समय मन एवं बाह्य इन्द्रिय का सन्निकर्ष अनिवार्य है; तभी मन का आत्मा से सन्निकर्ष होने पर आत्मा में उस विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान का समवायिकारण आत्मा, असमवायिकारण आत्म-मनःसन्निकर्ष तथा अन्य समस्त साधन निमित्तकारण रहते हैं।

कार्यभूत ज्ञान-गुण दो प्रकार से आत्मा का साधक है, एक कार्य एवं गुण होने से तथा दूसरा प्रत्यभिज्ञान अथवा प्रतिसन्धिज्ञान द्वारा। उत्पन्न हुआ ज्ञान कहीं आश्रित रहना चाहिये, कार्य होने से, अथवा गुण होने से। कार्यत्व अथवा गुणत्व हेतु ज्ञान के किसी आश्रय का बोध कराता है, क्योंकि कोई कार्य अथवा गुण निराश्रित नहीं रहता, ज्ञान के आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य संभव नहीं, इसी आधार पर देह इन्द्रिय आदि ज्ञान के आश्रय नहीं माने जासकते; फलतः ज्ञाना-श्रयरूप में नवम आत्म-द्रव्य सिद्ध होता है।

ज्ञान से आत्मा की सिद्धि दूसरे प्रकार प्रत्यभिज्ञान द्वारा होती है। यह अनुभवसिद्ध है, कि ज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियां एक महत्वपूर्ण साधन है, तब इन्द्रियों को ज्ञान का आश्रय क्यों न मानलिया जाय? अतिरिक्त आत्मा की कल्पना करना व्यर्थ है। इस विषय में समझना है, कि प्रत्येक इन्द्रिय का अपना ग्राह्य विषय नियत है। घ्राण केवल गन्ध का ग्रहण करता है, रूप आदि का नहीं, ऐसे ही चक्षु केवल रूप का, अन्य गुण का नहीं। परन्तु यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को होता देखा जाता है, कि मैंने जिस आम को सूंघा था, उसको हाथ में लेकर चूस रहा हूं, यहां सूंघना, छूना, चूसना क्रियाओं द्वारा गन्ध, स्पर्श, रस का एक आश्रय द्वारा अनुभव कियाजाना प्रतीत होरहा है। गन्ध-स्पर्श-रस ज्ञान एक ही आश्रय द्वारा होने से इसका आश्रय किसी इन्द्रिय का होना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्रहण करती है, गन्ध-रस आदि सबका नहीं। ऐसा ज्ञान प्रतिसन्धिज्ञान कहाता है, जो इन्द्रियादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

अनुसार अ० प्रा० का पाठ अधिक पूर्ण प्रतीत होता है। पर संभव है, प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रधानता प्रकट करने की भावना से 'मनः' पद न पढ़ा हो। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में भी सूत्रपाठ 'मनः' पदघटित है।

सूत्रार्थ की अन्य दिशा—आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अन्य है, भिन्न है–हेत्वाश्रित अनुमान से; अर्थात् वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान जिसको होता है, वह आत्मा समस्त पृथिव्यादि जड़ जगत् से अतिरिक्त है। प्रत्यक्ष ज्ञान होने की परम्परा में कुछ विषय, कुछ साधन और कुछ कर्त्ता हैं,बाह्य अर्थ-विषय, इन्द्रियां तथा मन-साधन एवं आत्मा कर्त्ता है। इन्द्रिय का मन से मन का आत्मा से जो सन्निकर्ष है, वह केवल संयोग है, इन्द्रियां, मन और आत्मा द्रव्य पदार्थ हैं, दो द्रव्यों का सन्निकर्ष संयोग होता है। परन्तु इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष अनेक प्रकार का है। इन्द्रिय द्रव्य तत्त्व है, इसका जिस अर्थ से सन्निकर्ष अपेक्षित है, वह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव आदि होसकता है; इसके साथ इन्द्रिय के जो सम्बन्ध विभिन्न स्थलों में सम्भव हैं, उनकी संख्या छह है।

१. **संयोग**—इन्द्रिय से जब किसी द्रव्य का ग्रहण किया जायगा, तब उनका [इन्द्रिय और अर्थ का] संयोग सन्निकर्ष होगा। द्रव्यग्राहक इन्द्रिय केवल चक्षु मानाजाता है। चक्षु रूपवाले द्रव्य का ग्रहण करता है। चक्षु से घट आदि पदार्थों के ग्रहण में संयोग सन्निकर्ष रहता है। कतिपय आचार्य त्वक् इन्द्रिय को भी द्रव्यग्राहक मानते हैं। वह स्पर्शवाले द्रव्यों का ग्रहण करेगा। पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप कोई द्रव्य हो, त्वक् से उसका ग्रहण करने में संयोग सन्निकर्ष होगा। इसप्रकार चक्षु अथवा त्वक् से जब किसी द्रव्य का ग्रहण करना होता है, तब उनका सन्निकर्ष 'संयोग' है।

२. **संयुक्तसमवाय**—जब किसी इन्द्रिय से द्रव्यवृत्ति गुण कर्म व सामान्य का ग्रहण करना होता है, तब यह सन्निकर्ष रहता है। चक्षु आदि इन्द्रिय से संयुक्त वह द्रव्य है, और द्रव्य में समवेत हैं [समवाय सम्बन्ध से रहते हैं] गुण कर्म, सामान्य। इसप्रकार इन्द्रिय और ग्राह्य विषय [अर्थ] गुण, कर्म, सामान्य का सन्निकर्ष हुआ—संयुक्तसमवाय। चक्षु से घट-गत रूप का प्रत्यक्ष किये जाने में—इन्द्रिय संयुक्त घट, उसमें समवेत रूप। घट में क्रिया होरही है, किसी ने उसे हिला दिया, लुढ़का दिया, क्रिया के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्त घट, उसमें समवेत क्रिया। घट में घटत्व आदि जाति[1] [सामान्य] का प्रत्यक्ष करने में, इन्द्रिय संयुक्त घट, उससे समवेत घटत्व[2] आदि। इसप्रकार द्रव्यगत गुण [शब्द-गुण को

---

१. **'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिस्तदभावश्च गृह्यते।' जिस इन्द्रिय से जो वस्तु ग्रहण कीजाती है, उसमें रहने वाली जाति और उस वस्तु के अभाव का ग्रहण उसी इन्द्रिय से होता है; यह व्यवस्था है।**

२. **आदि पद से घटगत पृथिवीत्व द्रव्यत्व जाति का ग्रहण समझना चाहिये।**

छोड़कर शेष गुण], कर्म व सामान्य के ग्रहण में इस [संयुक्तसमवाय] सन्निकर्ष का उपयोग होता है।

३. **संयुक्तसमवेतसमवाय**—द्रव्यगत गुणों व कर्मों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली गुणत्व, रूपत्व, रसत्व, कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व आदि जाति का ग्रहण करने में इन्द्रिय का ग्राह्य अर्थ के साथ यह सन्निकर्ष होता है। ग्राह्य अर्थ है–गुणत्व आदि जातियां। ग्राहक इन्द्रिय से संयुक्त द्रव्य, द्रव्य में समवेत गुण-कर्म आदि, गुण आदि में समवाय है गुणत्व आदि जातियों का। इसप्रकार इन्द्रिय का गुणत्व आदि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष हुआ। इन्द्रिय-संयुक्त घट; घट में समवेत गुण रूप, गन्ध आदि तथा कर्म, उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि; उनमें समवाय है—गुणत्व, रूपत्व; कर्मत्व, उत्क्षेपणत्व आदि जातिका। यह क्षेत्र प्रस्तुत सन्निकर्ष का समझना चाहिये।

४. **समवाय**—गत पंक्तियों में कहा गया–द्रव्यगत गुण का ग्रहण संयुक्त–समवाय सन्निकर्ष से होता है, परन्तु शब्द गुण को छोड़कर यह व्यवस्था है। कारण यह है, कि घ्राण आदि चार इन्द्रियां अपने पृथिव्यादि उपादान तत्त्वों से उत्पन्न होकर इन्द्रियरूप में अपना पृथक् अस्तित्व रखती हैं। जब इन्द्रिय से गुण का ग्रहण अपेक्षित होता है, तब उस ग्राह्य गुण का आश्रय–इन्द्रिय का उपादान जातीय द्रव्य–इन्द्रिय से भिन्न होता है; इसलिये इन्द्रियसंयुक्त द्रव्य में गुण का समवाय होने से वहां इन्द्रिय का अर्थ के साथ 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष बनता है। परन्तु श्रोत्रेन्द्रिय-ग्राह्य शब्द के विषय में ऐसी व्यवस्था नहीं है; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय उपादान-द्रव्य से उत्पन्न हुआ अतिरिक्त इन्द्रिय-द्रव्य नहीं है; प्रत्युत वह आकाश ही श्रोत्र इन्द्रिय है, जो इस शरीर के विशिष्ट अंग कर्ण के आन्तरिक भाग में अवच्छिन्न-युक्त रहता है, अथवा उस अंग से विशेषित होता है।

देह के उस अंग को श्रोत्र इन्द्रिय नहीं मानाजासकता, क्योंकि वह अंग पार्थिव आदि उपादानों से बना होता है, पार्थिव साधन पृथिवी-विशेषगुण गन्ध का ग्रहण कर सकता है; शब्द आकाश का गुण है, उसका ग्रहण पार्थिव साधन से होना असम्भव है। आकाश विभु द्रव्य है, कोई विभु द्रव्य द्रव्यारम्भक नहीं होता; अर्थात् किसी द्रव्य का समवायिकारण नहीं होता। इसलिये शब्दग्राहक श्रोत्र इन्द्रिय आकाश का कार्य न होकर स्वतः आकाशरूप है। परन्तु आकाश विभु है, सर्वव्यापक है, उसमें इन्द्रियत्व की अभिव्यक्ति उसी प्रदेश में होती है, जो शरीर के विशिष्ट कर्णभाग से युक्त होता है। इसका परिणाम यह हुआ, कि शब्द आकाश का गुण है, आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ग्राह्य अर्थ-शब्द का ग्राहक इन्द्रिय

स्वतः आकाश है, सुनने का साधन होने के कारण उसका इन्द्रियरूप में विशिष्ट नाम 'श्रोत्र' है; आकाशरूप इन्द्रिय का आकाशसमवेत शब्द के साथ 'समवाय' सम्बन्ध बनता है। यह 'समवाय' सन्निकर्ष केवल शब्द-गुण को ग्रहण करने के लिये स्वीकार कियाजाता है।

५. समवेतसमवाय—शब्दवृत्ति शब्दत्व एवं कत्व, खत्व आदि जाति का ग्रहण इस सन्निकर्ष से होता है। शब्द आकाश [श्रोत्र] में समवेत है, वहां 'शब्दत्व' आदि जाति का समवाय है; इसलिये श्रोत्र का 'शब्दत्व' के साथ 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा।

६. **विशेषणता**—छठा सन्निकर्ष है। इसको 'विशेषण-विशेष्यभाव' भी कहाजाता है। यह सन्निकर्ष अभाव का ग्रहण करने के लिये मानाजाता है। अभाव के प्रतियोगी[1] का ग्रहण जिस इन्द्रिय से होता है, उसी इन्द्रिय से उस अभाव का ग्रहण होता है। अभाव अपने अनुयोगी में विशेषणरूप से भासता है। जब कहाजाता है—'भूतले घटाभावः' भूतल में घट का अभाव है। इसका तात्पर्य है—'घटाभाववद् भूतलम्' घटाभाव वाला है भूतल। यहां अभाव का प्रतियोगी घट है और अनुयोगी है—भूतल। अनुयोगी भूतल में 'घटाभाव' विशेषणरूप से प्रतीयमान होरहा है। अभावग्राहक इन्द्रिय का अभाव के अनुयोगी के साथ जो सम्बन्ध बने, उसके आगे 'विशेषणता' पद लगादेने से इन्द्रिय का—ग्राह्य अभाव—अर्थ के साथ सन्निकर्ष अभिव्यक्त होजाता है।

उदाहरण है—'घटाभाववद् भूतलम्' घटाभाव विशेषण और भूतल अनुयोगी विशेष्य है। घट का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय से होता है, घटाभाव का ग्रहण भी चक्षु

---

१. गत पृष्ठ की टिप्पणी में कहा गया—जिस इन्द्रिय से जो अर्थ गृहीत होता है, उस अर्थ में रहनेवाली जाति और उस अर्थ का अभाव उसी इन्द्रिय से गृहीत होते हैं। चक्षु से ग्राह्य घट की घटत्व जाति और घटाभाव का ग्रहण चक्षु से होगा।

जिस वस्तु का अभाव कहजाता है, वह अभाव का 'प्रतियोगी' कहाता है। 'प्रतियोगी' पदका अर्थ है—उलट। अभाव का उलट भाव है। जिस भाव वस्तु का 'अभाव' कहाजायगा, उस अभाव का उलट स्वयं वह भाव वस्तु है। 'घटाभाव' का उलट 'घट' है, इसलिये घट 'घटाभाव' का प्रतियोगी है। घटाभाव भूतल में प्रतीत होरहा है, अतः भूतल 'घटाभाव' का अनुयोगी है। कहना चाहिये—अभाव का अधिकरण, अभाव का अनुयोगी होता है।

इन्द्रिय से होगा। चक्षु इन्द्रिय का अभाव के अनुयोगी भूतल के साथ 'संयोग' सम्बन्ध है, क्योंकि दोनों द्रव्य हैं। भूतल में घटाभाव विशेषण है, इसलिये चक्षु इन्द्रिय का 'घटाभाव' ग्राह्य अर्थ के साथ 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष होगा।

इस सन्निकर्ष को सर्वत्र समझने के लिये यही व्यवस्था है, कि अभाव के अनुयोगी के साथ ग्राहक इन्द्रिय का जो सन्निकर्ष बनता हो, उसके आगे 'विशेषणता' पद लगा देने से अभाव का सन्निकर्ष बनजाता है। जहां द्रव्य अनुयोगी होगा, उसका सन्निकर्ष गत उदाहरण में स्पष्ट है। जब द्रव्यगत गुण और कर्म में किसी का अभाव कहाजाता है, तब गुण व कर्म अभाव का अनुयोगी होता है। जैसे कहा—'रूप में घटाभाव है।' घटाभाव का ग्रहण चक्षु इन्द्रिय से होगा। रूपी द्रव्य में रूप का समवाय है, और द्रव्य के साथ चक्षु संयुक्त है। इसलिये चक्षु का रूप के साथ सम्बन्ध–'संयुक्तसमवाय' हुआ। रूप में घटाभाव विशेषण है, अतः यहां घटाभाव के साथ इन्द्रिय का 'संयुक्तसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष हुआ। यदि द्रव्यगत सामान्य अनुयोगी होगा, तो वहां भी यही सन्निकर्ष रहेगा। ऐसे ही गुणगत अथवा कर्मगत सामान्य अनुयोगी होगा, तो किसी भी ग्राह्य इन्द्रिय का ग्राह्य अभाव के साथ 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष होगा। जैसे—रूपत्व में गन्ध नहीं रहता। रूपत्व **अनुयोगी** है; गन्धाभाव का ग्रहण घ्राण से होगा। घ्राणसंयुक्त रूपीद्रव्य घटादि, उसमें समवेत रूप, रूपमें समवेत रूपत्व, वहां विशेषण है गन्धाभाव। इसप्रकार घ्राण इन्द्रिय का–रूपत्व में गन्धाभाव के ग्रहण के लिये 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष होगा।

क में ख का अभाव 'समवेतविशेषणता' सन्निकर्ष से तथा कत्व सामान्य में खत्व का अभाव 'समवेतसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष से गृहीत होगा।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का यह विस्तार संक्षेप में प्रस्तुत कियागया। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके आश्रय व कर्त्ता के रूप में आत्मा की सिद्धि होती है ॥१८॥

स्वशरीर में आत्मा के सिद्ध होने पर अन्य शरीरों में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिये सूत्रकार ने कहा—

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम्[1] ॥१९॥ (१३५)

[प्रवृत्तिनिवृत्ती] प्रवृत्ति और निवृत्ति [च] तथा, वैसी [प्रत्यगात्मनि] अपने आत्मा में [दृष्टे] देखे गये [परत्र] अन्य आत्मा के अस्तित्व में [लिङ्गम्] लिङ्ग है, साधन है।

---

१. 'लिङ्गमिति' चन्द्रा०।

उत्कट राग से प्रयत्नपूर्वक जब किसी कार्य के लिये चेष्टा कीजाती है, वह प्रवृत्ति है। जब द्वेष अथवा विराग से प्रयत्नपूर्वक किसीको छोड़ने अथवा कहींसे हटने के लिये चेष्टा कीजाती है, वह निवृत्ति है। निवृत्ति और प्रवृत्ति अपने शरीर में ज्ञान व प्रयत्नपूर्वक होती अनुभव कीजाती है। बाह्यरूप में यह प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा इनके निमित्त ज्ञान व प्रयत्न अपने शरीर में एक चेतन आत्मतत्त्व के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। जब ऐसी प्रवृत्ति और निवृत्ति परशरीर में देखी जाती हैं, तो वहां भी ज्ञान-प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति-निवृत्ति का होना प्रमाणित होता है। ज्ञान और प्रयत्न चेतन आत्मा के विना संभव नहीं; इसलिये अन्य शरीरों में भी चेतन आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१९॥

इति वैशेषिकसूत्रविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।



अथ तृतीयाध्याये द्वितीयमाह्निकम्,

गत आह्निक में आत्मा की सिद्धि के प्रसंग से हेतु व हेत्वाभासों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया। आत्मविषयक शेष परीक्षा को संपन्न करने के लिये सूत्रकार आन्तर इन्द्रिय मन के अस्तित्व में साधन प्रस्तुत करता है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च[1]
मनसो लिङ्गम् ॥१॥ (१३६)

[आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे] आत्मा, इन्द्रिय, अर्थ का सन्निकर्ष होने पर [ज्ञानस्य] ज्ञान का [भावः] होना [अभावः] न होना [च] और [मनसः] मन के (अस्तित्व का) [लिङ्गम्] लिङ्ग है।

बाह्य अर्थ का ग्रहण करने के लिये घ्राण आदि पांच बाह्येन्द्रियां हैं। इन इन्द्रियों का बाह्य विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर विषयों का कभी युगपत् (एकसाथ) ज्ञान नहीं होता। जब ज्ञान होता है, केवल एक विषय का होता है, जो किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। आत्मा, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ का परस्पर सन्निकर्ष होने पर कभी ज्ञान का होना और कभी न होना; इस तथ्य को

१—'ज्ञानस्याभावो भावश्च' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

स्पष्ट करता है, कि आत्मा और इन्द्रियों के मध्य अन्य कोई ऐसा साधन है, जिसके सन्निकृष्ट रहने पर ज्ञान होता है और न रहने पर नहीं होता, वही साधन मन है। जब मन किसी इन्द्रिय के साथ सन्निकृष्ट रहता है, उसके ग्राह्य विषय का ज्ञान होजाता है, अन्य का नहीं। यह मन के अस्तित्व का लिङ्ग है।

कभी ऐसा होता है, कि एक कार्य में गंभीरता से लगा पुरुष अपने सामने व समीप से जाने-आने वाले व्यक्तियों व विभिन्न सवारी आदि को जान नहीं पाता। यद्यपि उसकी इन्द्रियों का सन्निकर्ष उन अर्थों के साथ रहता है। स्पष्ट है, ऐसे अवसरों पर मन जिस अन्य इन्द्रिय के साथ आसक्त है, उसीके ग्राह्य विषय का बोध होता है, अन्य का नहीं। यह स्थिति मन के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

इसके अतिरिक्त मन के अस्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, स्मृति। किसी विषय का अनुभव होजाने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित होजाते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त पाकर उनकी याद आती है, इसका नाम स्मृति है। यह 'याद आना' किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नहीं होता। जिस इन्द्रिय से जो विषय प्रथम जानागया है, उस इन्द्रिय के न रहने पर अथवा प्रयोग में न आने पर, उस विषय की याद (स्मृति) होती रहती है। स्वप्न दशा में इन्द्रियों के अव्यापृत रहने पर जो ज्ञान-परम्परा चलती रहती है, वह मन के सहयोग से संस्कारों का उद्‌बोधन होकर संभव है। यह स्मृति अपने साधन मन के अस्तित्व को निर्बाधरूप में सिद्ध करती है।

घ्राण आदि बाह्य इन्द्रियां केवल बाह्य प्रत्यक्ष में साधन व करणरूप से उपयोगी हैं, पर अन्य प्रमाण अनुमान आगम आदि में बाह्य इन्द्रियों का उपयोग न होने पर जिस करण (साधन) के सहयोग से ये प्रमाण प्रवृत्त रहते हैं, वह मन है। इसके अतिरिक्त संशय, ऊह (तर्क), प्रातिभज्ञान व सुख-दुःख आदि का प्रत्यक्ष मन के अस्तित्व के साधक हैं।

एक काल में एक ज्ञान का होना, युगपत् ज्ञानों का न होना, मन के अणु-परिमाण होने को स्पष्ट करता है। इसप्रकार मन की करणरूप में स्थिति अपने कर्त्ता व अधिष्ठाता आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। घ्राण आदि बाह्य करणों के साथ मन आत्मा के अन्तःकरण का स्थान पूरा करता है। इसरूप में आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मन का अस्तित्व सिद्ध होने पर पदार्थों में उसकी गणना कहां होनी चाहिये? तथा मन घ्राणादि करणों के समान क्या अपने किन्हीं उपादान तत्त्वों से उत्पन्न होता है? आचार्य सूत्रकार ने दोनों बातों का अतिदेश द्वारा समाधान किया—

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥२॥ (१३७)

[तस्य] उसके (मन के) [द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्य होने और नित्य होने का (निश्चय) [वायुना] वायु-परमाणु की प्रक्रिया से [व्याख्याते] व्याख्यात समझना चाहिये।

गत प्रसंग [२।१।११-१३] में वायु-परमाणु के द्रव्य होने व नित्य होने का निश्चय किया गया है। वह जिस प्रक्रिया से किया है, उसीके अनुसार मन के द्रव्य व नित्य होने का निश्चय होता है।

यह एक व्यवस्था है—नित्य द्रव्यों के अतिरिक्त जितने अन्य पदार्थ हैं— (कार्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय), वे सब किसी द्रव्य के आश्रित रहते हैं। उनके कोई आश्रय द्रव्य—एक या अनेक—अवश्य होते हैं। इस व्यवस्था के अनुसार मन का कोई आश्रय द्रव्य ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति में इसे नित्य द्रव्य मानना होगा। यदि यह नित्य द्रव्य न होता, तो इसका कोई आश्रय द्रव्य अवश्य रहता, जैसा अन्य कार्य द्रव्य और गुणादि पदार्थों का सदा होता है।

मन के द्रव्य होने में यह भी निमित्त है, कि यह गुण व क्रिया का आश्रय है। मन में ये आठ गुण जाने गये हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग नामक संस्कार। गुणाश्रय होने से इसका द्रव्य होना निश्चित है। वेग-संस्कार होने से इसमें गति क्रिया का होना अवश्यम्भावी है। गीता में कहा—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।' मन का चञ्चल होना, उसकी गतिमत्ता का द्योतक है। गुण और क्रियावाला होने से मन द्रव्य है, यह निश्चित होता है।

प्रत्येक कार्य पदार्थ का समवायिकारण अथवा उपादान-कारण कोई द्रव्य अवश्य होता है। परन्तु मन का कोई उपादान द्रव्य उपलब्ध नहीं है। यह मन के नित्य होने में एक सबल प्रमाण है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एक शरीर में—अथवा शरीर वर्ती एक आत्मा के साथ—बाह्य इन्द्रियां घ्राण आदि करण पांच देखे जाते हैं; क्या ऐसे आन्तर करण भी अनेक हैं ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥३॥ (१३८)

[प्रयत्नायौगपद्यात्] प्रयत्न के युगपत् न होने से [ज्ञानायौगपद्यात्[ज्ञान के युगपत् न होने से [च] और [एकम्] एक है (मन, एक शरीर में अथवा एक आत्मा के साथ)।

यह देखाजाता है, एक काल में शरीर के किसी एक अंग में कोई चेष्टा

होती है, उसी काल में अन्य अंग में कोई अन्य चेष्टा नहीं होती। देहांगों में ऐसी चेष्टा आत्मा के प्रयत्न व इच्छा आदि गुणों से प्रेरणा पाकर देह के उसी अंग में होपाती है, जिस अंग के साथ चेष्टानुकूल मन का संपर्क बना हो। यदि शरीर में अनेक मन होते, तो एक काल में अनेक चेष्टाओं का होना संभव होता, जो अनुभव में नहीं आता।

कहाजासकता है, नर्त्तकी द्वारा नृत्य प्रस्तुत करने के अवसर पर कर, चरण, मुख, नेत्र, अंगुली आदि देहांगों में अनेक प्रकार की चेष्टा एक काल में कीजाती हुई प्रतीत होती हैं, जो निश्चित ही प्रयत्नपूर्वक रहती हैं। ऐसी दशा में प्रयत्न का युगपत् न होना कैसे मानाजासकता है? इसके अनुसार एक देह में अनेक मन होने की संभावना युक्तियुक्त मानीजानी चाहिये।

वस्तुतः नर्त्तकी का कर-चरणादि चालन युगपत् न होकर क्रमिक ही होता है; पर मन की गति इतनी तीव्र व चञ्चल रहती है, कि उसके क्रम को अनायास पकड़पाना संभव नहीं होता; इसी कारण चेष्टाओं के युगपत् होने का भ्रम होजाता है। लोक में तीव्रगतिक यानों व यन्त्रों के विषय में ऐसा व्यवहार प्रायः देखा-सुना जाता है, कि उसके चलने-निकलने का पता ही नहीं लगता। यन्त्र का एक चक्र एक मिनट में सहस्रों वार घूमजाता है, पर देखने वाले को वह स्थिर-जैसा दीखता है, यद्यपि प्रत्येक क्षण में अनेक वार वह अपने स्थान का परिवर्तन कर देता है। मन की गति तो इन आशुगामी भौतिक साधनों से सहस्रों गुना अधिक है। फलतः नर्त्तकी का अंगचालन क्रमिक रहता है, पर वह क्रम अति सूक्ष्म व तीव्र होने से पकड़ में नहीं आता। अतः एक देह में अथवा एक आत्मा के साथ अनेक मन मानेजाने की संभावना अनपेक्षित व निराधार है।

कतिपय क्षुद्र जन्तुओं—छिपकली, जोंक, गेंडुआ (बरसाती लम्बासा कीड़ा) आदि में ऐसा देखाजाता है, कि अचानक उनके शरीर का कुछ भाग कट जाने पर उसमें बराबर कुछ काल तक चेष्टा होती रहती है। क्या इससे एक देह में अतिरिक्त मन की संभावना कीजासकती है? वस्तुतः ऐसी संभावना संगत नहीं। कारण यह है, कि कटे अंग में चेष्टा होने का निमित्त वहां मन आदि का होना नहीं; प्रत्युत रक्त आदि का कुछ काल तक संचार रहना इसका निमित्त होता है। छिन्न अंश में मन अथवा आत्मा कुछ नहीं रहता। चक्र को घुमाकर छोड़ देने से कुछ काल तक जैसे विना किसी प्रेरणा के वह घूमता रहता है; यही स्थिति छिन्न देहांश में रक्त-संचार की समझनी चाहिये ॥३॥

मध्यगत मन-विषयक विवेचना कर अवशिष्ट आत्म-परीक्षा का प्रसंग प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने बताया—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः[1] सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥४॥ (१३६)

[प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः] प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर-विकार; [सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः] सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न [च] और [आत्मनः] आत्मा के [लिङ्गानि] लिङ्ग हैं।

गत प्रसंग में ज्ञान-गुण के आश्रय तथा घ्राण आदि करणों के अधिष्ठाता-रूप से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कियागया। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक साधक चिह्नों का निर्देश प्रस्तुत सूत्र में है। वे चिह्न इसप्रकार समझने चाहियें—

प्राण-अपान—शरीर के भीतर संचरण करनेवाला वायु ऊर्ध्वगामी और अधोगामी रहता है। नासिकाद्वार से वायु भीतर जाता एवं बाहर आता है। कभी अपेक्षा होने पर मुखद्वारा वायु का बाहर-भीतर आना-जाना रहता है। यह सब नियमित व्यवस्था शरीर में किसी चेतन अधिष्ठाता के प्रयत्न आदि के विना संभव नहीं। जड़ वायु का स्वभाव तिर्यग् गति [तिरछा चलना] रहता है, परन्तु देह में ऊर्ध्वगामी और अधोगामी प्राण-अपान की व्यवस्था देह में चेतन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

निमेष-उन्मेष—आंख के पलकों का झपना 'निमेष' और खोलना 'उन्मेष' कहाता है। पलकों में यह नियमित चेष्टा विना चेतन आत्मा के इच्छा व प्रयत्न के सभव नहीं। अचेतन अंग का स्वभाव ऐसा हो, यह नहीं कहाजासकता। कारण यह है, कि कभी इच्छा होने पर किसी वस्तु को अपलक-एकटक देखने की भावना से निमेष-उन्मेष की क्रिया बन्द होती देखीजाती है। जड़ का स्वाभाविक धर्म होने पर ऐसा होना संभव नहीं। अतः शरीर में निमेष-उन्मेष आत्मास्तित्व के लिङ्ग हैं।

जीवन—शरीर में प्राण-धारण की स्थिति का नाम जीवन है। यह स्थिति

---

१. अ० प्रा० में "प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः परात्मनि लिङ्गम्," ऐसा सूत्रपाठ है। वहां 'सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि' यह सूत्रभाग नहीं है। परन्तु व्याख्या में 'सुखादयश्च परात्मनि च स्वात्मनि च लिङ्गमिति भाष्यकाराः सुखादयो द्रव्याश्रिताः गुणत्वात् रूपवत् इति' ऐसा पाठ दिया है। इससे प्रतीत होता है, अन्तिम सूत्रांश सूत्र में रहा होगा, किसी कारण खण्डित होगया।'… सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्चे०त्यात्मलिङ्गानि।' चन्द्रा०।

शरीर की मृत अवस्था से अतिरिक्त अवस्था का बोध कराती है। जीवन रहते शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्नसंरोहण आदि देखा जाता है। खाल छिल जाने या खुरच आदि लग जाने पर आन्तर शारीर क्रियाओं से वह भाग स्वतः ठीक होजाता है, यदि बाह्य आपात से उसमें अन्य कोई विकार न होपाये। शस्त्रादि से हुआ अधिक घाव, अथवा अस्थि आदि का टूटना उपचार करने से ठीक हो-जाता है। यह सब जीवनकाल में संभव है। यह स्थिति देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व की विद्यमानता को देह में प्रमाणित करती है।

मनोगति—इन्द्रियविशेष के साथ मन का सान्निध्य ज्ञानोत्पत्ति का निमित्त है, वह मन की गतिविशेष से होता है। ज्ञाता प्रणिधानपूर्वक अभिमत इन्द्रिय के प्रति संपर्क के लिये मन को प्रेरित करता है। इन्द्रिय के साथ मनः सन्निकर्ष आदि का विवरण मन के प्रसंग में कर दिया गया है। यह सब–प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मन का अभिमत प्रदेश में प्रेरण व निवेशन–आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर संभव है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध छूटने पर प्राण-अपान आदि सब अन्तर्हित होजाते हैं। इससे देह में आत्मा का होना प्रमाणित होता है।

इन्द्रियान्तरविकार—एक बार आम के विशेषरूप को देखा, और उसे चूसकर उसके मधुर रस का आस्वाद लिया। कालान्तर में जब उसी रूप के आम को देखा, तो उसके पूर्वास्वादित मधुर रस का स्मरण कर मुंह में पानी भर आता है, और पुनः उस मधुर रस के आस्वादन की लालसा उत्पन्न हो जाती है। यदि यह कार्य केवल चक्षु और रसन इन्द्रिय का होता, इनके अतिरिक्त एक द्रष्टा व आस्वादयिता न रहता, तो आम को देखनेमात्र से मुंह में पानी न भर आता; क्योंकि दर्शन चक्षु का विषय और आस्वाद रसन का विषय है। ये दोनों भिन्न करण हैं, एक दूसरे के ग्रहण किये का स्मरण नहीं कर सकता। इनसे अतिरिक्त आत्मा दोनों के ग्राह्य विषय का अनुभव करता है, तभी रूप को देखकर पूर्वानुभूत रसास्वाद के स्मरण से रसन इन्द्रिय में लाला-स्राव विकार हो उठता है। देखा चक्षु से और विकार आया रसन में। यह स्थिति इन दोनों से अतिरिक्त दोनों विषयों के भोक्ता ज्ञाता आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—सुख आदि गुण हैं। गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं। पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से ये किसीके गुण नहीं हैं। गत प्रसंग में 'ज्ञान' आत्मा का गुण सिद्ध किया गया है। उसी प्रक्रिया से सुखादि को आत्मा का गुण समझ लेना चाहिये। ये गुण अचेतन द्रव्य के होना संभव नहीं; इसलिये

इनके आश्रयरूप में आत्मा द्रव्य की सिद्धि होती है ।।४।।

आत्मा नित्य द्रव्य है, यह अतिदेश द्वारा सूत्रकार ने बताया—

तस्य[1] द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।५।। (१४०)

[तस्य] उसका (आत्मा का), [द्रव्यत्वनित्यत्वे] द्रव्य होना और नित्य होना [वायुना] वायु-परमाणु के विषय में कही गई रीति से [व्याख्याते] व्याख्यात समझना चाहिये।

गुणों का आश्रय अथवा समवायिकारण द्रव्य होता है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों का आश्रय व समवायिकारण आत्मा है, इसलिये वह द्रव्य है। कार्य द्रव्य का समवायिकारण कोई अन्य द्रव्य हुआ करता है; परन्तु आत्मा का समवायिकारण कोई अन्य द्रव्य नहीं; इसलिये आत्मा नित्यद्रव्य है, कार्य नहीं ।।५।।

शिष्य आशंका करता है, आत्मा की सिद्धि में जो अनुमान प्रमाण कहा, वह युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि अनुमान में धूम-अग्नि के समान लिङ्ग-लिङ्गी का प्रत्यक्ष होना चाहिये; तभी धूमदर्शन से अदृश्य अग्नि का अनुमान होता है। आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है। शिष्यों के आशय को सूत्रकार ने स्वयं स्पष्ट किया—

यज्ञदत्त[2] इति[3] सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ।।६।। (१४१)

[यज्ञदत्तः] यज्ञदत्त (है यह), [इति] ऐसा [सन्निकर्षे] सन्निकर्ष होने पर (इन्द्रिय-अर्थ का) [प्रत्यक्षाभावात्] प्रत्यक्ष न होने से (आत्मा-लिङ्गी और उसके लिङ्ग के सम्बन्ध का) [दृष्टं] दृष्ट–प्रत्यक्षीभूत [लिङ्गम्] लिङ्ग [न] नहीं [विद्यते] है (अनुमान के लिये, आत्मा की सिद्धि में)।

अनुमान प्रमाण के प्रयोग के लिये यह आवश्यक होता है, कि प्रथम कहीं साध्य [लिङ्गी] और हेतु [लिङ्ग] का व्याप्तिग्रह प्रत्यक्ष हो। जैसे धूम हेतु से अग्नि का अनुमान होता है। प्रथम महानस आदि में धूम और अग्नि के व्याप्य-व्यापकभाव का प्रत्यक्ष कर लिया जाता है; तभी पर्वत आदि में धूम को देखकर अदृश्य अग्नि का अनुमान होजाता है। परन्तु आत्मा के विषय में साध्य और हेतु का प्रत्यक्ष व्याप्तिग्रह नहीं होता। जब 'यह यज्ञदत्त है' इसप्रकार किसीको देखा जाता है, तब इन्द्रिय अर्थ का सन्निकर्ष होने पर आत्मा-साध्य और साधक

१. 'तस्य' सूत्रपद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'अहं यज्ञदत्त' अ० प्रा०।

३. 'इति सति सन्नि०' चन्द्रा०।

हेतु के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस आत्म-विषयक अनुमान में दृष्ट लिङ्ग [प्रत्यक्षीभूत व्याप्तिग्रह] न होने से—अनुमान प्रमाण के आधार पर आत्मा की सिद्धि बताना युक्त प्रतीत नहीं होता ॥६॥

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥७॥ (१४२)

[सामान्यतोदृष्टात्] सामान्यतोदृष्ट से [च] भी [अविशेषः] कोई विशेष नहीं।

यदि कहाजाय, कि ज्ञान, प्रयत्न आदि गुणों का कोई आश्रय होना चाहिये; क्योंकि ये गुण विना द्रव्याश्रय के रह नहीं सकते। इसप्रकार के सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ज्ञान-प्रयत्नाद्याश्रय आत्मा की सिद्धि होसकेगी। इस कथन से भी आत्मा की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि में कोई विशेषता नहीं आती। क्योंकि ज्ञान, प्रयत्न आदि गुणों का आश्रय कोई द्रव्य होजायगा; वह आत्मा ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये आत्मा के विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का कथन युक्त प्रतीत नहीं होता ॥७॥

फलतः आत्मा की सिद्धि में केवल शब्द प्रमाण कहाजासकता है। इसीको सूत्रकार ने बताया—

तस्मादागमिकः[१] ॥८॥ (१४३)

[तस्मात्] इस कारण [आगमिकः] आगम प्रमाण साध्य है (आत्मा)।

साध्य और हेतु का व्याप्तिग्रह न होने से आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से नहीं होसकती। अतः उसके लिये प्रस्तुत किये गये अनुमान प्रमाण केवल प्रमाणाभास हैं। ऐसी स्थिति में यही कहना चाहिये, कि आत्मा केवल शब्द-प्रमाणसाध्य है। 'मा त्वा तपत् प्रिय आत्मापियन्तं' [ऋ० १।१६२।२०] 'आत्मानं ते मनसा' [१।१६३।६] भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्' [१।१६४।४] 'अवि-नाशी वा अरे अयमात्मा' [बृ० ४।५।१४] 'आत्मानं रथिनं विद्धि' [कठ १।३।३] इत्यादि।

उद्भावित आशंका का समाधान करने की भावना से सूत्रकार ने पहले यह समझाया, कि आत्मा को केवल आगमबोध्य कहना युक्त नहीं—

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥९॥ (१४४)

[अहम्] मैं हूँ [इति] ऐसी प्रतीति में [शब्दस्य] शब्द के [व्यतिरेकात्]

---

१. 'तस्मादागमिकम्' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'अहमिति शब्दव्यतिरेकेण नागमिकम्' अ० प्रा०। '...शब्दव्यतिरेका०' चन्द्रा०।

अभाव से, (शब्द प्रमाण के न होने से) [न] नहीं [आगमिकम्] आगमबोध्य (आत्मा का होना)।

लोक में प्रत्येक व्यक्ति को 'मैं हूं' [—अहम्] यह प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीति होने में शब्द प्रमाण का कोई सहारा नहीं रहता। जिन व्यक्तियों ने शब्द प्रमाण का नाम तक नहीं सुना, वे भी स्पष्टरूप में 'अहम्' का अनुभव करते हैं। ऐसी प्रतीति को आत्मा का साक्षात्कार न समझ केवल व्यावहारिक समझना चाहिये। चेतन आत्मा अपने चेतन स्वरूप को देह-इन्द्रियादि लौकिक अथवा प्राकृतिक साधनों के साथ इस रूप में अनुभव करता है। ऐसी प्रतीति का व्यावहारिक होना इसी कारण है, कि आत्मा उस स्वरूप का देहेन्द्रियादि में आरोप कर बैठता है। उसी आधार पर—मैं मोटा हूं, पतला हूँ, रोगी हूं, स्वस्थ हूं, दुर्बल हूं, बली हूं, काणा हूं, अन्धा हूं, लंगड़ा हूं, लूला हूं, बहरा हूं, इत्यादि ज्ञान हुआ करता है। परन्तु इन भ्रान्त प्रतीतियों में भी चेतन आत्मस्वरूप झलकता है; अन्यथा ऐसे व्यवहारों में 'मैं हूं' यह प्रतीति अथवा भावना संभव नहीं होसकती।

सूत्र में 'व्यतिरेक' पद का अर्थ 'उलट' है; अर्थात् 'न होना'। एक बात है—शब्द प्रमाण का होना। दूसरी बात है—उसका उलट, अर्थात् 'न होना'। 'शब्दस्य व्यतिरेकात्' इन पदों का सीधा अर्थ है—शब्द प्रमाण के न होने से। कहां न होने से ? इसका उत्तर पहले पदों में है—'अहम् इति' 'अहम्' इस प्रतीति में। सूत्रपदानुसार यह व्याख्या है। जब लोकव्यवहार में प्रत्येक व्यक्ति 'अहम्' के रूप में आत्मा का [अपने आपका] अनुभव करता है, तो यह कहना वस्तुतः संगत नहीं, कि आत्मा केवल आगमबोध्य है ॥९॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि इस रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष होजाता है, तो उसके अस्तित्व की सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण की क्या आवश्यकता है ? शिष्यों की इस भावना को सूत्रकार ने स्वतः सूत्रित किया—

यदि[1] दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥ (१४५)

[यदि] यदि [दृष्टम्] दर्शन, ज्ञान (आत्मा का) [अन्वक्षम्] प्रत्यक्ष है, [अहम्] मैं हूं [देवदत्तः] देवदत्त [अहम्] मैं हूं [यज्ञदत्तः] यज्ञदत्त [इति] इसप्रकार से (तो उसके लिये अनुमान अनावश्यक है)।

सूत्र में 'यदि' पद का प्रयोग होने से, अर्थ की पूर्ति के लिये—'तदा आत्मनि

१. 'यदि च द्रष्टुः प्रत्यक्षोऽहं देवदत्तोऽहं' यज्ञदत्तः अ० प्रा०। यदि च दृष्टप्रत्यक्षोऽहं देव०....' चन्द्रा०।

अनुमानमनावश्यकम्' पदों का अध्याहार होजाता है। इसके अनुसार सूत्रार्थ है—यदि 'मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूं' इस रूप में आत्मा का प्रत्यक्ष होजाता है, तो उसकी सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण की आवश्यकता क्या है ? फिर अनुमान के लिये इतना कियागया प्रयास व्यर्थ है ॥१०॥

आचार्य सूत्रकार ने समझाया, अनुमान के लिये कियागया प्रयास व्यर्थ नहीं; क्योंकि—

दृष्ट[1] आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥११॥ (१४६)

[दृष्टे] देखे हुए [आत्मनि] आत्मा में (आत्मविषय में) [लिंगे] हेतु उपस्थित होने पर [एकः] एक [एव] ही [दृढत्वात्] दृढ़ होने से [प्रत्यक्ष-वत्] प्रत्यक्ष के समान [प्रत्ययः] निश्चित ज्ञान।

प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने हुए आत्मा के विषय में जब अनुमान प्रमाण उसकी सिद्धि के लिये प्रयोग किया जाता है, तो उन प्रमाणों के परस्पर सहयोग से एक निश्चित ज्ञान होता है; उस विषय की जानकारी में कोई कमी या सन्देह की संभावना नहीं रहती; तथा विभिन्न प्रमाणों द्वारा एक ही अर्थ की सिद्धि होने से उसकी और अधिक दृढ़ता होजाती है। यदि कोई अर्थ अनेक प्रमाणों से एक-रूप में सिद्ध होजाता है, तो उसके दृढ़ व सुपुष्ट होने में कोई कमी नहीं रहती।

यह बात लोक-व्यवहार में प्रत्यक्ष वस्तु के विषय में देखी जाती है । किसी थोड़े ऊंचे स्थान पर खड़े होकर जब कहीं दूर जलाशय अथवा प्रवाहित जल-धारा आदि दिखाई देते हैं, तब उसके आस-पास बगुले व बत्तख आदि जल-प्रिय पक्षियों को उड़ते, बैठते और तैरते देखकर वहां जल होने के विषय में अनुमान प्रमाण द्वारा दृढ व सुपुष्ट ज्ञान होजाता है । प्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान प्रमाण से ज्ञान करलेने में कोई दोष नहीं है, प्रत्युत ज्ञान का पूर्ण निश्चय होजाना गुण ही है। आत्मा का व्यावहारिक प्रत्यक्ष होने पर उसके लिये अनुमान का प्रयोग करना सर्वथा सार्थक है। कहावत है—'प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः' तर्क के रसिया लोग प्रत्यक्ष से जाने हुए पदार्थ को अनुमान द्वारा जानने की चाहना रखा करते हैं। उनकी इस चाह में कोई बुराई दिखाई नहीं देती ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'अहम्' प्रतीति से आत्मा का प्रत्यक्ष होना कहा गया। परन्तु 'अहं गच्छामि' प्रतीति में स्पष्ट गति का आश्रय देह है। यह स्थिति

१—यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा० । चन्द्रा० ।

सन्देहजनक है; देह को आत्मा मानाजाये, अथवा किसी देहातिरिक्त को ? आचार्य सूत्रकार ने शिष्यों की आशंका को अग्रिम दो सूत्रों में सूत्रित किया—

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचारा-
च्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥ (१४७)

[देवदत्तः] देवदत्त [गच्छति] जाता है [यज्ञदत्तः] यज्ञदत्त [गच्छति] जाता है, [इति] इसप्रकार के [उपचारात्] व्यवहार से [शरीरे] शरीर में [प्रत्ययः] प्रतीति है (यह, ऐसा स्पष्ट होता है)।

गति क्रिया देवदत्त आदि के शरीर में देखी जाती है। फिर 'अहं गच्छामि' इत्यादि प्रयोग में गति के आश्रय देह के साथ 'अहं' का सामानाधिकरण्य स्पष्ट है। इससे 'अहं' प्रतीति का आश्रय देह ज्ञात होता है ॥१२॥

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥ (१४८)

[सन्दिग्धः] सन्देहजनक है [तु] तो [उपचारः] उपचार-लोकव्यवहार।

गति का समानाधिकरण 'अहं' प्रत्यय जैसे 'अहं' के आश्रय रूप में देह का बोध कराता है; ऐसे ही 'अहं जाने, अहं सुखी' इत्यादि ज्ञान, सुख आदि का समानाधिकरण 'अहं' प्रत्यय देहादि से अतिरिक्त 'अहं' के आश्रय का बोध कराता है। इसप्रकार यह व्यवहार तो दोनों ओर एक-सा होने से सन्देह का जनक बना हुआ है; इसमें कौन-सा यथार्थ और कौन-सा अयथार्थ है, यह जानना कठिन हो रहा है। तब 'अहं' प्रत्यय से देहातिरिक्त आत्मा के प्रत्यक्ष होने का कथन कैसे युक्त होगा ? ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तर
प्रत्यक्षः ॥१४॥ (१४९)

[अहम्] मैं हूं [इति] इसप्रकार का प्रत्यय [प्रत्यगात्मनि] देहातिरिक्त अन्तरात्मा के विषय में [भावात्] होने से [परत्र] उससे भिन्न में [अभावात्] न होने से [अर्थान्तरप्रत्यक्षः] देहादि से अतिरिक्त अर्थ (आत्मा) प्रत्यक्ष होता है (उक्त प्रत्यय के द्वारा)।

'मैं हूं' यह एक प्रतीति है, ज्ञान है। 'अहं जाने' का तात्पर्य है—मैं चेतन हूं। देहादि पदार्थ सब जड़ हैं, ज्ञान का आश्रय चेतन होसकता है, जड़ नहीं। इसलिये 'अहम्' प्रतीति में आत्मा भासता है, अथवा प्रत्यक्ष होता है, यही समझना

१—यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'देवदत्तो गच्छति विष्णुमित्रो गच्छतीति चोपचाराच्छरीरप्रत्यक्षः, चन्द्रा०।

चाहिये।

यह भी इस विषय में समझ रखना चाहिये, कि देहादि के गुण रूप रस गन्ध आदि का प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रियों से होता है। यदि ज्ञान, सुख, प्रयत्न आदि गुण देहादि के होते, तो इनका प्रत्यक्ष बाह्य इन्द्रिय से हुआ करता। यह स्थिति देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है, जो ज्ञान सुख आदि का आश्रय है ॥१४॥

शिष्य आशंका करता है, गति के समान 'अहं' इन वर्णों से भी शरीर का प्रत्यक्ष होना दिखाई देता है, उसीके अनुसार 'अहं गौरः, अहं कृशः' इत्यादि प्रतीति होती है। आचार्य सूत्रकार ने शिष्यों की भावना को सूत्रित किया—

देवदत्तो[1] गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीर-
प्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥ (१५०)

[देवदत्तः] देवदत्त [गच्छति] जाता है [इति] यह [उपचारात्] व्यवहार से [अभिमानात्] अभिमान हेतु से [तावत्] तब [शरीरप्रत्यक्षः] शरीर का प्रत्यक्ष है [अहंकारः] 'अहं' इन वर्णों के रूप में।

'देवदत्तो गच्छति'—देवदत्त जाता है, इस व्यवहार से गतिक्रिया शरीर में दीखती है, इसलिये देवदत्त पद बोध्य शरीर है, उसीके समान 'अहं' इन वर्णों द्वारा जो अर्थ बोध्य होता है, वह भी शरीर का प्रत्यक्ष है। 'देवदत्तोऽहं गौरः, कृशः, स्थूलः' इत्यादि 'अहं' पूर्वक व्यवहार शरीर का बोध कराता है। गौर, कृश, स्थूल आदि होना शरीर का धर्म है, शरीर में ही यह अभिमान होता है। तात्पर्य है, इसप्रकार का अभिमान-मूलक व्यवहार शरीर को लक्ष्य कर प्रवृत्त होता है। इसलिये 'अहं' प्रतीति का आश्रय शरीर को समझना चाहिए; किसी अतिरिक्त आत्मतत्त्व का यहां बोध नहीं होता ॥१५॥

आशंका के स्वरूप को दृढ़ करते हुए सूत्रकार ने कहा—

सन्दिग्धस्तूपचारः[2] ॥१६॥ (१५१)

[सन्दिग्धः] सन्देहजनक है [तु] तो [उपचारः] उपचार—व्यवहार।

'अहं' प्रतीति प्रत्यगात्मा में होती है, यह कहा गया; परन्तु गौर, कृश, स्थूल आदि के सामानाधिकरण्य से 'अहं' प्रतीति शरीर में होती देखीजाती है। गौर, कृश आदि देहधर्म हैं, आत्मधर्म नहीं। इसलिये लोकव्यवहार में 'अहं' प्रत्यय देहातिरिक्त आत्मतत्त्व का निश्चायक नहीं है। देह तथा देहभिन्न दोनों ओर

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।
२. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

व्यवहार देखे जाने से यह सन्देह को अधिक पैदा करता है ।।१६।।

आचार्य सूत्रकार ने समाधान की भावना से समझाया—

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं[1] विषयः ।।१७।। (१५२)

[न] नहीं [तु] तो [शरीरविशेषात्] शरीर के भेद से [यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः] यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के [ज्ञानम्] ज्ञान [विषयः] विषय।

यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के शरीरभेद से, उस भेद का विषय–लक्ष्य ज्ञान नहीं होता। किसी व्यक्ति का शरीर चाहे–कृश, स्थूल, गौर, श्याम–कैसा भी हो; परन्तु 'अहं जाने, अहं सुखी, अहं प्रयते' इत्यादि प्रतीति सर्वत्र समान होती है। 'मैं ज्ञानवान् हूं, मैं सुखी हूं' इन प्रत्ययों में शरीरभेद का कोई प्रभाव नहीं होता। जब शरीर के भेद का उल्लेख किया जाता है, उसमें 'ज्ञान' विषय नहीं होता। यदि 'ज्ञान' शरीर का धर्म होता, तो अन्य शरीरधर्मों के भेद के समान 'ज्ञान' में भी प्रत्येक शरीर के अनुसार भेद हुआ करता। पर ऐसा नहीं होता। शरीर कैसा भी हो, प्रत्येक शरीर में 'अहं जाने, सुखी' आदि प्रतीति समान होती है। इससे स्पष्ट है—ज्ञान, सुख आदि शरीर के धर्म नहीं हैं, इनका आश्रय शरीर से अतिरिक्त कोई द्रव्य माना जाना चाहिए।

यह स्थिति इस तथ्य को भी स्पष्ट करती है, कि ज्ञान व सुख आदि के साथ 'अहं' प्रत्यय का सामानाधिकरण्य यथार्थ है; तथा गौर, कृश, स्थूल इत्यादि के साथ अयथार्थ। ज्ञान व सुख आदि धर्म किसी जड़तत्त्व के न होने से एक चेतन द्रव्य का प्रत्यक्ष कराते हैं। 'अहं' यह एक 'अनुभूति' है; यह चेतन में संभव है, चेतन का धर्म है, चेतन का स्वरूप है। इसका सामानाधिकरण्य यदि कहीं लोकव्यवहार में अचेतन देह के गौर, कृश आदि धर्मों के साथ प्रतीत होता है, तो उसकी अयथार्थता में सन्देह नहीं किया जासकता।

इस अयथार्थता का आधार मोह अथवा अज्ञान रहता है। चेतन आत्मा अज्ञान से, मोह से, अपनी साधन-सामग्री को अपना रूप समझ लेता है। जब ऐसे अज्ञान की दशा नहीं रहती, तब देहधर्मों में 'अहं' प्रतीति नहीं होती। यह ध्यान देने की बात है, कि देहधर्मों के साथ 'अहं' प्रतीति तभी तक संभव है, जब तक 'अहं' पदबोध्य आत्मा शरीर में बैठा रहता है। शरीर से उस 'अहं' के निकल जाने पर शरीर के रहते भी 'गौरः, कृशः' आदि सब व्यवहार ठण्डा पड़ जाता

---

१. 'ज्ञानविशेषः' अ० प्रा०। चन्द्रा०। अर्थ की दृष्टि से यह पाठ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है।

है। इससे स्पष्ट है, 'अहं' पद से बोध्य अर्थ शरीर से भिन्न तत्त्व है।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य इसीमें है, कि ज्ञान सुख आदि शरीर के धर्म नहीं हैं। शरीरधर्मों में–शरीरभेद से–भेद देखा जाता है; परन्तु शरीर भिन्न होने पर भी 'ज्ञान, सुख' आदि की प्रतीति में कोई भेद नहीं रहता। इसलिये ये शरीर के धर्म न होकर उससे अतिरिक्त द्रव्य के धर्म हैं। वही द्रव्य आत्म-तत्त्व है ॥१७॥

इन्हीं भावनाओं को सूत्रकार ने अधिक स्पष्टरूप में अग्रिम सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया—

[1]अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचारात् विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥ (१५३)

[अहम्] मैं हूं [इति] यह ज्ञान [मुख्ययोग्याभ्याम्] मुख्य और योग्य होने से [शब्दवत्] शब्द के समान [व्यतिरेकाव्यभिचारात्] अभाव के नियत होने से [विशेषसिद्धेः] विशेष की–देहादिभिन्न तत्त्व की–सिद्धि होजाने से [न] नहीं [आगमिकः] केवल आगमबोध्य (वह आत्म-तत्त्व)।

आशंकावादी कहसकता है—आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि वह रूप-रहित व निरवयव द्रव्य है। इसके अतिरिक्त 'अहं गौरः, कृशः' मैं गोरा हूं, दुर्बल हूं, इत्यादि प्रतीति का विषय देह को कहा जा सकता है। यद्यपि कहीं-कहीं, 'अहं जाने, सुखी' मैं चेतन हूं, सुखी हूं, ऐसा प्रत्यय होता हुआ देखाजाता है; परन्तु इन 'ज्ञान, सुख' आदि का कोई आश्रय उपलब्ध न होने से इनका देह में अज्ञानमूलक आरोप कर दिया जाता है। जैसे लोक में व्यवहार होता है—'उष्णं सुरभि जलम्' गरम और सुगन्धित जल है, गरमी तेज का और गन्ध पृथिवी का गुण है; पर जल में तेज व पृथिवी के उपलब्ध न होने से उनका [गरमी व गन्ध का] आरोप जल में कर दिया जाता है; ऐसे ही ज्ञान, सुख आदि का आश्रय अन्यत्र कहीं प्रत्यक्ष न होने से उनका [ज्ञान, सुख आदि का] देह में आरोप कर दिया जाता है। इसलिये आत्मा का 'अहं' प्रतीति में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह कहना ठीक नहीं। आत्मा आगमबोध्य रहे, इसमें कोई आपत्ति नहीं। आशंका के इस रूप को ध्यान में रख प्रस्तुत सूत्र द्वारा आचार्य ने समझाया—

'अहम्' मैं हूं–यह ज्ञान देहादि से अतिरिक्त एक भिन्न तत्त्व की सिद्धि करता है। कारण यह है, कि ऐसे ज्ञान को न शब्द प्रमाण कहा जासकता है, न अनुमान। इस प्रतीति में शब्द एवं अनुमान की प्रक्रियाओं का किंचित् भी आश्रय नहीं रहता, उनके बिना यह स्वतन्त्र एक अनुभूति है। प्रत्यक्ष के लिये द्रव्य का रूप-सहित व सावयव होना, बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष के विषय में कहाजासकता है;

१—यह सूत्र नहीं है, अ०, प्रा० । चन्द्रा० ।

मानस प्रत्यक्ष के लिये इसकी नितान्त अपेक्षा नहीं है। 'अहम्' यह आत्मा का मानस प्रत्यक्ष है। इस ज्ञान का आश्रय शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर में इसका नियमितरूप से अभाव देखा जाता है [व्यतिरेकाव्यभिचारात्]। जैसे पृथिवी आदि द्रव्यों में नियमितरूप से शब्द का अभाव देखे जाने से शब्द के आश्रयरूप में पृथिव्यादि से भिन्न नवम द्रव्य आकाश की सिद्धि होती है [शब्दवद्···विशेष-सिद्धेः]; ऐसे ही ज्ञान का देहरूप पृथिव्यादि द्रव्यों में नियमितरूप से अभाव देखे जाने के कारण ज्ञान, सुख आदि के आश्रयरूप में पृथिव्यादि से भिन्न 'आत्मा' द्रव्य की सिद्धि होती है।

इस मान्यता के लिये अनुपेक्षणीय आधार यही है, कि 'अहम्' प्रत्यय का मुख्य आश्रय—देहादि से अतिरिक्त—वह आत्म-द्रव्य ही रहता है। देहादि में वैसा आभास तो आत्मा का देह के साथ सम्बन्ध रहने पर ही संभव होता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान, सुख आदि का आश्रय होने की योग्यता भी आत्मा में संभव है, अन्यत्र नहीं। आत्मा चेतन तत्त्व है, पृथिव्यादि सब जड़ हैं। पृथिव्यादि का कार्य देह भी जड़ है। ज्ञान, चेतना है, उसका आश्रय होने की योग्यता जड़तत्त्व में संभव नहीं [—मुख्ययोग्याभ्याम्]। इस सब विवेचन के आधार पर यह परिणाम स्पष्ट होता है, कि 'अहम्' प्रत्यय में वह आत्म-द्रव्य प्रत्यक्ष भासता है, जो इसका आश्रय है। फलतः यह कहना संगत नहीं है, कि आत्मा केवल आगमबोध्य है; अर्थात् केवल शब्द प्रमाण द्वारा जाना जाता है। इसके विपरीत आत्मा को प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण द्वारा जाना जाता है। जैसा कि गत प्रसंग में विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया ॥१८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, देहभेद होने पर यदि ज्ञान, सुख आदि का सर्वत्र समान उत्पाद रहता है, तो समस्त देहों में क्या आत्म-तत्त्व एक माना जायेगा ? शिष्यों की जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादैकात्म्यम्[1] ॥१९॥ (१५४)

[सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषात्] सुख, दुःख, ज्ञान आदि की उत्पत्ति सर्वत्र समान होने से [ऐकात्म्यम्] एक आत्मा सब देहों में है (ऐसा मानना चाहिये)।

यह समझ लेने पर, कि आत्मा देहादि से भिन्न है, एक विचार सामने आता है—देहादि से आत्मा के भिन्न होने पर सर्वत्र देहों में एक-आत्मा रहता है, अथवा प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् ? दोनों अवस्थाओं में सुख-दुःख आदि की प्रतीति समान रहती है। एक तो यह, कि चैत्र, मैत्र, दत्त भामा आदि शरीरों के भेद होने

१—'सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यविशेषादैकात्म्ये न व्यवस्था' अ० प्रा०।

पर सर्वत्र ज्ञान, सुख आदि की एकरूप में अनुभूति होती है–'अहं जान, सुखी, दुःखी, प्रयते' इत्यादि। इन विषयों में प्रत्येक व्यक्ति एक-सा अनुभव करता है। दूसरी ओर–एक सुखी है, अन्य दुःखी; एक धनी है, अन्य निर्धन; एक विद्वान् है, दूसरा मूर्ख; एक मर रहा है, अन्य जीरहा है; इन सब परस्पर विपरीत स्थितियों एवं प्रत्ययों से ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक देह में आत्मा भिन्न होना चाहिये; क्योंकि सर्वत्र एक आत्मा के होने पर परस्पर विपरीत ज्ञान व स्थिति का होना संभव न होगा। पर साथ ही यह देखा जाता है, कि प्रदेशभेद से एक तत्त्व में विभिन्न निमित्तों के कारण परस्पर विरुद्ध ज्ञान होते रहते हैं। एकमात्र स्फटिक विभिन्न उपाधियों से उपरञ्जित हुआ–नील, पीत, हरित, रक्त आदि विविध रूपों में प्रतीत होता है; ऐसे ही देहरूप विभिन्न निमित्तों से उपरञ्जित एक आत्मा में विपरीत ज्ञानों का होना संभव है। इस कारण सन्देह बना रहता है, कि देहादि से भिन्न होने पर आत्मा सर्वत्र देहों में एक है, अथवा प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न है? ॥१९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

व्यवस्थातो नाना[1] ॥२०॥ (१५५)

[व्यवस्थातः] व्यवस्था से [नाना] अनेक हैं (आत्मा, प्रत्येक देह में अलग-अलग।

लोक में प्रत्येक देह के साथ एक विशेष अवस्था देखी जाती है। एक ही काल व देश में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी कोई निर्धन है; कोई मर रहा है, कोई पैदा हो रहा है; एक देह में रहने वाले चेतन की स्थिति दूसरे देह में रहने वाले के साथ नहीं मिलती। किसी देह के साथ सम्बन्ध होना और उसके सहयोग से विभिन्न स्थितियों में होकर गुजरना, आत्मा के अपने कर्मों के अनुसार हुआ करता है। यदि सर्वत्र शरीरों में एक आत्मा हो, तो प्रत्येक देह के साथ जो व्यवस्था देखी जाती है, उसका होना असंभव होगा।

यह व्यवस्था प्रत्येक देह में मन के भिन्न होने के आधार पर कल्पना नहीं की-जासकती। आत्मा सर्वत्र एक है, परन्तु प्रत्येक देह में मन भिन्न है। देहों में सुख-दुःख आदि का भेद मन के आधार पर होता है। उपनिषद् [बृ० १।५।३] में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है, कि काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय आदि सब मन का रूप है। ऐसी स्थिति में सर्वत्र देहों में आत्मा के एक होने पर भी मन के आधार से सुखादि भेद का होना संभव है। ऐसी

१—यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'नाना व्यवस्थातः' चन्द्रा०।

कल्पना युक्ति-युक्त नहीं है। कारण यह है, कि मन ज्ञान, सुख आदि का आश्रय न होकर केवल साधन है, एवं जड़ तत्त्व है। सुखादि की अनुभूति मन में होना संभव नहीं। मन के विषय में उपनिषद् का कथन उसके साधन माने जाने का बोधक है। मन साधन के बिना काम, संकल्प, संशय आदि भावों का आत्मा में उद्भूत होना संभव नहीं होता। साधन की इस महत्ता को उपनिषत्कार बताता है। फलतः प्रत्येक देह में भोक्ता आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। इन्हींको जीवात्मा कहा जाता है। जीवात्माओं से अतिरिक्त समस्त विश्व का नियन्ता परमात्मा एकमात्र सब देहों के बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त रहता है। दोनों आत्म-तत्त्वों का चेतन-स्वरूप समान होने पर भी एक भोक्ता, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, देहादि सहयोग से जन्म-मरण के अविरत प्रवाह में बहने वाला है; इसके विपरीत दूसरा अभोक्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वबन्धविनिर्मुक्त जगन्नियन्ता है। फलतः देहों में आत्माओं को नाना मानना प्रमाणित होता है ॥२०॥

इन्हीं आत्म-विषयक भावनाओं की पुष्टि के लिये सूत्रकार ने शास्त्रीय प्रमाण का संकेत दिया—

[1]शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥२१॥ (१५६)

[शास्त्रसामर्थ्यात्] शास्त्रसामर्थ्य--शास्त्रीय प्रमाण से [च] भी (उक्त अर्थ की पुष्टि होती है)।

न केवल युक्ति के आधार पर, अपितु शास्त्रीय प्रमाणों के अनुसार भी आत्माओं का नाना होना सिद्ध होता है। वेदों तथा उपनिषदों के निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं—'इमे जीवा वि मृतैः' [ऋ० १०।१८।३] 'वयं जीवा जीवपुत्राः' [ऋ० १०।३६।९] 'वयं जीवाः प्रतिपश्येम']ऋ० १०।३७।८] 'जीवा ज्योतिरशीमहि' [ऋ० ७।३२।२६] 'ये समानाः समनसो जीवाः' [यजु० १९।४६] 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' [कठ २।२।१३॥ श्वे० ६।१३] 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' [श्वे० २।५]।

इति वैशेषिकसूत्रविद्योदयभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।
समाप्तस्तृतीयाध्यायः।

१—सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। '०र्थ्याच्चेति' चन्द्रा०।

अथ चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्

गत प्रसंगों में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का उद्देश, उनके लक्षण, परीक्षा एवं अपेक्षित तत्संबन्धी अन्य विवेचन प्रस्तुत कियागया। पृथिव्यादि द्रव्य नित्य एवं अनित्य दो प्रकार के हैं। नित्य पृथिव्यादि के उपपादन के लिये सूत्रकार ने 'नित्य' का स्वरूप बताया—

सदकारणवन्नित्यम्[1] ॥१॥ (१५७)

[सत्] भावरूप पदार्थ [अकारणवत्] जिसका कोई कारण न हो [नित्यम्] नित्य है (वह पदार्थ)।

फल, फूल, अन्न, पात्र, वस्त्र आदि जितने पदार्थ हमारे व्यवहार में आते हैं, तथा पृथिवी, जल, तेज, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि विशाल लोक-लोकान्तर पदार्थ हैं, सब भावरूप हैं; परन्तु ये सब कारणवाले हैं। अर्थात् ये सब अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं। मुख्यरूप से इनके कारण इनके अवयव हैं। जो वस्तु अनेक अवयवों से मिलकर बनती है, वह अनित्य एवं सावयव है। एक वस्तु को जब तोड़ दिया जाता है, तो उसके छोटे अवयव भी सावयव दिखाई देते हैं। घड़े को तोड़ने पर उसके छोटे-छोटे टुकड़े होजाते हैं, पर वे भी सावयव हैं। इसी-तरह अवयवों को तोड़ते चले जायें, तो एक ऐसी स्थिति आजायगी, जो टुकड़ा छोटे-से-छोटा होगा; फिर आगे उसी रूप में उसका टुकड़ा न कियाजासके।

स्थिति यह है, कि इस विभाजन क्रिया का कहीं अन्त मानना पड़ता है। यदि कल्पना के सहारे एक कण का विभाजन करते चले जायें और उसकी सीमा न हो, तो वह अनन्त की ओर बढ़ता चला जायगा। इसको अनवस्था कहाजाता है, क्यों-कि इसमें विराम या ठहरने-ठिकाने का कहीं अवसर नहीं है। ऐसी दशा में पर्वत और राई का दाना दोनों को अवयवानन्त्यरूप में समान मानना पड़ेगा; क्योंकि दोनों के अवयव विभाजन होने की दिशा में अनन्त हैं। तब इन दोनों के परिमाण का भेद कैसे होगा? फलतः वस्तुओं का परस्पर आपेक्षिक जो गुरु-लघुभाव देखा जाता है, वह सब अनवस्था की दशा में विलीन होजायगा। क्योंकि किसी इकाई के विना वस्तु के परिमाण व संख्या का निर्धारण नहीं कियाजासकता। अनवस्था

१—'सदकारणवत् तन्नित्यम्' चन्द्रा०।

की दशा में वह इकाई कभी मिल नहीं सकती। इसलिये विभाजन-क्रिया का अवसान कहीं करना होगा। जहां विभाजन-क्रिया की अन्तिम सीमा है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एक अवयव है, जिसका आगे और विभाग होना संभव नहीं। इसीका नाम 'परमाणु' है। यह पद 'परम' और 'अणु' दो पदों से बना है। परम का अर्थ है–अति, अणु का अर्थ है–छोटा। अत्यन्त छोटा है–परमाणु; यह निरवयव, अविभाज्य, अविच्छेद्य द्रव्य है, अतः इसका नाश नहीं होता। यह समस्त कार्यमात्र का मूल कारण है, इसका कोई कारण नहीं होता; अतः यह नित्य है।

जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नहीं होता, वह नित्य कहाजाता है। द्रव्यों में पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय चार प्रकार के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन; कतिपय गुण; सामान्य, विशेष, समवाय ये सब पदार्थ नित्य माने जाते हैं। पार्थिव आदि चार प्रकार के परमाणु द्रव्य कार्यमात्र के उपादान कारण होते हैं। समस्त दृश्यादृश्य कार्य जगत् उन्हींका विकार है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जगत् के मूल उपादान कारण कोई परमाणुरूप द्रव्य हैं, इसमें क्या प्रमाण हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥ (१५८)

[तस्य] उसका [कार्यम्] कार्य [लिङ्गम्] लिङ्ग है।

उत्पन्न हुआ विद्यमान जगत् उसके मूलकारण परमाणु के अस्तित्व में प्रमाण है। कोई कार्य अपने उपादान कारण के विना उत्पन्न हो नहीं सकता। घटादि कार्य अपने मृत्तिका आदि उपादान कारणों से उत्पन्न होते हैं। विश्व में विविध परिवर्तनों का होना इसके कभी उत्पन्न होने को प्रमाणित करता है। उत्पन्न पदार्थ का अवश्य कोई उपादान कारण होना चाहिये। इसप्रकार कार्य जगत् अपने उपादानकारण पार्थिवादि परमाणुओं के अस्तित्व में प्रमाण है। पदार्थ-विभाजन की प्रक्रिया से परमाणु की स्थिति को प्रथम स्पष्ट करदियागया है ॥२॥

मूलकारण के सद्भाव को अधिक पुष्ट करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

कारणभावात्[1] कार्यभावः ॥३॥ (१५९)

[कारणभावात्] कारण के होने से [कार्यभावः] कार्य होता है।

कारण जब सद्रूप में विद्यमान रहता है, तभी उससे किसी कार्य के उत्पन्न होने की संभावना रहती है। कार्य की विद्यमानता दृष्टिगोचर है, प्रत्यक्ष है; तब उससे कारण के सद्भाव का अनुमान होजाता है। सूत्रकार इससे यह स्पष्ट

१—'कारणाभावाद्धि कार्याभावः' अ० प्रा०। '०भावाद्धि' चन्द्रा०।

करना चाहता है, कि जो मूलकारण है, वह भावरूप है, अभाव से भावकार्य उत्पन्न नहीं होसकता।

सूत्र के 'कारणभावात्' और 'कार्यभाव:' दोनों पदों में सप्तमी समास के अनुसार–कारण में होने से कार्य में होते हैं--सूत्रार्थ होगा। कौन होते हैं ? गुण। कार्य द्रव्यों में जो गुण देखे जाते हैं, वे कारणगुणपूर्वक हैं। कारण में विद्यमान गुणों से कार्य में गुण आते अथवा उत्पन्न होते हैं, सूत्रकार ने इससे यह स्पष्ट किया, कि कार्य जगत् में जो रूप, रस आदि गुण दिखाई देते हैं, वे जगत् के मूल उपादान-कारण परमाणुओं से आते हैं; अतः परमाणु इन गुणों से युक्त अर्थात् इन गुणों के आश्रय रहते हैं, यह सिद्ध होता है।

परमाणु नित्य हैं, उनमें समवेत गुण भी नित्य हैं, पार्थिव-परमाणुगत गुणों के विषय में थोड़ा विचारभेद है। वैशेषिक आचार्यों का कहना है, कि जब कच्चे घड़े को अग्निसंयोग द्वारा पकाया जाता है, उस समय पाक परमाणुपर्यन्त होता है। अग्निसंयोग होने पर घट के परमाणु अलग-अलग होजाते हैं; प्रत्येक परमाणु के साथ स्वतन्त्र रूप से अग्नि के अवयव संयुक्त होकर पाक करते हैं। उससे पहले रूप रस आदि गुणों का नाश होजाता है, नये रूप, रसआदि उत्पन्न होजाते हैं। नवोदित गुणों से युक्त वे परमाणु पुनः संयुक्त हो पक्के घट के रूप में आजाते हैं, इसप्रकार नित्य पार्थिव परमाणु के गुण पाकज होने से अनित्य हैं, यह विचार **'पीलुपाकवाद'** कहलाता है। पीलु परमाणु का नाम है; उसीमें पाक मानेजाने से यह नाम दियागया है।

नैयायिक आचार्यों का कहना है, कि पाक अवयवी में होता है; घट के परमाणुओं का पृथक् होना अपेक्षित नहीं। यह विचार **'पिठरपाकवाद'** कहाजाता है। पिठर अवयवी का नाम है, उसमें पाक मानेजाने से यह नाम मिला है।

इस विषय में विचारणीय है, घट नष्ट होकर जब समस्त पक्व अवयव परमाणु अवस्था में पहुंच जाते हैं, तब उनका रूप क्या होता है ? रक्त या श्याम ? यदि रक्त रहता है, तो पाकज होने पर भी वह रूप सदा बना रहेगा, उत्पन्न होने पर भी नाश न होना चिन्त्य है। यदि उस दशा में श्याम रूप है, तो रक्त का श्याम कैसे होजाता है ? इसका समाधान मिलना चाहिये। पार्थिव परमाणु का निसर्गप्राप्त रूप श्याम है, पाक से रक्त होजाता है। विचार्य यही है, परमाणु में पाक होने पर रक्त परमाणु पुनः श्याम कैसे होजाता है ? यदि अवयवी में पाक होता है, अवयवीगत रूप बदलता है, तो क्या परमाणु उस अवस्था में भी श्याम बना रहता है ? यदि हां; तो पक्व घट का गुण रूप कारणगुणपूर्वक कैसे ? फिर श्यामरूप नष्ट होकर रक्त रूप उत्पन्न होता है। यह किसीप्रकार सम्भव नहीं, कि घट

रक्त रहे, और उसके मूल उपादान परमाणु श्याम, पाक-मूलक गुण विवेचन गंभीर एवं विचार्य है ॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गत सूत्रों में कार्य के स्वरूप से मूल उपादानकारण के स्वरूप का अनुमान किया गया। इसके अनुसार कार्य के अनित्यरूप होने से मूलकारण को अनित्य मानाजाना चाहिये, तब परमाणु को नित्य कैसे कहा गया? यथार्थ में नित्य कोई वस्तु न रहनी चाहिये। सूत्रकार ने बताया–

अनित्य[1] इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥ (१६०)

[अनित्यः] अनित्य [इति] यह [विशेषतः] विशेष का [प्रतिषेधभावः] प्रतिषेध होना है।

सूत्रकार ने अनेक हेतुओं के आधार पर यह प्रथम प्रमाणित कर दिया है, कि जगत् के मूल उपादानकारण परमाणु नित्य हैं। अन्य किसी द्रव्य के कारणभूत न होने और अनवस्था आदि से बाधित होकर परमाणु की नित्यता स्वीकार कीगई है। उसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने यहां प्रकारान्तर का आश्रय लिया।

पहली बात यह है–यदि मूलकारण को अनित्य कहाजाता है, तो वह मूलकारण नहीं होसकता। अनित्य पदार्थ स्वयं अपने किन्हीं कारणों से उत्पन्न हुआ होसकता है, वह मूलकारण कैसे? दूसरी बात है–'अनित्य' पद, 'नित्य' का नञ् [निषेध] के साथ समास होने से निष्पन्न होता है। यदि 'नित्य' कोई अर्थ नहीं है, तो इस पद का प्रयोग किसी बोध्य अर्थ के लिये कियाजाना व्यर्थ व असंगत होगा। पर ऐसा नहीं है। 'अनित्य' को समझने-कहने के लिये 'नित्य' को स्वीकारना अनिवार्य है। अनित्य है क्या? किसी नित्य विशिष्ट अर्थ का प्रतिषेध ही तो है। प्रतिषेध के लिये नित्य को पहले मानना होगा। फलतः यह कहना-समझना निराधार है, कि कोई पदार्थ नित्य नहीं, सब अनित्य हैं। वस्तुतः 'अनित्य' का प्रादुर्भाव 'नित्य' से होता है। नित्य-कारण, अनित्य कार्यरूप में परिणत व अभिव्यक्त हुआ करता है ॥४॥

सूत्रकार ने बताया, ऐसा न समझना—

अविद्या[2] ॥५॥ (१६१)

[अविद्या] अविद्या है, अज्ञान है।

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'अनित्यमिति च विशेषप्रतिषेधभावः।' चन्द्रा०।

२. 'अविद्या चास्मदादीनाम्।' अ० प्रा०। 'अविद्या च', चन्द्रा०।

मूल उपादानकारण को अनित्य कहने से अधिक अज्ञान और क्या होसकता है ? जिस तत्त्व को जगत का मूल उपादान मानागया हो ; उसको अनित्य बताने के लिये चाहे जितने तथाकथित हेतु उपस्थित किये जायें, वे सद्धेतु नहीं होसकते, हेत्वाभास होंगे। कारण और कार्य की विशेष स्थिति को समझना चाहिये ; तब कौन नित्य है, कौन अनित्य; यह स्पष्ट होजाता है। जो वस्तुतः मूलकारण नहीं है, पर किसी विशेष निमित्त व स्तर की भावना से उसे मूल उपादान मान-लियागया है, उसकी बात दूसरी है। फिर भी इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं, कि जबतक वह निमित्त बना रहता है, अथवा तत्त्व-वर्णन के स्तर की अपेक्षा रहती है, तबतक अमूल उपादान को मूल मानाजाता रहे ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि मूल उपादान का अस्तित्व है, तो वह प्रत्यक्ष से उपलब्ध क्यों नहीं होता ? सूत्रकार ने प्रत्यक्ष से उपलब्धि की स्थिति को स्पष्ट किया—

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥ (१६२)

[महति] महत् परिमाण वाले द्रव्य में [अनेकद्रव्यवत्त्वात्] अनेक द्रव्यवाला होने से [रूपात्] रूप से [च] और (स्पर्श से) [उपलब्धिः] प्रत्यक्ष होता है (वस्तु का)।

प्रत्यक्ष के लिये सर्वप्रथम यह समझ रखना चाहिये, कि प्राचीन आचार्य चक्षु के समान त्वक् को भी द्रव्यग्राहक इन्द्रिय मानते हैं। त्वक् इन्द्रिय स्पर्शगुण के साथ स्पर्शवद्द्रव्य का भी ग्रहण करता है। किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिये पहली बात है—उसका महत्परिमाण वाला होना। दूसरी बात है—अनेक द्रव्य उसके आश्रय हों, अर्थात् वह अनेक द्रव्यों में आश्रित हो। तीसरी बात है—वह रूप हो, तथा रूपवाली वस्तु हो, अर्थात् रूप का आश्रय हो। चौथी बात है—वह स्पर्श हो, अथवा स्पर्शवद्-द्रव्य हो। चौथी बात[1] व्याख्याकारों ने सूत्र के 'च' पद से अभिव्यक्त की है।

परमाणु यद्यपि रूपवाला और स्पर्शवाला है, अर्थात् रूप, स्पर्श का आश्रय है; परन्तु वह न महत्परिमाण वाला है, न अनेकद्रव्याश्रित है; इसलिये पर-माणु का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। द्व्यणुक का भी प्रत्यक्ष नहीं होता ; यद्यपि वह रूप, स्पर्शवाला व अनेकद्रव्याश्रित है, पर महत्परिमाण वाला नहीं है। झरोखे से होकर भीतर आती हुई सूर्य-किरणों में अनन्त रजकण दिखाई देते हैं। प्रत्यक्ष होने की सभी शर्तें इनमें पूरी होती हैं। इनका प्रत्यक्ष चक्षु द्वारा होजाता है। स्पर्श भी इनमें रहता है, पर वह त्वगिन्द्रिय ग्राह्य न होने से त्वक् द्वारा इनका

१. द्रष्टव्य, प्रस्तुत सूत्र पर अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या।

प्रत्यक्ष नहीं होपाता। घटादि पदार्थों का त्वगिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होजाता है। वहां स्पर्श उद्भूत रहता है, रजकणों में नहीं। जो आचार्य त्वगिन्द्रिय को द्रव्य-ग्राहक नहीं मानते, उनके विचार से त्वगिन्द्रिय द्वारा घट-पट आदि के केवल स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, द्रव्य का अनुमान।

आकाश, काल, दिशा आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता, यद्यपि ये महत्परिमाण वाले हैं, परन्तु न ये अनेकद्रव्याश्रित हैं, और न रूप-स्पर्श का आश्रय। सारभूत यह समझना चाहिये—जो द्रव्य अणु-परमाणु परिमाण वाले अथवा परममहत्परि-माण वाले हैं, उनका बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता। आत्मा, परमात्मा का प्रत्यक्ष योगजधर्मसाहाय्य से मानस अथवा आन्तर प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के लिये उद्भूत रूप आदि होने पर भी यदि अन्य निमित्त से वह अभिभूत रहता है, तो भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होपाता, जैसे दिन में सौर-तेज से अभिभूत होने के कारण तारा-नक्षत्र आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्हीं वस्तुओं के किसी समय प्रत्यक्ष न होने के—अतिदूर, अति सामीप्य आदि—अन्य भी अनेक कारण देखे जाते हैं ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सब शर्तें पूरी होने पर भी वायु का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे[1] रूपसंस्काराभावाद्
वायोरनुपलब्धि[2]:॥७॥ (१६३)

[सति] होने पर [अपि] भी [द्रव्यत्वे] द्रव्यरूप [महत्त्वे] महत्परिमाण वाला [रूपसंस्काराभावात्] रूपसंस्कार के अभाव से [वायोः] वायु का [अनुपलब्धिः] चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

महत्परिमाण वाला द्रव्य होने पर वायु का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष इसीकारण नहीं होता, क्योंकि उसमें रूप-संस्कार का अभाव रहता है। सूत्र में 'संस्कार' पद का अभिप्राय है, प्रत्यक्ष के लिये अपेक्षित रूप-सम्बन्धी विशेषता। वह विशेषता है—रूप का उद्भूत होना तथा अनभिभूत होना। इनमें से किसी प्रकार के रूप का समवाय वायु में नहीं होता। यद्यपि समवाय के सर्वत्र एक होने से स्पर्शादि-निरूपित समवाय वायु में है; पर रूपनिरूपित समवाय न होने से वायु का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता। जो आचार्य त्वक् को द्रव्यग्राहक इन्द्रिय मानते हैं, उनके विचार से वायु का त्वाच प्रत्यक्ष होता है ॥७॥

---

१. 'सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे' सूत्रांश नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'वायावनुप०' चन्द्रा०।

गतप्रसंग में प्रतिपादित विषय को ध्यान में रखते हुए शिष्य जिज्ञासा करता है, [महत्परिमाण और अनेकद्रव्याश्रय न होने से परमाणु का प्रत्यक्ष न हो; परन्तु परमाणुगत रूप का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? आचार्य सूत्रकार ने रूप के प्रत्यक्ष होने की स्थिति को समझाया—

अनेकद्रव्यसमवायाद्[1] रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥८॥ (१६४)

[अनेकद्रव्य समवायात्] अवयवी में समवाय से [रूपविशेषात्] रूपविशेष से–रूप में वैशिष्ट्य के अभिव्यक्त होने से [च] और [रूपोपलब्धिः] रूप का प्रत्यक्ष होता है।

सूत्र का 'अनेकद्रव्य' पद अवयवी–अर्थ को प्रकट करता है–'अनेकं द्रव्यं आश्रयो यस्य' अनेक द्रव्य हैं आश्रय जिसका। अनेक द्रव्य जिसका आश्रय हों, ऐसा द्रव्य केवल 'अवयवी' होता है। रूप के प्रत्यक्ष के लिये पहली बात है–अवयवी में रूप का समवाय होना। जो रूप किसी अवयवी में समवेत हो, उसीका प्रत्यक्ष होता है। परमाणुगत रूप अवयवी में समवेत नहीं है, परमाणु स्वयं एक अवयव है, इसलिये उसमें समवेत रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता।

द्व्यणुक अवयवी है, वह दो परमाणु-अवयवों के परस्पर मिलने से बनता है। उसमें समवेत रूप का प्रत्यक्ष होना चाहिये, जो वस्तुतः होता नहीं; इसीलिये सूत्र में दूसरी बात कही–'रूपविशेषात्' प्रत्यक्ष योग्य होने के लिये रूप में जब वैशिष्ट्य अभिव्यक्त होजाता है, तभी अवयवीगत रूप का प्रत्यक्ष होपाता है। रूप का वैशिष्ट्य है–उद्भूत होना, उद्भूत होकर अन्य किसी निमित्त से अनभिभूत रहना, रूपत्व-विशिष्ट होना। अन्तिम बात रूप में सर्वत्र बनी रहती है। द्व्यणुक अवयवी में यद्यपि रूपत्वविशिष्ट रूप है, परन्तु वहां अभी उद्भूतत्व अभिव्यक्त नहीं होपाता। रूप के प्रत्यक्ष के लिये उसका उद्भूत होना आवश्यक है। इसीलिये द्व्यणुकगत रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता। दिन में तारा-नक्षत्र आदि के रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; वह उद्भूत होकर भी सौर-तेज से अभिभूत रहता है।

रूप के प्रत्यक्ष के लिये दो बातें आवश्यक बताईं। १—अवयवी में रूप का समवेत होना। २—रूप के वैशिष्ट्य—उद्भूतत्व आदि का अभिव्यक्त होजाना। परमाणुगत रूप में ऐसा न होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रस्तुत सूत्र में 'विशेष' पद से उसी अर्थ को प्रकट किया गया है, जो गत सूत्र में 'संस्कार' पद

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। **'अनेकद्रव्येण द्रव्येण समवायाद् रूपविशेषाच्चोपलब्धिः' चन्द्रा०।**

से कहा है ॥८॥

सूत्रकार अन्य गुणों के प्रत्यक्ष होने में इसी व्यवस्था का अतिदेश करता है—

तेन[1] रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥९॥ (१६५)

[तेन] उस व्यवस्था से [रसगन्धस्पर्शेषु] रस, गन्ध, स्पर्श गुणों में [ज्ञानम्] प्रत्यक्ष ज्ञान का होना [व्याख्यातम्] व्याख्यात समझना चाहिये।

रस, गन्ध आदि गुणों का प्रत्यक्ष तभी होता है, जब वे अवयवी में समवेत हों, तथा उनमें उद्भूतभाव अभिव्यक्त होगया हो। इस कथन का सार यही है, कि जब अवयवी में अपेक्षित महत्त्व उत्पन्न होजाता है, उसी अवस्था में तद्गत रूपादि गुणों का प्रत्यक्ष होपाता है। संभवतः इसीकारण व्याख्याकारों ने गत सूत्र के 'अनेकद्रव्य' पदनिविष्ट 'अनेक' पद को भूयस्त्वपरक माना है। इसका तात्पर्य है—जब कोई अवयवी इतने अधिक अवयवों के संयोग से आत्मलाभ करता है, जब उसमें प्रत्यक्षतापादन के योग्य महत्त्व [महत्परिमाण] उत्पन्न हो-जाय; तभी उस अवयवी में रूपादि गुण प्रत्यक्ष-योग्य होपाते हैं। उस अवस्था में किसी निमित्त से अभिभूत होकर न दीखसकना अलग बात है ॥९॥

रूपादि प्रत्यक्ष के लिये बताये गये नियम की पुष्टि के लिये सूत्रकार ने कहा—

[2]तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥ (१६६)

[तस्य] उसके [अभावात्] न होने से (परमाणु में) [अव्यभिचारः] व्यभि-चार नहीं है (कोई दोष नहीं है, उक्त नियम में)।

रूपादि–प्रत्यक्ष के लिये जो नियम [अनेकद्रव्य–समवाय, तथा रूपविशेष] बताये गये; उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। वह नियम अर्थात् वह स्थिति परमाणु में न होने से परमाणु के रूपादि का प्रत्यक्ष नहीं होता। व्यभिचार व दोष उस समय होता, जब उन नियमों के न होने पर प्रत्यक्ष होजाता; अथवा नियमों के होने पर प्रत्यक्ष न होता। यह दोनों अवस्थाएं परमाणु में नहीं हैं। पर-माणु न अवयवी है, और न परमाणु का रूप उद्भूत है। इसलिये रूप-प्रत्यक्ष के लिये बताये गये नियम निर्दोष हैं।

आचार्य प्रशस्तपाद ने 'गुरुत्व' गुण का प्रत्यक्ष होना नहीं माना। परन्तु न्याय-लीलावतीकार वल्लभ आचार्य ने गुरुत्व का प्रत्यक्ष चक्षु से न मान त्वगिन्द्रिय से स्वीकार किया है। किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये जो नियम बताये हैं (उद्भूतरूप अथवा उद्भूतरूपवाला होना, आदि), गुरुत्व में उनके न होने से

१. 'एतेन' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'तदभावादव्यभिचारः' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, यह स्पष्ट है। परन्तु गुरुत्व का त्वाच (स्पार्शन) प्रत्यक्ष होजाता है, यह कथन सर्वथा सन्दिग्ध है। [किसी वस्तु के छूलेने से उसके यथार्थ गुरुत्व का जान लेना–प्रत्यक्ष कर लेना–संभव नहीं। तुला के विना गुरुत्व का यथार्थ बोध नहीं होता, और वह प्रक्रिया प्रत्यक्ष की सीमा से सर्वथा बाहर है। अतः गुरुत्व को अप्रत्यक्ष मानना संगत है ॥१०॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुण एक-एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं। सूत्रकार अब ऐसे गुणों की गणना करता है, जो दो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जासकते हैं। वे हैं—

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥११॥ (१६७)

[संख्याः] संख्या [परिमाणानि] परिमाण (लम्बाई, चौड़ाई, गोलाई आदि) [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व (किन्हीं वस्तुओं का अलग-अलग होना) [संयोगविभागौ] संयोग, विभाग [परत्वापरत्वे] परत्व, अपरत्व [कर्म] कर्म-क्रिया–गति आदि [च] अन्य (कतिपय गुण स्नेह–वेग–द्रवत्व तथा इन सब गुणों में रहने वाले सामान्य जातिधर्म) [रूपिद्रव्यसमवायात्] रूपवाले द्रव्य में समवाय से [चाक्षुषाणि] चक्षु इन्द्रिय द्वारा गृहीत किये जाते हैं।

सूत्र में 'चाक्षुष' पद 'स्पार्शन' का उपलक्षण है। ये गुण स्पर्शन–त्वक् इन्द्रिय द्वारा भी ग्रहण किये जाते हैं। अथवा पूर्वपठित 'च' की यहां योजना कर उससे 'त्वक्' का संग्रह कर लेना चाहिये। इन गुणों का प्रत्यक्ष चक्षु व त्वक् इन्द्रिय से वहीं होता है, जहां प्रत्यक्षयोग्य रूप का समवाय हो। तात्पर्य यह है–जिन द्रव्यों में चक्षु द्वारा रूप का ग्रहण होता है, उन्हीं द्रव्यों में चक्षु एवं त्वक् के द्वारा संख्या, परिमाण आदि गुणों का ग्रहण होता है। इन संख्या आदिमें समवेत जाति-धर्मों का भी ग्रहण होजाता है ॥११॥

इसीके फलस्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अरूपिष्वचाक्षुषाणि[1] ॥१२॥ (१६८)

[अरूपिषु] रूपरहित द्रव्यों में [अचाक्षुषाणि] चक्षु एवं त्वक् से ग्रहण नहीं होता (संख्या आदि निर्दिष्ट पदार्थों का)।

जिन द्रव्यों में रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; उनमें चक्षु अथवा त्वक् से–गत सूत्रनिर्दिष्ट–संख्या आदि का ग्रहण नहीं होता। फलतः संख्या आदि के चाक्षुष अथवा त्वाच प्रत्यक्ष के लिये संख्या आदि गुणों का रूपी द्रव्य में समवेत होना आवश्यक है ॥१२॥

---

१ 'अरूपिष्वचाक्षुषत्वात्' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

जिस इन्द्रिय से जिस द्रव्य, गुण, कर्म का ग्रहण कियाजाता है, उसी इन्द्रिय से द्रव्य आदि में समवेत जाति का ग्रहण होता है; इस व्यवस्था को प्रमाणित करने की भावना से अतिदेशरूप में सूत्रकार ने कहा—

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं[1] ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥ (१६९)

[एतेन] इससे (चक्षु आदि द्वारा रूपादिग्रहण के कथन से [गुणत्वे] 'गुणत्व' जाति के विषय में [भावे] सत्ता जाति के विषय में [च] और [सर्वेन्द्रियम्] सब इन्द्रियों द्वारा होने वाला [ज्ञानम्] प्रत्यक्षज्ञान [व्याख्यातम्] व्याख्यात समझना चाहिये।

रूप आदि गुणों का यथायथ विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कियाजाता है। रूपादि का ग्रहण जिस स्थिति में जिस इन्द्रिय के द्वारा होता है; उसी इन्द्रिय के द्वारा उस स्थिति में रूपादिगुणवृत्ति 'गुणत्व' जाति तथा 'सत्ता' जाति का ग्रहण होता है। क्योंकि विभिन्न गुण यथायथ सब इन्द्रियों द्वारा गृहीत किये जाते हैं, इसलिये उनमें समवेत 'गुणत्व' और 'सत्ता' जाति का ग्रहण सभी इन्द्रियों द्वारा होगा। जब चक्षु से रूप-गुण का ग्रहण होता है, तब उसमें समवेत 'गुणत्त्व' व 'सत्ता' जाति का ग्रहण चक्षु से होता है। जब घ्राण से गन्ध-गुण का ग्रहण कियाजाता है, तब गन्ध-गुण में समवेत 'गुणत्व' व 'सत्ता' जाति का ग्रहण घ्राण इन्द्रिय द्वारा होगा। इसीप्रकार रस, स्पर्श व शब्द का ग्रहण करने वाली रसन, त्वक्, श्रोत्र इन्द्रियां रसादि गुण में समवेत 'गुणत्त्व' व 'सत्ता' का ग्रहण करेंगी। इसका तात्पर्य हुआ—अपने-अपने गुणों को ग्रहण करने वाली सभी इन्द्रियां 'गुणत्व' तथा 'सत्ता' का ग्रहण करेंगी। इससे 'गुणत्व' व 'सत्ता' जाति की सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यता प्रमाणित होती है। साथ में यह सिद्धान्त पुष्ट होता है, कि जिस इन्द्रिय से जो वस्तु गृहीत होती है; उसमें रहने वाली जाति का उसी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता है ॥१३॥

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयाह्निकम्

मूलकारण परमाणु-विषयक परीक्षा के अनन्तर, स्पर्श-गुण के आश्रय पृथिवी

१—'सर्वेन्द्रियज्ञानं' चन्द्रा०।

आदि चार कार्य द्रव्यों की परीक्षा प्रारम्भ करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

तत्पुनः[1] पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रिय-
विषयसंज्ञकम् ॥१॥ (१७०)

[तत्] वह [पुनः] फिर [पृथिव्यादि] पृथिवी आदि [कार्यद्रव्यम्] कार्य द्रव्य [त्रिविधम्] तीन प्रकार का है, [शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्] शरीर, इन्द्रिय, विषय नामवाला।

गत प्रसंग में कहागया—पृथिवी, जल, तेज, वायु चारों द्रव्य नित्य-अनित्य भेद से दो प्रकार के होते हैं। नित्य पृथिव्यादि परमाणुओं का गत आह्निक में विवेचन कियागया। प्रस्तुत आह्निक में पृथिव्यादि कार्यद्रव्य विवेचनीय हैं। उसीके अनुसार कार्य पृथिवी को स्थूलरूप से तीन भागों में विभाजित कियागया।

शरीर—मानव, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग आदि सभी जीवधारियों के शरीरों का इसमें समावेश होजाता है। जहां जीवन है, अथवा जीवन रहा है, वह शरीर मानागया है। चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय शरीर है। लाभ-हानि अथवा सुखः-दुःख की भावना से प्रवृत्ति-निवृत्ति का होना चेष्टा है। बड़े-से-बड़े शरीर से लेकर छोटे-से-छोटे में ये प्रवृत्ति-निवृत्ति देखीजाती हैं। अर्थ हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। ये यथाक्रम पृथवी, जल, तेज, वायु, आकाश के गुण हैं; इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने की दृष्टि से इन्द्रियों के अर्थ हैं। यह पार्थिव शरीर के सम्बन्ध में कहागया। पृथिवी पर—जलचर, नभचर, भूचर—सभी जीवधारी शरीर पार्थिव हैं। जलीय, तैजस, वायवीय शरीर पृथिवी पर उपलब्ध नहीं हैं, अन्य लोकों में हों, अथवा अज्ञात हों, ऐसा निश्चय कह सकना सम्भव नहीं। कदाचित् ऐसे शरीरों का उल्लेख कल्पनामूलक है।

इन्द्रिय—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये पांच इन्द्रिय हैं। शरीर में आश्रित रहती हैं, इसलिये शरीर को इन्द्रियाश्रय कहागया है। इनमें घ्राण इन्द्रिय पार्थिव है, रसन जलीय, चक्षु तैजस, त्वक् वायवीय तथा श्रोत्र आकाशरूप है।

विषय—शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त जो शेष रहजाता है, वह सब 'विषय' विभाग के अन्तर्गत आता है। पृथिवी, जल, तेज, वायु जिस रूप में अवस्थित हैं, वह सब 'विषय' है। इसमें—पृथिवी और इसप्रकार की समस्त लोक-लोकान्तररूप रचना, समस्त जल, अखिल अग्नि, सूर्य एवं तैजस लोक-लोकान्तर तथा समग्र वायुरूप तत्त्व, चाहे कहीं उसका अस्तित्व हो—इन सबका समावेश

१. सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०। व्याख्या है, अ० प्रा०।

होजाता है । यद्यपि 'विषय' पहले दो विभागों को भी अपने अन्दर समेट लेता है; पर तत्त्व-विवेचन की सुविधा के विचार से ऐसा विभाग कल्पना करलियागया है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मानव आदि शरीर को पार्थिव बताया, क्या इसके समवायिकारण तत्त्व केवल पार्थिव हैं ? जलीय आदि सभी तत्त्व इसमें देखेजाते हैं । आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात्[1] पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥ (१७१)

[प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणाम्] प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों के [संयोगस्य] संयोग का [अप्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष न होने के कारण [पञ्चात्मकम्] पांच भूतों से बना (शरीर) [न] नहीं [विद्यते] है ।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों के परस्पर संयोग का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता, यह एक व्यवस्था है । एक प्रत्यक्ष द्रव्य है—घट ; दूसरा अप्रत्यक्ष द्रव्य है—आकाश । इन दोनों के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होसकता । यदि पांचों भूततत्त्व मिलकर–संयुक्त होकर शरीर का आरम्भ करते, तो शरीर प्रत्यक्ष न होता, भूतों में तीन प्रत्यक्ष और दो अप्रत्यक्ष हैं । इनके संयोग का जब प्रत्यक्ष नहीं होसकता, तो उससे आरब्ध शरीर कैसे प्रत्यक्ष होता ? पर शरीर प्रत्यक्ष है ; इससे स्पष्ट है, न पांच भूततत्त्व इसके समवायिकारण हैं, न उनका संयोग असमवायिकारण ।

तब शरीर में जलीय आदि अंश उपलब्ध कैसे होते हैं ? जल, तेज, वायु, आकाश सभी की उपलब्धि–पसीना-रक्त, गरमी, प्राण–अपान आदि, **अवकाशदान** के रूप में--सदा रहती है । वस्तुतः जलीय आदि अंश शरीर के उपादान अथवा समवायिकारण नहीं हैं ; ये केवल उपष्टम्भक–सहयोगी–सहारा देनेवाले हैं । सहयोगीरूप में शरीर के साथ इनका संयोग है ; पर उनके समवायिकारण न होने से उनका संयोग शरीर का असमवायिकारण नहीं होता । अन्य भूतों का सहयोग केवल आत्मा के शरीर में रहने पर होता है, आत्मा के—शरीर से बाहर–निकल जाने पर अन्य किसी भूत का सहयोग शरीर के साथ नहीं रहता । शुष्क शरीर में केवल पृथिवी के गन्ध आदि गुण उपलब्ध होते हैं । यह स्थिति शरीर के केवल पार्थिव होने को स्पष्ट करती है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष द्रव्यों का संयोग यदि प्रत्यक्ष

---

१. **'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षवृत्तेरप्रत्यक्षत्वाद् वायुवनस्पतिसंयोगवत् पञ्चात्मकं न विद्यते, अ० प्रा०। '०क्षाणामप्रत्यक्षत्वात् संयोगस्य पञ्चा०' चन्द्रा० ।**

नहीं होता, तो जो भूत प्रत्यक्ष हैं, उन्हींको शरीर का उपादान क्यों न मानाजाय? आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च[1] न त्र्यात्मकम् ॥३॥ (१७२)

[गुणान्तराप्रादुर्भावात्] अन्य गुण का प्रादुर्भाव न होने से [च] और अथवा भी [न] नहीं है [त्र्यात्मकम्] तीन भूतों से बना शरीर त्रैभौतिक।

शरीर त्रैभौतिक नहीं है। कारण यह है—शरीर में जो गुण उपलब्ध होते हैं, वे जल व तेज-गत गुणों से आरब्ध नहीं हैं। यदि जल और तेज शरीर के उपादान होते, तो शरीर में जलीय गुण स्नेह उपलब्ध होता, तथा पृथिवी-जल-तेज के रूप-रस और स्पर्श मिलकर कार्य शरीर में चित्ररूप, चित्ररस व चित्रस्पर्श का आरम्भ करते; जैसाकि विविध वर्ण के अवयवों से आरब्ध अवयवी में चित्ररूप उपलब्ध होता है। कार्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक हुआ करती है। इस व्यवस्था के अनुसार शरीर में केवल पार्थिव गुण उपलब्ध होते हैं। इसलिये पार्थिव अवयवों से शरीर का आरम्भ मानाजाना चाहिये; शरीर का आरम्भ अथवा उत्पाद न पांच भूतों के संयोग से संभव है, न तीन भूतों के।

विजातीय द्रव्यों के संयोग को—चाहे वह पांच का हो, चार का हो या तीन का हो—यदि द्रव्यान्तर का आरम्भक मानाजाता है; तो पूर्वोक्त के अनुसार या तो आरब्ध द्रव्यान्तर में चित्रगुण उत्पन्न होंगे, या फिर कोई गुण उत्पन्न न होगा। वह द्रव्य अगन्ध, अरस आदि होकर गुणरहित रहेगा। क्योंकि कार्य के गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं, इसलिये विजातीय द्रव्यारब्ध कार्य में या तो सब गुणों का

१. 'त्र्यात्मकमपि न' अ० प्रा०। चन्द्रा०। हेतुपद पठित नहीं है, अ० प्रा०। इसके आगे 'आत्मसंयोगश्च प्रतिषिद्धो [आत्मसंयोगस्त्वविप्रतिषिद्धो' चन्द्रा०] मिथः पञ्चानाम्' यह अतिरिक्त एक सूत्र पठित है, जो अन्य उपलब्ध संस्करणों में नहीं है। इस सूत्र का तात्पर्य है—पांच भूतों का परस्पर एक-दूसरे के साथ ऐसा संयोग वैशेषिकशास्त्र में प्रतिषिद्ध है, अर्थात् अभिमत नहीं है, जो किसी विशिष्ट द्रव्य का आरम्भक हो। प्रत्येक प्रकार के भूत-परमाणुओं से आरब्ध द्रव्य अन्य द्रव्य के साथ संयुक्त होकर सहयोगी तो बन सकते हैं, पर विजातीय द्रव्य मिलकर किसी द्रव्यान्तर के आरम्भक नहीं होते।

अगले सूत्र 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः' की रचना के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है; कदाचित् यह भी मूलसूत्र रहा हो; किसी कारण ग्रन्थ से भ्रष्ट होगया।

संघट्ट होजायगा, या फिर कोई गुण न उभर पायेगा । फलतः यह व्यवस्था अत्यावश्यक है, कि विजातीय द्रव्यों का संयोग द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं होता ।।३।।

इस व्यवस्था के अनुसार विजातीय द्रव्य के सहयोगमात्र को प्रतिषिद्ध न समझ लियाजाय; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः[१] ।।४।। (१७३)

[अणुसंयोगः] विजातीय अणुओं का परस्पर सहयोगी संयोग [तु] तो [अप्रतिषिद्धः] प्रतिषिद्ध नहीं है (वैशेषिक शास्त्र में) ।

विजातीय अणुओं का परस्पर अनारम्भक संयोग वैशेषिक शास्त्र में प्रतिषिद्ध नहीं है । विजातीय द्रव्यों के परस्पर सहयोगी संयोग को आचार्य अभिमत बताते हैं । गौतमीय न्यायशास्त्र में शरीर को पार्थिव इसीकारण मानागया है, कि उसमें पृथिवी के विशेषगुण उपलब्ध होते हैं[२] । फलतः शरीर में क्लेद, पाक आदि के रहने पर किसीप्रकार का असांगत्य नहीं है ।।४।।

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या पार्थिव शरीर के और कोई विभाग संभव हैं, अथवा समस्त शरीर एक ही श्रेणी के रहते हैं ? सूत्रकार ने बताया—

तत्र[३] शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ।।५।। (१७४)

[तत्र] वहां [शरीरम्] शरीर (पार्थिव) [द्विविधम्] दो प्रकार का है [योनिजम्] योनिज [अयोनिजम्] अयोनिज [च] और ।

पार्थिव, आप्य, तैजस आदि शरीरों के बीच वह पार्थिव शरीर दो प्रकार का होता है । एक योनिज, दूसरा अयोनिज ।

गर्भाशय से देह के बाहर आने के मार्ग का नाम—अथवा देहोत्पत्ति के स्थानविशेष का नाम योनि है । इसप्रकार से जो देह उत्पन्न होते हैं, वे 'योनिज' कहे जाते हैं । योनिज के पुनः दो भेद हैं—जरायुज और अण्डज । जरायु चमड़े जैसी पतली उस झिल्ली का नाम है, जिसमें गर्भ के भीतर देह लिपटा रहता है । जरायुज में मानव तथा पशुओं के देह आते हैं । अण्डज में पक्षी और भूमि पर

१. 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धो मिथः पञ्चानाम्' अ० प्रा० । 'आत्मसंयोगस्त्वविप्रतिषिद्धो मिथः पञ्चानाम्' चन्द्रा० ।

२. द्रष्टव्य गौतम-न्यायसूत्र 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' [३।१।२८] शंकरमिश्र ने उपस्कार व्याख्या में 'पार्थिवं तद्विशेषगुणोपलब्धेः' पाठ दिया है ।

३. अ० प्रा० में 'तच्च' पाठ अधिक युक्त प्रतीत होता है । यह सूत्र नहीं है, चन्द्रा० ।

सरकने वाले [सरीसृप] देह आते हैं।

योनिज विभाग मैथुनी सृष्टि की दृष्टि से है, जिसमें नर-नारी के संयोग द्वारा रज-वीर्य के सन्निपात से देह का आरम्भ होता है। सर्ग के आदिकाल में जब प्राणी का सर्वप्रथम देह प्रकाश में आता है, वह अमैथुनी सृष्टि है, जिसमें नर-नारी का परस्पर संपर्क नहीं रहता। यह देहरचना अथवा देह-सृष्टि 'अयोनिज' है। क्योंकि गर्भाशय से बाहर निकलने के 'योनि' नामक मार्ग का इसमें उपयोग नहीं होता। सर्गादि काल में देवर्षियों, मानवों तथा अन्य समस्त प्राणियों के देह इसी श्रेणी के रहते हैं। यह ऐश्वरी सृष्टि कहीजाती है। उसकी प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार रज-वीर्य के मूलतत्त्वों के–किसी विशिष्ट खोल आदि में–इकट्ठा होजाने पर देहरचना प्रारम्भ होती व पुष्ट होती है, अनन्तर योग्य अवसर आनेपर खोल फट जाते हैं और प्रथम देह प्रकाश में आजाते हैं[1]।

यद्यपि सर्ग का चालू-काल ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार संचालित होता है, पर सर्गादिकाल और चालू-काल की व्यवस्था अपने-अपने रूप में रहती है। उनमें किसी परिवर्तन या सुझाव की कल्पना करना व्यर्थ है; उनकी अपनी स्थिति का समझना अपेक्षित रहता है। समझ में अन्तर होसकता है, वस्तुस्थिति कैसी भी हो, समझ पर ताला लगाना उचित नहीं। सचाई कहां है, इसका पता अपने स्तर पर पहुंच कर लग जाता है।

पार्थिव शरीर की अयोनिज श्रेणी में दो भेद स्वेदज तथा उद्भिज्ज और हैं। इनमें प्रथम शरीर विशेष ऊष्मा [गरमी—Heat] का सहयोग प्राप्तकर उत्पन्न होते हैं। स्वेद–पसीना गरमी का परिणाम है। ये शरीर 'ऊष्मज' भी कहेजाते हैं। 'उद्भिज्ज' में वृक्ष, लता, वनस्पति आदि आते हैं, जो भूमि को फोड़कर ऊपर निकलते हैं। इन देहों के लिये नर-नारी का संयोग तथा गर्भाशय और वहां से बाहर निकलने के योनि नामक मार्ग का उपयोग न होने से इनको 'अयोनिज' श्रेणी में गिनागया है। ये देह सर्ग के चालू-काल में भी इसीप्रकार बनते रहते हैं। वर्षा आदि ऋतुओं के अनुसार इनके उत्पादन का बाहुल्य व औन्य देखने में आता है।

कतिपय व्याख्याकारों[2] ने देह के इन प्रकारों व विभागों को 'योनिज' श्रेणी में गिना है। स्वेदज अथवा ऊष्मज के विषय में कहना कठिन है, पर उद्भिज्ज

१. ये विषय परोक्ष हैं, सदा परीक्षा की अपेक्षा रखते हैं। इसका आंशिक विवेचन 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक रचना में किया गया है। द्रष्टव्य हैं, पृष्ठ—३२५–३३१।

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत सूत्र का चन्द्रकान्त भट्टाचार्यकृत भाष्य।

के विषय में कहाजासकता है, यदि बीज को गर्भाशय समझाजाय, तो बीज को फाड़कर ही प्रत्येक अंकुर बाहर निकलता है, बाहर निकलने के भाग को योनि समझकर उद्भिज्ज को 'योनिज' श्रेणी में गिना जा सकता है, यह अपनी-अपनी समझ पर आश्रित है।

वृक्षों के सजीव होते हुए भी प्रायः उनमें शरीर व्यवहार नहीं होता। वृक्षों में जीवन है, इस तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है, और आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर इसकी सचाई को मानागया है। वृक्षों में भग्न-क्षतसंरोहण और साजात्यप्रजनन को देखकर उनमें जीवन का होना प्रमाणित होता है, परन्तु वृक्षों में चेष्टाश्रयता और इन्द्रियाश्रयता के स्पष्ट न होने के कारण उनमें शरीर-व्यवहार प्रसिद्ध नहीं है। पार्थिव शरीर के ये भेद या प्रकार शास्त्रकारों ने वर्णन किये हैं ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, योनिज शरीर स्पष्ट देखने में आते हैं, पर अयोनिज शरीरों के होने में क्या प्रमाण है ? आचार्य सूत्रकार ने इसकी सिद्धि के लिये अग्रिम चार सूत्रों द्वारा चार हेतु प्रस्तुत कर अन्तिम पांचवें सूत्र में विषय का निगमन करते हुए 'अयोनिज' शरीरों का होना प्रमाणित किया है। पहला हेतु-सूत्र है—

[1]अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥ (१७५)

[अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्] परमाणुपूर्वक होने से (अयोनिज देहरचना के)।

सूत्र में 'अनियतदिग्देश' पद परमाणुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है, जो उनकी आद्यसर्गिक स्थिति व प्रगति को स्पष्ट करता है। अयोनिज शरीरों की रचना के लिये पारमेश्वरी व्यवस्था के अनुसार जो परमाणु प्रवृत्त होते हैं, अथवा प्रगति करते हैं, उनके दिग्देश गर्भाशय तथा रज-वीर्यसंयोग आदि के रूप में नियत नहीं रहते। योनिज उत्पत्ति सम्बन्धी इन नियत व्यवस्थाओं की वहां उपेक्षा रहती है। वे परमाणु द्वयणुकादि परम्परा से रचना के विशिष्ट स्तरों को पार करते हुए 'अयोनिज' शरीरों की उत्पत्ति में समर्थ होते हैं। इस रचना में 'योनि' का उपयोग न होने से ये शरीर 'अयोनिज' कहेजाते हैं। शरीर के

---

१. चन्द्रा० तथा अ० प्रा० में सूत्रपाठ है—'अनेकदेशपूर्वकत्वात्।' अर्थ किया है—'न विद्यन्ते एकदेशा अवयवा येषां तेऽनेकदेशाः परमाणवः।' जिनके एक-देश अर्थात् अवयव नहीं हैं, वे अनेकदेश—निरवयव परमाणु हैं। वे परम्परा से अयोनिज शरीरों के उपादान अर्थात् समवायिकारण होते हैं।

उपादान कारण परमाणुओं की इसी स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्र में 'अनियतदिग्देश' पद का प्रयोग कियागया है। ऐसे शरीर सब देश एवं सब दिशाओं में उत्पन्न होते रहते हैं, इनके लिये नियत देश व दिशा [प्रकार] की अपेक्षा नहीं रहती ।।६।।

आचार्य सूत्रकार ने दूसरा हेतु प्रस्तुत किया—

धर्मविशेषाच्च[1] ।।७।। (१७६)

[धर्मविशेषात्] धर्मविशेष से [च] और (अधर्म-विशेष से)।

जीवात्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार आगे आने वाले शरीरों को धारण किया करते हैं। यह बात योनिज–अयोनिज दोनों प्रकार के शरीरों में समान है; पर दोनों जगह सुख-दुःख–प्राप्ति आदि में भेद होने तथा शुभ-अशुभ कर्मों के उत्कर्ष के कारण अयोनिज शरीरों की प्राप्ति में इनका विशेष दायित्व रहता है। आत्माओं के अपने उत्कृष्ट शुभ-अशुभ कर्म उन शरीरों की प्राप्ति में निमित्त होते हैं। उत्कृष्ट धर्मविशेष से देवर्षि आदि के अयोनिज शरीर सर्गादिकाल में प्राप्त होते हैं; तथा उत्कृष्ट अधर्म से दंश, मशक आदि के शरीर सभी कालों में प्राप्त होते रहते हैं। आत्माओं के अनन्त कर्मों का विधान–लेखा-जोखा अचिन्त्य-शक्ति परमात्मा के अधीन रहता है। उसकी व्यवस्थाओं के अनुसार समस्त प्राकृतिक क्रिया-कलाप चलते रहते हैं। अशरीर अवस्था में स्वयं आत्मा इसके लिये प्रयत्नशील रहते हों, ऐसी संभावना कम है। आत्मा के स्व-रूप से सकल प्रयत्न व भोग आदि उसकी सशरीर अवस्था में संभव हो-पाते हैं ।।७।।

आचार्य सूत्रकार ने तीसरा हेतु प्रस्तुत किया–

समाख्याभावाच्च[2] ।।८।। (१७७)

[समाख्याभावात्] समाख्या–संज्ञा–नाम के होने से [च] और (अथवा-भी)।

यह आशंका सामने आती है, सर्गादि काल में जब देवर्षि आदि को अयो-

---

१. 'च' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०। इसके आगे एक और सूत्र दिया गया-'कार्यविशेषात्।' पहले सूत्र से धर्म-अधर्म को 'अयोनिज' शरीरों की उत्पत्ति का निमित्त कारण बताया। दूसरे सूत्र से 'अवयवसंयोग' को असमवायि-कारण। समवायिकारण वे परमाणु हैं, जिनका निर्देश छठे सूत्र से किया गया है।

२. 'च' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

निज शरीर प्राप्त हुए, उनके माता-पिता के अभाव में उनके नाम किसने रखे? सूत्रकार ने बताया—सर्गादि काल में अन्य पदार्थों के नाम वेदादि माध्यम से परमात्मा ने जैसे बोधित किये, ऐसे ही माता-पिता के विना अयोनिज शरीर प्राप्त करने वाले देवर्षि आदि के व्यक्तिगत नामों का निर्देश परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा से किया गया। अग्नि, वायु आदित्य, अंगिरा, स्वयम्भु, मनु ब्रह्मा आदि ऐसे ही नाम हैं। माता-पिता के विना उन व्यक्तियों के इन नामों का उपलब्ध होना यह प्रमाणित करता है, कि व्यक्तियों के शरीर माता-पिता के विना उत्पन्न होने के कारण 'अयोनिज' थे। सर्गादिकाल में परमात्मा की प्रेरणा से नाम-संकेत किये गये, यह सूत्रकार ने 'संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्' [२।१।१८] सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है ॥८॥

इसी भावना को चौथे हेतु द्वारा सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

संज्ञाया आदित्वात्[1] ॥९॥ (१७८)

[संज्ञायाः] संज्ञा-नाम के [आदित्वात्] पहले होने के कारण (ज्ञात होता है, उन नामों वाले व्यक्तियों के शरीर अयोनिज थे)।

माता-पिता बनने से पहले उन व्यक्तियों के अपने-अपने नाम थे। जब उनके नाम माता-पिता के बिना होसके थे, तब उनके शरीर माता-पिता के विना होने के कारण 'अयोनिज' थे, इसमें सन्देह नहीं ॥९॥

प्रसंग का निगमन करते हुए सूत्रकार ने कहा—

सन्त्ययोनिजाः[2] ॥१०॥ (१७९)

[सन्ति] हैं, अथवा होते हैं [अयोनिजाः] अयोनिज देह।

उक्त हेतुओं के आधार पर यह निर्बाध प्रमाणित होजाता है, कि अयोनिज शरीर होते हैं। सब प्रकार के शरीरों का विवरण गत सूत्र में देदिया गया है। ये शरीर आत्माओं के सुख-दुःख आदि भोगों के आयतन तथा विविध चेष्टा एवं इन्द्रियों के आश्रय माने गये हैं। आत्माओं को ऐहिक सुख-दुःखादि की प्राप्ति शरीरों के विना नहीं होती ॥१०॥

प्रकरण का उपसंहार होने पर प्रकृत अर्थ की अधिक दृढता के लिये सूत्रकार ने वेद व वैदिक प्रमाणों का संकेत किया—

---

१. 'संज्ञादिमत्वात्' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'सन्त्ययोनिजा वेदलिङ्गाच्चेति' एक सूत्र है, चन्द्रा०।

वेदलिङ्गाच्च[1] ॥११॥ (१८०)

[वेदलिङ्गात्] वेद-प्रमाण से [च] और (अथवा भी)।

सूत्र के 'वेदलिङ्ग' पद का समास दो प्रकार संभव है, एक–वेदरूप लिङ्ग अर्थात् प्रमाण, तथा दूसरा–वेदमूलक लिङ्ग-प्रमाण ब्राह्मणादि ग्रन्थ। तात्पर्य हुआ–वेद तथा वेदमूलक अन्य वैदिक साहित्य 'अयोनिज' शरीरों के होने में प्रमाण हैं। ऋग्वेद [१०।८२।३] में आता है–जो हमारा पालक और उत्पादक है; न केवल हमारा, प्रत्युत जो समस्त विश्व का विधाता और प्राणियों के कर्मों का ज्ञाता है। जो एकमात्र अग्नि-वायु आदि देवों के नामों का धाता–स्थापयिता है; उस परमेश्वर के विषय में साधारण अज्ञानी जन प्रश्न किया करते हैं कि परमेश्वर कौन है? उस परमेश्वर के अन्तर्यामी प्रेरयिता रहते ही 'आपस्' नामक प्रकृतिरूप मूलतत्त्व जगदुत्पत्ति के लिये गर्भधारण करते हैं; जहां समस्त देव संगत हो अभिव्यक्त होते हैं। उस परमेश्वर के अन्तर्गत यह समस्त विश्व अर्पित है, विद्यमान रहता है[2]। इसी आधार पर मनु के सर्ग-प्रसंगविषयक श्लोक [१।८-९,२१] द्रष्टव्य हैं।[3]

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलिया-मण्डलान्तर्गत-'छाता' वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रि-पादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन, बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत-बनैल-ग्रामवास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना **उदयवीरशास्त्रिणा** समुन्नीते। वैशेषिकसूत्राणां 'विद्योदय'भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः।

---

१. सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

२. ऋग्वेद के द्रष्टव्य अन्य स्थल-१०।८२।५-७॥१०।१२०।५–६॥ समस्त वेदों के पुरुषसूक्त–ऋ० १०।९०॥ यजु० ३१॥ साम० ६१७॥अथर्व० १९।६॥

३. दि० ८।१२।७० को यहां तक ग्रन्थ पूरा किया, यमुना तटवर्ती गंगूवाला (पांवटा के समीप हिमाचल प्रदेशीय) नामक निजसम्बन्धि-ग्राम में।

अथ पञ्चमाध्याये प्रथमान्हिकम्

गत अध्याय में द्रव्य-परीक्षा संपन्न हुई। प्रस्तुत अध्याय में कर्म-परीक्षा प्रारम्भ कीजाती है। यद्यपि द्रव्य-परीक्षा के अनन्तर गुण-परीक्षा का आरम्भ आवश्यक था; पर कर्म के शरीरोत्पत्तिमूलक होने तथा अल्प परीक्ष्य होने के कारण सूत्रकार ने क्रम की उपेक्षा कर प्रस्तुत अध्याय में कर्म-परीक्षा का प्रारम्भ किया। कर्म में प्रथम उत्क्षेपण की विविधरूप में परीक्षा प्रारम्भ करने की भावना से सूत्रकार ने बताया—

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥ (१८१)

[आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्याम्] आत्मा का संयोग (हाथ के साथ) और आत्मगत प्रयत्न से [हस्ते] हाथ में [कर्म] कर्म (उत्पन्न होता है)।

कर्म-क्रिया या चेष्टा शरीर में होती है। यह कैसे होजाती है? सूत्रकार ने बताया, पहले आत्मा में कर्म करनेकी इच्छा पैदा होती है[1]। सूत्रकार ने यहां इच्छा का उल्लेख नहीं किया; क्योंकि इच्छा कर्मानुकूल प्रयत्न को उत्पन्न कर चरितार्थ होजाती है, प्रयत्न कर्म की उत्पत्ति में साक्षात् कारण होता है, उसका उल्लेख कियागया। प्रयत्नवाले आत्मा का हाथ के साथ संयोग, हाथ में कर्म का उत्पादक होता है।

यहां कर्म का समवायिकारण हाथ है, प्रयत्नसमवेत आत्मा का हाथ के साथ संयोग कर्म का असमवायिकारण है। प्रयत्न आदि अन्य समस्त साधन निमित्त-कारण हैं। हाथ में क्रिया होने का अर्थ है–हाथ ऊपर को उठता है। यह 'उत्क्षेपण' कर्म है। जब व्यक्ति ओखली में हवनसामग्री अथवा मसाला अथवा धान आदि डालकर उसे मूसल से कूटना प्रारम्भ करता है, तब यह स्थिति सन्मुख होती है ॥१॥

उसीको लक्ष्यकर सूत्रकार ने कहा—

१—**आचार्यों ने कहा है—**

आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत् ॥

'कृति' प्रयत्न का नाम है, उसीसे चेष्टा व क्रिया होती है।

तथाहस्तसंयोगाच्च[1] मुसले कर्म ॥२॥ (१८२)

[तथा] वैसे [हस्तसंयोगात्] हाथ के संयोग से (अर्थात् प्रयत्नवदात्मसंयुक्त हाथ के संयोग से—मूसल के साथ) [च] और अथवा भी [मुसले] मूसल में [कर्म] उत्क्षेपण कर्म (उत्पन्न होजाता है)।

प्रयत्नयुक्त आत्मा के संयोग से हाथ में उत्क्षेपण कर्म (क्रिया) हुआ। ऐसे हाथ का मूसल के साथ संयोग है; तब हाथ के साथ मूसल में उत्क्षेपण क्रिया हुई, हाथ जैसे ऊपर उठा, उसमें पकड़ा हुआ मूसल भी ऊपर उठता गया। मूसल में हुई क्रिया में मूसलक्रिया का समवायिकारण है; वैसे हाथ के साथ मूसल का संयोग क्रिया का असमवायिकारण है; प्रयत्न आदि अन्य साधन निमित्तकारण हैं। 'प्रयत्न द्वारा हाथ से मूसल उठायाजाता है' इस एक वाक्य में यह सम्पूर्ण अर्थ आजाता है ॥२॥

हाथ के अनुसार मूसल जितना ऊपर उठाया जासकता है, उतना उठाकर प्रयत्नपूर्वक हाथ से मूसल में अवक्षेपण कर्म द्वारा ओखली में तीव्र अभिघात किया जाता है। तब कभी हाथ का संयोग रहने पर भी बिना प्रयत्न के मूसल में उत्क्षेपण कर्म होजाता है, वह सूत्रकार ने बताया—

अभिघातजे मुसलादौ[2] कर्मणि व्यतिरेकादकारणम्
हस्तसंयोगः ॥३॥ (१८३)

[अभिघातजे] अभिघात से उत्पन्न [मुसलादौ] मूसल आदि में हुए [कर्मणि] कर्म में [व्यतिरेकात्] अभाव से (प्रयत्न के) [अकारणम्] कारण नहीं होता [हस्तसंयोगः] हाथ का संयोग (मूसल के साथ)।

जब अवक्षेपण कर्मयुक्त मूसल का ओखली में तीव्र गति से अभिघात होता है, उस समय उस अभिघात [तीव्र धक्के] से मूसल में उत्क्षेपण कर्म होजाता है। यद्यपि मूसल के साथ हाथ का संयोग बना रहता है, केवल इसलिये कि वह इधर-उधर गिर न जाय, अथवा तिरछा न होजाय; परन्तु प्रयत्न के अभाव से वह हस्त-मुसल संयोग मूसल में उत्क्षेपण कर्म का कारण नहीं होता। वह उत्क्षेपण अभिघातजन्य है। मूसल उस उत्क्षेपण में समवायिकारण है; मूसल का ओखली के साथ अभिघातरूप संयोग असमवायिकारण। मूसल में यह उत्क्षेपण कर्म हाथ की चेष्टा व आत्मप्रयत्न के विना होता है ॥३॥

मूसल में अभिघातज उत्क्षेपण कर्म होने पर उससे संयुक्त हाथ में भी उत्क्षे-

१—सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'तथा मुसलकर्म हस्तसंयोगाच्च,' चन्द्रा०।
२—'मुसलकर्मणि' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

पण कर्म होजाता है, उसमें आत्मसंयोग कारण नहीं है, सूत्रकार ने बताया—

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि[1] ॥४॥ (१८४)

[तथा] वैसे (व्यतिरेक हेतु से) [आत्मसंयोगः] आत्मा का संयोग (हाथ के साथ) [हस्तकर्मणि] हाथ के उत्क्षेपण कर्म में (कारण नहीं होता)।

जब अभिघात के कारण मूसल ऊपर को उछलता है, तब उससे संयुक्त हाथ उसके साथ ऊपर उछलजाता है। उस समय हाथ के साथ आत्मा का संयोग होने पर भी उस उछाल के लिये प्रयत्न न होने के कारण वह संयोग उस उत्क्षेपण कर्म में कारण नहीं होता। 'तथा' पद गतसूत्र के 'व्यतिरेकात् अकारणम्' पदों का अतिदेश करता है। उन पदों का इस सूत्र में उपयोग करना चाहिये ॥४॥

विना प्रयत्न के हाथ में कर्म कैसे होजाता है ? सूत्रकार ने बताया—

अभिघाता[2]न्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥ (१८५)

[अभिघातात्] अभिघात से [मुसलसंयोगात्] मूसल के साथ हाथ का संयोग होने के कारण [हस्ते] हाथ में [कर्म] उत्क्षेपण कर्म होजाता है।

जब मूसल का अभिघात ओखली में होता है, उस अभिघात से मूसल उछल जाता है, मूसल से संयुक्त हाथ भी मूसल के साथ उछल जाता है। इस उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण हाथ तथा असमवायिकारण हस्तमुसलसंयोग है। अन्य सब संभावित साधन अभिघात गुरुत्व आदि निमित्तकारण हैं ॥५॥

उछलते समय मूसल के साथ हाथ का संयोग रहने पर न केवल हाथ उछल जाता है, प्रत्युत कभी सारा शरीर दहलजाता और कंपकंपा जाता है। सूत्रकार ने उसका कारण बताया—

आत्म[3]कर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥ (१८६)

[आत्मकर्म] आत्मा-देह में कर्म [हस्तसंयोगात्] हाथ के संयोग से (होता है) [च] तथा।

मूसल के साथ एकदम जब हाथ उछलता है, तब हाथ के साथ देह का संयोग होने से देह कंपकंपाजाता है। सूत्र में यहां 'आत्मा'[4] पद का प्रयोग चेष्टा के

---

१. 'हस्तमुसलकर्मणि' चन्द्रा०।
२. 'मुसलाभिघाताच्च मुसल' अ० प्रा०। '०घातात्तु मुसल०' चन्द्रा०।
३. 'तथा आत्मकर्म' अ० प्रा०। 'तथात्मकर्म' चन्द्रा०।
४. कोष में 'आत्मा' पद के अर्थ बताये हैं—'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' वर्ष्म पद देह का पर्याय है।

आश्रय देह के लिये हुआ है। वेगयुक्त मूसल के साथ हाथ का संयोग होने से हाथ में तथा हाथ से संयुक्त अन्य देहावयवों में क्रिया उत्पन्न होजाती है। जब ऐसे अवसरों पर देहावयव तथा देह में जो क्रिया होती है, उसका समवायिकारण वह देहावयव अथवा देह है; परन्तु असमवायिकारण विभिन्न स्थलों पर पृथक्-पृथक् होते हैं। जहां हाथ आदि देहावयवों में प्रयत्नपूर्वक क्रिया होती है, वहां प्रयत्नवदात्महस्तसंयोग असमवायिकारण है; जहां प्रयत्न के अभाव में वेगयुक्त मुसलादि द्रव्य के साथ हाथ का संयोग होने से हाथ में क्रिया होती है वहां वेगवद् द्रव्य (मुसलादि)-हस्तसंयोग असमवायिकारण रहता है। अन्य सब साधन वेग, गुरुत्व आदि निमित्तकारण ॥६॥

जब प्रयत्नवदात्मसंयुक्त हाथ का संयोग मूसल आदि के साथ नहीं रहता, तब उत्क्षिप्त मुसल आदि में गुरुत्व के कारण पतन अथवा अवक्षेपण क्रिया उत्पन्न होजाती है, सूत्रकार ने बताया—

संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् ॥७॥ (१८७)

[संयोगाभावे] संयोग के न होने पर [गुरुत्वात्] गुरु होने से (द्रव्य के) [पतनम्] पतन होजाता है (वह द्रव्य नीचे गिरजाता है)।

जब अभिघात आदि के कारण ऊपर उछलते हुए मूसल के साथ प्रयत्नवदात्मसंयुक्त हाथ का संयोग नहीं रहता, तब उस संयोग के अभाव में मुसल आदि गुरु द्रव्य नीचे गिरजाता है। मूसल के इस पतन अथवा अवक्षेपण कर्म में समवायिकारण मूसल और असमवायिकारण गुरुत्व रहता है।

सूत्र में 'संयोगाभाव' पद से पतन के किसी भी प्रतिबन्धक का अभाव अपेक्षित है। पेड़ पर जब फल लगा रहता है, पेड़ के डंठल के साथ उसका संयोग फल के पतन का प्रतिबन्धक रहता है। आकाश में पक्षियों के अथवा वायुयान आदि के उड़ते रहने पर विधारक प्रयत्न उनके पतन का प्रतिबन्धक है। जब धनुष से बाण, बन्दूक आदि से गोली को छोड़ाजाता है, अथवा हाथ से बलपूर्वक पत्थर गेंद, आदि फेंका जाता है, तब उत्क्षिप्त अथवा प्रक्षिप्त द्रव्य में वेगाख्य संस्कार उसके पतन का प्रतिबन्धक रहता है। उक्तप्रकार के स्थलों में जब संयोगादिरूप प्रतिबन्धक का अभाव होता है, तब वे द्रव्य गुरुत्व के कारण नीचे गिरजाते हैं। द्रव्य की इस पतनक्रिया का समवायिकारण पतित द्रव्य, एवं असमवायिकारण द्रव्य का गुरुत्व होता है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रतिबन्धक के न रहने पर द्रव्य नीचे क्यों आता है, ऊपर या इधर-उधर क्यों नहीं चलाजाता? आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥ (१८८)

[नोदनविशेषाभावात्] नोदनविशेष के न होने से [न] नहीं [ऊर्ध्वम्] ऊपर को, [न] नहीं [तिर्यक्] इधर-उधर को, [गमनम्] गमन-क्रिया।

नोदन विशेष के न होने से गुरुदव्य ऊपर या इधर-उधर को न जाकर नीचे पृथ्वी की ओर आता है। यह पृथ्वी के आकर्षण के कारण है। इस आकर्षण का प्रतियोगी 'नोदन' है। नोदन विशेष का तात्पर्य है– प्रेरणाविशेष। 'प्रेरणा' का धात्वर्थ–'प्रकृष्ट गतिविशेष' है। जब किसी द्रव्य को ऊपर-नीचे या इधर-उधर फेंकाजाता है, तब वस्तुतः उस द्रव्य को प्रयत्न एवं शक्तिपूर्वक प्रेरित कियाजाता है; उस द्रव्य में 'प्रेरणा' [उत्कृष्ट गतिविशेष] को उत्पन्न कर दियाजाता है। वह पृथिवी के आकर्षण का तिरस्कार करके प्रेरयिता द्वारा जिधर को प्रेरित कियाजाता है, उधर को गति करता है। जहां यह नोदन-प्रेरणाविशेष नहीं है, वहां ऊपर या इधर-उधर जाने का प्रश्न नहीं उठता। जिस शक्ति-मान से द्रव्य में प्रेरणा दीगई, उसके पूरा होजाने पर प्रेरणा-हीन द्रव्य पृथिवी के आकर्षण के अनुसार—पंख-कटे पक्षी केसमान—वहां आगिरता है। इस रूप में 'नोदनविशेष' आकर्षण का प्रतियोगी और पतन का प्रतिबन्धक समझना चाहिये ॥८॥

नोदनविशेष कैसे होता है, सूत्रकार ने बताया—

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥९॥ (१८९)

[प्रयत्नविशेषात्] प्रयत्नविशेष से [नोदनविशेषः] नोदनविशेष (उत्पन्न कियाजाता है)।

प्रयत्न पूर्वक उग्रशक्ति-मान से उत्क्षेप्य द्रव्य में जो तीव्रगति-रूप क्रियाविशेष उत्पन्न कियाजाता है, उसीका नाम नोदनविशेष है ॥८॥

इसका फल सूत्रकार ने बताया—

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥ (१९०)

[नोदनविशेषात्] नोदन विशेष से [उदसनविशेषः] उदसन विशेष (हो जाता है)।

'उदसन' का अर्थ है–दूर फेंकाजाना। किसी द्रव्य में तीव्र गति उत्पन्न कर दिये जाने से वह दूर फेंकाजाता है। उस नोदनविशेष के अनुसार वह द्रव्य दूर देश में पहुंचजाता है। यह ध्यान रखना चाहिये, जबतक उसमें नोदन है, वह ऊपर व इधर-उधर चलतारहता है। उसके समाप्त होते ही पूर्व-गति रुद्ध होकर वह पतनोन्मुख होजाता है। पतन का प्रतिबन्धक अथवा आकर्षण का प्रतियोगी नोदनविशेष तब नहीं रहता। पेड़ पर चढ़ा अथवा कोठे के किनारे पर खड़ा व्यक्ति

पैर फिसल जाने से जब नीचे गिरता है, तब उस प्रकार के प्रयत्नविशेष का अभाव होने के कारण वह ऊपर या इधर-उधर गति नहीं करपाता, सीधा नीचे आता है। आधार के विना वहां आत्मा द्वारा प्रयत्न कियाजाना संभव नहीं होता ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि ऊर्ध्व–तिर्यग्गमन आदि में नोदन विशेष निमित्त है, तो स्तनपायी शिशु ऊपर को या इधर-उधर को हाथ-पैर फेंकता रहता है, वहां कैसे होगा ? नोदन तो वहां नहीं है, आचार्य सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा स्पष्ट किया—

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥ (१९१)

[हस्तकर्मणा] हाथ की क्रिया से [दारककर्म] दारक की क्रिया का [व्याख्यातम्] व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

यह आवश्यक नहीं है, कि ऊपर या इधर-उधर को गति करना 'नोदन' से ही हो। प्रयत्नवदात्मसंयोग से भी ऊर्ध्व-तिर्यग्गति होती है। पत्थर आदि फेंकते समय जो वेग से ऊपर को हाथ उठाया जाता है, उस क्रिया में प्रयत्नवदात्म-हस्त संयोग कारण है। हाथ में ऐसी क्रिया उत्पन्न होने की प्रक्रिया का वर्णन सूत्रकार ने प्रस्तुत आह्लिक के प्रथम सूत्र से किया है, उसीका यहां अतिदेशहै। यहां यह विवेक समझना चाहिये, चेतनसंयुक्त देहादि की ऊर्ध्व-तिर्यक् क्रियाओं में प्रयत्नवदात्म-संयोग निमित्त रहता है; तथा अन्य पाषाणादि द्रव्यों के उदसन में 'नोदन' कारण होता है। इसप्रकार यह स्पष्ट होजाता है, कि जैसे मूसल को उठाते समय अथवा पाषाणखण्ड आदि को फेंकते समय हाथ में उत्क्षेपण-कर्म का असमवायिकारण प्रयत्नवदात्म-हस्तसंयोग है; वैसे ही स्तनपायी शिशु के अङ्गचालन कर्म में प्रयत्न-वदात्म-देहसंयोग असमवायिकारण है।

शंकर मिश्र आदि व्याख्याकारों ने क्रिया को पुण्य-पाप का हेतु कल्पना कर बालक की करचरणादिचालन क्रिया को पुण्य-पाप के फल हिताहितप्राप्ति की जनक न मानकर सूत्र की व्याख्या की है। परन्तु ऐसी व्याख्या उत्प्रकरण व उत्सूत्र है। यहां क्रियाजन्य पुण्य-पाप का अथवा पुण्य-पाप की जनक क्रिया का कोई प्रसंग नहीं। सूत्रकार केवल प्रयत्नजन्य एवं अप्रयत्नजन्य क्रिया की स्थिति को स्पष्ट करना चाहता है। इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं, कि केवल शिशु–द्वारा की गई क्रिया पुण्यापुण्य का हेतु नहीं होती; प्रत्युत बड़ी आयुवाले व्यक्तियों की अनेक क्रिया ऐसी होती हैं, जो पुण्यापुण्य की जनक नहीं, फिर सूत्रकार सूत्र में 'दारक' का निर्देश क्यों करता।

चन्द्रकान्त भट्टाचार्य आदि व्याख्याकारों ने शिशु के करचरणादि अङ्ग-चालन कर्म को आभ्यन्तर वेगयुक्त वायु के संयोग से होना माना है। ऐसा व्या-

ख्यान युक्त नहीं है। यद्यपि वायुजन्य रोग के कारण वृद्धावस्था आदि में प्रयत्न न होने पर भी करादि अंगचालन व्यक्तियों का देखा जाता है; पर शिशु के उक्त प्रकार के करचरणादि अङ्गचालन में किसी वायु-रोग की संभावना नहीं कीजा-सकती। वह आवश्यक इच्छा–प्रयत्न आदि निमित्तों से होता है।

यद्यपि कतिपय अवस्थाओं में देहादि-क्रिया प्रयत्न के विना होती देखीजाती है; सूत्रकार ने आगे स्वयं उनका उल्लेख किया है। पर नीरोग शिशुदेह में अङ्ग-चालनादि क्रिया प्रयत्नपूर्वक होती है, वायु आदि से नहीं। चाहे वह क्रीडारूप हो, अथवा अन्य प्रकार की हो ॥११॥

जो क्रिया प्रयत्नपूर्वक नहीं होतीं, उनका एक उदाहरण सूत्रकार ने इसप्रकार दिया—

तथा दग्धस्य विस्फोटने[1] ॥१२॥ (१९२)

[तथा] वैसे [दग्धस्य] जले हुए का [विस्फोटने] फफोला पड़जाने में।

अग्नि से जलकर फफोला पड़ते हुए उस देहाङ्ग में जो क्रिया होती है, उसमें प्रयत्नवदात्मसंयोग असमवायिकारण नहीं होता; वह क्रिया प्रयत्नपूर्वक नहीं है। उसमें समवायिकारण वह देहाङ्ग है, जहां फफोला पड़ा है; उस अंग के साथ अग्नि-संयोग असमवायिकारण है। प्रयत्न नोदनादि कोई कारण नहीं ॥१२॥

सूत्रकार ने अन्य स्थल ऐसे ही उदाहरण का बताया—

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य[2] चलनम् ॥१३॥ (१९३)

[यत्नाभावे] यत्न के न होने पर [प्रसुप्तस्य] गहरे सोये हुए का [चलनम्] चलना (उठकर चलदेना)।

संसार में विरल पुरुषों को यह एक प्रबल वायुरोग देखा जाता है, कि वे गहरी नींद में सोते रहते ही उठकर चल पड़ते हैं, उसी दशा में अनेक प्रकार के अव्य-वस्थित कार्य कर बैठते हैं, चोट-फेंट खाजाते हैं, फिर अपनी जगह आकर उसी प्रकार शय्या आदि पर लेट जाते हैं। उन्हें अपनी हरकतों-चेष्टाओं का किसी प्रकारका कोई ज्ञान नहीं होता। प्रातः जगने पर वे यही समझते हैं, कि हम निर-न्तर अपनी शय्या पर सोते रहे हैं।[3] सोते हुए करवट आदि लेना या हाथ-पैर आदि

१. सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'विस्फोटनम्' चन्द्रा०।

२. 'प्रयत्नाभावे गुरुत्वात् सुप्तस्य पतनम्' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

३. अपने परम सुहृद् पं० रामगोपाल शास्त्री को इस रोग से ग्रस्त देखा है। इस रोग का नाम 'सोम्नेम्ब्यूलिज़म'=Somnambulism, है। इस विषय में व्यक्तिगतरूप से शास्त्रीजी द्वारा जो जानकारी प्राप्त हुई, उसका

सारांश इसप्रकार है—

यह रोग शास्त्रीजी को लगभग १० वर्ष तक रहा। रोग की स्थिति में होनेवाली अनेक घटनाओं को लाहौर रहते मैं स्वयं देखता रहा हूं। उन दिनों शास्त्रीजी और मैं एक ही संस्था में अध्यापन-कार्य करते थे। कतिपय विशिष्ट घटनाओं को शास्त्रीजी ने स्वयं बताया—

क–कई वार रात को नंगे पांव सैर कर आता था। प्रातःकाल बिस्तर की चादर कीचड़-मिट्टी से भरी होती थी, पर इसका मुझे कुछ पता नहीं लगता था।

ख–एक वार भारतीय हिन्दु शुद्धि सभा की आगरा में मीटिंग के अनन्तर महात्मा नारायण स्वामी जी के साथ लाहौर को लौट रहा था। इन्टर क्लास के डिब्बे में यात्रा करते हुए, रात को उठकर चलती गाड़ी का दरवाजा खोल दिया, और नीचे उतरने को ही था, कि महात्मा नारायण स्वामीजी ने मुझे पकड़ लिया, और कहा—यह क्या कर रहे हो ? तत्काल मैं जागपड़ा।

ग–एक वार जंजों नामक नगर में पं० गिरिधर शर्मा जी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये लाहौर से गया था। श्री हंसराज जी, डी० ए० वी० कालिज, संस्कृत विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष मेरे साथ थे। शास्त्रार्थ का विषय मृतकश्राद्ध था। एक मन्त्र का भाव समझ नहीं आ रहा था; यही सोचते-विचारते सोगया। रात्रि को दो बजे के लगभग मैंने लेम्प जलाया, मन्त्र का अर्थ विचारा, और हंसराज जी को उठाकर उन्हें बताया, मन्त्र का यह अर्थ ठीक प्रतीत होता है। उन्होंने कहा—हां ठीक ही है।

प्रातःकाल उठकर फिर मन्त्र पर विचार करने लगा। हंसराज जी ने कहा—जो अर्थ आपने रात में मुझे बताया था, वही ठीक है। मैंने उनसे वह अर्थ पूछा, उनके बताने पर मैंने उसे ठीक समझा। रात की घटना का ज्ञान मुझे उनके बताने पर हुआ।

इस रोग की चिकित्सा के लिये साबरमती आश्रम में महात्मा गान्धी से मिलने पर उन्होंने प्रतिदिन बस्तिक्रिया [अनीमा] करने को कहा। बड़ौदा में जुम्मा दादा व्यायामशाला के अध्यक्ष ने पेट के कुछ व्यायाम बताये। अन्य अनेक वैद्य, डॉक्टर, हकीम आदि किसीकी चिकित्सा से कोई लाभ न हुआ। अन्त में रात्रि को भोजन करना छोड़ दिया। निरन्तर १६ वर्ष तक रात्रि को भोजन नहीं किया। जब से भोजन छोड़ा, रोग

का हिलना इस सूत्र का उदाहरण मानाजाना युक्त नहीं; क्योंकि करवट आदि शारीरिक क्रियाओं में प्रयत्न रहता है, यह अनुभव से जाना जाता है। इसलिये प्रसुप्त अवस्था की किसी प्रकार की शारीरिक क्रिया का रोगमूलक वायु-संयोग असमवायिकारण समझना चाहिये। मूर्च्छावस्था में भी शारीरिक क्रियाओं में प्रयत्न कारण नहीं रहता। मूर्च्छा के विभिन्न निमित्तों के अनुसार कारण की उद्भावना कीजासकती है ॥१३॥

शरीर के अन्यत्र भी प्रयत्न विना कर्म होजाता है, सूत्रकार ने बताया—

तृणे[1] कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥ (१९४)

[तृणे] तिनके में [कर्म] कर्म (होता है), [वायुसंयोगात्] वायु के संयोग से।

सूत्र में 'तृण' पद वायु द्वारा गति करने वाले अन्य सभी पदार्थों का उपलक्षण है। बादलों का इधर-उधर घूमना, पत्ते लता वनस्पति आदि का हिलना, वृक्षों का जड़ से उखड़ जाना आदि क्रिया वायुसंयोग से होती हैं। जिनमें ये क्रिया होती हैं, वे द्रव्य क्रिया के समवायिकारण, तथा उनके साथ वायु का संयोग असमवायिकारण हैं। अन्य सब साधन निमित्तकारण ॥१४॥

कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जहां न प्रयत्न कारण है, न अन्य बाह्य पदार्थ। सूत्रकार ने बताया—

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम्[2] ॥१५॥ (१९५)

[मणिगमनम्] मणि का चलना [सूच्यभिसर्पणम्] सुई का सरकना [इति] यह, ऐसा कर्म [अदृष्टकारणकम्] अदृष्ट कारण से होता है।

चुम्बक मणि का सामना लौह धातु के साथ होजाने पर लौह धातु में गति उत्पन्न कर देता है। इस गति में कोई प्रयत्न निमित्त नहीं है। सुई आदि आयस पदार्थ अयस्कान्त मणि का सामीप्य होने पर उधर सरक जाते हैं, मणि से जाकर चिपक जाते हैं। इन पदार्थों में यह गति अदृष्टकारित है। गतिमान् पदार्थ उस गति का समवायिकारण है, और अदृष्ट असमवायिकारण।

का कभी प्रकोप नहीं हुआ। अब रात्रि को भोजन करने पर भी रोग नहीं है।

१. 'तृणकर्म' चन्द्रा०।

२. 'त्यदृष्टकारितानि' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

यहां अदृष्ट क्या है, विचारणीय है। वस्तुतः परमेश्वर की रचनाव्यवस्था के अनुसार उन पदार्थों में विशिष्ट आकर्षणशक्ति का निहित होना 'अदृष्ट' पद-वाच्य है। पदार्थों की विशिष्ट रचना ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन है। यद्यपि शास्त्र में 'अदृष्ट' पद जीवात्मकृत धर्म-अधर्म के लिये परिभाषित है; परन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं, कि उस पद का धातु के अनुरूप अन्य अर्थ कहीं भी अभिमत न माना जाय। पदार्थों में जो विशिष्ट शक्तियां निहित हैं, उनके कारण व रचनाओं की प्रक्रिया को समझना मानव-क्षमता के बाहर की बात है। यद्यपि पदार्थ-तत्त्व की पर्याप्त गहराई तक मानव पहुंचा है; पर वह अनन्त विश्व का विचार करते हुए सर्वथा नगण्य है। इसीलिये 'अदृष्ट' पद से उस स्थिति का अभिलापन उपयुक्त है ॥१५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जब बन्दूक से गोली व धनुष से बाण छोड़े जाते हैं, अथवा हाथ से गेंद या पत्थर फेंके जाते हैं; तब से उनके लक्ष्य पर लगने व भूमिपर गिर जाने तक केवल एक कर्म मानाजाना चाहिये या अनेक ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वेहेतुः ॥१६॥ (१६६)

[इषौ] बाण में [अयुगपत्] क्रमशः होनेवाले [संयोगविशेषाः] संयोगविशेष [कर्मान्यत्वे] कर्मों के भिन्न होने में [हेतुः] बोधक-कारण है।

जब धनुष् से बाण छूटता है, तब बाण में समवेत गतिरूप कर्म बाण का एक देश से विभाग कर अन्य देश के साथ संयोग करता है। जैसे ही बाण में पहले क्षण में कर्म उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में वह पूर्व देश से बाण का विभाग उत्पन्न कर देता है, वह विभाग तीसरे क्षण में पूर्वदेश के साथ संयोग का नाश करता है। चौथे क्षण में बाण का उत्तर-देश के साथ संयोग होजाता है। यह संयोग यद्यपि कर्मजन्य है; पर यही संयोग पांचवें क्षण में उस कर्म का नाश कर देता है। परन्तु बाण में आद्य-कर्म से जो 'वेग' नामक संस्कार उत्पन्न होचुका है, वह अभी बाण में समवेत है; वह पहला कर्म नाश होजाने पर अन्य कर्म उत्पन्न कर देता है। फिर पहले के समान प्रक्रिया चल पड़ती है। अन्तिम उत्तर देश-संयोग अन्तिम कर्म और वेग का नाश करदेता है। इसप्रकार प्रदेशान्तरों में विभिन्न संयोगों का होना, कर्मों के नाना होने में प्रमाण है ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है; पञ्चम क्षण में कर्म के नाश होजाने पर फिर कर्म कैसे उत्पन्न होजाता है ? क्योंकि बाण क्रियाद्वारा बहुत दूर जाकर गिरता है। सूत्रकार ने बताया—

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥ (१९७)

[नोदनात्] नोदन से [आद्यम्] पहला [इषोः] बाण का [कर्म] कर्म (उत्पन्न होता है), [तत्कर्मकारितात्] उस कर्म से उत्पन्न कियेगये [च] तथा [संस्कारात्] वेग नामक संस्कार से [उत्तरम्] अगला (कर्म उत्पन्न होजाता है) [तथा] वैसे [उत्तरम्] अगला [उत्तरम्] अगला [च] और।

धनुष् की ज्या (डोरी) को खींचकर जब बाण छोड़ा जाता है, तब ज्या के उस नोदन-अभिघात—धक्के से बाण में क्रिया उत्पन्न होजाती है। वह क्रिया साथ ही अपने अधिकरण बाण में 'वेग' नामक संस्कार को उत्पन्न कर देती है। बाण में जो पहली क्रिया होती है, उसका समवायिकारण बाण तथा असमवायिकारण नोदन है। आत्मप्रयत्न तथा बाण का गुरुत्व निमित्तकारण हैं।

उत्तरदेश संयोग से आद्य कर्म का नाश होजाने पर वेग-संस्कार से अगला कर्म उत्पन्न होजाता है, और आगे इसीप्रकार कर्म नष्ट होते व उत्पन्न होते चले जाते हैं। कर्म तो नये उत्पन्न होतेजाते हैं, पर वेग अन्त तक वही एक बना रहता है। द्वितीय आदि कर्मों की उत्पत्ति में असमवायिकारण वेगाख्य संस्कार रहता है। संस्कार अन्त तक वही एक रहता है, यह बात सूत्रकार के 'तत्कर्मकारितात् संस्कारात्' इस एकवचन प्रयोग से अभिलक्षित होती है। विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक साथ छोड़ेगये दो बाणों में एक की तीव्रता; दूसरे की मन्दता का कारण नोदन की तीव्र-मन्दता है ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि आद्यकर्मजन्य संस्कार एक ही रहता है, तो संस्कार के बने रहने से कर्म होता रहेगा, बाण कभी गिरना न चाहिये ? सूत्रकार ने समाधान किया—

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥ (१९८)

[संस्काराभावे] संस्कार के अभाव में [गुरुत्वात्] गुरुत्व के कारण [पतनम्] गिरजाता है (बाण)।

पतन क्रिया में गुरुत्व सदा कारण रहता है। प्रयत्नपूर्वक नोदन-जन्य आद्य कर्म से बाण में जो वेग-संस्कार उत्पन्न होजाता है, वह गुरुत्व का प्रतिरोधी है। जबतक वेग रहता है, गुरुत्व को अपना कार्य नहीं करने देता। वेग समाप्त होजाने पर गुरुत्व अपना कार्य करता है, बाण में पतन क्रिया उत्पन्न होजाती है। नोदन आदि की जितनी क्षमता से बाण में वेग उत्पन्न किया गया है, वह गुरुत्व पर प्रभावी (हावी) होजाता है। पर धीरे-धीरे प्रतिरोधी गुरुत्व के कारण वह

क्षमता अथवा क्षमतापूर्ण वेग क्षीण होताजाता है, अन्त में वेग अपना दम तोड़ बैठता है; गुरुत्व की बन आती है, अपना कार्य प्रारम्भ करदेता है। यदि नोदन क्षमताहीन होगा, तो बाण धनुष के आगे ही सरक कर गिर जायेगा; गुरुत्व वेग को पनपने ही न देगा। नोदन की तीव्रता गुरुत्व की तुलना में तीव्र प्रयत्न व सामर्थ्य पर अवलम्बित है। कहीं पर अवरोधक पदार्थ वेग को समाप्त कर देता है। इसप्रकार वेग के समाप्त होजाने से उत्क्षेपण कर्म आगे उत्पन्न नहीं होता; गुरुत्व से पतन होजाता है ॥१८॥

इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

अथ पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नोदन एवं अदृष्ट आदि कर्म के कारण हैं, यह प्रकरण चालू है। शिष्य जिज्ञासा करता है, पृथिव्यादिगत कर्मों में कहां नोदन कारण है, कहां अदृष्ट? यह स्पष्ट नहीं हुआ। आचार्य सूत्रकार ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए बताया—

नोदनाभिघातात्[1] संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥ (१६६)

[नोदनाभिघातात्] नोदन-रूप अभिघात से [संयुक्तसंयोगात्] संयुक्तसंयोग से [च] और [पृथिव्याम्] पृथिवी में [कर्म] कर्म (होता है)।

यहां 'कर्म' पद 'उत्क्षेपण' एवं 'गति' आदि साधारण क्रियाओं का बोधक है, अग्निष्टोमादि यज्ञविशेष का नहीं; यह पहले स्पष्ट करदियागया है। पृथ्वी में ऐसी क्रिया दो प्रकार की हैं—एक दृश्य, दूसरी अदृश्य। दृश्य क्रिया वे हैं, जिनको साक्षात् देखाजाता व अनुभव किया जाता है। भूमि के अनेक भागों का स्खलन होना, टूटना आदि तथा भूकम्प आदि का समावेश इसमें है। 'नोदन' पद का[2] अर्थ—तीव्रता के साथ किसी पदार्थ का अन्य से संयोग होना—है; जिससे संयुक्त पदार्थ प्रेरित होजाता है, गति के लिये बाध्य होजाता है। उसीको सूत्र में स्पष्ट

---

१. 'नोदनादभिघातात्' चन्द्रा०।

२. शङ्कर मिश्र आदि व्याख्याकारों ने यहां 'नोदन' पद का अर्थ ऐसा 'संयोग' किया है, जो संयुक्त पदार्थ का विभाग न करे, अथवा जो शब्द का निमित्त न हो, परन्तु यह अर्थ 'नोदनविशेषादुदसनविशेष.' [५।१।१०] सूत्र के आशय से विपरीत है।

करने की भावना से 'अभिघात' कहा है। इस पद का अर्थ 'गहरी चोट' या धक्का है। तीव्र वर्षा, तीव्र वेगयुक्त वायु एवं विद्युत्पात (जिसको वज्रप्रहार कहाजाता है) आदि से भूस्खलन एवं भूखण्डों का टूटना देखाजाता है। बारूद आदि से बड़ी-बड़ी चट्टानों को तोड़ना इसीमें आता है। भारी वर्षा आदि के धक्के [नोदनरूप संयोग] से पृथ्वी में क्रिया उत्पन्न होजाती है। यहां उस कर्म का समवायिकारण पृथ्वी [गत्याश्रय भूखण्ड], असमवायिकारण उन पदार्थों [विद्युत, झञ्झावात, वर्षा आदि] का संयोग है।

इसके अतिरिक्त 'संयुक्तसंयोग' कहींपर पृथ्वी में कर्म का जनक होता है। बहुत-से गैस आदि विस्फोटक पदार्थ आपस में संयुक्त होकर पृथ्वी के सम्पर्क में आते हैं, संयुक्त पदार्थों का पृथ्वी के साथ यह संयोग पृथ्वी में कर्म को पैदा कर देता है; पृथ्वी हिलजाती है, कांपजाती है। पृथ्वी में ऐसी गति कभी भारी दबाव [गुरुत्व] के कारण होजाती है। पृथ्वी के अन्दर होनेवाली अनेक क्रियाओं का स्पष्ट ज्ञान नहीं होपाता। विविध अज्ञात क्रियाओं व परिवर्तनों से अन्दर के भू-भाग संकुचित होकर स्पेस [अवकाश] छोड़देते हैं। उसको भरने की नैसर्गिक व्यवस्था से ऊपर का दबाव उस प्रादेशिक भूभाग को हिला व झंझोड़ देता है। विशेषज्ञों के निर्देशानुसार ईसवी सन् १९३५ में हुए बिहार के भूकम्प का ऐसा ही कारण बताया गया ॥१॥

पृथ्वी की दूसरी प्रकार की अदृश्य क्रिया के विषय में सूत्रकार ने बताया—

तद्विशेषेणादृष्टकारितम्[1] ॥२॥ (२००)

[तद्विशेषेण] उसके भेद से [अदृष्टकारितम्] अदृष्टकारित है (वह पृथ्वी-कर्म)।

पृथ्वी की अदृश्य क्रिया—हमें न दीखने वाला कर्म है—पृथ्वी का निरन्तर अपनी कीली पर तथा सूर्य के चारों ओर घूमना। अन्य कोई क्रिया कहीं हो या न हो, पर यह क्रिया अनिश आवर्त्तमान रहती है। सूत्र के 'विशेष' पद का अर्थ है—भेद, अथवा व्यतिरेक। तात्पर्य है, गत सूत्र में पृथ्वी की दृश्य क्रिया के जो हेतु बताये गये हैं, उनसे भिन्न, व्यतिरिक्त है अदृश्य क्रिया का हेतु। वह हेतु सूत्रकार ने, 'अदृष्ट' बताया है। भले ही जीवात्माओं के 'धर्म-अधर्म' का ग्रहण 'अदृष्ट' पद से कियाजाता रहे; पर वस्तुगत्या यहां इस पद का तात्पर्य जगत्सर्ग-विषयक ऐश्वरी व्यवस्था से है, जो प्राणिमात्र के लिए अनायास अदृष्ट है। वह व्यवस्था मानव की गति एवं क्षमता के बाहर है। उसी व्यवस्था के अनुसार पृथ्वी आदि में यह

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

क्रिया हुआ करती है। इसका समवायिकारण पृथ्वी, तथा असमवायिकारण सर्गानुकूलप्रयत्नवदीश्वरसंयोग है। अन्य धर्माधर्म आदि सब साधन निमित्तकारण हैं।

सूत्रपठित 'अदृष्ट' पद के जिस विशिष्ट तात्पर्य की ओर संकेत कियागया है, उसका विवरण विविध प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है। कहीं इसको 'पदार्थगत शक्ति' कहागया है, अर्थात् इन पदार्थों में अपनी यह विशेषता है। कहीं इसे सूर्यादि के आकर्षण का रूप दिया गया है, पर इन समस्त प्रक्रियाओं के पीछे बैठा वह जादूगर बराबर झांकता है, बाहर की चीज को देखकर अज्ञानी मानव उस वस्तुभूत आधार को भुला देना चाहता है; अथवा कहिये भुला बैठता है, और बाह्य में अधर लटका रहता है। समस्त शक्ति का वस्तु में निधान व आकर्षण आदि का विधान उसी करुणावरुणालय महान प्रभु का प्रधान चमत्कार है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पृथ्वीकर्म समझा; पर जलों में बरसना, बहना आदि कर्म कैसे होता है? आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्[1] ॥३॥ (२०१)

[अपाम्] जलों का [संयोगाभावे] संयोग का अभाव होने पर (प्रतिबन्धक के) [गुरुत्वात्] गुरुत्व से [पतनम्] नीचे गिरना (होता है)।

जलों के नीचे गिरने-बरसने का कारण जलों में समवेत गुण—गुरुत्व है। बरसने के रूप में पतन-क्रिया का समवायिकारण जल और असमवायिकारण जलों में समवेत गुरुत्व है। पर यह कार्यानुकूल तभी होता है, जब पतन क्रिया के प्रतिबन्धक विधारक वायु का बादलों से संयोग नहीं रहता [-संयोगाभावे]। बादलों के गहरे छाये रहने पर भी जब पानी का पतन नहीं होता, बरसता नहीं; तब बादलों के साथ विधारक वायु का संयोग बना रहता है, यह वर्षाकर्म का प्रतिबन्धक है। बादल जलों का संघात है। यह नाम 'वार्दल' या 'वारिदल' समझना चाहिये, जो इसके स्वरूप को अभिव्यक्त करता है, इस नाम का मूल 'आपोदल' भी संभव है। उच्चारण में 'आ' उड़ जाने से शेष भाग 'बादल' के रूप में परिवर्तित होगया। सारांश यह—बादल जलों का संघात—समूह है। अन्तरिक्ष में इन दलों के झुण्ड के झुण्ड वायु द्वारा उड़ाये जातेरहते हैं। अभ्रों के घनीभूत हो जाने पर जब गुरुत्व इतनी मात्रा में होजाता है, कि विधारक वायु का तिरस्कार कर अपने कार्य के लिये प्रभावी होजाय; तभी वह अभ्र-समूह को डांवाडोल कर क्रियाशील कर देता है; अभ्र परस्पर संघट्टित हो जलरूप में बरसने लगते हैं। इसप्रकार वर्षा-रूप में जलों के पतन-कर्म का असमवायिकारण 'गुरुत्व'

---

१. इसके आगे अतिरिक्त सूत्र है,—'तद्विशेषेणादृष्टकारितम्' चन्द्रा०।

रहता है ॥३॥

सूत्रकार ने जलों के बहने [स्यन्दन] का निमित्त बताया—

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥ (२०२)

[द्रवत्वात्] द्रवत्व से [स्यन्दनम्] बहना (होता है, जलों का)।

भूमिगत ऊंचाई से जलों का नीचे की ओर सरकना 'स्यन्दन' कहा जाता है। यही जलों का बहना है। इसका असमवायिकारण जलों में समवेत 'द्रवत्व' गुण है। 'द्रवत्व' का अर्थ है—द्रव अर्थात् तरल होना। जलों का यह तरल भाव उनके बहने का कारण है। अन्य द्रव्य जब तरलरूप होता है, वहां भी स्यन्दन संभव है। घृतादि द्रव्य तथा पिघलाये जाने पर लौहादि धातुओं में यही स्थिति है। तात्पर्य यह, स्यन्दन क्रिया में मुख्य निमित्त द्रवीभाव है। स्यन्दन वहीं संभव है, जहां द्रवत्व रहता है ॥४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, अन्तरिक्ष से बरसने वाला जल अन्तरिक्ष में कहां से आजाता है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नाड्यो[1] वायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥ (२०३)

[नाड्यः] प्रखर सूर्यरश्मियां [वायुसंयोगात्] वायु के संयोग से [आरोहणम्] चढ़ना (अन्तरिक्ष में जलों का करादेती हैं)।

पृथिवी प्रदेशों से जल अन्तरिक्ष में चढ़ जाते हैं। प्रखरतर सूर्यरश्मियां जलों से संयुक्त होकर उन्हें वाष्परूप में परिणत कर देती हैं; वह वाष्प वायु के सहयोग से अन्तरिक्ष में पहुंच जाता है। अनुकूल परिस्थिति होने पर पुनः जल-रूप से बरसता है। जलों की इस आरोहण-क्रिया में समवायिकारण जल, और असमवायिकारण है—वायुसहकृतजलसूर्यरश्मिसंयोग। अन्य सब साधन निमित्तकारण हैं।

लोक में अनुभव से यह स्पष्ट है, जब पात्र पानी से भरकर आग पर रख दिया जाता है, तब तीव्र अग्निसंयोग से पानी वाष्परूप में परिणत होकर ऊपर

---

१. चन्द्रा०, अ० प्रा०में 'नाड्या' पाठ है, तृतीया एकवचन। सूर्यरश्मि के साथ वायुसंयोग से जल अन्तरिक्ष में चढ़ जाते हैं। चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने नाड्य-वायुसंयोगात्' पढ़ा है। समास में विभक्ति न रहने से 'नाडीवायुसंयोगात्' होना चाहिये। अथवा 'नाडीसंबंधी वायुसंयोग' ऐसा अर्थ समझना चाहिये। तात्पर्य है—सूर्यरश्मियों से संबद्ध वायुसंयोग से जल अन्तरिक्ष में चढ़ जाते हैं।

को उड़ता है। अग्नि का ऊर्ध्वज्वलन अथवा ऊर्ध्वगमन नैसर्गिक है, वाष्परूप में परिणत जल उसके सहयोग से ऊपर को उठते हैं। वाष्प की घनीभूत दशा में ऋतु के अनुसार उसे प्रत्यक्ष देखा जाता है। आगे अवयवों के विच्छिन्न होजाने पर बाष्पकण अदृश्य होजाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में प्रखर ताप से सूर्यरश्मियां उसी प्रकार भूस्थित जलों को तपाकर बाष्परूप में परिणत कर ऊपर को उड़ा देती हैं। वे कण वायु द्वारा विधारित होकर अन्तरिक्ष में पहुंच जाते हैं। कालान्तर में ऋतु के अनुसार अनुकूल स्थिति पाकर बरस जाते हैं ॥५॥

शिष्य आशंका करता है, लोक में सूर्यरश्मि आदि के विना पिचकारी तथा ऐसे ही शक्तिशाली अन्य साधनों से जल का आरोहण देखा जाता है, वहां आरोहण क्रिया के कारण क्या है ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नोदना[1]पीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥ (२०४)

[नोदनापीडनात्] नोदन के आपीडन (दबाव) से, [संयुक्तसंयोगात्] संयुक्तसंयोग से [च] अथवा।

गत सूत्रों से 'अपां' और 'आरोहणम्' पदों का इस सूत्र में अनुवर्त्तन है। पानी ऊपर को चढ़ जाता है, जब नली [पिचकारी] में बन्दकर उसे ऊपर किये छेद से निकलने के लिए इस प्रकार नीचे से दबाव दिया जाय, कि उसमें वायु का प्रवेश न होसके। नली में भरे पानी को हाथ के नोदन द्वारा आपीडन [पिस्टन] से धकेल दिया जाता है। जितनी शक्ति [नोदन] से आपीडन कार्य करेगा, उसीके अनुसार जलों का आरोहण होगा, कम ऊंचाई तक अथवा अधिक ऊंचाई तक।

सूत्रकार ने 'नोदनापीडन' पद से जो भाव अभिव्यक्त किया है, उसीको 'संयुक्तसंयोग' पद से स्पष्ट किया है। पानी को उठाने में दो चीजें काम करती हैं—'नोदन' और 'आपीडन'[1]। पहले का अर्थ है—प्रेरणा, दूसरे का अर्थ है—धकेलना। पिचकारी [सिरिन्ज Syringe] के उदाहरण में हाथ प्रेरित करता है—आपीडक को, वह धकेलता है जल को। इसप्रकार नोदनापीडक का जल के साथ 'संयुक्तसंयोग' सम्बन्ध हुआ। हस्तसंयुक्त आपीडन, उसका संयोग जल के साथ। जो अर्थ 'नोदनापीडन' से अभिव्यक्त किया, उसीको 'संयुक्तसंयोग' से स्पष्ट किया।

नोदन किसी शक्ति [पावर-विद्युत्, वाष्प, जल-प्रपात आदि] से हो; पानी

१. 'नोदनात् पीड०' चन्द्रा०।

१—'आपीडन' पद धकेलना क्रिया, और उसके उपकरण—दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

के ऊपर उठने का प्रकार सर्वत्र यही होगा; अर्थात् नोदनापीडन, अथवा संयुक्त-संयोग। जहां विद्युत् आदि शक्ति से पानी को ऊपर उठाया जाता है; वहां बिजली का मोटर और टरबाइन [Turbine] इकट्ठे जुड़े रहते हैं, अर्थात् संयुक्त रहते हैं। टरबाइन का संयोग जल से रहता है। विद्युत् टरबाइन को प्रेरित [नुन्न—नोदन का विषय] करता है, और टरबाइन जल का आपीडन। इसप्रकार 'नोदनापीडन' तथा 'संयुक्तसंयोग' जल के आरोहण की एक ही प्रक्रिया को अभिव्यक्त करते हैं ॥६॥

शिष्य आशंका करता है, नोदनापीडन न देखे जाने पर भी वृक्षों में सिक्त-जल अथवा भूमिगत नीचे की जड़ों से लियागया जल ऊंचे से ऊंची पत्ती के सिरे तक पहुंचता है, इसका कारण क्या होगा? सूत्रकार ने समाधान किया—

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्[1] ॥७॥ (२०५)

[वृक्षाभिसर्पणम्] वृक्षों में सब ओर होता हुआ (जलों का ऊपर को) फैलाव [इति] ऐसा [अदृष्टकारितम्] अदृष्ट कारण से होता है।

अल्पकालिक फसलों, छोटे पौधों तथा लम्बी जड़ें न होने के कारण अनेक ओषधि-वनस्पतियों के मूल में बाहर से पानी पहुंचाकर सिंचाई कीजाती है। यह चाहे वर्षा से हो, अथवा मानव द्वारा प्रस्तुत उपायों से हो, एक ही बात है। जब वृक्ष बड़े होजाते हैं, उनकी जड़ें भूमि के उन गहरे भागों में पहुंचकर मिलजाती हैं, जहां नमी पर्याप्तमात्रा में रहती है; ऐसे वृक्षों में उन जड़ों के द्वारा सब शाखा-प्रशाखाओं में होते हुए जलीय अंश पत्तों के अगले सिरों तक पहुंचते रहते हैं; जबतक यह प्रक्रिया रहती है, उद्भिज्ज हरे-भरे रहते हैं, इन सभी अवस्थाओं में विचारणीय है, जल विना किसी पूर्वोक्त कारण के कैसे ऊपर तक फैलते हुए पहुंच जाते हैं।

सूत्रकार ने बताया, यह प्रक्रिया अदृष्टकारित है। जलों का ऐसा ऊर्ध्वगमन कतिपय अदृष्ट कारणों से होता है।

१—व्याख्याकारों का कहना है, कि उन वृक्ष, लता, ओषधि, वनस्पति आदि से जिन प्राणियों को सुख व दुःख आदि पहुंचता है, उनके धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट के कारण वृक्षादिगत जलों में यह क्रिया हुआ करती है। धर्म-अधर्मवाले उन आत्माओं का वृक्षगत जलों के साथ संयोग उस कर्म [जलारोहण-क्रिया] का असमवायिकारण तथा जल समवायिकारण होता है।

२—वृक्षों के चेतन होने, अथवा उद्भिज्जों में कर्मानुसार अभिमानी जीवा-

१—'०कारितानि' अ० प्रा०।

त्माओं के अस्तित्व के कारण, उनके अपने धर्माधर्म उनकी ऐसी स्थिति में निमित्त होते हैं। जैसे अन्य मानव आदि प्राणियों के देह में–विभिन्न योनियों के अनुसार खाद्य, पेय आदि आहार से विविध रसों का निर्माण व रक्तसंचार आदि होता है; वैसे ही वृक्षादि उद्भिज्जों में अपने इसप्रकार के आहार से विविध रसों का निर्माण व संचार हुआ करता है। उनके जीवन की सुरक्षा व स्थिरता इसी पर निर्भर है। तात्पर्य यह–अन्य अदृष्टवदात्माओं के संयोग से वृक्षों में ऐसा जलारोहण आदि नहीं होता; प्रत्युत जिन आत्माओं को कर्मानुसार वृक्षादियोनि प्राप्त हुई है, उन्हींके धर्माधर्म के अनुसार यह क्रिया हुआ करती है। इसप्रकार वृक्षगत अदृष्टवदात्माओं का जल से संयोग ही जलों में आरोहणकर्म का असमवायिकारण रहता है।

३—पृथ्वी पर भरे जल के भण्डारों–समुद्र, नदी, सरोवर, तड़ाग आदि–से सूर्य, ग्रीष्म आदि ऋतुओं में प्रखर किरणों द्वारा जैसे जलों का आकर्षण करता है, वैसे ही उद्भिज्जों के पत्र-प्रान्तों से जलों का आकर्षण कियाकरता है। उद्भिज्ज अपने प्रान्त भागों में पानी की उस कमी को–जड़ों द्वारा पानी पीकर और उसको अपने प्रान्त भागों तक पहुंचाकर–पूरा कियाकरता है। यदि यह प्रक्रिया उद्भिज्जों में कार्य न करे, तो उद्भिज्ज के वे पत्र-शाखा आदि जल न मिलने से धीरे-धीरे सूखने लगते हैं। पहले पत्ता पीला पड़ता और सूखजाता है। टहनी भी रस-भरे उभार को खोकर सिकुड़ती और सूख जाती है। यदि जड़ों के आस-पास नमी का अभाव होजाय, बाहर से भी मूल को जल न मिल पाये; तो जलप्राप्ति के संभावित सब स्रोत रुद्ध होजाने से वृक्ष धीरे-धीरे पूर्णतः सूखजाता है। सूर्य की प्रखर किरण वृक्षादि के रसाकर्षण का अपना कार्य निरन्तर जारी रखती हैं, पर वृक्ष चौतरफा जल के अभाव से उस कमी को पूरा नहीं कर पाता, और दम तोड़ बैठता है। इसप्रकार उसका अपना जीवनक्रम ही ऐसे जलारोहण में कारण रहता है; इसको अदृष्टवदात्मसंयोग कहने में कोई बाधा नहीं है।

४—यह सब क्रम ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार चलता है। हमारे लिये उद्भिज्ज की अन्तर्गत प्रक्रिया एक प्रकार से अदृश्य है, और परमात्मा की जगद्रचना-व्यवस्था भी। इन सब स्थितियों का संचालन व लेखा-जोखा उसीके वश में है। इसी भावना को सूत्रकारने 'अदृष्टकारितम्' पदों से अभिव्यक्त किया है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जलों में द्रवत्व नैसर्गिक है; फिर उसमें काठिन्य एवं पुनः तारल्य कैसे होजाता है ? सूत्रकार ने बताया—

अपां संघातो विलयनं च तेजः[1]संयोगात् ॥८॥ (२०६)

[अपाम्] जलों का [संघातः] सामूहिकरूप में कठिन होजाना, [विलयनम्] पिघलजाना, तरल होजाना [च] और [तेजःसंयोगात्] तेज के संयोग से (हुआ करता है)।

जल जमकर बरफ व ओले के रूप में कठिन होजाते हैं, और फिर पिघलजाते हैं। जलों में यह परिवर्त्तन अग्निसंयोग से होता रहता है। जलीयकण अन्तरिक्ष अथवा अन्य प्रदेशों में जब इकट्ठे होकर जमने लगते हैं, तब सूक्ष्म अवयवों के साथ दिव्य तेजःसंयोग उनमें द्रवत्व गुण की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होजाता है। उन अवयवों से उत्पन्न अवयवी में द्रवत्व न होने से काठिन्य आता है। कालान्तर में अवसर के अनुकूल किसीप्रकार गरमी पाकर जमे जल पिघल जाते हैं। यद्यपि जमना और पिघलना दोनों परस्पर विपरीत क्रिया हैं, और दोनों का कारण 'तेजः संयोग' है; परन्तु उन क्रियाओं में 'तेजःसंयोग' एक-दूसरे से विलक्षण रहता है। जल को जमाने वाले तेजःसंयोग पिघलानेवाले तेजःसंयोग से विलक्षण हैं। यह वैलक्षण्य उनसे प्राप्त गरमी की न्यूनाधिकता पर निर्भर रहता है। तापमान का विलक्षण स्तर विपरीत क्रियाओं का जनक होजाता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है, अन्तरिक्ष में अभ्र व करका (ओला) रूप से जलों को जमाने के लिये तेजःसंयोग कारण होता है, इसमें क्या प्रमाण हैं? सूत्रकार समाधान करता है —

तत्र[2] विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥ (२०७)

[तत्र] वहां (अन्तरिक्ष स्थित जलों-बादलों में) [विस्फूर्जथुः] बिजली की कड़क [लिङ्गम्] प्रमाण है (तेजःसंयोग होने में)।

अन्तरिक्षस्थित जलों (वारिदलों) में तेजःसंयोग होने का प्रमाण—उनमें होने वाली बिजली की कड़क व गड़गड़ाहट—है। यह देखाजाता है, विशिष्ट ऋतु में बादल छाजाने पर जब उनमें संघट्ट होता है, सबसे पहले बिजली की चमक

---

१. 'तेजसः संयोगात्' चन्द्रा०। यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने इसको दो सूत्र माना है। एक 'अपां संघातः' इतना; शेष दूसरा। सूत्रविभाग कर भट्टाचार्य ने अर्थ करने में थोड़ा अन्तर प्रकट किया है। जलों के संघात (काठिन्य) में भट्टाचार्य ने शीताधिक्य कारण का आक्षेप किया है, तथा विलयन में तेजःसंयोग हेतु सूत्रपठितहै; जबकि अन्य व्याख्याकारों ने दोनों क्रियाओं में 'विलक्षण तेजःसंयोग' को हेतु माना है।

२—'तत्रापस्फूर्ज० अ० प्रा०। 'तत्रावस्फूर्ज०' चन्द्रा०।

दिखाई देती है; अनन्तर कड़क और गड़गड़ाहट सुनी जाती है, उसके ठीक पश्चात् ओला बरसने लगता है, इससे मेघों में तेज:संयोग प्रमाणित होता है ॥९॥

जलों के साथ तेज:सयोग का वैदिक प्रमाण भी सूत्रकार ने बताया—

वैदिकं च ॥१०॥ (२०८)

[वैदिकम्] वेदों में कहा हुआ (प्रमाण) [च] भी (है)।

वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में अनेकत्र ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे जलों के साथ तेज:संयोग प्रमाणित होता है। 'अग्ने गर्भो अपामसि' [यजु० १२।३७]। 'आपस्ता अग्निं गर्भमादधीरन्' [अनुपलब्धमूल]। 'अपां ह्येष गर्भो यदग्निः' [तै० सं० ५।१।५।८]। 'अप्सु योनिर्वा अग्निः' [तै० सं० ५।२।२।४] 'आपो वा अग्नेर्योनिः' [मै० ३।२।२; ४।१०॥ काठ० १९।१२]।

शिष्य जिज्ञासा करता है, ध्वनि की उत्पत्ति में संयोग अथवा विभाग असमवायिकारण होता है। अन्तरिक्षस्थ जलों में बिजली की कड़क [ध्वनि] कैसे होजाती है ? सूत्रकार ने समाधान किया—

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः[1] ॥११॥ (२०९)

[अपाम्] जलों के [संयोगात्] संयोग से [विभागात्] विभाग से [च] और [स्तनयित्नोः] मेघ से, (अथवा-मेघ के)।

सूत्र में 'अपाम्' पद जलपूर्ण मेघों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जब घने मेघ प्रबल वायु के द्वारा अन्तरिक्ष में इधर-उधर धकेले जाते हैं, तब उनका आपस में तीव्र टकराव होता है। यह अभिघात [टकराव] रूप संयोग शब्द का निमित्त-कारण, मेघ-आकाशसंयोग असमवायिकारण और आकाश समवायिकारण होता है। ऐसे अभिघात से मेघों के अवयव जो खण्डित-विभक्त होते हैं, वह विभाग भी ध्वनि का निमित्त होता है। मेघ खण्डों का विभाग ध्वनि का निमित्तकारण, खण्ड-आकाशसंयोग असमवायिकारण रहता है। इसप्रकार अन्तरिक्ष में होने वाली ध्वनि के कारण संयोग विभाग हैं। घनीभूत संहित मेघों का परस्पर टकराव उनमें अन्तर्हित तेज:शक्ति को विद्युद्रूप में अभिव्यक्त कर देता है ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, पृथिवी, जलों में कर्म [क्रिया] का कारण समझा; पर तेज व वायु में कर्म कैसे होता है ? सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा बताया—

पृथिवीकर्मणा तेजः[2] कर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥ (२१०)

[पृथिवीकर्मणा] पृथिवी कर्म से [तेज: कर्म] तेज का कर्म [वायुकर्म]

---

१. 'स्तनयित्नुः' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'तेजसः कर्म' अ० प्रा०।

वायु का कर्म [च] और [व्याख्यातम्] व्याख्यात (होगया)।

आह्निक के प्रारम्भिक दो सूत्रों में पृथिवीकर्म का व्याख्यान किया गया है। पृथिवीकर्म दो प्रकार का बताया–दृश्य और अदृश्य। पृथिवी के दृश्यकर्म के समान तेज और वायु में कर्म की संभावना नहीं। उससे अतिरिक्त पृथिवीकर्म का आह्निक के द्वितीयसूत्र में निरूपण हुआ है, उसीका अतिदेश सूत्रकार ने यहां किया।

अदृश्य पृथिवीकर्म जिस प्रकार अदृष्टकारित है, उसीके अनुसार तेज और वायुगत कर्म को अदृष्टकारित समझना चाहिये ॥१२॥

सूत्रकार ने उसीको स्वयं स्पष्ट किया—

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां[1] मनसश्चाद्यं कर्मा दृष्टकारितम् ॥१३॥ (२११)

[अग्नेः] अग्नि का [ऊर्ध्वज्वलनम्] ऊपर की ओर को जलना, [वायोः] वायु का [तिर्यक्पवनम्] तिरछा बहना, [अणूनाम्] अणुओं का [मनसः] मन का [च] और [आद्यम्] पहला [कर्म] कर्म [अदृष्टकारितम्] अदृष्टकारित होता है।

प्रस्तुत सूत्रद्वारा चार द्रव्यों में होने वाली क्रियाओं का कारण 'अदृष्ट' बताया है। सर्गादि काल में तथा जब कोई रचना परमाणु से प्रारम्भ होती है; वह सब जीवात्माओं के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिये है। इस कारण पदार्थों की रचना में जीवात्माओं के धर्माधर्मरूप अदृष्ट को निमित्त मानाजाता है। अग्नि का ऊपर को जलना, वायु का तिरछा बहना समस्त प्राणियों की सुविधा के लिये है। यदि आग नीचे को अथवा तिरछी जला करती, तो इसका मुख्य उपयोग खाद्य-पेय आदि का पकाना तथा शीत-निवारण आदि संभव न होता। वायु यदि नीचे से ऊपर या ऊपर से नीचे की ओर चलती, तो प्राणियों का बराबर में श्वास आदि लेना सर्वथा असुविधा-जनक होता। अग्नि-वायु की ऐसी रचना में अनिवार्य कारण सर्गसम्बन्धी ईश्वरीय व्यवस्था है। स्रष्टा के सामर्थ्य में ऐसी रचनाओं का होना संभव है। इसलिये अदृष्ट कारण के रूप में उसकी उपेक्षा नहीं कीजा-सकती; भले ही आत्माओं के धर्माधर्म इन रचनाओं में अंशतः निमित्त रहें।

परमाणुओं के सर्गोन्मुख होने में प्रथम प्रेरणा परमात्मा की रहती है। वही प्रेरणा 'अदृष्ट' पद-बोध्य है। सर्गादि काल के सर्वप्रथम प्राणी के प्रादुर्भाव के अवसर पर उसकी मानसिक गतिविधियां परमात्मा की प्रेरणा से संभव होती

१. 'पवनमणुमनसोश्चाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

हैं। इन सब में वही 'अदृष्ट' कारण रहता है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सर्गादि से अतिरिक्त काल में क्या मानसिक क्रिया परमात्मा की प्रेरणा से हुआ करती हैं? आचार्य सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा समझाया—

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम्[1] ॥१४॥ (२१२)

[हस्तकर्मणा] हाथ के कर्म से [मनसः] मन का [कर्म] कर्म [व्याख्यातम्] व्याख्यात समझना चाहिये।

हाथ में कर्म कैसे उत्पन्न होता है, इसका विवरण [५।१।१] सूत्र में दिया गया है। वहां प्रयत्नवाले आत्मा का हाथ के साथ संयोग हाथ में क्रिया का कारण बताया है। वही कारण चालू सर्गकाल में मन की क्रिया का समझना चाहिये। तात्पर्य है, मानसिक कर्मों में मन के साथ प्रयत्नवाले आत्मा का संयोग है। जब आत्मा चाहता है, अपने प्रयत्न से कर्म के लिये मन को प्रेरित करता है। मन में क्रिया उत्पन्न होजाती है, वह आत्मा के अभिलषित कार्य में लग जाता है।

गत सूत्र में बताये गये अग्नि, वायु परमाणुओं के कर्मों की व्यवस्था में कभी कोई अन्तर नहीं आता; वह एक नियत ईश्वरीय व्यवस्था है। पर मन का सीधा सम्बन्ध जीवात्मा से है। इसलिये सर्गादि से अतिरिक्त काल के मानसिक कर्म के विषय में सूत्रकार ने यह निर्देश किया ॥१४॥

शिष्य आशंका करता है, हाथ में होता हुआ कर्म प्रत्यक्ष देखाजाता है; पर मनःसमवेत कर्म में क्या प्रमाण है? सूत्रकार ने समाधान किया—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥ (२१३)

[आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात्] आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से [सुखदुःखे] सुख और दुःख (होते हैं)।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति किसी अर्थ की प्राप्ति से सुख और किसी की प्राप्ति से दुःख का अनुभव करता है। यह अनुभव आत्मा को कैसे होपाता है, यह जानना चाहिये। बाह्य विषय के साथ न आत्मा का सीधा सम्बन्ध होता है, न मन का। आत्मा चेतन होने से ज्ञाता व अनुभविता है, मन आन्तर साधन है। चक्षु आदि इन्द्रियां बाह्य साधन हैं। बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। अभिलषित बाह्यविषय को ग्रहण

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

करनेवाले इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को उस अर्थ (विषय) के साथ सम्बन्ध के लिए प्रेरित करता है। अब बाह्य इन्द्रिय का सम्बन्ध बाह्य अर्थ के साथ है, बाह्य इन्द्रिय के साथ आन्तर साधन मन का सम्बन्ध है, मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध है। आत्मा, मन, इन्द्रिय, अर्थ इनके सम्बन्ध की शृंखला से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है। बाह्य अर्थ के अनुकूल होने से सुख का, तथा प्रतिकूल होने से दुःख का अनुभव होता है।

विभिन्न बाह्य रूपादि विषयों को जानने के लिये पांच भिन्न ज्ञानेन्द्रिय हैं। जिस इन्द्रिय के विषय को जानना होता है, मन का सम्बन्ध [—सन्निकर्ष] उसी इन्द्रिय के साथ होना चाहिये। एक समय में मन का संबन्ध एक इन्द्रिय के साथ होसकता है। इस व्यवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों का ग्रहण करने के लिये उन-उन इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होने में मन को गति करना आवश्यक है। एक इन्द्रिय को छोड़कर दूसरे से सम्बन्ध करना गति-कर्म का प्रयोजक है। सूत्र में 'सुख-दुःख' आत्मा के ज्ञानादि समस्त गुणों के उपलक्षण हैं। आत्मा को प्रत्येक बाह्यार्थ का अनुभव इसी प्रक्रिया से होता है। इससे मन की गतिशीलता अर्थात् मनःसमवेत कर्म का होना प्रमाणित होता है। शास्त्रों में इसीकारण मन को चञ्चल कहा है ॥१५॥

यदि मन इतना गतिशील व चञ्चल है, तो उसका निरोध न होने से समाधिलाभ न होगा; तथा आत्मा को मोक्ष-प्राप्ति कभी न होसकेगी, तब मोक्ष-प्राप्ति के उपाय बताने को प्रवृत्त शास्त्र का आरम्भ भी निष्फल होगा। शिष्यों की इस जिज्ञासा को शान्त करने की भावना से सूत्रकार मन की सक्रियता को स्पष्ट करता हुआ प्रतियोगी समाधान प्रस्तुत करता है—

तदनारम्भ[1] आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः
स योगः ॥१६॥ (२१४)

[तदनारम्भे] उसके अनारम्भ में (प्रवृत्तिशील न रहने पर) [आत्मस्थे] आत्मस्थ—आत्मा में स्थित होने पर [मनसि] मन के, [शरीरस्य] शरीरसंबन्धी [दुःखाभावः] दुःख का न होना, [सः] वह [योगः] योग है—समाधिलाभ है।

सूत्र के प्रथम पद 'तदनारम्भ' में दो विभक्ति संभव हैं—सप्तमी और प्रथमा। ऊपर सप्तमी विभक्ति मानकर अर्थ किया है। 'तत्' पद मन का बोधक है।

---

१. 'तदनारम्भः' यह प्रथमान्त पद के रूप में गतसूत्र का भाग है, तथा आगे सूत्रपाठ है—'आत्मस्थे मनसि सशरीरस्य सुखदुःखाभावः स योगः' चन्द्रा०।

'आरम्भ' पद का अर्थ है–प्रवृत्ति। मन के प्रवृत्तिशील न रहने की दशा में वह बाह्य विषयों से हटकर आत्मा में स्थित रहता है। तात्पर्य है–एकमात्र आत्म-चिन्तन में प्रतिष्ठित रहना। मन की ऐसी अवस्था होने पर शरीर-सम्बन्धी दुःखादि का अनुभव नहीं रहता। इसीका नाम योग अथवा समाधि है। जब मन का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों के साथ रहता है, तब सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। यह मन की क्रियाशीलता की दशा है। इसकी प्रतियोगी दशा है–मन का क्रियाशील न रहना, अर्थात् बाह्य इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध का न रहना। उस दशा में शरीरसम्बन्धी सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। इसका तात्पर्य है—सुख-दुःख का अनुभव होना मन में कर्म की स्थिति को प्रमाणित करता है।

यदि सूत्र में पहला पद प्रथमा विभक्ति का रूप मानाजाता है, तो 'तत्' के सहयोग से 'यत्' का अध्याहार करलेना चाहिये। अन्वय होगा–'आत्मस्थे मनसि यत् तदनारम्भः स योगः; योगदशायां शरीरस्य दुःखाभावः।' आत्मा में स्थित होने पर मन के, जो उसका (मन का) अनारम्भ–प्रवृत्तिहीन होना है, वह योग है, समाधिदशा है। उस दशा में शरीर-सम्बन्धी दुःख-सुख आदि का अभाव रहता है। मन की प्रवृत्ति [क्रियाशीलता] में सुखादि का होना, अप्रवृत्ति में न होना; मन में कर्म [क्रिया] के होने का प्रमाण है। इससे मन में कर्म का होना प्रमाणित होता है; और समाधिलाभ में कोई बाधा नहीं आती[1] ॥१६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, मृत्यु के अवसर पर जब देही देह को छोड़ता है, तब आत्मा के साथ मन एवं सब इन्द्रियां देह के बाहर निकल जाते हैं। सुना जाता

---

१. अ० प्रा० में १६वां सूत्र तीन टुकड़ों में विभक्त हुआ इसप्रकार उपलब्ध होता है—

तदनारम्भश्चात्मस्थमनसि।

समस्त विषयों से निवृत्त होजाने के कारण योगियोंके आत्मस्थ मन में सुखादि का आरम्भ नहीं होता; क्योंकि आत्मस्थ मन का न बाह्येन्द्रियों से सम्बन्ध रहता है, और न अङ्गना आदि विषय का स्मरण व संकल्प रहता है।

सशरीरस्य सुखदुःखाभावः।

यद्यपि शरीरादि से उपेत योगी खाता, पीता व कण्टक आदि से विद्ध हो-जाता है; तथापि उसे सुख-दुःख नहीं होते; क्योंकि योगज धर्म से उनका प्रति-बन्ध होजाता है।

संयोगः।

पूर्ण समाधिलाभ से उत्पन्न–आत्मा और मन के—संयोगविशेष से आत्मा का साक्षात्कार होजाता है।

है, वे पुनः देहान्तर को प्राप्त होते हैं। उस दशा में प्रयत्न आदि के न रहने से इनकी गति का कारण क्या है? सूत्रकार ने समाधान किया—

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः[1] कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्य-दृष्टकारितानि ॥१७॥ (२१५)

[अपसर्पणम्] बाहर निकल जाना (पूर्वशरीर से आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का), [उपसर्पणम्] प्राप्त होजाना, प्रवेश करजाना (नये शरीर की उपलब्धि के लिये आत्मा आदि का), [अशितपीतसंयोगाः] वहां खाये पीये के सम्बन्ध से होने वाले कर्म-क्रियाकलाप, [कार्यान्तरसंयोगाः] इन्द्रिय, प्राण आदि के संबन्ध से होने वाले कर्म [च] और [इति] ये सब [अदृष्टकारितानि] अदृष्ट द्वारा कराये जाते हैं।

जब आत्मा का देह से वियोग होने लगता है, अर्थात् जिसको लोकव्यवहार में कहाजाता है—प्राणी मरने लगता है, उस समय आत्मा के साथ मन, इन्द्रिय आदि देह को छोड़ जाते हैं। यह उनका देह से 'अपसर्पण' हुआ। इसके अनन्तर अन्य नवीन देह की प्राप्ति के लिये उनका वीर्यादि के साथ गर्भाशय में प्रवेश होजाता है, अथवा विशिष्ट प्राणि-योनियों के अनुसार जो प्रकार अन्य देह-प्राप्ति का हो, उस दशा में आत्मा के साथ मन आदि वहां पहुंच जाते हैं। उनके नवशरीर पुष्ट होने तक माता के द्वारा खाये-पीये के सम्बन्ध से—अथवा जिस योनि में जैसा सम्भव हो, उस आहार आदि के सम्बन्ध से—नवशरीर संबन्धी जो कर्म—शरीर के पोषक विविध क्रियाकलाप—हुआ करते हैं; तथा उन नवशरीरों में इन्द्रिय, प्राण आदि के सम्बन्ध से जो कर्म-क्रियाकलाप होते हैं, वे सब अदृष्ट-कारित हैं।

उन-उन आत्माओं के धर्माधर्म के अनुरूप सर्गक्रम की ईश्वरीय व्यवस्थाओं के द्वारा उन सब क्रियाकलापों का संचार हुआ करता है। अनेक क्रिया प्राणी-देहादि-सम्बन्धी ऐसी रहती हैं, जिनका किया जाना प्राणी के प्रयत्न व सामर्थ्य आदि से बाहर होता है। आत्मा के धर्म-अधर्म, उनके फल एवं फलसाधनों की उपलब्धि में भले साधन हों; पर उनके अस्तित्वमात्र से आत्मदेहसम्बन्धी सब क्रियाकलाप चलते रहें, यह सम्भव नहीं; क्योंकि उनके सम्पादन की क्षमता न धर्म-अधर्म में है, न आत्मा में। इसलिये 'अदृष्ट' पद के अर्थ के अन्तर्गत ईश्वरीय व्यवस्थाओं का मानाजाना आवश्यक है। जहां किसी कार्य का कोई दृष्ट कारण अवगत तथा सम्भव नहीं होता, वहां 'अदृष्ट' कारण कहेजाने पर कारणसामग्री

१. '० संयोगः' चन्द्रा०।

से 'ईश्वरीय व्यवस्था' की उपेक्षा नहीं कीजासकती[1] ॥१७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जन्म-मरण और धर्म-अधर्म का क्रम चालू रहने पर मोक्ष कैसे होगा ? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः[2] ॥१८॥ (२१६)

[तदभावे] उसका अभाव होने पर [संयोगाभावः] संयोग नहीं रहता (आत्मा का देह के साथ), [अप्रादुर्भावः] प्रादुर्भाव नहीं होता (आगे देहान्तर से सम्बन्ध नहीं होता) [च] और [मोक्षः] मोक्ष है (वह)।

आत्मा का जन्म-मरण–एक देह को छोड़कर देहान्तर से सम्बन्ध का क्रम–मिथ्याज्ञान से होता है। जब तक आत्मा में अनात्मा और अनात्मा में आत्मा का मिथ्याज्ञान बना रहता है। तब तक जन्म-मरण का चक्र निरन्तर चलता जाता है। शास्त्रबोधित उपायों के अनुष्ठान से जब आत्मा को तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मा के यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार होजाता है, तब तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को नष्ट कर देता है। मिथ्याज्ञान का अभाव होने पर जब आत्मा प्रारब्ध कर्मफल पूरा होने से चालू देह को छोड़ देता है, तथा आगे उस तत्त्वज्ञानी आत्मा के लिये अन्य देह का प्रादुर्भाव नहीं होता; तब केवली आत्मा जन्म-मरण के चक्र से बाहर निकल जाता है, **इसीका नाम** मोक्ष है। चिरकाल का क्रमागत देह-प्रवाह विच्छिन्न होजाता है। फलतः मोक्ष की व्यवस्था में कोई बाधा नहीं है, ॥१८॥

शिष्य आशंका करता है, गुण और कर्म का आश्रय द्रव्य मानागया है। तमस् में नील रूप और गति स्पष्ट देखे जाते हैं। तब उसे नौ द्रव्यों से अतिरिक्त दसवां द्रव्य क्यों नहीं माना जाता ? फिर वहां गति का कारण क्या होगा ? क्योंकि पूर्वोक्त नोदन, अभिघात, गुरुत्व, द्रवत्व, आदि गतिकारणों में से वहां किसी का अस्तित्व नहीं रहता। सूत्रकार ने समाधान किया—

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः[3] ॥१९॥ (२१७)

[द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात्] द्रव्य, गुण, कर्म की निष्पत्ति-सिद्धि के वैधर्म्य-विपरीतता से [अभावः] अभाव है (तेज का) [तमः] तम-अन्धकार।

---

१. सत्रहवें प्रस्तुत सूत्र से पहले एक अतिरिक्त सूत्र है—कायकर्मणात्मकर्मधर्मयोरनुपपत्तिः' अ० प्रा०। 'कायकर्मणाऽऽत्मकर्म व्याख्यातम्' चन्द्रा०।

२. '०दुर्भावश्चस मोक्षः' अ० प्रा०। '०दुर्भावः स मोक्षः' चन्द्रा०।

३. चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने सूत्रपाठ—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्याद् भाभावस्तमः' माना है। यह अधिक स्पष्ट है। भा-ज्योति-तेज का अभाव तम है। '० वैधर्म्याद् भावाभावमात्रं तमः' चन्द्रा०।

कार्यं द्रव्य की सिद्धि अपने अवयव-द्रव्यों से होती है। जैसे घट-पट आदि कार्यद्रव्यों के अवयव कपाल तन्तु आदि स्पष्ट देखे जाते हैं; परन्तु तमस् के कोई अवयव दृष्टिगोचर नहीं होते। यह द्रव्य के साथ तमस् का वैधर्म्य-वैपरीत्य है।

यदि कहाजाय, नील रूप गुण का आश्रय होने से तमस् को द्रव्य मानना चाहिये; तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जो द्रव्य रूप का आश्रय होता है, वह आवश्यकरूप से स्पर्शका भी आश्रय होता है।। रूप, स्पर्शका कभी व्यभिचार नहीं करता; परन्तु तमस् में स्पर्शका सर्वथा अभाव है, अतः वह रूप का आश्रय सम्भव नहीं।

कहाजासकता है, तमस् में अनुद्भूत स्पर्श रहता हो। यह कहना भी संगत नहीं; क्योंकि उद्भूतरूप के साथ स्पर्श अनुद्भूत रहता हो, ऐसा उदाहरण संसार में कहीं नहीं। उद्भूत रूप के आश्रय में स्पर्श सदा उद्भूत रहता है। यदि तमस् नामक पदार्थ उद्भूत नीलरूपवाला हुआ करता, तो वहां उद्भूत स्पर्श अवश्य रहता। अतः उद्भूत रूपवाले तमस् नामक द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं।

यह भी कहना संगत नहीं, कि रूप और स्पर्श का साहचर्य केवल पृथिवी में है; तमस् तो अतिरिक्त द्रव्य है, वहां रूप रहते भी स्पर्श न रहेगा। कारण यह है, कि पृथिवी के अतिरिक्त नील रूप का अधिकरण अन्य कोई द्रव्य नहीं। इसके साथ यह भी आवश्यक है,कि नीलरूप का सामानाधिकरण्य गुरुत्व के साथ निश्चित है। न केवल गुरुत्व, अपितु रस और गन्ध के साथ भी। संसार में कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता, जहां नीलरूप हो, और गुरुत्व, रस, गन्ध न हों। क्योंकि तमस् में गुरुत्व आदि नहीं हैं, अतः वह नीलरूप का आश्रय नहीं। यह सब द्रव्य के साथ तमस् का वैधर्म्य है।

रूप गुण का और रूपवाले द्रव्य में कर्म का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय द्वारा आलोक के सहयोग से होता है। आलोक की सहायता के विना चक्षु द्वारा रूप का तथा रूपवाले द्रव्य में कर्म का प्रत्यक्ष नहीं होसकता। पर तमस् के विषय में ऐसा नहीं देखाजाता। यदि नीलरूप का प्रत्यक्ष आलोक की सहायता के विना हुआ करता, तो नील घट-पट आदि का प्रत्यक्ष विना आलोक के होजाया करता। पर ऐसा नहीं होता। अतः रूपादि प्रत्यक्ष में आलोक आवश्यक सहायक है। इसके विपरीत आलोक के आते ही तमस् का कहीं पता–ठिकाना नहीं रहता। गुण, कर्म के साथ तमस् का यह वैधर्म्य है। इन सब कारणों से ज्ञात होता है, 'तमस्' नाम का कोई द्रव्य नहीं है। यह केवल आलोक का अभावमात्र है। आलोक के न रहने पर उसका भास्वर शुक्ल रूप नहीं रहता। आलोक की गति का उसके अभाव में भ्रम हो-जाता है, ऐसे ही शुक्लरूप के अभाव में नीलरूप का भ्रम ।।१६।।

ऐसे भ्रम का कारण बताते हुए सूत्रकार ने कहा—

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च[1] ॥२०॥ (२१८)

[तेजसः] तेज के [द्रव्यान्तरेण] अन्य द्रव्य के द्वारा [आवरणात्] आवरण से—ढक जाने से [च] और (प्रतीति होजाती है)।

कोई व्यक्ति प्रकाश में खड़ा है, वह चाहे सूर्य का प्रकाश है, अथवा अन्य विद्युत् आदि का। जहां व्यक्ति खड़ा है, उसके देह से प्रकाश का आवरण होजाता है। जितने प्रदेश में आवरण रहता है, उसे उस व्यक्ति की छाया कहा जाता है। यही तमस् व अन्धकार का प्रतीक है। जब वह व्यक्ति उस स्थान से चलता है, तो वह छाया उसके साथ चलती प्रतीत होती है। वस्तुतः यह छाया नहीं चलती, व्यक्ति के चलने से आवरण का प्रदेश बदलता जाता है। जहां से आवरण हटता है, वहां पुनः प्रकाश होजाता है, जहां आवरण पड़ता है, वहां छाया दीखती है, व्यक्ति चल रहा है, पर देखनेवाले को यह भ्रम होता है, कि छाया चलरही है। यथार्थ में चलनेवाला केवल आवरण है।

जिसको तमस् या अन्धकार कहाजाता है, वह वस्तुतः छाया है। सूर्य के सामने होने पर प्रकाश की स्थिति रहती है। पृथिवी के अपनी कीली पर घूमने से जब हमारा गोलार्द्ध सूर्य के सामने नहीं रहता, तब प्रकाश के अभाव की इस स्थिति को तमस् या अन्धकार कहा जाता है, जो केवल पृथिवी की छाया है। अथवा कहिये, पृथिवी आवरणरूप में प्रकाश के सामने आगई है। तमस् या अन्धकार प्रत्येक अवसर पर किसी अन्य द्रव्य द्वारा प्रकाश के आवरण की छायामात्र है। फलतः तमस् न कोई द्रव्य है, न उसमें किसी गति आदि कर्म के होने का प्रश्न उठता है ॥२०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या कर्म सभी द्रव्यों में होता है, अथवा कोई ऐसे द्रव्य हैं, जहां कर्म न होता हो ? सूत्रकार ने बताया—

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्या-[2]

न्निष्क्रियाणि ॥२१॥ (२१९)

[दिक्कालौ] दिशा, काल [आकाशम्] आकाश [च] और [क्रियावद्वैधर्म्यात्] क्रियावाले के साथ वैधर्म्य से [निष्क्रियाणि] निष्क्रिय होते हैं।

दिशा, काल और आकाश द्रव्यों का उन द्रव्यों से वैधर्म्य है, जिनमें कर्म उत्पन्न होता है; इसलिये ये तीनों द्रव्य निष्क्रिय हैं। किसी द्रव्य में क्रिया होने के

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

२. 'क्रियावद्भ्यो वैधर्म्यां'० अ० प्रा०। चन्द्रा०।

लिये उस द्रव्य का मूर्त होना, अथवा परिच्छिन्नपरिमाण होना आवश्यक है। उक्त तीन द्रव्यों के अतिरिक्त शेष द्रव्य मूर्त अथवा परिच्छिन्न परिमाण वाले हैं; उनमें क्रिया होना, एक देश से देशान्तर में गति करना संभव है। दिशा आदि तीन द्रव्य अमूर्त एवं महत्परिमाण वाले हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं; यही क्रियावाले द्रव्यों से उनका वैधर्म्य है। इसकारण एक देश से देशान्तर में गतिरूप क्रिया का होना इन द्रव्यों में संभव नहीं ॥२१॥

इसी प्रसंग में सूत्रकार ने बताया—

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥२२॥ (२२०)

[एतेन] इस कथन से [कर्माणि] कर्मों [गुणाः] गुणों का [च] और [व्याख्याताः] व्याख्यान (समझ लेना चाहिये, निष्क्रिय होने के विषय में)।

मूर्त्त होना अथवा परिमाण वाला होना केवल द्रव्य का धर्म है। इसप्रकार गुण और कर्म न मूर्त्त हैं, न परिमाण वाले। इसलिये इनमें क्रिया का होना संभव नहीं। दिशा आदि के समान गुण और कर्म निष्क्रिय होते हैं ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि गुण, कर्म निष्क्रिय हैं, तो इनका द्रव्य से संबन्ध कैसे होता है? सम्बन्ध के लिये क्रिया का होना आवश्यक है। सूत्रकार ने समाधान किया—

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो[1] निषिद्धः ॥२३॥ (२२१)

[निष्क्रियाणाम्] क्रियाहीन गुण, कर्मों का [समवायः] समवाय सम्बन्ध (द्रव्य के साथ) [कर्मभ्यः] क्रियाओं से [निषिद्धः] निषिद्ध है, रहित है।

गुण और कर्म निष्क्रिय हैं, क्रिया के ये समवायिकारण नहीं हैं। द्रव्य के साथ इनका सम्बन्ध समवाय है। तात्पर्य है—द्रव्य इनका समवायिकारण होता है। गुण और कर्म द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से आत्मलाभ करते हैं। परन्तु इस आत्मलाभ में अर्थात् द्रव्य में गुण अथवा कर्म के उत्पन्न होने में गुण-कर्म को कोई गति आदि क्रिया नहीं करनी पड़ती। समवाय के नित्यसंबन्ध मानने का यही तात्पर्य है, कि गुण-कर्म द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं आत्मलाभ नहीं कर सकते। गुण-कर्म का द्रव्य में समवाय नित्य है। यह समवाय क्रियाओं से निषिद्ध है, अर्थात् इसकी सीमा में, इसके क्षेत्र में क्रियाओं का प्रवेश नहीं है।

सूत्रकी अन्य प्रकार व्याख्या में सूत्र पदों का अन्वय इसप्रकार करना चाहिये—'निष्क्रियाणां द्रव्याणां दिगादीनां कर्मभ्यः कर्मनिरूपितः समवायो निषिद्धः, न भवतीत्यर्थः।' क्रियारहित दिशा आदि द्रव्यों का समवाय क्रियाओं से

---

१. 'कर्मभिः प्रतिषिद्धः' अ० प्रा०। '०भ्यः प्रतिषिद्धः' चन्द्रा०।

निरूपित नहीं होता ।

पांच वर्ग हैं, जिनका समवाय अन्य पदार्थों में रहता है। अर्थात् उन पांच वर्गों की उन पदार्थों में उत्पत्ति अथवा स्थिति होती है। वे पांच वर्ग हैं—

१. अवयवी [-द्रव्य] का समवाय अवयवों [कारण द्रव्यों] में

२. गुण का समवाय द्रव्य [गुणी] में

३. क्रिया का समवाय द्रव्य [क्रियावान्] में

४. जाति का समवाय व्यक्ति [द्रव्य, गुण, कर्म] में

५. विशेष नामक पदार्थ का समवाय नित्यद्रव्य परमाणुओं में

जिसका समवाय है, वह आधेय; तथा जिसमें समवाय है, वह आधार है। इसका तात्पर्य है, आधार में समवाय आधेय से निरूपित है। आधेय उस आधार में उत्पन्न होकर अथवा स्थित होकर समवाय को अभिव्यक्त करता है।

संख्या ३ में कहा गया, क्रिया का समवाय द्रव्य में है। परन्तु द्रव्य के दो प्रकार बतायेगये—एक सक्रिय; दूसरे निष्क्रिय। सक्रिय द्रव्यों में समवाय क्रिया-निरूपित होगा; परन्तु निष्क्रिय द्रव्यों में समवाय क्रियानिरूपित न होकर केवल गुणनिरूपित होगा। इसी भाव को सूत्रकार ने कहा है—निष्क्रिय द्रव्यों का समवाय क्रियाओं (कर्मों) से निषिद्ध है; अर्थात् वह क्रियानिरूपित नहीं होता। फलतः यह तथ्य सामने आया, कि निष्क्रिय द्रव्य, गुण, कर्म में कोई वस्तु समवेत हुई उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् ये किसी वस्तु की उत्पत्ति के समवायिकारण नहीं होते ॥२३॥

यथार्थ को अंशतः न समझते हुए शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि गुण, कर्म किसी के कारण नहीं, तो गुणादि से गुणादि की उत्पत्ति कैसे मानी जाती है? रूपादि से रूपादि गुण की, संयोग से कर्म की, कर्म से वेगाख्य संस्कार गुण की उत्पत्ति होती है। सूत्रकार ने समाधान किया—

कारणं त्वसमवायिनो[1] गुणाः ॥२४॥ (२२२)

[कारणम्] कारण [तु] तो हैं [असमवायिनः] असमवायी [गुणाः] गुण।

गुण अपने कार्यों के प्रति असमवायिकारण होते हैं। किसी कार्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। प्रत्येक पदार्थ समवायिकारण हो, अथवा समवायिकारण होना केवल कारणता हो; यह कोई आवश्यक नहीं है। वस्तुमात्र की नैसर्गिक उस स्थिति का विवेचन करना शास्त्र का लक्ष्य है, जो जहां संभावित है। विवेच्य स्थिति के अनुसार गुण—कार्यद्रव्य, गुण, कर्मों के प्रति—असमवायि-

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

कारण होते हैं। क्रियानिरूपित समवायिकारणता गुणों में एवं कर्मों में संभव नहीं ॥२४॥

सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा दिशा की इसी स्थिति का निर्देश किया—

गुणैर्दिग्[1] व्याख्याता ॥२५॥ (२२३)

[गुणैः] गुणों से [दिक्] दिशा का [व्याख्याता] व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

यह प्रमाणित किया गया, कि गुण अमूर्त होने से क्रिया के प्रति समवायिकारण नहीं होते। अथवा क्रियानिरूपित समवायिकारणता गुणों में नहीं होती। इसीके अनुरूप—दिशा के द्रव्य होते हुए भी—अमूर्त्त होने के कारण वह क्रिया का समवायिकारण नहीं होती। अथवा क्रियानिरूपित समवायिकारणता दिशा में नहीं रहती; एकत्वादि संख्या-गुणनिरूपित समवायिकारणता रहती है। 'यह क्रिया पूर्व दिशा में हुई, यह पश्चिम दिशा में' इत्यादि-व्यवहार क्रिया के प्रति दिशा की समवायिकारणता का बोधक नहीं है; यह केवल निमित्तकारणता को प्रकट करता है; प्रयोग औपचारिकमात्र है। क्रिया का समवायिकारण तो वही द्रव्य है, जिसमें क्रिया साक्षात् होरही है ॥२५॥

सूत्रकार ने दिशा के अनुरूप काल के विषय में अतिदेश द्वारा बताया—

कारणेन कालः[2] ॥२६॥ (२२४)

[कारणेन] कारण (निष्क्रिय होने) से [कालः] काल (व्याख्यात समझना चाहिये)।

प्रस्तुत सूत्र में गत प्रसंग से निष्क्रियत्व, अमूर्त्तत्व हेतु तथा व्याख्यात पद का अनुवर्त्तन अपेक्षित है। काल निष्क्रिय है, अमूर्त्त है; इस कारण वह—गुण व दिशा के समान—क्रिया का समवायिकारण नहीं होता। अर्थात् क्रियानिरूपित समवायिकारणता काल में नहीं रहती; प्रत्युत संख्यादि-गुणनिरूपित समवायिकारणता रहती है। वैसे कार्यमात्र में काल निमित्तकारण रहता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य अवश्य किसी न किसी काल में आत्मलाभ किया करता है ॥२६॥

इति वैशेषिकसूत्रविद्योदयभाष्ये पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

समाप्तश्चायं पञ्चमोऽध्यायः।

---

१. 'गुणैश्च दिग् व्याख्याता,' अ० प्रा०।

२. 'काल इति' चन्द्रा०।



अथ षष्ठाध्याये प्रथमान्हिकम् ।

गत अध्याय में कर्म का विवेचन किया गया । अब गुणों का विवेचन व परीक्षण करना अभीष्ट है । गुणों में प्रथम विवेचन की दृष्टि से धर्म-अधर्म अभ्यर्हित हैं; क्योंकि आत्मा के अभ्युदय और पतन के ये आवश्यक कारण होते हैं । अधर्म का परित्याग और धर्म का अनुष्ठान आत्माभ्युदय के लिये आवश्यक है; अतः प्रथम धर्माधर्म विवेच्य हैं । कौन कर्म [क्रिया] धर्म के साधन हैं और कौन अधर्म के; इसमें केवल वेद प्रमाण है; क्योंकि वह ईश्वरीय ज्ञान है । उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की संभावना नहीं । इस तथ्य की उपपत्ति के लिये सूत्रकार ने अध्याय का पहला सूत्र कहा—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे[1] ॥१॥ (२२५)

[बुद्धिपूर्वा] बुद्धिपूर्वक है [वाक्यकृतिः] वाक्यरचना [वेदे] वेद में ।

सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ इस नाम का अन्तःकरण नहीं, प्रत्युत नैसर्गिक नित्यज्ञान का बोधक है—यह पद । वेद में जो वाक्यरचना है, पद व पदसमूहों की आनुपूर्वी है; वह सब बुद्धिपूर्वक है, नित्य ज्ञानमूलक है । वेद के इस रूप में भ्रम प्रमाद आदि की संभावना नहीं । इसी कारण धर्म व अधर्म का बोध कराने में वेद का स्वतः प्रामाण्य है । ईश्वरीय ज्ञान होना इसका मूल है । मानव का ज्ञान यत्किञ्चित् अज्ञानमिश्रित रहता है । यह कभी संभव नहीं, कि कोई मानव पूर्णज्ञानी हो । ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण व नित्य है । मानवप्राणी के लिये जितना अपेक्षित है, वह वेद के रूप में प्राप्त है । उसका निरपेक्ष प्रामाण्य होने से वहां जो विहित है, वह अनुष्ठेय तथा जो निषिद्ध है, वह त्याज्य है । यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जानाजाता है । वह वेद-ऋक्, यजुष्, साम, अथर्वरूप है ॥१॥

सूत्रकार ने वेदरचना की बुद्धिपूर्वकता में अन्य उपोद्बलक प्रस्तुत किया—

ब्राह्मणे[2] संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥२॥ [२२६]

[ब्राह्मणे] ब्राह्मण में जो [संज्ञाकर्म] संज्ञा का—नाम का करना है, वह

---

१. '०कृतिर्वेदः' अ० प्रा० ।

२. 'ब्राह्मणसंज्ञाकर्म' अ० प्रा० । 'तथा ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धि लिङ्गम्' चन्द्रा० । इन ग्रन्थों में इस सूत्र से पूर्व एकसूत्र निर्दिष्ट, है जो अन्य संस्करणों में उप-

[सिद्धिलिङ्गम्] सिद्धि में लिङ्ग है (बुद्धिपूर्वक वेदरचना की)।

सूत्र में 'ब्राह्मण' पद किसी वर्णविशेष का बोधक न होकर उस वैदिक साहित्य का बोध कराता है, जो इस [ब्राह्मण] नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे ब्राह्मण-साहित्य में अनेक पदों के अर्थ का मूल आधार बताते हुए उनका विवरण दिया गया है। जैसे–रोने से 'रुद्र' बना; छादन से 'छन्द'; मनन से 'मन्त्र'; वाज (अन्न व बल) का भरण–धारण, पोषण करने से 'भरद्वाज' आदि शतशः पदों के–विशिष्ट अर्थों में–प्रयोग का विवरण[1] उक्त साहित्य में उपलब्ध होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र आदि पद हैं; जिन सबका मूलतः प्रयोग वेद में हुआ है। सर्गादि काल में जब वेद का प्रादुर्भाव हुआ, तब न उसप्रकार का मानव समाज था, न अवान्तर विभाग, किन्हीं आदिसर्गकालिक विशिष्ट मानवों के माध्यम द्वारा अचिन्त्यशक्ति परमात्मा ने वेदों का प्रादुर्भाव किया। उन वैदिक पदों में अर्थविशेष के बोधन करने की शक्ति का निधान किसने किया? मानव इतना अधिक सर्वज्ञ कभी नहीं होता। तब यह स्वीकार करना सर्वथा निर्बाध व युक्तियुक्त है, कि वह सब रचना ईश्वरीय है। उसीका विवरण ब्राह्मणसाहित्य में निर्दिष्ट किया गया है। मानव स्वयं व्यवहार में आनेपर विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये अनेक पदों का प्रयोग व निर्माण करता है। इसप्रकार ब्राह्मण-साहित्य में अनेकानेक नाम-पदों का मौलिक अर्थ-विवरण–वेद ईश्वरीय रचना है–इस निश्चय [सिद्धि] में प्रमाण है ॥२॥

न केवल पदों के अर्थ का, प्रत्युत कर्मों का निर्देश भी वेद की ज्ञानपूर्वक रचना में प्रमाण है। सूत्रकार ने उपलक्षणरूप में कर्म का निर्देश बताया—

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥३॥ (२२७)

[बुद्धिपूर्वः] ज्ञानपूर्वक है (वेद में) [ददातिः] दान (कर्म का निर्देश)।

सूत्र में 'ददातिः' पद दान-कर्म का निर्देश करते हुए वेद के उन प्रसंगों की ओर संकेत करता है, जहां अभ्युदय के साधनरूप में दान-कर्म विषयक महत्त्व के विवरण उपलब्ध होते हैं। वेद में कहा–यह भूमि और यहां के अनन्त ऐश्वर्य प्राणी

लब्ध नहीं। सूत्र है—'स वा अस्मद्बुद्ध्यन्यो लिङ्गमृषेः' अ० प्रा०। 'न चास्मद्बुद्धिभ्यो लिङ्गमृषेः' चन्द्रा०।

१. **इस सब के लिये वैदिक साहित्य के निम्नस्थल द्रष्टव्य हैं—श० ब्रा० ६।१।३।१०॥ जै० उ० ब्रा० ४।२।६॥ श० ब्रा० ८।५।२।१॥ निरु० ७।१३॥ आर्षे० ब्रा० १।२।१।२।२ इत्यादि। यह केवल दिग्दर्शनमात्र है, विद्वान् जानते हैं, इसप्रकार के विवरणों से वैदिक साहित्य भरा पड़ा है।**

के जीवनसम्बन्धी अभ्युदय के लिये दिये गये हैं, इनका उपयुक्त विभाजन कर प्रत्येक प्राणी के लिये इनके उपभोग का अवसर मिलना चाहिये। यह सत्य है, जो अज्ञानी न स्वयं उपभोग्य सम्पत्ति का उपयोग करता है, और न अपने साथी पड़ोसी को सहयोग देता है, उसे उपभोग्य पदार्थों का प्राप्त होना व्यर्थ है, वह सम्पत्ति का नाश है। भोग्य पदार्थ उपभोग के लिये है, छिपाकर रखने व बन्द करने के लिये नहीं। नैसर्गिक स्वार्थ में डूबे व्यक्ति की केवल अपने लिये उपभोग की भावना होना पाप है[1]।

दान ऐसे सब कर्मों का उपलक्षण है, जो प्राणी के अभ्युदय के साधन हैं। इसे कौन जानता है? कि अमुक कर्म अभ्युदय के साधन हैं। अल्पज्ञ स्वार्थ में दबा मानव दान आदि कर्मों के प्रति स्वभावतः अरुचि रखसकता है। यह तो महा-दाता भगवान् का निर्देश है, जब अनन्त ऐश्वर्य प्राणी के उपभोग के लिये उसने प्रदान किये हैं; तब प्राणियों में श्रेष्ठ मानव को उस दान आदि सत्कर्म की भावना से विमुख न होना चाहिये। वेद का ऐसा विवरण वेद की रचना को ज्ञान-पूर्वक व ईश्वरीय होने में प्रमाण है ॥३॥

दान के द्वारा सत्कर्तव्य बताने के साथ ही प्रतिग्रह के विषय में सूत्रकार ने अतिदेशपूर्वक कहा—

तथा प्रतिग्रहः ॥४॥ (२२८)

[तथा] उसी प्रकार [प्रतिग्रहः] दान का स्वीकार (वेद की ज्ञानपूर्वक रचना का प्रमाण है)।

दान को स्वीकार करना समाज की विशृंखलता को दूर करने में सहयोग देना है।[2] यह पारस्परिक सहानुभूति होने का मूल है। गंभीरता के साथ एक-दूसरे के प्रति पूर्ण सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों के समाज का संघटन ईश्वरीय प्रेरणा है। मानव ने कभी इसको पूरे रूप में निभाया नहीं; क्योंकि अपने क्षेत्र में यह भी एक छोटा चौधरी है। जब जितना निभाया, उसके अनुसार उतना फल पाया। समाज का उतने अंश तक सुखी व दुःखी होना, समाज की उतने अंश तक इन भावनाओं व उनके अनुसार अनुष्ठानों—सक्रिय व्यवहारों पर ही निर्भर है। निस्सन्देह ऐसे निर्दोष समाज की कल्पना-साधना ईश्वरीय ही संभव है। मानव उस स्तर पर कभी पूरा नहीं उतरा। वेद के समाजविषयक ऐसे निर्देश उसके ईश्वरीय रचना होने में प्रमाण हैं ॥४॥

१- द्रष्टव्य, ऋ० ४।२६।२॥ १०।४८।१॥१०।११७।६॥

२. द्रष्टव्य, ऋ० १०।११७।५॥ इत्यादि।

समाज को सुखी-दुःखी, उन्नत व अनुन्नत होना व्यक्तियों के सत्कर्म व व असत्कर्म पर निर्भर करता है। व्यक्तियों का समूह समाज है। सत्कर्म किसी विशेष वर्ग की ठेकेदारी नहीं। यह सोचकर–कि सत्कर्म उनका ही कार्य है, हम चाहे जैसा आचरण करें–समाज अभ्युदय-लाभ नहीं करसकता। फल कर्मानुसार होता है; जो करता है, वह पाता है, सूत्रकार ने बताया—

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात्[1] ॥५॥ (२२६)

[आत्मान्तरगुणानाम्] एक आत्मा की विशेषताओं (-गुणों) के [आत्मान्तरे] अन्य आत्मा की परिस्थितियों में [अकारणत्वात्] कारण न होने से।

एक आत्मा का सत्कर्म दूसरे आत्मा की परिस्थितियों में कारण नहीं होता। कुछ व्यक्ति व्यवस्था के अनुसार सत्कर्म–अपेक्षित कार्यानुष्ठान–परिश्रम करते हैं; वे उसका फल पाते हैं; यह ईश्वरीय विधान है। समाज इसके अनुसार जितना अधिक बर्तेगा, उतना अभ्युदय का लाभ उठायेगा। यदि स्वार्थी मानव इसमें व्यतिक्रम करना चाहेगा; तो वह 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' होगा। यह न्याय के विपरीत है। ईश्वर के शासन में ऐसा संभव नहीं। 'कृतहानि' का तात्पर्य है, जिसने जितना किया है, उसको उतने किये का फल न मिले, तो उसके किये [कृत] की हानि होगी। और जिसने नहीं किया [अकृत], उसको अन्य के कृतश्रम का फल प्राप्त [-अभ्यागम] होगा। यह पूर्ण अन्याय का रूप है। इसमें समाज न कभी सुखी होता, न पनपता। इसलिये समाज के अभ्युदय के लिये प्रत्येक व्यक्ति यह सोच-समझकर अपने आवश्यक सत्कर्म का अनुष्ठान करे, कि मुझको अपने किये का फल प्राप्त होना है। अन्य का किया सत्कर्म मेरे अभ्युदय में कारण नहीं होसकता।

कहाजाता है, मृत व्यक्ति के निमित्त पुत्र द्वारा कियागया श्राद्धकर्म मृत व्यक्ति की तृप्ति का कारण होता है। तब अन्य के किये कर्म का अन्य को फल प्राप्त होना उचित मानना चाहिये। जब अन्य के किये कर्म का फल मृत व्यक्ति को मिलजाता है, और इसे शास्त्रीय व्यवस्था कहाजाता है; तो जीवित व्यक्ति

---

१. 'आत्मगुणेष्वात्मान्तरगुणानामकारणत्वात्' अ० प्रा०। चन्द्रा०। इन ग्रन्थों में इस सूत्र से पहले एक और सूत्र है—'तयोश्च क्रमो यथानितरेतराङ्गभूतानाम्।' उन दान-प्रतिग्रह दोनों का क्रम-पारस्परिक सम्बन्ध कार्यकारणरूप नहीं है; प्रत्युत ऐसे दो पदार्थों के समान है, जिनका परस्पर अङ्गभाव–कार्यकारणभाव नहीं होता। जैसे–घट और रासभ।
सूत्रगत 'च' पद नहीं है, चन्द्रा०।

अन्य के श्रम का फल क्यों न प्राप्त करे ? वैसा करना उचित ही होगा।

वस्तुतः यह कल्पना अत्यन्त मिथ्या व निराधार है, कि यहां कुछ व्यक्तियों को भोजन करा देने से परलोकगत आत्मा की तृप्ति होजाती है। यह किसने देखा जाना ? यथार्थ में यह कल्पना मूलरूप से अवैदिक है। स्पष्ट देखाजाता है, तृप्ति केवल उन व्यक्तियों की होती है, जो उन खाद्य पदार्थों का उपयोग करते हैं।

कहाजाता है, खाद्य पदार्थ के उपयोग से तृप्त व्यक्तियों का आशीर्वाद परलोकगत आत्मा को सन्तुष्ट व तृप्त करता है। वस्तुतः परलोकगत आत्मा कहां है, कैसा है; यह आजतक किसीने नहीं जाना; और न यह देखा है, कि आशीर्वाद ने किसी की भूख मिटाई हो।

यह एक सर्वमान्य एवं न्याय्य व्यवस्था है, कि एक आत्मा के गुणों–विशेषताओं, श्रम आदि सत्कर्मों–का फल दूसरे आत्मा को नहीं मिलता, न मिलना चाहिये। इस लोक और परलोक दोनों के लिये यह सुख व अभ्युदय का मूल आधार है। इसका व्यतिक्रम होने पर--परलोक का तो पता नहीं, पर--इस लोक में ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य आदि बढ़कर संघर्ष पैदा होतारहा है हो रहा है और होगा। उस मूलभूत न्याय्य-व्यवस्था का परित्याग ऐहिक संघर्षों की जड़ है। ऐसी दशा में इसे कोई समाप्त कर नहीं सकता। संभवतः संघर्ष न उठें, अथवा उनमें शिथिलता लाईजासके, इसी भावना से कदाचित् मृतक श्राद्ध जैसे कर्मों की कल्पना कीगई हो। इसे शास्त्रीय रूप दियागया, और उस मूल न्याय्य व्यवस्था की जड़पर कुल्हाड़ा चलादियागया। आचार्य सूत्रकार यह भाव अभिव्यक्त कररहा है, कि एक आत्मा के गुण--सत्कर्म दूसरे आत्मा के लिये फलप्रद नहीं होते। इस व्यवस्था का पालन सबके अभ्युदय का साधन है ॥५॥

सूत्रकार ने बताया—

तद्दुष्टभोजने न विद्यते[1] ॥६॥ (२३०)

[तत्] वह (अभ्युदयरूप फल) [दुष्टभोजने] दूषित व्यक्तियों द्वारा ऐश्वर्य भोगते रहने पर [न] नहीं [विद्यते] रहता है।

समाज में दूषित व्यक्ति--अनधिकारी व्यक्ति यदि ऐश्वर्य का भोग करता

---

१. इस सूत्र से पूर्व एक और सूत्र है —
'अदुष्टभोजनात् समभिव्याहारतोऽभ्युदयः।' अ० प्रा०/चन्द्रा०।
अधिकारी व्यक्तियों द्वारा ऐश्वर्य आदि का भोग किये जाने से तथा सबके प्रति समान व्यवहार से समाज का अभ्युदय होता है। उस समाज को सब प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं, जहां ऐसी न्याय्य व्यवस्था हो।

रहता है; तथा जो अधिकारी हैं, उनको इस भोग से वञ्चित रक्खाजाता है; तो समाज में अभ्युदयरूप फल नहीं रहता, तिरोहित होजाता है। ऐसा समाज संघर्ष, दुःखी और विपदाओं का आगार बनजाता है ॥६॥

दुष्ट कौन है ? सूत्रकार ने बताया—

दुष्टं हिंसायाम् ॥७॥ (२३१)

[दुष्टम्] दुष्ट (जानो उसे, जो) [हिंसायाम्] हिंसा में--दूसरों को कष्ट देने में (प्रवृत्त हो)।

ऐसे व्यक्ति ऐहिक ऐश्वर्यों का भोग करने के अधिकारी नहीं हैं, जो समाज में विश्रृंखलता पैदा करते हैं, अकारण अन्य व्यक्तियों को कष्ट पहुंचाते हैं। दूसरे के अधिकार पर डाका डालते हैं। अधिकारी के ऐश्वर्य व सम्पदाओं का अपहरण करते हैं। समाज की सम्पत्ति का ध्वंस करते हैं। प्रशासन का कार्य है, ऐसे व्यक्तियों को अनधिकृत ऐश्वर्यभोग से वञ्चित करे; अथवा उनको सन्मार्ग पर लाने का सबप्रकार प्रयत्न कियाजाय। ऐसा दुष्ट व्यक्ति समाज का कुष्ठ है। रोगी समाज व व्यक्ति कभी पनपता नहीं ॥७॥

ऐसे व्यक्ति का समाज में सम्मान समाज को दूषित कर देता है। सूत्रकार ने बताया—

तस्य[1] समभिव्याहारतो दोषः ॥८॥ (२३२)

[तस्य] उस दुष्ट (हिंसक) व्यक्ति के [समभिव्याहारतः] समान व्यवहार से [दोषः] दोष (पैदा होजाता है, समाज में)।

श्रेष्ठ सत्कर्मी व्यक्तियों की समानता में यदि–समाज को हानि पहुंचाने वाले दुष्ट व्यक्तियों के प्रति–सम्मान का व्यवहार कियाजाता है, तो समाज में दोष उत्पन्न होजाता है। प्रत्येक व्यक्ति उच्छृंखलता का आश्रय लेकर उसी मार्ग पर चलने को उत्सुक होता है। जब बिना उपयुक्त श्रम व सत्कर्म के केवल अत्याचार व अनाचार से ऐश्वर्य व सम्मान दोनों मिलें, तो कष्टसाध्य श्रम कौन करना चाहेगा? यह स्थिति समाज व राष्ट्र को सबप्रकार के दोषों का आगार बना देती है, जो दुःखों का मूल है। यदि समाज दुष्टों की प्रवृत्तियों के अनुकरण की ओर उत्सुक न होकर उसमें बाधक बनेगा, तो संघर्ष पैदा होकर समाज के लिये कष्टकर होगा। अतः ऐसे व्यक्तियों का समाज में आदर न होकर सब प्रकार से नियन्त्रण होना आवश्यक है ॥८॥

क्योंकि सूत्रकार ने बताया—

---

१. यह सूत्र नहीं, अ० प्रा०। 'तस्य' पद नहीं, चन्द्रा०।

तददुष्टे न विद्यते ॥९॥ (२३३)

[तत्] वह (सामाजिक दोषरूप फल) [अदुष्टे] अदुष्ट-अधिकारी व्यक्तियों में सम्मान का व्यवहार होने पर [न] नहीं [विद्यते] रहता।

समाज में जो जैसा व्यक्ति है, उसके साथ वैसा व्यवहार किये जाने पर समाज में बुराइयां पैदा होने का अवसर नहीं आता। ऐसे निर्दोष समाज की कल्पना बहुत ऊंची है। विषम व्यवहार समाज में दोषों को उत्पन्न करने का मूल कारण है। जो व्यक्ति अच्छा या बुरा जैसा है, उसके साथ प्रशासन व समाज द्वारा वैसा व्यवहार न होकर, विपरीत व्यवहार होना 'विषम व्यवहार' का स्वरूप है। प्रशासन-संविधान के आदि प्रवक्ता मनु ने बताया है—जो प्रशासक निरपराध व्यक्तियों को दण्ड देदेता है, और अपराधी दण्डनीय व्यक्तियों को दण्ड नहीं देता; वह महान अयश का भागी होता है, और दुःख को प्राप्त करता है।[1] इसलिये दुष्ट और अदुष्ट का विवेचन कर उसके अनुसार जब उनके साथ व्यवहार होता है, तब यह समव्यवहार समाज व राष्ट्र को सुखी बनाता है॥९॥

इसी तथ्य को लक्ष्यकर सूत्रकार ने बताया—

पुनर्विशिष्टे[2] प्रवृत्तिः ॥१०॥ (२३४)

[पुनः] निरन्तर [विशिष्टे] विशिष्ट (व्यक्ति के विषय) में [प्रवृत्तिः] प्रवर्त्तन, झुकाव, ध्यान (समाज व प्रशासन का रहना चाहिये)।

व्यक्ति की यह विशिष्टता ज्ञानमूलक मानी गई है। समाज में किसी विषय के विशेषज्ञ व्यक्तियों की सुख-सुविधा का ध्यान समाज व प्रशासन दोनों को रखना आवश्यक है। ऐसे विशेषज्ञ अपने परिश्रम व प्रतिभा से राष्ट्र के अभ्युदय में सहयोगी होते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्रजा एवं प्रशासन द्वारा आर्थिक चिन्ताओं से दूर कर देने पर उनका प्रतिभापूर्ण ज्ञान राष्ट्र के अभ्युदय में निर्बाध सहायक होता है। आर्थिक आधारों पर उनकी उपेक्षा राष्ट्र के लिये हानिकर है। ऐसी दशा में अनेकवार इसप्रकार की विभूतियां अपनी विशिष्टताओं को साथ लेकर असमय में विलीन होजाती हैं; समाज व राष्ट्र के लिये उनकी असाधारण प्रतिभाओं का कोई उपयोग नहीं होपाता। अतः समाज की ऐसी व्यावहारिक विषमता को दूरकर उन प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के स्तर के अनुसार उन्हें आर्थिक सुविधा प्रदान करने में कभी उपेक्षा नहीं कीजानी चाहिये। समाज के चतुरस्र अभ्युदय

---

१. अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८।१२८॥

२. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'पुनः' पद सूत्र में नहीं है, चन्द्रा०।

के लिये ऐसे व्यक्तियों का प्रजा व प्रशासन द्वारा निरन्तर ध्यान रक्खा जाना अत्यन्त अपेक्षित होता है ॥१०॥

इसका यह तात्पर्य समझना असंगत होगा, कि सर्वसाधारणजन अथवा ज्ञान-हीन व्यक्ति को भूखा मरने दियाजाय। इसी भावना से सूत्रकार ने कहा—

समे हीने वा[1] प्रवृत्तिः ॥११॥ (२३५)

[समे] बराबर के सर्वसाधारण में [हीने] हीन (ज्ञानादि से हीन के विषय) में [वा] भी [प्रवृत्तिः] प्रवर्त्तन बर्ताव (आर्थिक सहयोग आदि का होना) आवश्यक है।

समाज के प्रत्येक अंग का सहानुभूतिपूर्वक प्रजा व प्रशासन को ध्यान रखना आवश्यक है। समाज का ऐसा संघटन—जहां प्रत्येक एक-दूसरे की अपेक्षाओं का ध्यान रखता है, और उन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये सहयोग प्रदान करता है–सदा सुखी व बलिष्ठ रहता है। ऐसे समाज की कल्पना बड़ी ऊंची है, एवं प्रबल प्रयत्न-साध्य है ॥११॥

समाज में प्रत्येक प्रकार के व्यक्तियों का सहयोग स्वीकार करने के विषय में सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा बताया—

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं[2]
व्याख्यातम् ॥१२॥ (२३६)

[एतेन] इससे (उक्त विवरण से) [हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः] हीन, सम, विशिष्ट, धार्मिक व्यक्तियों से [परस्वादानम्] अन्य द्वारा दिये धन का स्वीकार करना [व्याख्यातम्] व्याख्यात-कहा गया–समझना चाहिये।

गत सूत्रों में कहा गया—समाज के असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्तियों का विशेषरूप से तथा अन्य सभी स्तर के व्यक्तियों का इस विषय में ध्यान रक्खा जाय, कि कोई व्यक्ति आर्थिक तंगी से दुःखी न हो। प्रजा व प्रशासन वैयक्तिक, सांघिक व प्रशासकीय प्रणाणी से ऐसे व्यक्तियों को समुचित सहयोग प्रदान करें। इस व्यवस्था के अनुसार सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा बताया, कि किन व्यक्तियों के ऐसे सहयोग को स्वीकार किया जाय। जैसे अपेक्षा रखने वाले सब प्रकार के व्यक्ति संभव हैं, ऐसे ही सहयोग देने वाले भी सब प्रकार के व्यक्ति रहते हैं। उन सभी का दिया गया सहयोग स्वीकार करना चाहिये।

सूत्र में 'धार्मिक' पद से मैंने 'प्रशासन' का संकेत समझा है। धर्मपूर्वक राष्ट्र

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'चाप्रवृत्तिः' चन्द्रा०।

२. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'परादानं' चन्द्रा०।

की रक्षा करना, एवं प्रजा को सुव्यवस्थित रखना प्रशासन का एकमात्र कार्य व लक्ष्य है। हीन, सम, विशिष्ट किसी से भी जो सहयोग प्राप्त हो, वह प्रशासन की मान्यताओं के अनुकूल होना चाहिये। यदि किसी सहयोग को प्रशासन राष्ट्र की सुविधाओं में बाधक समझता है, तो उसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। फलतः वही आर्थिक सहयोग स्वीकार्य है, जो प्रशासन से मान्य हो ॥१२॥

यदि वह ऐसा न हो, तो सूत्रकार ने बताया—

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥ (२३७)

[तथा] उस प्रकार (निर्धारित व्यवस्थाओं से) [विरुद्धानाम्] विरुद्ध-विपरीत (सहयोगों-प्रदानों) का [त्यागः] परित्याग—स्वीकार न करना—उचित है।

यदि कोई व्यक्ति या संघ किसी को ऐसा सहयोग प्रदान करता है, जो प्रशासन की मान्यताओं के विपरीत है; जिससे राष्ट्र व समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न होने की संभावना है, उस सहयोग को स्वीकार्य नहीं माना जाना चाहिये। वह सर्वथा परित्याज्य है ॥१३॥

किन अवस्थाओं में अथवा कौन सा सहयोग परित्याज्य है? सूत्रकार ने बताया—

हीने परे त्यागः[1] ॥१४॥ (२३८)

[हीने] हीन होने पर [परे] अन्य (दाता) के; [त्यागः] परित्याग कर देना चाहिये (सहयोग का)।

यदि कोई व्यक्ति आर्थिक व बौद्धिक दृष्टि से हीन है, दुर्बल है; और वह किसी प्रतिभाशाली विशेषज्ञ व्यक्ति को आर्थिक सहयोग देना चाहता है, तो उस सहयोग को विशेषज्ञ द्वारा त्याग देना चाहिये, अर्थात् उसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये। कारण यह है, कि वह [दाता] स्वयं आर्थिक स्थिति से दुर्बल है। बौद्धिक दुर्बलता के कारण उसे अन्य अर्थार्जन में कठिनता व असुविधा होसकती है। ऐसे दाता को समझाकर उसके आर्थिक सहयोग को अस्वीकार करना चाहिये; अन्यथा संभव है, उसके भावुक हृदय को ठेस पहुंचे। यदि सामूहिक राष्ट्रहित में कोई ऐसा सहयोग प्रदान करता है, तो उसे स्वीकार करना उचित है। राष्ट्रहित में प्रत्येक व्यक्ति का अंशदान उपयोगी होता है। वह अभ्युदय व सामाजिक धर्म का रूप है ॥१४॥

दाता व अदाता का सब प्रकार से समान स्तर होने की स्थिति में सूत्रकार ने बताया—

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥ (२३९)

[समे] समान होने पर (दाता व आदाता के), [आत्मत्यागः] आदाता (मिलने वाले सहयोग का) त्याग कर दे, [परत्यागः] अन्य दाता (अपने सहयोग को) त्याग दे, [वा] अथवा।

यदि दाता, आदाता दोनों समान हैं, तो चाहे आदाता प्राप्त होने वाले सहयोग को अस्वीकार कर दे; अथवा दाता स्वयं सहयोग की भावना को त्याग दे। यह आपस में दोनों के भावुकतापूर्ण समझौते से संभव होता है। दोनों की स्थिति समान होने पर ऐसे सहयोग का सामाजिक दृष्टि से महत्त्व नहीं है। दोनों की अपेक्षा—आवश्यकता व साधन समान हैं, वहां एक स्थान से साधन को हटाकर अन्य के साथ जोड़ना विषमता व कष्ट का प्रयोजक होसकता है। किसी की भी ओर से—सूत्रकार द्वारा—त्याग का निर्देश करना उनकी [दाता-आदाता की] परिस्थिति पर निर्भर है। उसीके अनुसार सहयोग का स्वीकार व अस्वीकार होना चाहिये ॥१५॥

यदि दाता ज्ञान-विशेषज्ञ विशिष्ट व्यक्ति हो, तो आदाता स्वयं उसके आर्थिक सहयोग को स्वीकार न करे, यह सूत्रकार ने बताया—

विशिष्टे आत्मत्याग[1] इति ॥१६॥ (२४०)

[विशिष्टे] विशिष्ट व्यक्ति के दाता होने पर (उसके द्वारा दिये जाने वाले आर्थिक सहयोग का, आदाता) [आत्मत्यागः] स्वयं परित्याग कर दे, (उस सहयोग को स्वीकार न करे), [इति] समाप्त (हुआ प्रसंग)।

सूत्र में 'विशिष्ट' पद उन व्यक्तियों का संकेत करता है, जो अर्थार्जन की भावना को छोड़कर सर्वथा निर्लोभ हो, केवल राष्ट्रहित के लिये ज्ञानवृद्धि में लगे रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों का जीवन अपने लिये न होकर समाज व राष्ट्र के लिये होता है। उनके स्वस्थ जीवन का चालू रहना राष्ट्रहित में है, यह समझकर ऐसे व्यक्तियों की सुख-सुविधा व उनके कार्य के लिये आवश्यक साधन-सामग्री का प्रबन्ध उनसे विना मुआवजा लिये होना चाहिये।

जब ऐसे व्यक्तियों को चिकित्सा की आवश्यकता होती है; तब चिकित्सा के निमित्त यदि वे चिकित्सक को आर्थिक सहयोग देना चाहें, तो चिकित्सक उसे स्वीकार न करे, स्वयं उसका त्याग कर दे। इसी प्रकार अन्य समस्त आव-

---

१. 'इति' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०। सूत्र का तात्पर्य है—विशिष्टे दातरि सति, आदाता आत्मना तस्य दानस्य त्यागं कुर्यात्। वस्तुमूल्यमनादायैव कश्चिदप्यन्यो वस्तुप्रदानप्रणाल्या विशिष्टस्य पुरुषस्य सेवां कुर्यात्।

श्यक साधन-सामग्री–जो ज्ञानवृद्धि-मूलक कार्यों के लिये अपेक्षित हो–उनको प्रस्तुत कीजाय; तथा उसके मुआवज़े के रूप में उनके द्वारा दिया जानेवाला अर्थदान स्वीकार न किया जाय। तात्पर्य है, ऐसे व्यक्तियों का समस्त भार समाज व प्रशासन व्यवस्थानुसार उठाये।

प्रस्तुत आह्निक में–गुणों के विवेचन प्रसंग से मानव के उन्नत-अनुन्नत होने के साधनरूप–धर्म-अधर्म गुणों का विवेचन किया गया। इसमें धर्म के एक अंग दान का ऊहापोहपूर्वक विवेचन हुआ। दान का तात्पर्य जो आज साधारण रूप में समझा जाता है–दाता का उत्कृष्ट श्रेष्ठ होना तथा आदाता को निकृष्ट व दीन माना जाना–वैसा सूत्रकार ने यहां नहीं माना। सूत्रकार के विचार से व्यक्तियों की योग्यता व आवश्यकता के अनुसार अर्थ का वितरण 'दान' है। यह सामाजिक व प्रशासनिक व्यवस्थाओं के अनुसार होता रहना चाहिये। सूत्रकार ने विशेषरूप से इस तथ्य व यथार्थ का साक्षात् निर्देश किया है, कि परिश्रम करनेवाले को श्रम का पूरा फल मिले। एक के श्रम का दूसरे को लाभ पहुंचना, समाज में दोष का रूप बताया है। सामाजिक संघटन में पारस्परिक सहयोग दान-धर्म का रूप है। सहयोग न होना अधर्म का रूप है। सूत्रकार ने शास्त्र के प्रारम्भ में उस धर्म का संकेत किया है, जो मानव के अभ्युदय का मूल है। उसी का संक्षिप्त विवरण सामाजिक-धर्म के रूप में प्रस्तुत प्रसंग द्वारा दिया गया है।

यह केवल उपलक्षण है, दिशानिर्देशनमात्र है। इसका केन्द्रीभूत मूलसूत्र है—समाज का संघटन व पारस्परिक सहयोग। समाज की यह स्थिति जिन आधारों पर सुव्यवस्थित रह सके, वह सब धर्म का स्वरूप है। धर्मशास्त्रों में बताये गये धर्म के लक्षण इसी मूल सिद्धान्त की व्याख्यामात्र हैं। उन सबका लक्ष्य समाज के संघटन व पारस्परिक सहयोग को दृढ़ता के साथ विद्यमान रखना है। यह राष्ट्र की सुरक्षा व सुख-सुविधा की धुरा है।

प्रायः सभी व्याख्याकारों ने सूत्रगत 'दान' पद से ब्राह्मण-भोजन का तात्पर्य समझा है। तथा कतिपय सूत्रों में पठित 'त्याग' पद का अर्थ 'वध' एवं कहीं 'अवसाद' किया है। जहां 'पर' के साथ 'त्याग' पद का प्रयोग है, वहां 'वध' अर्थ किया, जहां 'आत्मत्याग' पद है, वहां 'अपना वध' अर्थ न कर 'अवसाद' अर्थ किया। 'अवसाद' पद का अर्थ है—खेद प्रकट करना, अथवा खिन्न होना। यह सब अप्रासंगिक व असंगत प्रतीत होता है। व्याख्याकारों ने सूत्रकार की आन्तरिक भावनाओं को समझने का उपयुक्त प्रयास नहीं किया ॥१६॥

इति श्रीवैशेषिकसूत्रविद्योदयभाष्ये षष्ठाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

गत आह्निक में सामूहिक-सांघिक धर्म-अधर्म का निरूपण कियागया। प्रस्तुत आह्निक में वैयक्तिक धर्म-अधर्म का निरूपण करना अभीष्ट है। वह दो प्रकार का है–दृष्ट और अदृष्ट। अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अनुष्ठान करना, न करना धर्म और इससे विपरीत अधर्म होता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ कार्य ऐसे करता है, जिनका फल व प्रयोजन दृष्ट होता है। भोजन, आच्छादन, वास आदि के लिये कृषि, वाणिज्य, सेवा आदि कर्म ऐसे ही हैं। ये ऐहिक अभ्युदय के साधन हैं। जिन अनुष्ठानों का फल यहां दिखाई नहीं देता, उनका फल अदृष्ट समझना चाहिये। इसी भावना के अनुसार सूत्रकार ने कहा—

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां[1] दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥ (२४१)

[दृष्टादृष्टप्रयोजनानाम्] दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन वाले कर्मों के [दृष्टा-भावे] दृष्ट प्रयोजन के अभाव में [प्रयोजनम्] प्रयोजन (अदृष्ट समझना चाहिये) [अभ्युदयाय] कल्याण के लिये।

माना जाता है, वाजपेय आदि अनुष्ठानों का फल इस लोक में प्राप्त नहीं होता। अनुष्ठाता जिस देह के रहते अनुष्ठान करता है, उसी देह के रहते उसके फल को नहीं भोगपाता। देहान्तर-प्राप्ति पर फल-भोग मिलने के कारण उसे 'अदृष्ट' कहा जाता है। अनुष्ठानकाल के देहद्वारा वह नहीं भोगाजाता। कर्म अर्थात् अनुष्ठान दृष्ट है, परन्तु उसका फल अथवा प्रयोजन दृष्ट नहीं। अनुष्ठान क्रियारूप है, वह पूरा होने पर समाप्त होजाता है। अनुष्ठान-काल का देह भी कालान्तर में समाप्त होजाता है। अनुष्ठाता आत्मा में अनुष्ठान से 'धर्म' नामक गुणविशेष अभिव्यक्त होजाता है। यह उस समय तक विद्यमान रहता है, जब तक जन्मान्तर में आत्मा अनुष्ठित कर्म का फल भोग नहीं लेता। इसीप्रकार निषिद्ध कर्मों का अनुष्ठान आत्मा में 'अधर्म' नामक गुण विशेष को अभिव्यक्त करता है। ऐसे धर्म-अधर्म को 'अदृष्ट' पद से कहाजाता है; क्योंकि ये अनुष्ठानकालिक देह में अनुष्ठितकर्म-फल के प्रयोजक न होकर जन्मान्तर में प्राप्त देह में फल के प्रयोजक होते हैं।

---

१. चन्द्रा० तथा अ० प्रा० में सूत्रपाठ है—'दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टा-भावे प्रयोगोऽभ्युदयाय।' दृष्ट फल वाले दृष्ट कर्मों की स्थिति में जिनका दृष्ट फल नहीं है, ऐसे कर्मों का प्रयोग–अनुष्ठान जन्मान्तर में अभ्युदय-कल्याण प्राप्ति के लिये किया जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से दृष्ट और अदृष्ट की अन्य प्रकार से व्याख्या भी संभव है। जिस किये कर्म का फल केवल कर्त्ता को मिले, वह 'अदृष्ट'; तथा जिस कर्म का अन्यों को भी मिले, वह 'दृष्ट' समझना चाहिये। जिस कर्म के फल को सब भोग सकें, अनुभव कर सकें, देख सकें, वह 'दृष्ट'; और जिसके फल को अन्य कोई न भोग सके, केवल कर्त्ता उसे पाये, देखे; तो वह कर्त्ता के अतिरिक्त सभी के लिये 'अदृष्ट है, अभुक्त है।

सामाजिक व सांघिक व्यवस्था, नियम-कानून ऐसे ही कर्म हैं, जिनका फल उन व्यवस्थाओं की सीमा में रहने वाले सबको प्रभावित करता है; यद्यपि उन व्यवस्थाओं व नियमों के निर्माता-अनुष्ठाता सब नहीं होते। एक के किये यज्ञादि कर्मानुष्ठान का–वायु आदि शुद्धि–फल अनेकों को प्राप्त होता है। यह इन कर्मों का 'दृष्ट' फल है। जो फल केवल कर्त्ता को प्राप्त हो, वह 'अदृष्ट' है; क्योंकि उसे अन्य कोई देख नहीं पाता, भोग नहीं पाता ॥१॥

सूत्रकार ने ऐसे कतिपय कर्मों की सूची प्रस्तुत की—

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवान[1]प्रस्थयज्ञदान प्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥२॥ (२४२)

[अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदान**प्रोक्षण**दिङ्नक्षत्र-मन्त्रकालनियमाः] स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण, दिक्, नक्षत्र, मन्त्र, काल, नियम [च] और (भी ऐसे कर्म) [अदृष्टाय] अदृष्ट फल के लिये हैं।

सूत्र में तेरह कर्मों का साक्षात् उल्लेख है, और 'चकार' से ऐसे अन्य कर्मों के संग्रह का संकेत कियागया है। प्रत्येक का विवरण निम्नप्रकार समझना चाहिये।

अभिषेचन–इस पद का साधारण अर्थ 'स्नान' है। एक[2] व्याख्याकार ने इसका अर्थ—'राजाओं का अभिषेक' किया है। यह एक असाधारण अर्थ है। यद्यपि वह स्नानरूप होता है, अथवा उसमें राजा को विशेष प्रकार का स्नान कराया जाता है। अर्थ कोई हो; पर इसका परलोक में प्राप्य अदृष्ट प्रयोजन क्या होसकता है? यह चिन्तनीय है। इसके विपरीत साधारण स्नान का प्रयोजन शरीर की शुद्धि और उससे स्फूर्ति व शान्ति का प्राप्त होना है। वह सब स्नाता को उसी समय प्राप्त होता है, उसका परलोकगामी प्रयोजन कल्पनामात्र है।

१—'वानप्रस्थ्य०' चन्द्रा०।

२. जयनारायण तर्कपञ्चानन की 'विवृति' नामक व्याख्या। वहां पाठ है— 'अभिषेचनमभिषेको राज्ञाम्।'

कहाजाता है, गंगा आदि नदियों में स्नान परलोकगामी प्रयोजन का साधक होता है। ऐसा समझना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, जो इस विचार को नहीं मानते, गंगा आदि नदियों में वे भी स्नान करते हैं। पशु, पक्षी तथा अन्य अनेक तिर्यक् प्राणी गंगाजल में नहा जाते हैं, जलचर तो रहते ही उसमें हैं; क्या इन सबको वह अदृष्ट फल प्राप्त होसकता है? उत्तर मिलेगा, नहीं, क्योंकि उनकी भावना व विचार ऐसे नहीं हैं। इसका स्पष्ट परिणाम यह निकलता है, कि केवल गंगास्नान उस अदृष्ट फल का प्रयोजक नहीं है। वस्तुतः वैसे विचार व भावना से वह फल मिल सकता हो, यह मनोमोदकमात्र है। राजाओं के अभिषेक से परलोकगामी अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना भी नहीं की-जासकती। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है, कि स्नान से शरीरशुद्धि[1], स्फूर्ति व शान्ति के अतिरिक्त स्नान का और कोई फल नहीं होता। वह स्नान गंगा आदि नदियों, सरोवर, तालाब, कूप आदि कहीं पर कियागया हो। वह केवल स्नाता व्यक्ति को मिलता है, अन्य को नहीं। इसी भावना से वह अदृष्टफलक कहाजा-सकता है; परलोकगामी फल की भावना से नहीं।

उपवास—किसी विशेष दिन अथवा आवश्यकतानुसार आहार का परित्याग 'उपवास' कहाता है। इससे उपवास करने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य प्रभावित होता है। उसका फल अन्य किसी व्यक्ति को प्राप्त होने वाला नहीं। ऐसे उप-वासों के परलोकगामी फल होने की कल्पना सर्वथा निराधार है।

ब्रह्मचर्य—आठ प्रकार के मैथुन का[2] परित्याग ब्रह्मचर्य है। इससे देह में वीर्य-रक्षा होकर देह पुष्ट तथा समस्त इन्द्रियां स्फूर्तियुक्त बनी रहती हैं। इस व्रत का फल केवल ब्रह्मचारी को प्राप्त होता है। उसका उपभोग अन्य व्यक्ति नहीं कर सकता। जन्मान्तर में उसके किसी फल की प्राप्ति की कल्पना सर्वथा निराधार है। ब्रह्मचर्य का पालन शरीरविशेष से सम्बन्ध रखता है। उसी शरीर के रहते उसका फल मिलना संभव व युक्तियुक्त है। ब्रह्मचर्य के कारण वैषयिक कामनाओं का आत्मा में उद्रेक न होने का फल जन्मान्तर में मिले, चालू जीवन में न मिले, इसका कोई नियामक हेतु नहीं है।

---

१. 'अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति' मनु० ५।१०९॥

२. स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृतिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदष्टाङ्गलक्षणम्‍ ॥

गुरुकुलवास—गुरुकुल में ब्रह्मचर्यपूर्वक वास शिक्षाप्राप्ति के लिये होता है। इसका प्रयोजन गुरु के सहवास में रहकर उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करना है। स्पष्ट है, इसका जन्मान्तर अथवा परलोक से कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ा जासकता। गुरुकुलवास में शिक्षाप्राप्ति-रूप प्रयोजन उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं। इसीरूप में वह अदृष्टफलक संभव है।

वानप्रस्थ—चार आश्रमों में से एक आश्रम का यह नाम है, जो तीसरी संख्या पर आता है। इस व्रत व आश्रमिक कर्मानुष्ठान का फल उसी अनुष्ठाता व्यक्ति को मिलता है, अन्य को नहीं। आश्रमधर्मों का पालन व्यक्ति के चालू जीवन को उन्नत बनाता है, यही उसका प्रयोजन है, जो उसी जीवन में प्राप्त होता है। इसका फल केवल जन्मान्तर में प्राप्त हो, ऐसी कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

यज्ञ—यज्ञ का स्वरूप देवपूजा व संगतिकरण माना गया है। देव कौन हैं ? देव हैं—ओषधि, वनस्पतियों तथा जल, वायु आदि में विद्यमान जीवन-सहयोगी शक्तियां। यज्ञ के द्वारा इनको पुष्ट व संस्कृत कियाजाता है। यही देवों की पूजा है। उन वस्तुओं के उपभोग द्वारा व्यक्ति का जीवन सुचारु-रूप से संचालित रहता है। इसप्रकार की याज्ञिक भावना व्यक्ति में उदारभाव का उद्रेक करती है। उससे व्यक्ति जनसमाज के अधिक संपर्क में आता और वैषयिक कामनाओं से उद्विग्न होकर अध्यात्म के साथ संबन्ध जोड़ने के लिये प्रयत्नशील रहता है। यही संगतिकरण का स्वरूप है। इसप्रकार के अनुष्ठानों से यज्ञकर्त्ता व्यक्ति की उदात्त-भावनाओं में अभिवृद्धि होती है। यह फल यज्ञ के अकर्त्ता को कभी प्राप्त नहीं होता। इसमें कोई प्रमाण नहीं, कि ऐसे अनुष्ठानों का फल जन्मान्तर अथवा परलोक में ही प्राप्त हो[1]।

दान—इसकी सीमा में वस्तुदान, धनदान, पशुदान, विद्यादान आदि सभी आजाते हैं। दान का तात्पर्य है—वस्तु आदि पर अपने अधिकार का परित्याग कर दूसरे का अधिकार स्वीकार करना। परन्तु अन्य दानों से विद्यादान में कुछ विशेषता है। विद्यादान में दाता का अधिकार उस पर बना रहता है, और आदाता का अतिरिक्त अधिकार होजाता है। दान से दाता में उदार भावना का उद्रेक होता है। समाज की बौद्धिक व आर्थिक विषमता को दूर करने में सहयोग प्राप्त होता है, यह अनुष्ठान दाता की उदारता व प्रतिष्ठा को समाज में स्थापित करता है। यह स्थिति अदाता को प्राप्त नहीं होती। अन्यों के लिये

१. द्रष्टव्य, भगवद्गीता, ३।६-१३॥

प्राप्त न होने के कारण इसे अदृष्टफलक कहागया है।

प्रोक्षण—पद का अर्थ है–अच्छी तरह स्वच्छ शुद्ध करना, प्र-प्रकृष्ट, उक्षण-सेचन, जलादि से किसी वस्तु के दोष को दूर कर स्वच्छ करना। इसका तात्पर्य है, अन्नादि का उपयोग सब प्रकार से उसे शुद्ध संस्कृत करने के अनन्तर किया जाना चाहिये। वह उपयोग चाहे आहार के लिये हो, अथवा यज्ञ के लिए; उपयोज्य सामग्री का शुद्ध संस्कृत होना आवश्यक है।

अन्नादि का प्रोक्षण न केवल जल से हो, अपितु उसकी स्वाभाविक पवित्रता का भी ध्यान रखना चाहिये। इसका तात्पर्य है, वह उपयोज्य सामग्री नेक कमाई की हो; चोरी आदि तथा किसीको कष्ट व धोखा आदि देकर प्राप्त कीहुई न हो। भौतिकरूप से शुद्ध वस्तु भी चोरी व धोखा-घड़ी आदि से प्राप्त कीहुई हो, तो उसका उपयोग उपयोक्ता के लिये सर्वांश में अनुकूल नहीं होता। भौतिकरूप में पुष्टिकर होने पर वह भावनाओं को दूषित करता है। वस्तु का ऐसा उपभोग केवल उपभोक्ता को यहीं फल देदेता है। उसका फल न अन्य किसी को मिलता है, न जन्मान्तर व परलोक की प्रतीक्षा करनी होती है। फलतः उपभोग्य वस्तु की पवित्रता में नेक कमाई का होना प्रधान आधार है। सूत्रकार ने अगले पांचवें सूत्र में वस्तु की 'शुचिता' को बतलाने के लिये दो आधारभूत पद रक्खे हैं—'प्रोक्षित' और 'अभ्युक्षित'। पहले में भाव निहित है–नेक कमाई का होना। दूसरे में है–सब ओर समाज से स्वीकृत होना। जो उपभोग नेक कमाई का है, स्वतः परिश्रम कर नियमानुसार प्राप्त किया है, और समाज उसे सर्वात्मना स्वीकार करता है, वही उपभोग पवित्र है। प्रोक्षण उसी पवित्रता के लिये है।

समाज में कड़ुवाहट पैदा न हो, इसके लिये दोनों शर्तों का पूरा करना आवश्यक है। नेक कमाई भी यदि इतनी अधिक मात्रा में है, जो समाज में किसी सीमा तक विषमता का प्रयोजक हो, तो समाज के सामञ्जस्य के लिये अपेक्षित स्थानों [चिकित्सालय, शिक्षालय, अनाथालय आदि] में उसका दान-वितरण होजाना चाहिये। शेष कमाई व्यक्तिगत उपभोग के लिये रहे। यही समाज की स्वीकृति का तात्पर्य है।

दिक्—दिशाओं का विशिष्ट कार्यों में उपयोग उपयोक्ता के लिये फलप्रद होता है। सूर्याभिमुख सन्ध्या करे, उत्तर की ओर सिर करके न सोये। इस प्रकार के दिङ्मूलक नियम वैज्ञानिक आधारों पर हैं। इनका फल, नियमों का पालन करने वाले को मिलता है, और यहीं मिलजाता है। इनके परलोकगामी फल की कल्पना अप्रामाणिक है।

नक्षत्र—नामकरण आदि संस्कार-अनुष्ठानों में इसका उपयोग कियाजाय, तो व्यक्ति के नाम से उसके जन्मकाल का पता लगजाता है। यह सामाजिक व्यवहार को सुनियमित रखने के लिये आवश्यक है। आयु की जानकारी की आवश्यकता पड़ने पर कोई व्यक्ति उसमें घटा-बढ़ी नहीं करसकता, जैसा आजकल शिक्षालयों, न्यायालयों व सेवाकार्यों में देखा जाता है। इसका ऐहिक फल स्पष्ट है; परत्र के फल का किसीको पता नहीं।

मन्त्र—इसका प्रयोग गायत्री आदि के जप अथवा पाठ करने में होता है। जप अथवा वेदपाठ करने वाले व्यक्ति को ऐसे अनुष्ठानों का फल यहीं प्राप्त होता है। 'मन्त्र' पद का तात्पर्य मनन करना, विचार करना भी है। प्रत्येक कार्य को विचारपूर्वक–उसके हानि-लाभ व साधन-सामग्री आदि के विषय में सोचकर–करने से कर्त्ता को नियत फल की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं। तथा वह फल यहीं प्राप्त होजाता है।

काल—समय के अनुसार कार्य करना कर्त्ता को सुफलप्रद होता है। यही इसका तात्पर्य है।

नियम—समाज व प्रशासन के नियमों-व्यवस्थाओं का यथायथ पालन करना, कर्त्ता के लिये अच्छे परिणामों को सामने लाता है। योगशास्त्रविहित शौच, सन्तोष आदि नियमों का पालन भी समाज-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के साथ अनुष्ठाता व्यक्ति के अभ्युदय में सहयोग देता है।

अभिषेचन आदि सब अनुष्ठान वैयक्तिक धर्म हैं। अनुष्ठाता इनके फल को पाता है, और यहीं प्राप्त करलेता है। मानव में प्रमाद व आलस्य की संभावना सदा बनी रहती है। दूरदर्शी ऋषियों ने यह विचार कर, कि मानव प्रमाद आदि से अभिभूत होकर इन अनुष्ठानों का परित्याग न कर बैठे, एक अदृष्टजन्य परलोकगामी आकर्षक फल को सामने खड़ा कर दिया; जिससे स्वभावदुर्बल मानव अज्ञात भय से इन आवश्यक अनुष्ठानों की ओर सदा आकृष्ट रहे, और अभ्युदय प्राप्त कर सके। इस रूप में दृष्ट और अदृष्ट सब यहीं सम्पन्न होजाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि परलोक अनपेक्षित है; परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सूत्रकार ने जिन अनुष्ठानों का उल्लेख किया है, उनके अनुसार सूत्रकार की भावना का सामञ्जस्य पूर्वोक्त विचारों में स्पष्ट होता है। इसमें परलोक की उपेक्षा नहीं है॥२॥

समाज में भलाई-बुराई दोनों रहा करती हैं। ऐसी स्थिति को सूत्रकार ने बताया—

चातुराश्रम्यमुपधा[1] अनुपधाश्च ॥३॥ [२४३]

[चातुराश्रम्यम्] चारों आश्रमों में होते हैं, [उपधाः] दोष [अनुपधाः] अदोष [च] और।

मानव समाज चार आश्रमों में विभक्त माना गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास। पहला आश्रम--बाल्यकाल और छात्रावस्था है। दूसरे में युवावस्था प्राप्त होजाने पर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंशानुक्रम चालू रखने के लिये प्रयास किया जाता है। जीवन-निर्वाह के लिये आर्थिक दृष्टि से जो साधन किसी व्यक्ति के लिये सम्भव व उपयुक्त हैं, इसी आश्रम में उनका उपयोग कर यथाशक्ति अर्थार्जन के लिये परिश्रम किया जाता है। यह आश्रम समाज के संघटन की रीढ़ है। अन्य सभी आश्रमियों का जीवन-निर्वाह इसी आश्रम पर अवलम्बित रहता है। तीसरे आश्रम का अवसर उस समय आता है, जब व्यक्ति की उमर ढलने लगती है, और सन्तति गृहस्थ आश्रम में आकर कमाने लगती है। धन्धों को छोड़कर व्यक्ति एकान्त में भगवान् का ध्यान करता है, और यथावसर अपेक्षित सामाजिक सेवाओं के लिये समय देता है। यह चौथे आश्रम में प्रवेश के लिये तैयारी करना है। इस तैयारी के अनन्तर चौथा आश्रम संन्यास है, जब व्यक्ति अपने आप को भगवान् व समाज के लिये सर्वात्मना अर्पण कर देता है, तब उसका अपना निजी कुछ नहीं रहता, वह सबका होजाता है, और अन्य सब उसके।

भारतीय समाज में ऐसा आश्रम विभाग स्पष्ट रहा है, पर इसका अस्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में सर्वत्र मानव-समाजमात्र में देखा जाता है। सब आश्रमों के कार्य-नियम व व्यवस्थाएं--दूरदर्शी लोककर्त्ता महान आचार्यों ने समय-समय पर स्थिर किये हैं; पर स्वभाव से विचार-दुर्बल मानव उनको पूरे रूप में निभा नहीं पाता। उसीके परिणामस्वरूप समाज में दोष उत्पन्न होजाया करते हैं। कोई दोष किसी भी आश्रमी व्यक्ति में उत्पन्न होसकता है। जब समाज में आश्रम धर्मों का यथायथ पालन होता रहता है, तो समाज सुखी सम्पन्न पुष्ट बना रहता है। यह समाज की अदोष अवस्था है। यद्यपि पूर्णरूप से समाज का दोषरहित होना असम्भव है, पर अधिकता के आधार पर जैसा समाज होता है, वैसा कहा जाता है। फलतः समाज के चारों आश्रमों में से कहीं भी भलाई व बुराई का होना सदा सम्भव रहता है, परन्तु बुराई का मूल अधर्म दुःख व विनाश का हेतु होता है, उसका परित्याग होना चाहिये; तथा सुख-सम्पत्ति एवं सब प्रकार के

१. अ० प्रा० में यह सूत्र दो सूत्रों के रूप में दियागया है। एक—'चातुराश्रम्यम्, दूसरा—'उपधाऽनुपधाश्च।' 'चातुराश्रम्यमुपधाच्चानुपधाच्च, चन्द्रा०।

अभ्युदय का मूल हेतु होने के कारण धर्म का यथायथ पालन होना अभीष्ट माना गया है ॥३॥

गतसूत्र में प्रयुक्त 'उपधा-अनुपधा' पदों का तात्पर्य क्या है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया —

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा[1]॥ ४॥ (२४४)

[भावदोषः] भाव-भावना-श्रद्धाविषयक दोष—न्यूनता अथवा अभाव [उपधा] उपधा (पद का तात्पर्य) है, [अदोषः] दोष का न होना [अनुपधा] अनुपधा (पद का तात्पर्य) है।

सूत्र का 'भाव' पद व्यक्ति की आन्तरिक भावनाओं का निर्देश करता है, उन्हीं से प्रेरित हुआ व्यक्ति धर्म-अधर्म अथवा भलाई-बुराई किया करता है। आन्तरिक भावना जब राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से अभिभूत रहती है, इस स्थिति का नाम 'भावदोष' है। यह 'उपधा' पद का तात्पर्य है। इस दशा में शास्त्र-विहित अनुष्ठेय कर्मों के प्रति व्यक्ति की श्रद्धा शिथिल होजाती है, अथवा उसका सर्वथा अभाव होता है। तब धर्म की ओर प्रवृत्त न होकर व्यक्ति अधर्म की ओर प्रवृत्त होजाता है। यह अनिष्ट का प्रयोजक है। इससे बचना चाहिये।

जब व्यक्ति की आन्तरिक भावना रागादि दोषों से अभिभूत नहीं रहती, तब व्यक्ति की धर्म के प्रति श्रद्धा जागृत रहती है। यह इष्ट का मार्ग है, इस पर सदाचरणपूर्वक निरन्तर चलते रहना श्रेयस् का साधन है। पहले मार्ग पर चलने से व्यक्ति दुःखी उद्विग्न और दूसरे पर चलने से सुखी, सन्तुष्ट रहता है। जब जिसका आधिक्य हो, उसके अनुसार समाज व राष्ट्र की स्थिति हुआ करती है। इसलिये राष्ट्र को सब प्रकार सुखी व पवित्र बनाये रखने के लिये उपधा के त्याग और अनुपधा के परिग्रह की दिशा में समाज के प्रत्येक अंग को सदा ध्यान रखना चाहिये ॥४॥

शिष्यों की जिज्ञासा पर सूत्रकार ने पवित्र अथवा शुचि उपभोग-साधन का स्वरूप बताया—

[2]यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥ (२४५)

[यत्] जो [इष्टरूपरसगन्धस्पर्शम्] चाहे हुए (उपभोग्य) रूप, रस,

१. 'भावदोष उपधा' इतना सूत्र है। शेष भाग नहीं है, अ० प्रा०। 'भावदोष उपधा' 'अदोषोऽनुपधा' दो सूत्र हैं, चन्द्रा०।

२. 'यत् पद नहीं है, चन्द्रा०।

गन्ध, स्पर्श [प्रोक्षितम्] अपने परिश्रम से अर्जित है [अभ्युक्षितम्] सब ओर से स्वीकृत है [च] और [तत्] वह [शुचि] पवित्र है।

सूत्र के 'प्रोक्षित' पद का अर्थ व्याख्याकारों ने किया है—मन्त्रोच्चारणपूर्वक जल से व्रीहि आदि अन्न का धोयाजाना। 'अभ्युक्षित' का अर्थ किया है—विना मन्त्रोच्चारण के धोयाजाना। कल्पना कीजिये, आपको जो अन्न उपभोग्य रूप में प्राप्त हुआ है, वह चोरी करके अथवा उसके स्वामी की हत्या करके लायागया है; तो उस अन्न को कितने भी मन्त्र बोलके जल से या गंगाजल से भी धोइये, उसकी भाव-अशुद्धि का प्रक्षालन होना असंभव है। उपभोग्य अन्न व अन्य प्रत्येक उपभोग्य वस्तु की पवित्रता का जो मूल आधार है, वह 'प्रोक्षित' पद के उक्त अर्थ में अंशमात्र भी नहीं उभरता। इसलिये उक्त पदका अर्थ करना चाहिये—जो प्रकृष्ट रूप से अपना गाढ़ा पसीना सींचकर कमाया गया हो, वही शुचि है। अपने गाढ़े पसीने की कमाई को पवित्र समझना युक्त है। वह भी तब, जब वह 'अभ्युक्षित' हो, अर्थात् सब ओर से समाज का आशीर्वाद उसे प्राप्त हो। जो भी उपभोग कोई व्यक्ति करता है, उसे समाज निर्दोष भाव से स्वीकार करे, समाज व शासन से अनुमोदित हो। इसी दशा में अपने उपभोग्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को पवित्र समझना चाहिये ॥५॥

शिष्यों की जिज्ञासा पर सूत्रकार ने 'अशुचि' का स्वरूप बताया—

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥ (२४६)

[अशुचि] अपवित्र [इति] वह (स्वरूप है, जो) [शुचिप्रतिषेधः] पवित्र का उलट है।

जो शुचि नहीं है। मेहनत की कमाई नहीं है। चोरी-चपाटी, धोखा-धड़ी, ब्लैक मेलिंग [Black-Mailing, चोर बाज़ारी, तस्करी आदि] करके अर्जित कीगई है, वह अशुचि है। समाज व प्रशासन उसका अनुमोदन नहीं कर सकता। ऐसी कमाई का विरोध होता है, और उससे संघर्ष। अतः राष्ट्रहित की भावना से उपभोग्य साधनों के संग्रह में ऐसी रीतियों का परित्याग श्रेयस्कर है। अपने परिश्रम से न्यायपूर्वक धन का अर्जन ही सर्वथा निर्दोष व पवित्र होता है; इससे भिन्न अपवित्र ॥६॥

सूत्रकार ने अशुचि का अन्य रूप बताया—

अर्थान्तरं च ॥७॥ (२४७)

[अर्थान्तरम्] अर्थान्तर—अन्य अर्थ [च] भी (अशुचि माना जाता है)।

विभिन्न आश्रमों की परिस्थिति व भावना के अनुसार अन्नादि उपभोग्य

वस्तुओं की विशेषता शास्त्र में बताई गई है। जो जिस आश्रम में उपभोग्य विहित है, उससे अन्य अर्थ का उपभोग अशुचि माना जायेगा। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम में अधिक तिक्त, कषाय, मधुर आदि का आहार एवं छत्र, उपानत् आदि का धारण वर्जित है, यदि इस अविहित का उपभोग ब्रह्मचारी करे, तो वह अशुचि है। वानप्रस्थ व संन्यासी कन्द मूल, फल व भिक्षा आदि से प्राप्त सात्त्विक आहार का, तथा साधारण सौम्य आदि शास्त्रविहित वेष का परित्याग कर यदि नागरिक गृहस्थ के समान उत्तेजक आहार व वेष-भूषा का उपभोग करते हैं, तो वह उनके लिये अशुचि है। यद्यपि वे उपभोग-साधन उन्हें आश्रमनियमानुसार श्रम व न्याय से प्राप्त हैं।

द्रव्यरूप से शुचि वह उपभोगसाधन अशुचि समझना चाहिये, जो तिरस्कार व अपमानपूर्वक प्राप्त हुआ हो। वह तिरस्कार चाहे वाणी द्वारा हुआ हो, अथवा अन्य प्रकार से। ऐसा उपभोग उपभोक्ता के लिये श्रेयस्कर व सन्तोषकर नहीं होता ॥७॥

ऐसी अन्य कौन-सी स्थितियां हैं, जब शुचि उपभोग भी उपभोक्ता के लिये अभ्युदय का साधक नहीं होता। सूत्रकार ने बताया—

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद्विद्यते[1] वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य ॥८॥ (२४८)

[अयतस्य] यमों का पालन न करने वाले व्यक्ति का [शुचिभोजनात्] पवित्र उपभोगों से [अभ्युदयः] कल्याण [न] नहीं [विद्यते] होता है, [नियमाभावात्] नियम-व्यवस्था का अभाव होजाने से [विद्यते] होता है (कल्याण-अभ्युदय) [वा] अथवा [अर्थान्तरत्वात्] भिन्न प्रयोजन वाला होने से [यमस्य] यम के।

यह एक व्यवस्था है, व्यक्ति को—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इन—यमों का पालन नित्य करना चाहिये। शुचि उपभोग—यमों का पालन करने वाले व्यक्ति के लिये—अभ्युदय के जनक होते हैं। जो व्यक्ति अयत है, अहिंसा आदि व्रतों का पालन नहीं करता, उसके लिये पवित्र उपभोग भी कल्याणकारी नहीं होते। कारण यह है, कि व्यक्ति व समाज के अभ्युदय के लिये अहिंसा आदि

१. अ० प्रा० में 'नियमाभावाद्विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य' यह सूत्रांश नहीं है॥ चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने अपनी व्याख्या में 'विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य' इतना भिन्न सूत्र माना है।
'विद्यते यमाभावात्' आगे 'विद्यते चानर्थान्तरत्वाद्यमस्य' इतना भिन्न सूत्र माना है, चन्द्रा०।

व्रतों का पालन करने का जो एक नियम है, व्यवस्था है; उस दशा (पालन न करने की दशा) में उसका अभाव होजाता है। पवित्र उपायों से प्राप्त होने वाले उपभोग-साधनों में जो कल्याण का रूप है, उसमें अहिंसा आदि व्रतों का पालन एक प्रकार से सहकारी कारण होता है। यदि वह नहीं रहता, तो शुद्ध कल्याणरूप कार्य न होसकेगा। इसलिये अपने व अन्य सबके कल्याण की कामना करने वाले व्यक्ति को शुचि साधनों से प्राप्तव्य उपभोगों के साथ यमों का पालन करना व्यवस्थानुसार आवश्यक होता है। अन्यथा समाज में विशृंखलता व संघर्ष का भय उत्पन्न होजाता है।

सूत्र का दूसरा भाग है—'विद्यते वा ऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य,' अथवा जो व्यक्ति यमों का पालन नहीं करता, उसके लिये भी शुचि साधनों से प्राप्तव्य उपभोग कल्याण-रूप होते हैं। कारण यह है, कि अहिंसा आदि यमों के पालन का अपना प्रयोजन भिन्न है। साधनजन्य उपभोग-रूप अभ्युदय का अपना क्षेत्र है; और यमों से प्राप्तव्य अभ्युदय का अपना, दोनों को एकसाथ जोड़ना आवश्यक नहीं। यदि दोनों का साथ-साथ प्रयोग चलता है, तो यह सर्वोत्तम है, आदर्शरूप है। यह सोने में सुगन्ध है ॥८॥

एक के न होने पर सूत्रकार ने बताया—

असति चाभावात् ॥९॥ (२४९)

[असति] न होने पर (किसी एक के) [च] भी [अभावात्] न होने से (अभ्युदय के)।

धर्म के दो क्षेत्र हैं। १—उपभोग के साधनों का शुचि होना। २—यम संज्ञक अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना। यदि इनमें से कोई एक नहीं रहता; तो तज्जन्य अभ्युदय भी नहीं होता। दोनों के अनुष्ठान और उनसे जन्य अभ्युदयरूप फल भिन्न-भिन्न हैं। जो अनुष्ठान होगा, उसीका फल प्राप्त होगा। गत सूत्रों में व्यक्ति व समाज के लिये उस प्रशस्त मार्ग का सूत्रकार ने निर्देश किया; जिससे सबका अभ्युदय संभव है ॥९॥

व्यक्ति किसप्रकार अधर्म की ओर प्रवृत्त होने लगता है, सूत्रकार ने आगामी सूत्रों में बताया—

सुखाद्रागः ॥१०॥ (२५०)

[सुखात्] सुख से [रागः] राग होता है।

अपने अभीष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के उपभोग से अनुकूल प्रतीतिरूप सुख का अनुभव व्यक्ति किया करता है। ऐसी प्रतीति उन विषयों में निरन्तर प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करती है। इसमें बाधा अथवा न्यूनता आने पर व्यक्ति

उनके प्रतीकार के लिये ईर्ष्या, द्वेष व संघर्ष आदि का शिकार होजाता है, इन प्रवृत्तियों में फंसकर अधर्म की ओर उन्मुख होता है। व्यक्ति को अधर्म की ओर राग उसी दशा में झुकाता है, जब उस मार्ग में कोई बाधा व न्यूनता हो, अथवा उस दिशा में अधिक आसक्ति से व्यक्ति में प्रमाद आलस्य आदि का उद्रेक हो जाये। इसप्रकार विषयों में रागातिरेक व्यक्ति को अनायास अधर्म की ओर ले जाता है ॥१०॥

रागोत्पत्ति के अन्य कारणों का सूत्रकार ने निर्देश किया—

तन्मयत्वाच्च[1] ॥११॥ (२५१)

[तन्मयत्वात्] तन्मय होने से [च] भी (राग उत्पन्न होजाता है)।

विषयों में तन्मय होजाने से—सर्वात्मना उनमें आसक्त होने, डूब जाने से—भी उनके प्रति राग की भावना प्रबल होजाती है। सुख के जिन-जिन साधनों के आधार पर व्यक्ति का शरीर व भावना अभिभूत होकर उन्हींमें रमजाते हैं, यह तन्मयता की स्थिति है। इससे विषयों के प्रति रागोद्रेक होकर व्यक्ति अन्यथा प्रवृत्तियों में फंस जाता है, जो व्यक्ति को अधर्म के मार्ग पर लेजाती हैं ॥११॥

रागोत्पत्ति का अन्य कारण बताया—

अदृष्टाच्च[2] ॥१२॥ (२५२)

[अदृष्टात्] अदृष्ट से [च] भी (राग उत्पन्न होजाता है)।

यद्यपि धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण मानाजाता है; परन्तु अनेक अवसरों पर यह असाधारणकारणरूप में उपस्थित होकर किन्हीं विषयों के प्रति राग आदि को उत्पन्न किया करता है। जातमात्र बालक स्तन्य [मा का दूध] के प्रति अनुरागी होकर उधर प्रवृत्ति करता देखा जाता है। इस जन्म में उसने जबतक स्तन्यपान का अनुभव नहीं किया; जिससे प्राप्त सुख के कारण उधर प्रवृत्त होता हो। फलतः पूर्वजन्म में अर्जित संस्कार अथवा धर्माधर्मरूप अदृष्ट इस रागपूर्वक प्रवृत्ति का कारण होता है।

आगे भी जीवनकाल में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब व्यक्ति का ऐसे पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न होजाता है, जो न पहले इस जीवन में उसने देखे हैं, और न वे पदार्थ उसके लिये विशेष उपकारक हैं। अदृष्ट ही ऐसे राग का कारण संभव है ॥१२॥

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। सूत्रगत 'च' पद नहीं हैं चन्द्रा०। आगे पहली व्याख्या में 'न तृप्तेः' तथा दूसरी व्याख्या में 'तृप्तेः' यह अतिरिक्त सूत्र है।

२. 'च' पद नहीं है, चन्द्रा०। इस सूत्र के आगे 'एतेनद्वेषो व्याख्यातः' अतिरिक्त सूत्र है। अ० प्रा०।

सूत्रकार ने रागोत्पत्ति का अन्य कारण बताया—

जातिविशेषाच्च[1] ॥१३॥ (२५३)

[जातिविशेषात्] जाति विशेष से [च] भी (राग उत्पन्न होता है)।

किसी विशेष योनि में जन्म लेने से भी प्राणी को किन्हीं नियत पदार्थ आदि में रागादि उत्पन्न होते हैं। तिर्यक् जाति में उत्पन्न किन्हीं मृग आदि प्राणियों को तृणादि में तथा किन्हीं सिंह-व्याघ्र आदि को मांस-भक्षण में अनुराग होता है। करभ (ऊंट) जाति के प्राणियों को कण्टकी वृक्षों के आहार में विशेष अनुराग होता है। मानवजाति के प्राणी अन्नादि-आहार में विशेष अनुराग रखते हैं। इस-प्रकार के विभिन्न आहारादि-विषयक राग के प्रति जातिविशेष असाधारण कारण रहता है।

किसी के प्रति राग के समान, प्राणियों में परस्पर द्वेष की उत्पत्ति भी अनेकत्र जातिविशेष के कारण देखीजाती है। ऐसे द्वेष को शाश्वतिक विरोध कहा-जाता है। जैसे—ऊंट-भैंस का; साँप-नेवले का; कुत्ते-गीदड़ का, इत्यादि ॥१३॥

सूत्रकार ने गत सूत्रों में राग-द्वेष की उत्पत्ति के कारण बताये। उन कारणों में धर्माधर्मरूप अदृष्ट भी हैं। ये धर्म-अधर्म राग-द्वेष से उत्पन्न होते हैं, सूत्रकार ने बताया—

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः[2] ॥१४॥ (२५४)

[इच्छाद्वेषपूर्विका] इच्छाद्वेषपूर्वक है [धर्माधर्मयोः] धर्म और अधर्म में [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति, प्रवर्त्तन—चालू रखना।

सूत्र में 'इच्छा' पद 'राग' का निर्देश करता है। धर्म-अधर्म में व्यक्ति की प्रवृत्ति का कारण राग-द्वेष हुआ करते हैं। राग से याग, अध्ययन आदि के अनुष्ठान में तथा द्वेष से हिंसा आदि निषिद्ध कार्यों में व्यक्ति की प्रवृत्ति होती है, ऐसी प्रवृत्ति धर्माधर्म की जनक है। गौतमीय न्यायसूत्र[3] में बताया है—यह प्रवृत्ति

---

१. 'जातिविशेषाच्च रागविशेषः' अ० प्रा०। चन्द्रा०।

२. 'यह सूत्र नहीं है' अ० प्रा०।

३. गौतमीय सूत्र है—'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' [१।१।२७]। दूसरे सूत्र [१।१।२] के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने लिखा—"रागद्वेषाधिकाराच्च-असूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति। वाचाऽनृतपरुषसूचनासंबद्धानि। मनसा-परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च। वाचा—सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति। मनसा—दयामस्पृहां श्रद्धां चेति। सेयं धर्माय।"

वाणी, बुद्धि और शरीर तीनों से हुआकरती है। इसप्रकार राग-द्वेषमूलक प्रवृत्तियां धर्माधर्म को उत्पन्न करती हैं। जैसे–रागपूर्वक प्रवृत्ति धर्म-अधर्म दोनों को उत्पन्न करती है, ऐसे ही द्वेषपूर्वक प्रवृत्ति धर्माधर्म दोनों की जनक होती हैं।

राग से याग-अध्ययन आदि में प्रवृत्ति धर्मजनक है। राग से परदारा आदि में प्रवृत्ति अधर्मजनक है। द्वेष से हिंसा आदि में प्रवृत्ति अधर्मजनक है। धनमद से अभिभूत पुरुष की—अन्य के साथ द्वेषमूलक ग्रामकामेष्टि आदि में–प्रवृत्ति धर्मजनक है।

प्रस्तुत प्रसंग से स्पष्ट होता है—धर्म-अधर्म से राग-द्वेष की, तथा राग-द्वेष से धर्म-अधर्म की उत्पत्ति हुआ करती है। धर्म-अधर्म के कारण हैं, इनसे पूर्ववर्ती राग-द्वेष; उनके कारण हैं–उनसे पूर्ववर्ती धर्म-अधर्म। इनके भी कारण हैं–इनसे पूर्ववर्ती राग-द्वेष। उनसे पूर्ववर्ती धर्म-अधर्म उनके कारण हैं। इसप्रकार राग-द्वेष और धर्म-अधर्म की कार्य-कारणपरम्परा अनादि होने से इसमें अनवस्था एवं अन्योन्याश्रय दोष की उद्भावना करना निरर्थक होगा।

जयनारायण तर्कपञ्चानन ने अपनी 'विवृति' नामक व्याख्या में लिखा है—"राग[1] आदि प्रवृत्ति के द्वारा ही धर्माधर्म के जनक होते हैं; यह एक साधारण व्यवस्था के अभिप्राय से कहागया है। इस कारण यदि राग-द्वेष आदि के बिना भी आकस्मिकरूप से किसीका गंगाजल आदि से संसर्ग होजाता है, तो उससे भी धर्म की उत्पत्ति मानने में कोई हानि नहीं है।"

यदि इस विचार को युक्त मानाजाता है, तो किसी कार्य के अनुष्ठान में उसप्रकार की भावना का होना आवश्यक नहीं है। तब फिर तिर्यक् प्राणी भी गंगाजलस्पर्श आदि से धर्मप्राप्ति के भागी माने जाने चाहियें। यदि केवल मानव के लिये शास्त्र का विधान बताकर इसका समाधान कियाजाय, तो नास्तिक, म्लेच्छ, आततायी, घोर अपराधी व्यक्ति भी गंगाजलसंसर्गमात्र से निर्दोष होकर धर्मभागी क्या माने जासकेंगे? यदि हां, तो समस्त शास्त्रीय कर्मानुष्ठान, आश्रमादि कर्मव्यवस्था, ब्रह्मचर्य-अहिंसा आदि यम-नियमों का पालन व्यर्थ होगा। शास्त्र ही निष्फल होजायगा। वस्तुतः इसप्रकार के विचार केवल सम्प्रादायिकभावनामूलक होने से अशास्त्रीय ही मानेजासकते हैं ॥१४॥

---

१. विवृति का लेख है–"तथा च रागाद्यागादौ प्रवृत्तिस्ततो यागादिना धर्मो जायते, तथा द्वेषाद् हिंसायां प्रवृत्तिस्ततो हिंसादिनाऽधर्मो भवतीति रागादेः प्रवृत्तिद्वारकमेव धर्मादिजनकत्वमिति औत्सर्गिकाभिप्रायेणेदम्। तेन रागद्वेषादिकं विनापि आकस्मिकगंगाजलसंसर्गादिना धर्मादिजननेऽपि न क्षतिरिति।"

धर्म-अधर्म के अधीन ही जन्म-मरणरूप संसार का प्रवाह निरन्तर चला करता है, सूत्रकार ने बताया—

तत्संयोगो विभागः[1] ॥१५॥ (२५५)

[तत्संयोगः] उनके द्वारा संयोग, [विभागः] विभाग (यथावसर हुआ करते हैं)।

शरीर, इन्द्रिय आदि के साथ आत्मा का जो संयोग होता है, वह धर्माधर्म के द्वारा हुआ करता है। इसको 'जन्म' कहते हैं। जिस धर्माधर्मसमूह के कारण जिस-किसी एक शरीर-इन्द्रियादि के साथ आत्मा का संयोग होता है, वह धर्माधर्म-समूह शरीरादि साधनों द्वारा भोगाजाकर क्षीण होजाता है; उस समय आत्मा का उस देहादि से विभाग होजाता है। इसका नाम 'मरण' है। राग-द्वेष एवं धर्म-अधर्म की निरन्तर परम्परा से होनेवाले जन्म-मरण का प्रवाह भी अविच्छिन्नरूप से चलता रहता है। यह प्रवाह अनादि-अनन्त है। आत्मज्ञानी व्यक्ति को इस निरवधिक प्रवाह के अन्तराल में लम्बा विश्राम मोक्षरूप प्राप्त होता है। उसी विश्राम की प्राप्ति के लिये शास्त्रों में साधनों का विधान कियागया है। जबतक जिस आत्मा का शरीरसम्बन्धादिरूप जन्म-मरण का क्रम निरन्तर चलता रहता है; वह उसका संसार है। जब इसमें विश्राम का अवसर आजाता है; वह मोक्ष माना गया है ॥१५॥

सूत्रकार ने मोक्ष के विषय में बताया—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥ (२५६)

[आत्मकर्मसु] आत्मसंबन्धी कर्मों में [मोक्षः] मोक्ष [व्याख्यातः] व्याख्यात समझना चाहिये।

आत्मा[2] द्वारा कियेजानेवाले कर्मों—अनुष्ठानों में यज्ञ, याग, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि यम-नियमों का पालन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, आत्मसाक्षात्कार आदि

---

१. 'ततः संयोगो विभागश्च। चन्द्रा०। ये दो सूत्र हैं—'ततः संयोगः' तथा 'विभागश्च।' अ० प्रा०।

२. चन्द्रानन्द ने 'आत्मा' पद का अर्थ 'मन' किया है। अ० प्रा० में 'आत्मा का अर्थ 'प्राण' लिखा है। ये अर्थ चिन्त्य हैं। शास्त्रों में अनुष्ठानों के विधान मन अथवा प्राण के लिये नहीं हैं। वे केवल चेतन 'आत्म-तत्त्व' के लिये हैं।

का वर्णन[1] शास्त्रों में उपलब्ध होता है। समस्त अनुष्ठानों का उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिये है। आत्मा की इस स्थिति का नाम मोक्ष है। सूत्रकार ने इसका निर्देश प्रथम [५।२।१८] कर दिया है ॥१६॥

इति वैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये षष्ठस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्चायं षष्ठोऽध्यायः।

१. द्रष्टव्य, यजु० ३१।१८॥ कठ०१।२।१२॥२।३।८-९॥ प्रश्न०४॥११॥ श्वेता० २।१४-१५॥ न्याय० ४।२।४६॥ इत्यादि।

अथ सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्

गत अध्याय में धर्म-अधर्म का निरूपण किया गया। वहां भी प्रथम आह्निक में समाजधर्म का तथा द्वितीय आह्निक में व्यक्तिधर्म का निरूपण है। शास्त्र में वस्तुतत्त्व के निरूपण की प्रक्रिया यह रहती है, कि पहले उस वस्तु का केवल नाम-निर्देश होता है, फिर उस वस्तु के विभागों का उल्लेख कियाजाता है, यदि कोई हों। अनन्तर उनके लक्षण बताये जाते हैं; अन्त में परीक्षा कीजाती है–जो लक्षण किया गया, वह कहांतक ठीक है। इसी आशय से सूत्रकार ने अतिदेश किया—

उक्ता गुणाः ॥१॥ (२५७)

[उक्ताः] कहे गये [गुणाः] गुण।

उद्देश [१।१।६] तथा लक्षण [१।१।१६] रूप में गुणों का कथन करदिया गया है। अब रूपादिगुण-विषयक विशेष परीक्षा के लिये प्रस्तुत अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम आह्निक में गुणपरीक्षा के पांच प्रकरण हैं। नित्य-रूप से गुणपरीक्षा, अनित्यरूप से गुणपरीक्षा, पाकजगुणपरीक्षा, अनेकवृत्ति संख्या आदि गुणपरीक्षा, परिमाणगुणपरीक्षा ॥१॥

सर्वप्रथम सूत्रकार ने रूपादि चार गुणों की अनित्यता का कथन किया—

**[1]पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वा-
दनित्याश्च ॥२॥ (२५८)**

[पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः] पृथिवी आदि द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण [द्रव्यानित्यत्वात्] द्रव्यों के अनित्य होने से [अनित्याः] अनित्य हैं [च] और (गुण अनित्य हैं)।

सूत्र में 'आदि' पद से जल, तेज, वायु तीन द्रव्यों का ग्रहण होता है। पृथिवी आदि चारों द्रव्य प्रत्येक दो भागों में विभक्त हैं–नित्य और अनित्य। परमाणुरूप

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।
इस सूत्र से पहले दो सूत्र और हैं—"गुणलक्षणं चोक्तम्' तथा 'इदमेवं गुण-भिदमेवंगुणमिति चोक्तम्।' चन्द्रा०। प्रस्तुत सूत्र का पाठ है—'पृथिव्यां रूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याः' चन्द्रा०।

पृथिवी आदि नित्य हैं; द्वयणुकादिरूप अनित्य। पृथिवी आदि जो अनित्य हैं--द्वयणुक से लेकर महाभूत पर्यन्त--, उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श गुण अनित्य होते हैं। अपने समवायिकारण पृथिव्यादि द्रव्यों के उत्पन्न होजाने पर उनमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिये अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रूपादि गुणों के नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब द्रव्य अनित्य होने के कारण अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं, तो उसमें रहने वाला गुण नित्य कैसे होजायगा।

इन गुणों में से वायु में केवल एक गुण रहता है--स्पर्श। तेज में स्पर्श, रूप; जल में स्पर्श, रूप, रस; पृथिवी में स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। सूत्र के 'च' पद से संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि का संग्रह होजाता है। ये गुण भी अपने आश्रय पृथिवी आदि द्रव्य के अनित्य होने से अनित्य होते हैं ॥२॥

सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा नित्यद्रव्यवृत्ति गुणों को नित्य बताया--

एतेन नित्येषु[1] नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥ (२५९)

[एतेन] इस (कथन) से [नित्येषु] नित्य (द्रव्यों) में [नित्यत्वम्] नित्य होना (गुणों का) [उक्तम्] कहा गया।

गत सूत्र में यह कहेजाने से, कि--अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रहने वाले रूपादि गुण अनित्य होते हैं; अर्थापत्ति द्वारा यह स्पष्ट होजाता है, कि ये गुण नित्य द्रव्यों में रहने पर नित्य होते हैं ॥३॥

इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया--

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या[2] द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥ (२६०)

[अप्सु] जलों (जलीय परमाणुओं) में [तेजसि] तेज (तैजस परमाणुओं) में [वायौ] वायु (वायवीय परमाणुओं) में [च] और [नित्याः] नित्य हैं, (रूपादि गुण) [द्रव्यनित्यत्वात्] द्रव्यों के नित्य होने से।

जलीय, तैजस, वायवीय परमाणुओं में रूपादि गुण नित्य हैं। 'चकार' से संगृहीत संख्या आदि गुणों में एकत्व संख्या नित्यद्रव्य में नित्य और अनित्य में अनित्य रहती है। आगे परिमाण आदि गुण नित्यद्रव्य में नित्य तथा अनित्य में अनित्य

१. 'एतेन नित्येष्वप्यनित्यत्वमुक्तम्' अ० प्रा०। एतेन नित्येष्वनित्यत्वमुक्तम्' चन्द्रा०। प्रस्तुत सूत्र से पहले दो सूत्र और हैं--'अग्निसंयोगाच्च।' तथा 'गुणान्तरप्रादुर्भावात्।' सूत्रों की इस आनुपूर्वी के अनुसार इन व्याख्याओं में प्रस्तुत सूत्र का पाठ संगत है। परन्तु प्रचलित सूत्रपाठ के अनुसार इस अर्थ का निर्देश सूत्रकार ने छठे सूत्र में किया है।

२. 'नित्यत्वं' अ० प्रा०।

होते हैं। जलीय आदि परमाणु-द्रव्य नित्य हैं, अतः उनमें समवेत रूपादि गुण भी नित्य हैं।

सूत्र में पृथिवीद्रव्य का निर्देश नहीं है। पृथिवीपरमाणुगत रूपादि गुणों के विषय में सूत्रकार ने छठे सूत्र में बताया है ॥४॥

विशेषरूप से जलादि तीन अनित्य द्रव्यों के रूपादि गुणों के विषय में सूत्रकार ने कहा—

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥ (२६१)

[अनित्येषु] अनित्यों (जलादि द्रव्यों) में [अनित्याः] अनित्य हैं (रूपादि गुण) [द्रव्यानित्यत्वात्] द्रव्यों के अनित्य होने से।

अनित्य जलादि द्रव्यों में रूपादि गुण तथा अन्य संख्या, परिमाण आदि समस्त गुण अनित्य होते हैं; क्योंकि अपने आश्रय द्रव्य की उत्पत्ति के अनन्तर उनकी उत्पत्ति होती है, और आश्रय के नाश से उनका नाश होजाता है।

प्रस्तुत आह्निक के द्वितीय सूत्र में इसी अर्थ का निर्देश है। परन्तु वहां पृथिवी सहित चार द्रव्यों के विषय में कहा है; यहां पृथिवीरहित केवल जलादि तीन द्रव्यों के ॥५॥

पृथिवीगत रूपादि गुणों के विषय में सूत्रकार ने बताया—

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजा[1]: ॥६॥ [२६२]

[कारणगुणपूर्वकाः] कारणगुणपूर्वक हैं (रूपादिगुण) [पृथिव्याम्] पृथिवी में [पाकजाः] पाकज (भी)।

गत सूत्र से 'अनित्य' पद अनुवृत्त होकर वचन–लिङ्ग विपर्यय से पृथिवी के साथ संबद्ध होता है–अनित्यायां पृथिव्याम्। अनित्य पृथिवी में रूपादि गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं, तथा पाकज होते हैं। 'पाक' पद का अर्थ है–अग्निसंयोग। तात्पर्य हुआ–अनित्य पृथिवी में रूपादि गुण अपने आश्रय द्रव्य के समवायिकारण में रहनेवाले सजातीय गुणों से उत्पन्न होते हैं। यह 'कारणगुणपूर्वक' पद का अर्थ है। जैसे घट अनित्य पार्थिव द्रव्य है। घटगत रूपादि गुणों का आश्रय घट है। आश्रय घट-द्रव्य के समवायिकारण कपाल-अवयव हैं, कपालों में जो रूपादि गुण हैं, वे घट में समानजातीय रूपादि गुणों को उत्पन्न करते हैं। अनित्य पृथिवी-द्रव्य में ये गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। कारण का गुण कार्य के गुण का असमवायिकारण होता है, यह व्यवस्था जलादि द्रव्यों में भी समान है।

इसके अतिरिक्त केवल पृथिवी में रूपादि गुणों का परिवर्त्तन देखाजाता

---

१. 'पाकजाश्च' चन्द्रा०। 'पाकजाश्च' इतना सूत्र पृथक् है, अ० प्रा०।

है, ऐसा जलादि में नहीं है, पृथिवी में जलादि से यह विशेषता है। उसीको सूत्र-कार ने 'पाकजा:' पद से कहा है। पृथिवी में रूपादि गुण पाकज हैं। घड़ा जब मृदवयवों से बनाया जाता है, उसे कच्चा कहाजाता है, उस समय उसमें रूप 'श्याम' जैसा रहता है। पकाने पर उसमें श्याम रूप न रहकर रक्त होजाता है। यह अग्नि संयोग से उत्पन्न होता है, इस रक्त रूप का असमवायिकारण अग्नि-संयोग है। इसे 'पाकज' कहाजाता है। इसका तात्पर्य हुआ, अनित्य पृथिवी में रूपादि गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं और पाकज भी। जब तक घड़ा पका नहीं था, कच्चा था, उसमें रूपादि गुण कारणगुणपूर्वक हैं। घट के पकने पर जो उसमें रूपादि गुण हैं, वे 'पाकज' हैं।

'पाकज' के विषय में आचार्यों का थोड़ा विचार भेद है। प्रस्तुत सूत्र के आधार पर यह ज्ञात होता है, कि पाक घट-अवयवी में हुआ है; अर्थात् अग्नि-संयोग घट-अवयवी के साथ होता है, उससे घट के श्यामरूपादि नष्ट होकर रक्त रूपादि उत्पन्न होजाते हैं। परन्तु परवर्ती आचार्यों का विचार है, कि अग्नि-संयोग अवयवी में सीमित न रहकर अवयवी के अन्तिम अवयव—परमाणु-पर्यन्त पहुंचता है; स्वतन्त्र परमाणुओं में अग्निसंयोग से श्यामरूपादि का नाश होकर रक्तरूपादि की उत्पत्ति होती है।

वैशेषिक परम्परा में इस प्रसंग के दो पद अतिप्रसिद्ध हैं—'पिठर' और 'पीलु'। पिठर अवयवी का नाम है, और पीलु परमाणु का। जो अवयवी में पाक होना मानते हैं, वे 'पिठरपाकवादी' और दूसरे 'पीलुपाकवादी' कहेजाते हैं। वस्तुत: इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। संभवत: शाब्दिकरूप में यह अधिक तूल पकड़ गया है। पहले का कहना है, कि अवयवी के बने रहते हुए कार्य द्रव्य का शिथिलावयव संयोग रहने के कारण अग्निसंयोग से पूर्ण पाक होजाता है, परमाणु तक पकने से बचता नहीं। अग्नि सूक्ष्म होने से पार्थिव द्रव्य के अवयवीरूप में बने रहने पर उसका संयोग परमाणु तक को पका देता है। पहले रूपादि को नष्ट कर नये उत्पन्न कर देता है। दूसरे वादी का कहना है, अग्निसंयोग परमाणुपर्यन्त होने पर वह कार्य द्रव्य के अवयवसंयोग को विच्छिन्न कर देता है, अवयवी अपने रूप में बना नहीं रहता; प्रत्येक स्वतन्त्र परमाणु में अग्निसंयोग से पाक होजाने पर पुन: अवयव संश्लिष्ट होकर अवयवी का आरम्भ करते हैं। यह बौद्धिक व्यायाम ही कहना चाहिये, परमाणुपर्यन्त पाक होना दोनों को अभिमत है, पहला वादी यह नहीं कहसकता, न मानता है, कि अवयवी में पाक होने पर परमाणु कच्चा रहजाता है, या वहां पाक नहीं होता, अथवा वहां रूपादि श्याम रहते और अवयवी में रक्त। फलत: पाक परमाणुपर्यन्त होजाना दोनों को अभिमत है।

यहां प्रसंग यह चलरहा था, कि रूपादि गुण कहां नित्य और कहां अनित्य रहते हैं। जलादि में पाक न होने से वहां रूपादि के विषय में यह व्यवस्था है, कि वे नित्य द्रव्य [परमाणु] में नित्य तथा अनित्य में अनित्य होते हैं। परन्तु पृथिवी में ऐसा नहीं है। यहां नित्यानित्य दोनों अवस्थाओं में रूपादि गुण अनित्य रहते हैं। क्योंकि परमाणुओं में भी अग्निसंयोग से पहले रूपादि का नाश और नये की उत्पत्ति होती है। अनित्य द्रव्य में रूपादि का नाश आश्रय नाश से होता है, परमाणु में अग्निसंयोग से। कार्य द्रव्य में रूपादि की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक हैं; नित्य परमाणु में अग्निसंयोग से है। पूर्वोक्त दोनों पाकसम्बन्धी वादों के आधार पर 'पाकज' का विभाजन व्याख्याकारों[1] ने इसप्रकार किया है—

पहला वाद—कार्य पृथिवी में रूपादि गुण कहीं कारणगुणपूर्वक होते हैं; जैसे—कच्चे घड़े में। और कहीं पाकज; जैसे—पकजाने पर घड़े में। निन्य परमाणुओं में रूपादि की उत्पत्ति केवल पाकज है।

दूसरा वाद—कार्य पृथिवी में रूपादि की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक हैं; तथा परमाणुओं में पाकज[2] ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—हमें बताया गया, पृथिवी परमाणु में स्वभावतः श्यामरूप होता है। रक्तरूप उसका विरोधी है, एक ही अधिकरण में यह कैसे होजाता है? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

एकद्रव्यत्वात्[3] ॥७॥ (२६३)

[एकद्रव्यत्वात्] एक द्रव्य अधिकरणवाले होने से (श्याम-रक्त विरोधी गुणों के)।

'एकद्रव्य' पद में बहुव्रीहि समास है—एक द्रव्य है अधिकरण जिनका, ऐसे

---

१. द्रष्टव्य, आ० प्रा० में प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या।

२. 'पाकज' प्रक्रिया का विवरण परिशिष्ट (१) में दिया गया है।

३. आ० प्रा० में पाठ है—'एकद्रव्यत्वाच्च'। तथा इससे पूर्व तीन अतिरिक्त सूत्र इसप्रकार हैं—'अप्सु तेजसि वायौ च कारणगुणपूर्वकाः' 'कर्मगुणा अगुणाः' 'एतेन पाकजा व्याख्याताः'। चन्द्रानन्दवृत्ति में प्रस्तुत सूत्र का पाठ है—'एकद्रव्यवत्त्वात्'। इससे पूर्व तीन अतिरिक्त सूत्र इसप्रकार हैं—१—'अप्सु तेजसि वायौ च कारणगुणपूर्वाः पाकजा न विद्यन्ते,' २—'अगुणवतो द्रव्यस्य गुणारम्भात् कर्मगुणा अगुणाः।' ३—'एतेन पाकजा व्याख्याताः।' शंकरोपस्कार आदि के अनुसार प्रचलित पाठ में ये सूत्र नहीं हैं।

हैं—श्याम-रक्त रूप। प्रश्न होता है, श्याम और रक्त परस्पर विरोधी रूप एक अधिकरण में कैसे? इसका परिहार देशभेद से होना चाहिये, अथवा कालभेद से? सूत्रकार ने बताया, देशभेद से परिहार संभव नहीं। यह नहीं कहा जा सकता, कि श्यामरूप का अधिकरण भिन्न है और रक्तरूप का भिन्न। दोनों रूप एक अधिकरण में रहते हैं। तब कालभेद से परिहार संभव है। एक अधिकरण में दोनों रूप रहते हैं, पर कालभेद से। जब पृथिवी में श्यामरूप है, तब रक्त नहीं रहता; जब रक्त होता है, तब श्याम नहीं रहता।

प्रश्न है, यह कैसे होजाता है? उत्तर है—अग्निसंयोग से। पृथिवी में रूपादि गुणों का उद्भव विशिष्ट अग्निसंयोग से होता है। एक द्रव्य में कालभेद से भिन्न रूपादि का होना उसके कारण-विशेष का बोध कराता है। इस से पृथिवी-गत रूपादि गुणों का 'पाकज' होना सिद्ध होता है। अग्निसंयोग से विभिन्न-रूपादि की उत्पत्ति केवल पृथिवी में देखी जाती है, अन्यत्र नहीं। यह वस्तुस्थिति पृथिवीगत रूपादि गुणों के 'पाकज' होने को सिद्ध करती है।

'चित्र' रूप का विवेचन—

पृथिवी के विभिन्न रूपों के विषय में एक तथ्य विचारणीय है। जब पकने के अनन्तर आवे में से घड़े को निकाला जाता है, तब उसमें रक्तरूप के अतिरिक्त अन्य रूपों का अस्तित्व दिखाई देता है। ऊपर की सतह पर रूपभेद इतना स्पष्ट नहीं रहता, परन्तु पर्त्त के अन्तराल भाग में यह स्पष्ट दीखता है। तब एक अवयवी में परस्पर विरुद्ध रूप एक साथ रहते हैं, यह कहना होगा।

अब व्यक्ति के द्वारा अग्निसंयोग से पकाये जाने वाले पार्थिव द्रव्यों में रूपादि के परिवर्तन तथा एक साथ एक अधिकरण में भिन्न रूपों के रहने की बात छोड़िये; और पृथिवी विकारों की प्राकृत रचना की ओर दृष्टिपात कीजिये। पहले ओषधि वनस्पति आदि को लीजिये, अनेक लता-गुल्मों के एक पत्ते में अनेक रूप देखे जाते हैं। पत्ते की एक ओर एक रूप है, दूसरी ओर अन्य रूप, फूलों में और उनकी एक-एक पंखुड़ियों में रूप की विभिन्नता चमत्कृत करनेवाली है। एक ही फूल व पंखड़ी में कई-कई रूप देखे जाते हैं। जहां बाह्यस्थिति में पत्ते आदि के रूप का परिवर्त्तन देखा जाता है, वहां सौर–ऊष्मा को परिवर्त्तन का अग्निसंयोगरूप कारण कहा जा सकता है, परन्तु जब खिलता हुआ फूल या पत्ता अनेक रूपों को लेकर आता है, वहां अग्निसंयोग के अतिरिक्त इसके अन्य किसी निमित्त की क्या कल्पना कीजासकती है?

आगे यही स्थिति पशु-पक्षियों में देखिये। अनेक पशुओं के बाह्य आवरण पर विविधरूप दिखाई देते हैं। गाय, घोड़ा, बकरी, कुत्ता, बिल्ली आदि पालतू तथा

चीतल, भांख, बघेरा आदि जंगली जानवरों की खाल पर विविध प्रकार के रूप दिखाई देते हैं। पक्षियों में तो यह स्थिति आश्चर्यजनक है। मोर, तीतर भूरा, तीतर काला, कबूतर, रतनाल (मनाल) आदि पक्षियों के पंख और देह के अन्य भागों पर विविध रूपों की चित्रकारी-जैसी रचना हैरान कर देती है। यहां तक कि–साधारण गौरइया चिड़िया के ऊपरी भाग की रचना देखिये। फिर यह, कि समान जाति में यह रचना सर्वत्र एक-सी देखी जाती है।

इस सब स्थिति को देखकर दो समस्या सामने आती हैं। एक है—एक अधिकरण में एक साथ परस्पर विपरीत अनेक रूपों का रहना। दूसरी है—क्या इन सब रूप-भेदों में केवल अग्निसंयोग कारण है, या अन्य भी कुछ? इसीके साथ यह विचारणीय है, कि रूपों के आधार पर समान जाति में एक-सी रचना होने का क्या कारण होसकता है? पृथिवीगत रूपों की रचना में अग्निसंयोग के साथ क्या और भी कोई निमित्त संभव हैं?

पहली समस्या का समाधान परवर्त्ती आचार्यों ने–छह प्रकार के मुख्य रूपों में एक सातवें स्वतन्त्र 'चित्र' नामक रूप की कल्पना कर–किया है। पत्ता, फूल, पशु, पक्षी आदि के बाह्य आवरण पर कहीं भी एक अवयवी में जो विभिन्न रूप दिखाई देते हैं, वे परस्पर विपरीत अनेक रूप न होकर एक 'चित्र' नामक रूप है। पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने 'चित्र' नाम के किसी अतिरिक्त रूप को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है, कि एक बड़े अवयवी के अनेक भाग स्वतः स्वतन्त्र अवयवी हैं, बड़े अवयवी के यद्यपि वे अवयव हैं, पर अपनेरूप में उतने ही वे अवयवी हैं। किसी एक बाह्य आवरण पर जितने भाग में जो रूप है, उस रूप का वही अधिकरण है, और अपने में वह उतना ही अवयवी है। इसलिये एक अधिकरण में अनेक रूपों के होने का प्रश्न नहीं उठता। लोक व्यवहार में उस बड़े अवयवी को विभिन्न रूपों के आधार पर 'चित्र, चित्रक, चितकबरा' आदि पदों के द्वारा अभिव्यक्त करना औपचारिकमात्र है, केवल व्यवहार की सुविधा के लिये। यह 'चित्र' नामक अतिरिक्त रूप का साधक नहीं।

दूसरी समस्या का समाधान 'पीलुपाकवाद' के अनुसार सुगमता से होता है। पृथिवी-परमाणुओं में अग्निसंयोग से विविधरूप अभिव्यक्त होते हैं। किसी एक परमाणु में कोई-सा एक रूप अग्निसंयोग-स्तर के अनुसार अभिव्यक्त होता है। आगे पार्थिव विकारों में कारणगुणपूर्वक रूपादि गुण उत्पन्न होते रहते हैं। जिस एक अवयवी के बाह्य आवरण पर परस्पर भिन्न अनेक रूप दिखाई देते हैं, उन अवयवों की रचना उसी प्रकार के रूप वाले परमाणुओं द्वारा होती है, ऐसा समझना चाहिये। बाह्य आवरण के किसी एक अंश के आरम्भक वैसे और उतने

ही परमाणु वहां आ पाते व एकत्र होते हैं, इसका नियामक केवल रचना-सम्बन्धी ईश्वरीय व्यवस्था को माना या कहाजासकता है। समान जाति में एक-जैसी रचना का आधार भी यही संभव है। आचार्यों ने इस दिशा में आत्मा के पूर्वकृत धर्माधर्म को निमित्त बताया है; जिनको 'अदृष्ट' नाम दिया जाता है। संभवतः मानव जहां अपनी अक्षमता से अभिभूत होता है, वहां वह अपने लिये 'अदृष्ट' को उपयुक्त संबल समझता है। क्या यह आवश्यक है, कि प्रत्येक समस्या के अन्तिम यथार्थ समाधान तक मानव पहुंचे ? जो वस्तुतः संभव प्रतीत नहीं होता ॥७॥

रूपादि चार गुणों की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त संख्या गुण की परीक्षा अपेक्षित है। पर उसके दुरूह होने के कारण सूची-कटाह न्याय के अनुसार अल्प विवेच्य परिमाण गुण की परीक्षा प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने कहा—

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥ (२६४)

[अणोः] अणु की [महतः] महत् की [च] और [उपलब्ध्यनुपलब्धी] उपलब्धि और अनुपलब्धि [नित्ये] नित्य, अथवा नित्य (-प्रतिपादक चतुर्थ अध्याय) में [व्याख्याते] कथित हैं।

सूत्र का 'नित्ये' पद प्रथमा विभक्ति के द्विवचन में तथा सप्तमी विभक्ति के एकवचन में समान है। दोनों प्रकार सूत्रार्थ संगत है। 'उपलब्ध्यनुपलब्धी' पद में द्वन्द्व समास है। प्रयोग की दृष्टि से अल्पअच् वाला 'उपलब्धि' पहले आ गया है; पर सूत्रार्थ की दृष्टि से 'अनुपलब्धि' पद पहले आएगा। सूत्रार्थ होगा—अणु की अनुपलब्धि और महत् की उपलब्धि नित्य कही गई है। तात्पर्य है, उपलब्धि सदा महत् द्रव्य की होती है, इसमें कभी व्यभिचार नहीं होता। इसी प्रकार अणु द्रव्य की सदा अनुपलब्धि रहती है। उपलब्धि का अर्थ है—इन्द्रियग्राह्य ज्ञान। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से सदा महत् द्रव्य का ग्रहण होता है, अणु का कभी नहीं होता।

'नित्ये' पद को सप्तमी-एकवचन मानने पर यह पद प्रस्तुत शास्त्र के चतुर्थ अध्याय का संकेत करता है। वहां [४।१।६] द्रव्य की उपलब्धि के लिये द्रव्य का महत् होना आवश्यक बताया गया है। अणु परिमाण, परमाणु और द्वयणुक में रहता है। वहां प्रत्यक्ष के अन्य उपयोगी साधन रूपादि के रहते भी चक्षु आदि इन्द्रियों से उनका कभी प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि वहां महत्परिमाण का अभाव है ॥८॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, समस्त महत् द्रव्यों की उत्पत्ति परमाणुओं से बताई गई। जो परिणाम परमाणु में नहीं, वह आगे उसके कार्य में कैसे उत्पन्न होजाता है ? सूत्रकार ने बताया—

कारणबहुत्वाच्च[1] ॥९॥ (२६५)

[कारणबहुत्वात्] कारणों के बहुत होने से [च] और निमित्तों से भी, महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है।

परमाणु नित्य द्रव्य है, उसका कोई कारण नहीं होता। दो परमाणु मिलकर द्व्यणुक उत्पन्न होता है। द्व्यणुक के कारण दो परमाणु हैं, बहुत नहीं। जब परमाणुओं से आगे की रचना होने लगती है, तब स्वभावतः दो परमाणु परस्पर पहले मिल पाते हैं। परमाणु और उसके कार्य द्व्यणुक दोनों में अणुपरिमाण रहता है। आगे तीन द्व्यणुकों से एक त्र्यणुक अथवा त्रसरेणु उत्पन्न होता है। तीन बहुत्व संख्या है। यह त्र्यणुक में महत्परिमाण को उत्पन्न कर देती है, कारणों का बहुत होना कार्य में महत्परिमाण का जनक है। यहां कारणगत बहुत्व संख्या कार्य में अपने विजातीय गुण महत्परिमाण को उत्पन्न करती है, कारण का परिमाण कार्य में अपने सजातीय परिमाण को उत्पन्न नहीं कर पाता। इस प्रकार मूल उपादानों से द्रव्यरचना के आरम्भकाल में सर्वप्रथम त्रसरेणु द्रव्य में महत्परिमाण अभिव्यक्त होता है। महत्परिमाण-वर्ग में यह सबसे छोटी इकाई है। आगे-आगे जैसे द्रव्यरचना होती जाती है, महत्परिमाण कारणगत परिमाण की अपेक्षा कार्य में बढ़ता चला जाता है। परन्तु परिमाण की दृष्टि से उत्पन्न हुआ ऐसा परिमाण सर्वातिशायी कभी नहीं होता। जो सर्वातिशायी महत्परिमाण है, वह नित्य है, कभी उत्पन्न नहीं होता। जैसे सर्वातिशायी अणुपरिमाण कभी उत्पन्न नहीं होता, वैसे महत्परिमाण भी। यह परिमाण नित्य द्रव्य आकाश, काल, दिशा, परमात्मा में स्वीकार किया जाता है। इन द्रव्यों को सर्वव्यापक अथवा विभु माना गया है।

सूत्र में पठित 'च' पद से महत्परिमाण के अन्य निमित्तों का संग्रह होजाता है। उनमें पहला निमित्त है—कारण का महत् होना। ऊपर व्याख्या में इसका संकेत आ गया है। जब त्रसरेणु में महत्व गुण उत्पन्न हो गया है, तब वह एक महत्द्रव्य है। अनेक त्रसरेणुओं से मिलकर जब आगे कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है, तब कारणगत महत्परिमाण कार्य में सजातीय अपने से अतिशायी महत् परिमाण को उत्पन्न करता है। त्रसरेणु में महत्परिमाण का असमवायिकारण द्व्यणुक (कारण) गत बहुत्व संख्या है। आगे कार्यों में कारणगत महत्परिमाण असमवायिकारण रहता है।

---

१. 'कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्।' प्र० भा०। चन्द्रा०।

महत्परिमाण का दूसरा एक कारण 'प्रचय' देखाजाता है। यह अवयवों के अत्यन्त शिथिल (ढीले) संयोग का नाम है, जो किन्हीं द्रव्यों–रूई, ऊन आदि में रहता है। रुई का ढेर बहुत-से प्रदेश को घेर लेता है। यदि उसके अवयव-संयोगों को ढीला न रहने दिया जाय–कस दियाजाय; तो वही ढेर बहुत थोड़ी जगह को घेरता है। इसप्रकार यह 'प्रचय' उस ढेर में महत्परिमाण का जनक है।

महत्परिमाण में आपेक्षिक न्यूनाधिकता होने से महत्-द्रव्यों में भी औपचारिक रूप से कभी अणुत्वव्यवहार होता रहता है। जब किसी महत् द्रव्य में लम्बाई की अधिकता रहती है, तब उसके परिमाण की न्यूनाधिकता के आधार पर परिमाण के लिये 'दीर्घ-ह्रस्व' पदों का प्रयोग कियाजाता है। दीर्घ-लम्बा; ह्रस्व–छोटा। वस्तुतः यह महत्परिमाण के अन्तर्गत है ॥९॥

महत् के प्रसंग से अणु परिमाण के विषय में सूत्रकार ने बताया—

अतो विपरीतमणु[1] ॥१०॥ (२६६)

[अतः] इससे [विपरीतम्] विपरीत [अणु] अणु परिमाण होता है।

इस महत्परिमाण से जो विपरीत परिमाण है, वह अणु परिमाण कहाजाता है। इसमें वैपरीत्य इसप्रकार समझना चाहिये—महत्परिमाण लौकिक प्रत्यक्ष का विषय होता है, प्रत्येक व्यक्ति चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा उसका प्रत्यक्ष करता है; परन्तु परमाणु तथा द्वचणुक में रहने वाले अणु परिमाण का बाह्य इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। महत्परिमाण कारणबहुत्व आदि से उत्पन्न होता है, परन्तु अणुपरिमाण परमाणु में तो नित्य है, कभी उत्पन्न नहीं होता। द्वचणुकगत अणु परिमाण उत्पन्न अवश्य होता है, परन्तु उसका असमवायिकारण परमाणुगत द्वित्व संख्या है, बहुत्व संख्या नहीं; अर्थात् कारणबहुत्व इस परिमाण का जनक नहीं है। यह भी वैपरीत्य यहां समझना चाहिये ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, महत् वस्तु में अणु, महत् दोनों प्रकार का ज्ञान व व्यवहार लोक में देखाजाता है, फिर इनका वैपरीत्य कैसे? सूत्रकार ने समाधान किया—

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥११॥ (२६७)

[अणु] अणु (है यह) [महत्] महत् (है यह), [इति] इसप्रकार (एक वस्तु में जो परिमाण-विषयक ज्ञान व व्यवहार होता है) [तस्मिन्] उस (परिमाण) में [विशेषभावात्] विशेष–अपकर्ष के होने से (अणु व्यवहार)

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'तद्विपरीतमणु, चन्द्रा०।

[विशेषाभावात्] विशेष–अपकर्ष के न होने से (महत् व्यवहार होता है) [च] तथा।

लोक में ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार होता देखाजाता है, कि बिल्व से आंवला अणु है, तथा रत्तक (गुञ्जा-चूंटली) से आंवला महत् है। यह अणु–महत् का आपेक्षिक व्यवहार लौकिकप्रत्यक्षग्राह्य महत् में हुआ करता है। इससे अणु-महत् के वैपरीत्य का कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने बताया, इसप्रकार के व्यवहार के विषय परिमाण में एक स्थल पर जो अणु-महत् व्यवहार होता है, वह उन पदार्थों की परस्पर आपेक्षिक स्थिति के आधार पर है। रत्तक, आंवला और बिल्व तीनों महत्परिमाण के आश्रय हैं, यह प्रत्यक्ष गृहीत होता है। वहां महत्परिमाण अपने निर्दिष्ट कारणों से उत्पन्न है; इसलिये यथार्थरूप में वहां अणु परिमाण की संभावना नहीं। परन्तु किसी एक की अपेक्षा दूसरे में जहां अपकर्ष (छोटापन) है, उसमें औपचारिकरूप से अणु व्यवहार होजाता है। परन्तु अपकर्ष की भावना होने न होने दोनों अवस्थाओं में महत्परिमाण वहां यथार्थरूप से विद्यमान रहता है। इसलिये लोक में ऐसा ज्ञान अथवा व्यवहार केवल भाक्त समझना चाहिये ॥११॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, ऐसे स्थलों में अणु-व्यवहार को भाक्त क्यों समझना चाहिये? सूत्रकार ने समाधान किया—

एककालत्वात् ॥१२॥ (२६८)

[एककालत्वात्] एक काल में होने से।

एक वस्तु में तथा एक काल में अणु-महत् व्यवहार व ज्ञान लोक में होता देखाजाता है। अणु और महत् परस्पर-विरोधी परिमाण हैं। एक आश्रय में दोनों का ऐककालिक यथार्थ ज्ञान व व्यवहार संभव नहीं। इसलिये रत्तक, आंवला बेल आदि में महत्परिमाण के कारण विद्यमान होने से उनमें महत्परिमाण का ज्ञान व व्यवहार यथार्थ है, तथा अणुत्व का ज्ञान व व्यवहार भाक्त[1] ॥१२॥

सूत्रकार ने इसप्रकार के ज्ञान व व्यवहार में महत्परिमाण के मुख्य होने का

---

१. **अ० प्रा० में इस सूत्र की पूर्वपक्षरूप से योजना की है। अणु और महत् के विरोध का परिहार धर्मिभेद अथवा कालभेद से संभव है। परन्तु यहां लोक व्यवहार में न धर्मिभेद है, न कालभेद। एक काल में एक ही आमलक धर्मी में अणु-महत् व्यवहार होता है; तब इनका विरोध कैसे? तथा विरोध के आधार पर एक मुख्य एक गौण कहां रहा? इसका उत्तर अगले सूत्र—'दृष्टान्ताच्च' से दिया।**

अन्य कारण बताया—

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥ (२६९)

[दृष्टान्तात्] दृष्टान्त से [च] भी (पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

लोक में यह सिद्ध है, शुक्ल तन्तुओं से शुक्लपट उत्पन्न होता है, कृष्ण नहीं। इसीप्रकार महत् कारणों से महत् द्रव्य उत्पन्न होसकता है, अणु नहीं। रत्तक, आमलक, बिल्व आदि का आरम्भ महत् अवयवों से होता है। इसलिये इनमें महत् प्रतीति व व्यवहार मुख्य तथा अणु व्यवहार गौण है। जो अणु है, वह महत् और जो महत् है, वह अणु नहीं होसकता, एक प्रकार के गुणों वाले द्रव्यों में तर-तम व्यवहार परस्पर अपेक्षा से हुआ करता है। खजूर से दाख अधिक मधुर है। शंख से स्फटिक अधिक शुक्ल है। यही स्थिति परिमाण के विषय में है। अपेक्षाकृत छोटा परिमाण होने पर महत् में अणुव्यवहार को गौण मानना प्रामाणिक है ॥१३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, लोक में व्यवहार है-यह परिमाण अणु है, यह परिमाण महत् है। इससे ऐसा ज्ञात होता है, कि अणु में अणु और महत् में अन्य महत् परिमाण रहता है। सूत्रकार ने समझाया—

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्म-
गुणैर्व्याख्यातः ॥१४॥ (२७०)

[अणुत्वमहत्त्वयोः] अणु और महत् परिमाणों में [अणुत्वमहत्त्वाभावः] अन्य अणु और महत् परिमाण का अभाव है (यह तथ्य) [कर्मगुणैः] कर्म और गुणों द्वारा [व्याख्यातः] कह दिया गया है।

कर्म अथवा गुण में कोई गुण नहीं रहता। गुण सदा द्रव्याश्रित रहता है; कर्माश्रित अथवा गुणाश्रित नहीं।

जब कहाजाता है, द्व्यणुक परिमाण की अपेक्षा परमाणु का परिमाण अणु है; तन्तु के परिमाण से पट का परिमाण महान है। अथवा बिल्व से आंवला अणु और आंवले से बिल्व महान है। इस लोक व्यवहार में आपाततः ऐसा प्रतीत होता है, जैसे अणु परिमाण में और अणुपरिमाण, तथा महत्परिमाण में अन्य महत्परिमाण का कथन कियाजारहा हो; जो एक आश्रय के परिमाण को दूसरे आश्रय के परिमाण से भिन्न व व्यवच्छिन्न करता है। वस्तुतः यह केवल व्यवहार की एक रीतिमात्र है, कहने का ढंग। कारण यह है, कि कोई गुण कभी कर्म अथवा गुण में आश्रित नहीं रहता। प्रत्येक गुण अथवा कर्म सदा द्रव्य में आश्रित रहते हैं। फलतः कर्म और गुणों के इस विषय के व्याख्यान से अणुत्व और महत्व

में अणुत्व-महत्त्व का अभाव रहता है, यह समझ लेना चाहिये ॥१४॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गुणों में गुण अथवा कर्मों में कर्म नहीं रहते, ऐसा क्यों है ? सूत्रकार ने बताया—

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥ (२७१)

[कर्मभिः] कर्मों से [कर्माणि] कर्म, [गुणैः] गुणों से [च] और [गुणाः] गुण [व्याख्याताः] कहेगये ।

यह कहा गया, कि गुणों में गुण तथा कर्मों में कर्म नहीं रहते। परन्तु लोक में व्यवहार होता है, यह महान शब्द है, यह अल्प शब्द है, ये दो शब्द हैं, यह एक शब्द है, इत्यादि। शब्द गुण है, उसमें महत्त्व, अल्पत्व का होना, तथा एकत्व द्वित्व आदि संख्या का होना उक्त व्यवहार से स्पष्ट होता है। महत् व संख्या आदि गुण हैं। इस विषय में सूत्रकार ने कहा—गुण गुणाश्रित तथा कर्म कर्माश्रित नहीं होते, यह कथन प्रथम [१।१।१६; १७; २४] कर दियागया है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के लिये विवृतिकार जयनारायणभट्टाचार्य ने सुझाव दिया है, कि सूत्र के 'कर्माणि' पद के पहले 'शून्यानि' पद का, तथा 'गुणाः' पद के पहले "शून्याः' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। तब सूत्रार्थ स्पष्ट होगा—'कर्मभिः शून्यानि कर्माणि; गुणैश्च शून्या गुणाः' कर्म कर्मों से शून्य-रहित; और गुण गुणों से शून्य-रहित होते हैं; यह व्याख्यान प्रथम करदियागया है। इस कारण लोकव्यवहार में ऐसे प्रयोग—जिनसे गुण में गुण की अथवा कर्म में कर्म की प्रतीति होरही हो—सर्वथा औपचारिक हैं, भाक्त हैं ॥१५॥

शिष्य आशंका करता है, सब गुण-कर्म अन्य गुण-कर्मों में न रहो, पर अणुत्व-महत्त्वगुण अन्य गुण-कर्मों में रहते हैं, यह लोकव्यवहार से सिद्ध होता है। सूत्रकार ने समाधान किया—

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च[1] व्याख्याताः ॥१६॥ [२७२]

[अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व से (शून्य हैं) [कर्मगुणाः[कर्म तथा गुण [च] (यह) भी [व्याख्याताः] कहदियेगये हैं।

---

१. १५ तथा १६ सूत्र का प्रचलित पाठ से क्रम-विपर्यास है, अ० प्रा०। चन्द्रा०। चन्द्रा० में प्रस्तुत सूत्र का पाठ है—'अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणा अगुणाः।' इसके आगे १५वें सूत्र का पाठ दोनों प्राचीन व्याख्याओं में यह है–'कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः' । अ० प्रा० में इसके दो भाग हैं, पहला–'कर्मभिः कर्माणिः' दूसरा–'गुणैर्गुणा.' ।

लोक में व्यवहार देखाजाता है—यह कर्म महान है, यह अत्यल्प, सूक्ष्म है। अमुक व्यक्ति का ज्ञान महान है, अमुक का अल्प। ऐसे व्यवहार से प्रतीत होता है, किन्हीं कर्म और गुणों में अणुत्व-महत्त्व आश्रित रहते हैं। सूत्रकार ने बताया, एक सामान्य सिद्धान्त निश्चित व स्थापित करदियागया है, कि गुण में गुण व कर्म तथा कर्म में गुण व कर्म कभी आश्रित नहीं रहते। गुण-कर्म सदा द्रव्य में आश्रित रहते हैं। इसलिये अणु-महत्परिमाण द्रव्य में आश्रित रहसकते हैं, गुण-कर्म में नहीं। लोकव्यवहार सर्वथा औपचारिक है ॥१६॥

यही व्यवस्था दीर्घत्व-ह्रस्वत्व परिमाण के विषय में अतिदेश द्वारा सूत्रकार ने निर्दिष्ट की—

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे[1] व्याख्याते ॥१७॥ (२७३)

[एतेन] इससे [दीर्घत्वह्रस्वत्वे] दीर्घ ह्रस्व परिमाण [व्याख्याते] कह दिये गये।

जो विवेचन अणु-महत्परिमाण के विषय में गतसूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह दीर्घ-ह्रस्व परिमाण के विषय में भी समझना चाहिये। ये परिमाण भी गुण-कर्माश्रित न रहकर अन्य गुणों के समान केवल द्रव्याश्रित रहते हैं ॥१७॥

परिमाण के नित्यानित्य होने के विषय में सूत्रकार ने बताया—२

अनित्येऽनित्यम्[2] ॥१८॥ (२७४)

[अनित्ये] अनित्य (द्रव्य) में [अनित्यम्] अनित्य होता है (परिमाण-गुण)।

जो द्रव्य अनित्य हैं, अपने कारणों से उत्पन्न होते हैं, उनका नाश अवश्यम्भावी है। द्रव्य का नाश होने पर उसमें आश्रित गुण का नाश होजाता है; क्योंकि गुण अनाश्रित नहीं रहसकता ॥१८॥

उक्त कथन से अर्थापत्ति द्वारा सिद्ध है—नित्य में नित्य रहता है। उसीको सूत्रकार ने स्पष्ट बताया—

नित्ये[3] नित्यम् ॥१९॥ (२७५)

[नित्ये] नित्य (द्रव्य) में [नित्यम्] नित्य होता है (परिमाण गुण)।

---

१. यह सूत्र प्रस्तुत क्रम के अनुसार १५ वें सूत्र से पहले पढ़ा है, अ० प्रा०। चन्द्रा०। परन्तु अ० प्रा० में इसका पाठ है—'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरुपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते।'

२. 'एतदनित्यम्, अ० प्रा०। 'तदनित्येऽनित्यम्।' चन्द्रा०।

३. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

परमाणु में परमाणुपरिमाण नित्य है। तथा आकाश आदि नित्य विभु द्रव्यों में परममहत्परिमाण नित्य होता है। अन्यत्र सर्वत्र अणु-महत्परिमाण-आश्रयके अनित्य होने से अनित्य रहते हैं॥१६॥

सर्वातिशायी अणुपरिमाणवाला नित्य द्रव्य कौन है? सूत्रकार ने बताया—

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥ (२७६)

[नित्यम्] नित्य है [परिमण्डलम्] परिमण्डल।

वैशेषिक शास्त्र की परम्परा में 'परिमण्डल' पद[1] परमाणु के लिये पारिभाषिकजैसा प्रसिद्ध है। यह पद परमाणु की नैसर्गिक परिस्थिति को परिलक्षित करता है। परमाणु सब ओर से मण्डल-गोलाकार जैसा अथवा वर्त्तुलाकार होना चाहिये। वह अदृश्य है, इन्द्रियाग्राह्य है। कल्पना के आधार पर यह आकार संभावित कियागया है। इसप्रकार का परमाणु द्रव्य कार्यमात्र का मूल है, तथा नित्य है। परिमण्डल-परमाणु में आश्रित परिमाण को 'पारिमाण्डल्य' कहा जाता है। इन पदों से यह ध्वनित होता है, कि दीर्घत्व-ह्रस्वत्व परिमाण कहीं भी नित्य नहीं होते। ये परिमाण अनित्य द्रव्यों में ही संभावित हैं। वर्तुलाकार परमाणु में दीर्घत्व की कल्पना असंभव है। परिमण्डल का ह्रस्व होना भी संभव नहीं। ह्रस्व-दीर्घ परस्पर अपेक्षा से समिधा तथा इक्षुदण्ड (गन्ना) आदि में अभिलक्षित होते हैं। ऐसे सभी द्रव्य अनित्य होते हैं, तथा अनित्य महत्परिमाण के आश्रय हैं। द्रव्य की विशिष्ट रचना के कारण महत् द्रव्य को दीर्घ अथवा ह्रस्व कह दिया जाता है। यह व्यवहार केवल अनित्य द्रव्य में संभव है। फलतः नित्य परमाणु ऐसा द्रव्य है, जहां सर्वातिशायी अणु परिमाण आश्रित रहता है॥२०॥

परिमाण के आधार पर अदृश्य अप्रत्यक्ष-परमाणु के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जाय? सूत्रकार ने बताया—

अविद्या च[2] विद्यालिङ्गम् ॥२१॥ (२७७)

[अविद्या] अविद्या [च] तथा [विद्यालिङ्गम्] विद्या में लिङ्ग है।

सूत्र के 'अविद्या' पद में 'विद्या' पदांश की सिद्धि जिस धातु से कीजाती है, उसके अनेक अर्थ हैं। 'विद्' धातु चार अर्थों में प्रयुक्त होता है ज्ञान, लाभ, सत्ता और विचारना। पहला और अन्तिम अर्थ लगभग समान हैं। 'लाभ' और 'सत्ता'

---

१. परमाणु की 'परिमण्डल' स्थिति यद्यपि उसके नित्य होने में बाधक संभव है; पर वैशेषिक शास्त्र का प्रारम्भ तत्त्व के इसी स्तर को मूल मान कर कियागया है; इसलिये उसे नित्य कहने में कोई आपत्ति नहीं।

२. सूत्रपाठ में 'च' पद नहीं है, चन्द्रा०।

अर्थ भिन्न हैं। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में इस पद की सिद्धि सत्तार्थक 'विद्' धातु से मानी है। 'अविद्या' पद का अर्थ किया है—असम्भव, और 'विद्या' पद का सम्भव। व्याख्याकार का कहना है—कोई द्रव्य परिमाणरहित हो, यह असम्भव है। सरसों, आंवला, बेलफल इत्यादि द्रव्यों में आपेक्षिक अणु-महत् परिमाण का व्यवहार होता है। परन्तु वस्तुतः ये सभी द्रव्य महत्परिमाणवाले हैं। इनमें अणु-व्यवहार आपेक्षिक है। व्यवहार की यह आपेक्षिक स्थिति स्पष्ट करती है कि अणु-परिमाण सर्वातिशायी रूप में कहीं अवश्य माना जाना चाहिये; ऐसा परिमाण, जिससे छोटा परिमाण और कोई संभव न हो। इसप्रकार परिमाणरहित द्रव्य की असंभावना [अविद्या], सर्वातिशायी अणु-परिमाण के आश्रय परमाणु द्रव्य के अस्तित्व [विद्या] में लिङ्ग है।

अन्य प्रायः सभी व्याख्याकारों ने 'विद्या' पद को ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से सिद्ध माना है। उनका कहना है—सरसों, आंवला, बेल आदि दृश्य पदार्थों में जो अणु-प्रतीति अथवा व्यवहार होता है, वह यथार्थ नहीं है, प्रमा नहीं है; अप्रमा है, अविद्या है। इसलिये यह औपचारिक अथवा भाक्त कहा जासकता है। अप्रमा अथवा भाक्त प्रत्यय मुख्य-प्रत्यय के विना संभव नहीं होता। यदि सरसों आंवला आदि में आपेक्षिक होने से अणु-प्रत्यय अप्रमा अथवा भाक्त है, तो अणु-प्रत्यय कहीं मुख्य अथवा प्रमारूप अवश्य होना चाहिये। सर्वातिशायी मुख्य अणु-प्रतीति का आश्रय अदृश्य भी परमाणु-द्रव्य इसप्रकार सिद्ध होता है। गुणाश्रय द्रव्य के रूप में सर्वातिशायी अणु-परिमाणवाला द्रव्य परमाणु है, इसी रूप में—क्योंकि आगे—उसका विभाजन संभव नहीं, इसलिये अपनी परिस्थिति में वह नित्य है, तथा दृश्य जगत् का मूल उपादान है। उसमें समवेत परिमाण भी नित्य है ॥२१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सर्वातिशायी अणुपरिमाण के समान सर्वातिशायी महत्परिमाण का आश्रय द्रव्य कौन है ? सूत्रकार ने बताया—

विभवान्महानाकाशस्तथा[1] चात्मा ॥२२॥ (२७८)

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'तथा चात्मा' इतने अंश को पृथक् सूत्र माना है। इसका प्रयोजन बताया है, सूत्र विभाग से दिशा और काल का संग्रह होजाता है; ये भी परममहत् परिमाणवाले हैं। परन्तु यह अनावश्यक है। सूत्रकार ने स्वयं अगले सूत्रों में दिशा, काल के परममहत्परिमाण को सिद्ध किया है। सूत्रविभाग का अन्य प्रयोजन संभव है। अगले (२३) सूत्र की व्याख्या के अन्तिम भाग में देखें।

[विभवात्] विभव से [महान्] (सर्वातिशायी) महत्परिमाणवाला [आकाशः] आकाश है, [तथा] वैसा [च] और है [आत्मा] आत्मा।

सूत्र का 'विभव' पद वैशेषिक शास्त्र में पारिभाषिक-जैसा है। इसका अर्थ है—एक काल में समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग होना। जिस द्रव्य का सब मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग रहता है, वह महत्परिमाणवाला द्रव्य है। ऐसा द्रव्य आकाश है। और वैसा आत्मा है। लोक तथा शास्त्र में अन्यत्र 'विभव' अथवा 'वैभव' पद का अर्थ धन, संपत्ति, ऐश्वर्य, शक्ति, क्षमता आदि है। इसके लिये विविध साहित्य[1] द्रष्टव्य है।

सूत्रगत 'आत्मा' पद का अर्थ प्रायः सभी व्याख्याकारों ने 'जीवात्मा' किया है, जो प्रत्येक शरीर में भिन्न रहता है। आत्मा अनन्त हैं, शरीर अगणित हैं। एक चींटी या दीमक के भिटे में इन आत्माओं की संख्या अगणित रहती है, फिर सर्वत्र का कहना क्या ! इन समस्त आत्माओं को विभु [सर्वत्र व्यापक] मानना सामञ्जस्यपूर्ण प्रतीत नहीं होता। पर ऐसा मानने वालों ने इसकी सिद्धि में एकमात्र युक्ति प्रस्तुत की है—सर्गादिकाल में जगद्रचना के लिये अदृष्टवदात्म-संयोग से परमाणु में क्रिया का होना। आदिकाल में जब जगत् की रचना होने को है, तब सर्वप्रथम जगत् के मूल उपादानकारण परमाणुओं में क्रिया होती है, तब परमाणु एक-दूसरे से संयुक्त होकर जगत् बनता है। ज्ञातव्य है, परमाणु में उस क्रिया का कारण क्या है ? बताया गया—अदृष्टवदात्मसंयोग। अतीत सृष्टि में जीवात्माओं द्वारा अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों से अर्जित धर्म-अधर्म आत्माओं में समवेत रहते हैं। उन्हीं धर्माधर्म का नाम अदृष्ट है। अदृष्ट वाले आत्माओं का परमाणुओं के साथ संयोग परमाणुओं में सर्गोन्मुख क्रियाओं को उत्पन्न कर देता है। सर्गरचना का क्रम अति विस्तृत प्रदेशों में चालू रहता है, वहां सर्वत्र अदृष्ट-वाले आत्माओं का परमाणुओं से संयोग होना चाहिये। यह स्थिति आत्माओं को व्यापक माने विना संभव नहीं ; अतः समस्त जीवात्माओं का विभु होना आवश्यक है।

विचारना चाहिये, यह युक्ति कहांतक संगत है। पहली बात यह ज्ञातव्य है, कि क्या यह सर्गप्रक्रिया अपने रूप में पूर्ण है ? क्या सर्गोत्पत्ति के लिये अन्य किसी निमित्त की आवश्यकता नहीं होती ? यदि यह पूर्ण है, तो इसका तात्पर्य

---

१. **नैषधकाव्य, १।३६।। मीमांसासूत्र, ५।२।१३।। रघुवंश, १।६।।८।६६।। विक्रमांकदेवचरित, २।। मातंगलीला १।२०।। किरातार्जुनीय ५।२१।। शकुन्तला नाटक ५।८।।**

यह है, कि सर्गरचना के कारणों में से ईश्वर का बहिष्कार कर दिया गया। संभवतः इसी आधार पर वैशेषिक को निरीश्वरवादी दर्शन कहा जाता है। इस लेख का यह तात्पर्य नहीं, कि उन व्याख्याकारों ने ऐसा क्यों माना? अथवा उनका ऐसा कथन अयुक्त है। केवल वस्तुस्थिति को समझने के लिये यह प्रयास है। मान लीजिये, सर्ग-प्रक्रिया में ईश्वर का दखल नहीं है। विचारणीय है, उस दशा में सर्ग-रचना का होना कहां तक संभव है।

१—यह एक सर्वसम्मत विचार है, कि जीवात्माओं को कोई बाह्यार्थज्ञान शरीरेन्द्रियादि साधनों के सहयोग के विना नहीं होता। जब सृष्टि नहीं, प्रलय काल है, सृष्टि होने को है, तब शरीरेन्द्रियादि के न होने के कारण जीवात्माओं को यह बाह्यज्ञान कैसे होजाता है, कि अब सृष्टिरचना प्रारम्भ होनी चाहिये; और उनसे प्रेरित परमाणु इस कार्य के लिये सक्रिय हो उठते हैं?

२—कहा जा सकता है, आत्माओं को यह जानने की आवश्यकता नहीं। वहां तो केवल अदृष्टवाले आत्माओं का परमाणुओं से संयोग होना अपेक्षित है। सोचिये, आत्मा नित्य हैं, व्यापक हैं, उनका परमाणुओं से संयोग बराबर विद्यमान रहता है। तब सर्गरचना निरन्तर होती रहनी चाहिये; इसका वही अवसर कौन नियत करता है?

३—कहाजायगा, काल-विशेष आने पर स्वयं ऐसा होजाता है। जब तक वह क्षण नहीं आयेगा, परमाणुओं के साथ अदृष्टवदात्माओं का संयोग होने पर भी परमाणुओं में क्रिया न होगी। वह क्षण आने पर क्रिया होने लगेगी। विचारिये, ऐसा कथन कहां तक संगत है। परमाणु जड़, धर्म-अधर्म जड़ हैं, शरीरेन्द्रियादि साधनों के अभाव में आत्मा को कोई ज्ञान होना तब संभव नहीं; ऐसी स्थिति में यह पहचान कैसे होजाती है, और किसको होजाती है, कि वह क्षण आगया है, अब अदृष्टवदात्माओं का परमाणुओं से सर्गोन्मुख संयोग होना चाहिये। इसके अतिरिक्त 'काल' द्रव्य एक नित्य व व्यापक माना गया है। उसका किसी तरह का कोई विभाजन संभव नहीं। क्षण आदि की कल्पना मानव ने अपने सर्ग-कालिक व्यवहार को चलाने के लिये की है। जब सर्ग नहीं है, उस अवसर पर यह सब व्यवस्था विना किसी चेतन व ज्ञान के कैसे होती है? ऐसी व्यवस्था का कोई निमित्त मानाजाना आवश्यक है। वह नियामक केवल कोई चेतन होना संभव है। उक्त सर्ग-प्रक्रिया में कोई ऐसा चेतन नहीं; अतः उसे पूर्ण कहना युक्तिसंगत व प्रामाणिक न होगा।

मान लीजिये, उक्त सर्गप्रक्रिया अपूर्ण है, उसे पूर्ण करने के लिये उसमें ईश्वर का सन्निवेश आवश्यक है। उसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र में 'आत्मा' पद

से ईश्वर-परमात्मा का ग्रहण किया जाना अधिक युक्तिसंगत है। जीवात्माओं के समस्त धर्माधर्म-फलों की व्यवस्था परमात्मा के अधीन रहती है, वह उस व्यवस्था के अनुसार सर्गरचना करता है, और उसके लिये उसका व्यापक होना आवश्यक है। जीवात्मा उस व्यवस्था के अधीन स्वकृत धर्माधर्म का फल भोगा करते हैं। सर्गादिकालिक परमाणुओं की क्रिया में धर्माधर्म की निमित्तता इसी रूप में अपेक्षित है। उसके लिये जीवात्माओं को विभु मानना सर्वथा अनावश्यक है। फलतः जीवात्मा को अणुपरिमाण अथवा परिच्छिन्न परिमाण मानने में कोई बाधा नहीं है।

व्याख्याकारों द्वारा जीवात्मा के विभु होने में उक्त-युक्ति के अतिरिक्त अणुपरिमाण न होने में एक अन्य युक्ति प्रस्तुत कीजाती है। उनका कहना है, द्रव्यगत गुणों के प्रत्यक्ष के लिये द्रव्य का महत्परिमाण होना आवश्यक है। महत्परिमाण आकाश के शब्दगुण का प्रत्यक्ष होता है। परमाणु के किसी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः आत्मगुणों के प्रत्यक्ष होने के लिये आत्मा को महत्परिमाण मानना आवश्यक है। मध्यवर्त्ती महत्परिमाण मानने से आत्मा के सावयव व अनित्य होने की आपत्ति के कारण उसे परममहत्परिमाण मानना संगत होगा, अतः जीवात्मा अणुपरिमाण नहीं मानाजाना चाहिये।

वस्तुतः गुणप्रत्यक्ष की व्यवस्था का यह कथन 'तिल की ओट पहाड़' के समान है। वैशेषिक दर्शन की निगूढ भावना यह ज्ञात होती है, कि बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य गुणों के प्रत्यक्ष में उक्त व्यवस्था मानी गई है। यह अभी तक ज्ञात नहीं, कि आत्मा का ऐसा कौनसा गुण है, जो बाह्येन्द्रियग्राह्य हो, और जिसके लिये आत्मा को परममहत्परिमाण मानना आवश्यक हो। गुणप्रत्यक्ष में गुणाश्रय द्रव्य के महत्परिमाण होने की व्यवस्था चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से रूपादि गुणों के ग्रहण के लिये स्वीकार कीगई है। आत्मा के गुणों का न बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, और न स्वयं उस आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को।

यह एक निश्चित सिद्धान्त है, कि समस्त प्रत्यक्षज्ञान चेतन आत्मा को होते हैं। अपने गुणों का प्रत्यक्ष भी आत्मा को होता है; पर उसमें बाह्येन्द्रिय अनपेक्षित रहती हैं। बाह्येन्द्रियोंसे अन्य द्रव्यगत गुणों के प्रत्यक्ष के लिये गुणाश्रय द्रव्य का महत्परिमाणवाला होना ठीक है। यह व्यवस्था मानस प्रत्यक्ष में नहीं है। वह बाह्यप्रत्यक्ष न होकर आन्तर है। उसकी—योग समाधिसम्पन्न—उत्कृष्ट दशा में अन्य द्रव्य परमाणु तथा तद्गत गुणों का मानस प्रत्यक्ष होजाता है। फलतः बाह्येन्द्रियग्राह्य विषय के प्रत्यक्ष के लिये जो व्यवस्था निर्धारित है, वह मानस प्रत्यक्ष के लिये अपरिहार्य नहीं है। इसलिये समस्त आत्माओं के विभु होने में

कोई प्रमाण उपलब्ध न होने से केवल एक परमात्मा सर्वव्यापक तथा अन्य समस्त अनन्त जीवात्मा अणुपरिमाण हैं, ऐसा मानना युक्ति-प्रमाणसिद्ध है।

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' [मु० ३।१।९], 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भाग: स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते [श्वे० ५। ९], 'स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेत-केतो' [छा०। ६। ८-१५]। इत्यादि अनेक वैदिक प्रमाण जीवात्मा के अणुपरिमाण को प्रकट करते हैं।

प्रतीत होता है, जगत्सर्ग के प्रति धर्माधर्मरूप अदृष्ट की कारणता को महत्त्व देने की भावना से वैशेषिक के व्याख्याकारों ने इस दिशा में बहुत बल दिया। उस प्रभूत प्रयास के परिणामस्वरूप जगत्सर्ग की कारणता में अदृष्ट सर्वोपरिरूप से सामने उभर आया; अन्य कारण उपेक्षित-से समझलिये गये, अथवा ज्ञान-दृष्टि से तिरोहित करदिये गये, यहां तक कि परमात्मा भी कारणता की कोटि से बहिष्कृत-सा समझलिया गया। इसीकारण इस विषय का वैशेषिक-विचार वर्तमान रूप में सामने आया। वस्तुतः शास्त्र की मूलभावना ऐसी नहीं है। प्राचीन व्याख्याकारों[1] ने सृष्टिप्रक्रिया में ईश्वर के सहयोग का स्पष्ट उल्लेख किया है। अन्य प्रसंगों[2] से भी यह अर्थ स्पष्टरूप में प्रमाणित होता है ॥२२॥

आकाश आदि के विपरीत मन के परिमाण का सूत्रकार ने निर्देश किया—

तदभावादणु मनः ॥२३॥ (२७९)

[तदभावात्] उसके अभाव से [अणु] अणु है [मनः] मन।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद गतसूत्र में पठित 'विभवात्' हेतु पद का परामर्श करता है। विभव के अभाव से अर्थात् समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ एक काल में

---

१. द्रष्टव्य, पदार्थधर्मसंग्रह (प्रशस्तपादभाष्य) का सृष्टिसंहार प्रकरण।

२. द्रष्टव्य, वैशेषिकदर्शन, अध्याय ६, आह्निक १ के प्रारम्भिक सूत्र, तथा १०। २। ९॥ २। १। १८-१९॥

वैशेषिक में 'अदृष्ट' की प्रधानता के समान मीमांसाशास्त्र में 'कर्म' की प्रधानता स्वीकार कीगई है। जगत् की कारणता में कर्मों को महत्व दिये जाने से परवर्ती व्याख्याकारों ने जगत् के प्रति ईश्वरकारणता की उपेक्षा कर दी। मीमांसा में ईश्वरकारणता का निषेध नहीं है। कर्मप्रधान शास्त्र होने से कर्म का महत्व प्रकट करना अभिप्रेत है। इन शास्त्रों को निरीश्वरवादी कहना केवल दुस्साहस व धृष्टता का द्योतक है।

मन का संयोग न होने से मन अणुपरिमाण[1] द्रव्य है।

सूत्रों की इस रचना में जीवात्मा का अणुभाव कैसे उद्भासित होता है, यह विचारणीय है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में गत [२२वें] सूत्र को दो सूत्रों के रूप में निर्दिष्ट कियागया है। उसके अनुसार सूत्रक्रम इसप्रकार है—

विभवान्महानाकाशः। तथा चात्मा। तदभावादणु मनः।

मध्यगत सूत्र का सम्बन्ध दोनों ओर होजाता है। पूर्वसूत्र के साथ सम्बन्ध परमात्मा की सर्वव्यापकता का प्रतिपादक है। अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध जीवात्मा की अणुता को प्रकट करता है। इस अर्थ में 'तथा' पद भिन्नता का द्योतक है। 'तथा आत्मा' और जीवात्मा, 'तदभावात्'–विभवके न होने से 'अणुः' अणु है। 'अणु' पद का लिङ्गविपर्यय होकर आत्मा के साथ समन्वय होता है। 'च' पद 'मनः' के साथ जुड़कर 'मनश्च' और मन 'तदभावात्' विभव न होने से 'अणु' अणु है। ऐसी व्याख्या में शास्त्र बाधक नहीं है ॥२३॥

सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा दिशा द्रव्य के नित्य परममहत्परिमाण का निर्देश किया—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥२४॥ (२८०)

[गुणैः] गुणों के द्वारा [दिक्] दिशा द्रव्य [व्याख्याता] व्याख्या कियागया (समझना चाहिये)।

एक काल में सर्वत्र दैशिक परत्व-अपरत्व आदि गुणों की प्रतीति होने से दिशा द्रव्य परममहत्परिमाणवाला है, यह सिद्ध होता है। यह इससे दूर है, यह समीप है; यह पूरब है यह पच्छिम है; इत्यादि दिशा-निमित्तक व्यवहार विभिन्न अनेकानेक प्रदेशों में एक काल में बराबर होता रहता है। इससे ज्ञात होता है—वहाँ सर्वत्र समानकाल में दिशा द्रव्य विद्यमान है। यह स्थिति दिशा के नित्य विभु होने में प्रमाण है ॥२४॥

सूत्रकार ने काल की व्यापकता को बताया—

कारणे[2] कालः ॥२५॥ (२८१)

---

१. मन की अणुता को न्यायदर्शन [३।१।५६-५९] में 'ज्ञानायौगपद्य' हेतु के आधार पर सिद्ध किया है। बाह्येन्द्रियग्राह्य विषय के ज्ञान में सहयोगी मन एक काल में एक ही इन्द्रिय से संयुक्त होने के कारण अणु है। अन्यथा एक काल में सबके साथ संयोग होने से युगपत् ज्ञान होजाया करता।

२. 'कारणेन कालः' अ०प्रा०। 'कारणेन काल इति।' चन्द्रा०। सूत्रक्रम के अनुसार तृतीयान्त पाठ अधिक स्पष्ट व युक्त प्रतीत होता है।

[कारणे] कारण में [कालः] काल (व्याख्यात समझना चाहिये)।

लिङ्गविपर्यय के साथ गतसूत्र से 'व्याख्यात' पद का यहां अनुवर्त्तन है। यह इससे छोटा है, यह बड़ा है; यह दो वर्ष का, यह चार का; यह पीछे हुआ, यह पहले हुआ; इत्यादि काल-निमित्तक परत्व-अपरत्व आदि का व्यवहार समान अवसरों पर विभिन्न प्रदेशों में बराबर हुआ करता है। इस व्यवहार का **निमित्त** कारण जो द्रव्य है, वह 'काल' है। ऐसा प्रत्यय क्योंकि सर्वत्र सब अवसरों पर एकसाथ हुआ करता है; इससे 'काल' द्रव्य—नित्य परममहत्परिमाणवाला—सिद्ध होता है। युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीति का कारण 'काल' है। वह नित्य है, और उसका परिमाण भी नित्य है ॥२५॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये सप्तमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अथ सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

गत आह्निक में रूपादि चार गुणों की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त संख्या-गुण का विवेचन कर्त्तव्य था, पर उसके दुरूह होने और परिमाण-गुण के अल्प विवेच्य होने के कारण क्रम का उल्लंघन कर आह्निक के शेष भाग में परिमाण-गुण का विवेचन करदियागया। अब संख्या आदि गुणों का विवेचन प्रस्तुत कियाजाता है। द्रव्य का महत्परिमाण संख्या आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने में निमित्त रहता है; इसलिये भी महत्परिमाण की परीक्षा के अनन्तर संख्या आदि गुणों का विवेचन न्याय्य है; इस भावना से सूत्रकार ने संख्या गुण के विषय में बताया—

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥ (२८२)

[रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्] रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से भिन्न होने के कारण [अर्थान्तरम्] अतिरिक्त अर्थ है [एकत्वम्] एकत्व।

एकत्व गुण रूपादि गुणों का व्यभिचारी है, इसलिये यह रूपादि से भिन्न है। वायु, आकाश आदि में रूप नहीं रहता, पर एकत्व गुण वहां रहता है। जलादि द्रव्यों में गन्ध नहीं रहता, एकत्व वहां रहता है। तेज आदि में रस नहीं रहता, पर एकत्व वहां रहता है। आकाश आदि में स्पर्श नहीं रहता; परन्तु एकत्व गुण वहां विद्यमान है। फलतः रूपादि गुणों का व्यभिचारी होने से एक-

त्व–संख्या गुण रूपादि से भिन्न है, यह निश्चित होता है।

सूत्र में 'एकत्व' पद अन्य द्वित्व आदि संख्या तथा परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग गुणों का उपलक्षण है। एकत्व संख्या की भेदप्रदर्शित रीति के अनुसार ये सभी गुण रूपादि गुणों से भिन्न हैं। जहां रूपादि गुणों में एकत्व संख्या आदि की प्रतीति होती है—'यह एक रूप है, ये दो रूप हैं, यह रूप इस रूप से पृथक् है, रूप और रस दो पदार्थ हैं, इत्यादि व्यवहार लोक में देखाजाता है, और इससे अर्थबोध ठीक होता है, यह मिथ्याप्रत्यय नहीं है; ऐसे प्रयोगस्थलों में रूपादि गुणों के आश्रय–द्रव्य में समवेत एकत्वादि संख्या का रूपादि में आरोप होने से वैसा औपचारिक व्यवहार होता रहता है, ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि गुण का गुण में समवेत होना असंभव है। रूप और संख्या दोनों गुण हैं, ये एक-दूसरे में समवेत नहीं रह सकते, गुण केवल द्रव्य में समवेत रहते हैं। सामान्य आदि पदार्थों में एकत्व का व्यवहार भी औपचारिक ही समझना चाहिये ॥१॥

एकत्व के समान पृथक्त्व एवं एकपृथक्त्व भी रूपादि गुणों से भिन्न गुण है, सूत्रकार ने बताया—

तथा[1] पृथक्त्वम् ॥२॥ (२८३)

[तथा] वैसे [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व गुण (रूपादि से भिन्न समझना चाहिये)।

जैसे एकत्व संख्या का रूपादि से भेद स्पष्ट कियागया है; वैसे पृथक्त्व गुण का रूपादि से भेद समझ लेना चाहिये। एकत्व गुण जैसे रूपादि का व्यभिचारी है, वैसे पृथक्त्व गुण भी। जहां रूपादि नहीं रहते, पृथक्त्व रहता है; अतः यह गुण रूपादि गुणों से भिन्न है। एकत्व संख्या नित्य द्रव्य में नित्य तथा अनित्य में अनित्य होती है। द्वित्वादि संख्या सर्वत्र अनित्य हैं। पृथक्त्व और एकपृथक्त्वादि गुण नित्य द्रव्य में नित्य तथा अनित्य में अनित्य होते हैं।

कतिपय आचार्यों ने 'पृथक्त्व' को गुण नहीं माना। उनका कहना है—'घट पट से पृथक् है' अथवा 'घट पट नहीं है' इन दोनों प्रकार के प्रयोगों में अर्थ समान प्रतीत होता है। पहला प्रयोग 'पृथक्त्व' गुण के आधार पर है, दूसरा प्रयोग अन्योऽन्याभाव के आधार पर। जब उसी अर्थ की प्रतीति अन्योन्याभाव के

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में पहले-दूसरे सूत्र को एक सूत्र माना है। तथा इसके आगे दो अतिरिक्त सूत्र इसप्रकार हैं–'तयोर्नित्यत्वानित्यत्वे तेजसो रूपस्पर्शाभ्यां व्याख्याते' तथा 'निष्पत्तिश्च।' अर्थ है—एकत्व और पृथक्त्व गुण, नित्य द्रव्य में नित्य एवं अनित्य में अनित्य होते हैं। इनकी उत्पत्ति कारण-गुणपूर्वक होती है।

आधार पर संभव है, तो पृथक्त्व गुण को मानना अनावश्यक है।

वस्तुतः उक्त दोनों प्रकार के प्रयोगों में अर्थबोध समान नहीं होता। पहले प्रयोग में दोनों पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध होता है; जबकि दूसरे प्रयोग में एक का अन्यत्र अभाव। पृथक्त्व के आधार पर विशिष्ट प्रतीति होने से पृथक्त्व का अतिरिक्त गुण होना प्रमाणित होता है। जब पृथक्त्व रूपादि से भिन्न है, तो एकपृथक्त्व आदि का भिन्न होना स्वतः प्रामाणिक होजाता है ॥२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एकत्व में एकत्व का तथा पृथक्त्व में पृथक्त्व का लोकव्यवहार देखाजाता है; क्या यह यथार्थ है? सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा बताया—

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्व[1]-
महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥ (२८४)

[एकत्वैकपृथक्त्वयोः] एकत्व और एकपृथक्त्व गुण में [एकत्वैकपृथक्त्वाभावः] एकत्व और एकपृथक्त्व का अभाव है, (यह तथ्य) [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व और महत्त्व (के व्याख्यान) से [व्याख्यातः] व्याख्यान कियागया (समझना चाहिये)।

गत आह्निक में यह विवेचन कियागया है, कि अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व-महत्त्व समवेत नहीं रहते। कारण यह है—गुण का समवाय द्रव्य में है, गुण में नहीं। गुण में गुण नहीं रहता। यहां भी एकत्व और एकपृथक्त्व गुण हैं, इनमें किसी गुण का समवाय संभव नहीं ॥३॥

इसी अर्थ को पुष्ट करते हुए सूत्रकार ने बताया—

निःसंख्यत्वात्[2] कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥ (२८५)

[निःसंख्यत्वात्] संख्यारहित होने के कारण [कर्मगुणानाम्] कर्म और गुणों के, [सर्वैकत्वम्] सब पदार्थों में एकत्व संख्या [न] नहीं [विद्यते] रहती।

संख्या गुण है, एकत्व संख्या है, उसका समवाय केवल द्रव्यों में है, कर्म और गुणों में नहीं। कर्म [१।१।१७] और गुण [१।१।१६] का जो लक्षण सूत्रकार ने प्रथम किया है, उससे यह तथ्य स्पष्ट है। इसलिये एकत्व संख्या सब पदार्थों में नहीं रहती, यह निश्चित समझना चाहिये।

---

१. 'त्व' नहीं है। अ० प्रा०। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में सूत्र के आदि भाग का पाठ है—'एकत्वपृथक्त्वयोरेकत्वपृथक्त्वाभावो०'

२. इस सूत्र से पहले एक अतिरिक्त सूत्र है—'कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणाः' चन्द्रा०। ये दो सूत्र हैं—'कर्मभिः कर्माणि' एक, 'गुणैर्गुणाः' दूसरा, अ०प्रा०।

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'एको रसः, एकं रूपम्, एकं कर्म' इत्यादि लोक-प्रतीति से गुण-कर्मों में एकत्व संख्या का रहना प्रकट होता है। सूत्रकार ने बताया—

भ्रान्तं[1] तत् ॥५॥ (२८६)

[भ्रान्तम्] भ्रममूलक है [तत्] वह (लोकज्ञान)।

लोक में 'एकं रूपम्, एकं कर्म, इत्यादि प्रतीति पूर्णतः भ्रममूलक है; यथार्थ प्रत्यय नहीं। ऐसे स्थलों में गुणाश्रय अथवा कर्माश्रय द्रव्य की एकता का आरोप गुण एवं कर्म में करलेने से वैसा प्रयोग हुआ करता है। यह समझना अधिक उपयुक्त है, कि लोक में समस्त प्रायोगिक व्यवहार शास्त्रीय व्यवस्थाओं के अनुसार होता है, ऐसी बात नहीं है। साधारण लोकव्यवहार पर शास्त्रीय व्यवस्था निर्धारित नहीं कीजाती। लोक में ऐसे प्रयोग गौण समझने चाहियें ॥५॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'एको घटः, एकः पटः, एकं द्रव्यम्' इत्यादि लोक-व्यवहार भी क्या भाक्त समझना चाहिये ? सूत्रकार ने बताया—

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु[2] न विद्यते ॥६॥ (२८७)

[एकत्वाभावात्] एकत्व के अभाव से (यथार्थरूप में), [भक्तिः] भाक्त प्रयोग [तु] तो (भी), [न] नहीं [विद्यते] रहता।

किन्हीं स्थलों में किसी विषय का भाक्त प्रयोग तभी संभव है, जब उस विषय का कहीं अन्यत्र पारमार्थिक प्रयोग हो। यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है, कि गुण द्रव्य में समवेत रहता है। संख्या गुण है। वह समवाय सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित है। इसलिये 'एको पटः, एकं द्रव्यं' इत्यादि प्रयोग तथा प्रत्यय यथार्थ हैं। किसी एक जगह पारमार्थिक प्रयोग व प्रत्यय होने पर अन्यत्र भाक्त प्रयोग व प्रत्यय संभव हैं। फलतः द्रव्य में ऐसा प्रयोग व प्रत्यय यथार्थ, तथा अन्यत्र गुणादि में भाक्त समझना चाहिये। यदि कहीं भी यथार्थ प्रत्यय व प्रयोग न हो, तो भाक्त प्रत्यय व प्रयोग असंभव होगा।

द्रव्य और गुणादि में एकत्व संख्या की प्रतीति समान है। जैसा ज्ञान 'एको घटः' में एकत्व का है, वैसा ही ज्ञान 'एको रसः' में है। तब कोई ऐसा विशेष हेतु नहीं, जिससे द्रव्य में यह ज्ञान यथार्थ और गुण में अयथार्थ मानाजाय[3]। वस्तुतः

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०/चन्द्रा०।

२. अ० प्रा० में सूत्रपाठ है—'एकस्याभावाद् भाक्तं न विद्यते।' चन्द्रानन्दीय व्याख्या में—'एकत्वस्याभावाद् भाक्तं न विद्यते' पाठ है।

३. ऐसी भावना चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने अपने भाष्य में अभिव्यक्त की है।

ऐसा कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि भ्रान्त और अभ्रान्त दोनों स्थलों में प्रतीति-ज्ञान-उपलब्धि, प्रतीति के समय सदा समान रहती है। शुक्ति में रजत का ज्ञान, और रजत में रजत का ज्ञान 'इदं रजतम्' यह ज्ञान होते समय दोनों समान हैं। पर यह निश्चित है, इनमें एक भ्रान्त और दूसरा यथार्थ है। भ्रमकारणों का ज्ञान होने पर यह विशेषता भासित होती है। प्रतीति का समान होना उनकी यथार्थता व अयथार्थता का साधक नहीं है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, एकत्व संख्या नित्यद्रव्य में नित्य और अनित्य में अनित्य बताई गई, तथा गुणों को कारणगुणपूर्वक कहा गया। क्या एकत्व संख्या गुण एकत्व संख्या का कार्य अथवा कारण नहीं होता है? सूत्रकार ने बताया—

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैक-पृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥ (२८८)[1]

[कार्यकारणयोः] (समानजातीय) कार्य और कारण (के वर्ग) में [एकत्वैकपृथक्त्वाभावात्] एकत्व और एकपृथक्त्व के अभाव से [एकत्वैकपृथक्त्वम्] एकत्व और एकपृथक्त्व [न] नहीं [विद्यते] है (समानजातीय कारण और कार्य)।

तन्तु का नीलरूप पट में नीलरूप का कारण है, और रक्तरूप रक्त का। नील रक्त का कारण नहीं होता, और रक्त नील का। इसप्रकार नील अथवा रक्त रूप समानजातीय गुण के आधार पर कारण-कोटि में रहता है और कार्य-कोटि में भी। इसीके अनुरूप एकत्व संख्या कहीं समानजातीय एकत्व संख्या का कार्य अथवा कारण होती है, या नहीं? सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया—एकत्व संख्या अन्य किसी एकत्व संख्या का न कार्य होती है, न कारण। कार्य और कारण के वर्ग में एकत्व संख्या का इस रूप से अभाव रहता है। परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में एकत्व संख्या नित्य है, पर वह कहीं अन्यत्र एकत्व संख्या का कारण नहीं बनती। जहां अनित्य द्रव्यों में एकत्व संख्या अनित्य है, वहां कहीं भी उसका कारण समवायिकारणगत-एकत्व संख्या नहीं है; प्रत्युत एकत्व के आश्रय-द्रव्य के समवायिकारणरूप अवयवों का संयोग उस एकत्व संख्या का जनक होता है। इसप्रकार एकत्व संख्या समानजातीय कार्य-कारण की कोटि में नहीं आती। इसीके समान स्थिति एकपृथक्त्व गुण की समझनी चाहिये ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यह व्यवस्था नित्य-द्रव्यगत एकत्व के विषय में है,

---

१. **'कार्यकारणयोरेकत्वपृथक्त्वाभावा०' अ० प्रा०। 'कार्यकारणैकत्वपृथक्त्वाभावादेकत्वपृथक्त्वे न विद्यते।' चन्द्रा०।**

अथवा अनित्यगत ? सूत्रकार ने बताया—

[1]'एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥ (२८९)

[एतत्] यह [अनित्ययोः] अनित्य (एकत्व और एकपृथक्त्व के विषय) में [व्याख्यातम्] व्याख्यान समझना चाहिए।

पूर्वसूत्रगत व्यवस्था का कथन अनित्य एकत्व और अनित्य एकपृथक्त्व के विषय में विशेषरूप से कहागया समझना चाहिये। नित्य एकत्व और नित्य एकपृथक्त्व के विषय में यह प्रश्न नहीं उठता, कि वह किसीका कार्य है। ये गुण परमाणुनिष्ठ रहते हैं। न ये एकत्व आदि गुण अपने कार्य द्वचणुक आदि में एकत्व संख्या आदि के जनक होते हैं। इसलिये अनित्य एकत्व और अनित्य एकपृथक्त्व के विषय में पूर्वसूत्रोक्त व्यवस्था समझनी चाहिये। तात्पर्य है, अनित्य एकत्व और अनित्य एकपृथक्त्व का कारण एकत्व और एकपृथक्त्व नहीं होते। इस प्रकार उक्त व्यवस्था नित्य-अनित्य उभयत्र लागू होजाती है। इस अर्थ को स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिये सूत्रगत 'अनित्य' पद को 'नित्य' का उपलक्षण समझ लेना चाहिये। चन्द्रानन्दीय व्याख्या के सूत्रपाठ में दोनों पद पढ़े गये हैं। वस्तुतः उक्त व्यवस्था गुणोत्पत्ति को कारणगुणपूर्वक बताने वाले सूत्र [२।१।२४] का अपवाद समझना चाहिये ॥८॥

एकत्व संख्या के विवेचन के अनन्तर सूत्रकार ने 'संयोग' गुण के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया—

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥ (२९०)

[अन्यतरकर्मजः] दोनों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, [उभयकर्मजः] दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न, [संयोगजः] संयोग से उत्पन्न होता है [च] और [संयोगः] संयोग गुण।

संयोग गुण की उत्पत्ति विभिन्न स्थलों में कई कारणों से होती है। संयोग—अप्राप्त द्रव्यों का परस्पर प्राप्त होजाना, मिलजाना सटजाना—है। यह एक प्रकार का दो द्रव्यों का परस्पर संबन्ध है। यह किन्हीं स्थलों में 'अन्यतरकर्मज' होता है। एक संयोग सदा दो द्रव्यों का होता है। कभी उनमें एक द्रव्य स्थिर रहता है, और दूसरे में क्रिया होकर वह पहले के साथ संयुक्त होजाता है। किसी मकान की दीवार अथवा वृक्ष पर एक पक्षी उड़ता हुआ आ बैठता है। धनुष से सरका बाण अथवा बन्दूक से निकली गोली आगे अपने स्थिर लक्ष्य में जा लगते हैं। यहां भीत अथवा वृक्ष से पक्षी का संयोग, एवं बाण या गोली का लक्ष्य से

१. 'एतदनित्यनित्ययोर्व्याख्यातम्।' चन्द्रा०।

संयोग 'अन्यतरकर्मज' है। जिन दो द्रव्यों का संयोग हुआ है, उनमें एक द्रव्य निष्क्रिय रहता है, दूसरे एक में क्रिया होती है।

'उभयकर्मज' वह संयोग है, जहां दोनों द्रव्यों की क्रिया से उनमें संयोग हो। अखाड़े में एक मल्ल इधर से चला, दूसरा उधर से, दोनों भिड़ गये। दो भैंसे आमने-सामने से आकर टकरा जाते हैं। एक लाईन पर दोनों ओर से आती हुई रेलगाड़ियां टकरा जाती हैं। ऐसा संयोग 'उभयकर्मज' कहा जाता है।

तीसरा 'संयोगज संयोग' वह है, जहां कारण-अकारण के संयोग से कार्य-अकार्य का संयोग कहा जाता है। जैसे—हस्तपुस्तक संयोग से देहपुस्तकसंयोग। हस्त अवयव और देह अवयवी है, हस्त देह का कारण है, पुस्तक का कारण नहीं। इन दोनों का संयोग, हस्त के कार्य देह और अकार्य पुस्तक के संयोग को उत्पन्न करता है। अतः यह संयोगजसंयोग होता है।

वस्तुतः यहां कोई अन्य संयोग उत्पन्न होजाता हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अवयव के साथ हुए संयोग को अवयवी के साथ संयोग का अभिलापन करने की यह एक रीतिमात्र है। कारण यह है, कि मूर्तद्रव्यों का संयोग सदा अव्याप्यवृत्ति होता है। अन्यतरकर्मज संयोग और उभयकर्मज संयोग को भी संयोगज-संयोग के रूप में अभिलापन किया जा सकता है। हस्तपुस्तक-संयोग भी अन्यतरकर्मज संयोग है। ऐसे संयोग का विस्तृत विवरण परिशिष्ट (१) में किया गया है ॥९॥

अतिदेश द्वारा सूत्रकार ने क्रमप्राप्त विभाग गुण के विषय में बताया—

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥ (२९१)

[एतेन] इससे [विभागः] विभाग गुण [व्याख्यातः] व्याख्यात—कहा गया समझना चाहिए।

संयोग गुण के विवेचन से विभागगुण का व्याख्यान-विवरण समझ लेना चाहिये। संयोग के समान विभाग अन्यतरकर्मज उभयकर्मज और विभागजविभाग के रूप में विवृत किया जाता है। भीत या पेड़ पर बैठे पक्षी के उड़ जाने से भीत-पक्षी एवं पेड़-पक्षी का जो संयोग न रहकर विभाग होजाता है, यह अन्यतरकर्मज विभाग है। यहां दो संयुक्त द्रव्यों में से एक पक्षी में क्रिया होती है, दूसरा संयुक्त द्रव्य स्थिर रहता है। उभयकर्मज विभाग वह है, जहां दोनों संयुक्त द्रव्यों में क्रिया होकर दोनों का अलग होजाना है। जैसे—दो मल्ल, भैंसे व मेंढे एक-दूसरे को टक्कर देकर दोनों पीछे हट जाते हैं। विभागजविभाग भी संयोग के समान हस्त-पुस्तक विभाग से देहपुस्तक विभाग का व्यपदेश होना है। विभाग का अन्य विवेचन संयोग के समान समझना चाहिए। विभागजविभाग की प्रक्रिया का विशद विवरण परिशिष्ट (१) में दिया गया है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे द्रव्यों में संयोग-विभाग रहते हैं; ऐसे संयोग में संयोग और विभाग में विभाग रहता है, या नहीं ? सूत्रकार ने बताया—

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्व[1]महत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥ (२६२)

[संयोगविभागयोः] संयोग और विभाग में [संयोगविभागाभावः] संयोग और विभाग का अभाव है, (यह) [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व-महत्त्व के द्वारा [व्याख्यातः] कहागया समझना चाहिये।

आचार्य ने शिष्यों से कहा—आप लोग अधीत विषय को भूल जाते हैं। अभी गत आह्निक [७।१।१४-१६] में बताया गया,—अणुत्व परिमाण में अणुत्व एवं महत्त्व में महत्त्व नहीं रहता क्योंकि गुण गुण में समवेत नहीं रहते। अणुत्व-महत्त्व दोनों गुण हैं, वे गुण में समवेत नहीं रह सकते। उन्हींके समान संयोग-विभाग भी गुण हैं, वे भी गुण में नहीं रह सकते। तब संयोग में संयोग के अथवा विभाग में विभाग के समवेत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अणुत्व-महत्त्व के विवरण के समान ही संयोग-विभाग के विषय में समझना चाहिये ॥११॥

शिष्य ने जिज्ञासा की, अणुत्व-महत्व में अणुत्व-महत्व तथा संयोग-विभाग में संयोग-विभाग मत रहो; पर संयोग-विभाग में अणुत्व-महत्त्व क्यों न रहें, वे तो परस्पर भिन्न हैं। सूत्रकार ने समझाया—

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा[2] अणुत्वमहत्त्वा-भ्यामिति ॥१२॥ (२६३)

[कर्मभिः] कर्मों से [कर्माणि] कर्म, [गुणैः] गुणों से [गुणाः] गुण, [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व-महत्त्व के द्वारा [इति] यह (समाप्त)।

आचार्य ने शिष्यों से कहा—आप लोग फिर भूले। यहां सूत्रार्थ को पूरा करने के लिये गत सूत्र से लिङ्ग-वचन-विपर्यय के साथ 'व्याख्यातः' पद का अनुवर्त्तन कर लेना चाहिये। 'कर्मभिः कर्माणि अणुत्व-महत्त्वाभ्यां व्याख्यातानि; गुणैर्गुणा अणुत्व-महत्त्वाभ्यां व्याख्याताः' कर्मों के साथ कर्म समवेत नहीं रहते, न गुणों के साथ गुण, इसका कथन अणुत्व-महत्त्व के द्वारा प्रथम [७।१।१५] कर दिया गया है। संयोग-विभाग और अणुत्व-महत्त्व यद्यपि परस्पर भिन्न हैं,

---

१. 'त्व' नहीं है, अ० प्रा०।

२. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में इतना ही सूत्र है, 'अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति' सूत्रांश नहीं है। अ० प्रा० में प्रथम सूत्रभाग को दो सूत्र माना है–'कर्मभिः कर्माणि' तथा 'गुणैर्गुणाः।'

पर दोनों गुण हैं। संयोग-विभाग गुण, अणुत्व-महत्त्व भी गुण। गुण में, गुण समवेत नहीं रहता, अतः संयोग-विभाग गुणों में अणुत्व-महत्त्व गुण समवेत नहीं रह सकते। 'अणुः संयोगो महान् संयोगः' इत्यादि व्यवहार औपचारिक ही समझना चाहिये। सूत्र का 'इति' पद इस प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, गुण में, गुण नहीं रहता, यह समझे; पर कार्य-कारण और अवयव-अवयवी में परस्पर संयोग-विभाग क्यों नहीं होते, जब कि वे दोनों द्रव्य हैं? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥१३॥ (२६४)

[युतसिद्ध्यभावात्] युतसिद्धि के अभाव से [कार्य-कारणयोः] कार्य और कारण में (परस्पर) [संयोगविभागौ] संयोग और विभाग [न] नहीं [विद्येते] होते।

'युतसिद्धि' अथवा 'युतसिद्ध' पद वैशेषिक शास्त्र में पारिभाषिक-जैसे प्रयुक्त होते हैं। परस्पर संबन्ध से रहित दो द्रव्यों की स्थिति 'युतसिद्धि' कही जाती है। ऐसे दो द्रव्यों को—जो परस्पर सम्बन्ध से रहित स्वतन्त्रता से अपने रूप में स्थित हैं, उनको—'युतसिद्ध' कहा जायगा। दो घट हैं, एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध से रहित हैं, स्वतन्त्ररूप से अवस्थित हैं। इनका परस्पर संयोग और विभाग संभव है। ऐसे युतसिद्ध द्रव्यों का परस्पर संयोग-विभाग हुआ करता है। ऐसे द्रव्यों की अवस्थिति का नाम 'युतसिद्धि' है। यह युतसिद्धि कार्य-कारण द्रव्यों में नहीं रहती। जैसे एक घट अपनी स्थिति में दूसरे घट की अपेक्षा नहीं करता, ऐसी स्थिति उन द्रव्यों में असंभव है, जिनका परस्पर कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। कार्य द्रव्य कभी अपने कारणों को छोड़कर–उनकी उपेक्षा कर–स्वतन्त्र रह नहीं सकता। वह सदा अपने कारणों में आश्रित रहता है। तात्पर्य यह है—कारण द्रव्यों को छोड़कर–उनकी उपेक्षा कर—कार्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। जब केवल कारण द्रव्य है, तब कार्य का अस्तित्व नहीं; जब कार्य उत्पन्न होकर अस्तित्व में आता है, तब अपने कारणों को छोड़कर रह नहीं सकता। ऐसी स्थिति में कार्य-कारण द्रव्यों का परस्पर संयोग असंभव है। जब संयोग नहीं, तो विभाग होने का प्रश्न नहीं उठता। फलतः कार्य-कारण एवं अवयव-अवयवी द्रव्यों में परस्पर संयोग-विभाग नहीं रहते। कार्य-कारण अथवा अवयव-अवयवी 'युतसिद्ध' न होकर 'अयुतसिद्ध' माने जाते हैं। अयुतसिद्धों का परस्पर सम्बन्ध समवाय माना गया है ॥१३॥

यह निश्चित है, कोई नियत शब्द किसी नियत अर्थ का बोध कराता है, यह स्थिति स्पष्ट करती है शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अवश्य है। शब्द गुण है, अर्थ प्रत्येक प्रकार का होसकता है। तब शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध क्या होगा, यह विचारणीय है। शिष्यों की जिज्ञासापूर्ण भावना को भांपते हुए सूत्रकार ने पूर्वपक्ष से प्रकरण का प्रारम्भ किया—

गुणत्वात् ॥१४॥ (२९५)

[गुणत्वात्] गुण होने से (शब्द के)।

शब्द के गुण होने से किसी अर्थ के साथ शब्द का संयोग सम्बन्ध संभव नहीं। यह सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों का परस्पर होता है॥१४॥

[1]गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥ (२९६)

[गुणः] गुण (रूप, रस आदि) [अपि] भी [विभाव्यते] प्रकट—बोधित कियाजाता है (शब्द के द्वारा)।

रूप, रस आदि का शब्द द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। रूपादि गुण हैं, और शब्द भी गुण। शब्द और अर्थ दोनों के गुण होने से इनका सम्बन्ध संयोग नहीं होसकता॥१५॥

संयोग सम्बन्ध न होने का और कारण है—

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥ (२९७)

[निष्क्रियत्वात्] क्रियारहित होने से।

संयोग संबन्ध अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज और संयोगज बताया गया है। जब आकाश अथवा हिमालय शब्द से उस-उस अर्थ का बोध कराया जाता है, तब हिमालय शब्द हिमालय प्रदेश में जाकर अर्थ से संबद्ध होता हो, या हिमालय शब्द के पास आवे, यह असंभव है; क्योंकि ये दोनों निष्क्रिय हैं। इसी प्रकार आकाश निष्क्रिय है; तब अन्यतरकर्मज अथवा उभयकर्मज संयोग का होना यहां किसीप्रकार संभव नहीं। ऐसी स्थिति में संयोगज-संयोग भी नहीं होसकता॥१६॥

सूत्रकार ने उक्त अर्थ में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

[2]असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥ (२९८)

[असति] न होने पर (अर्थ के) [न] नहीं [अस्ति] है, [इति] यह [च] और [प्रयोगात्] प्रयोग से।

किसी वस्तु का न होना दो अवस्थाओं में संभव है—एक उत्पन्न होकर न

---

१. **'गुणे च भाष्यते' अ० प्रा०। चन्द्रा०।**

२. **यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।**

रहना। दूसरे—उत्पत्ति से पूर्व सूत्र में 'नास्ति' पद वस्तु की अतीत दशा का निर्देश करता है, तथा 'च' पद से भविष्यत् का संकेत किया गया है। तात्पर्य हुआ, वस्तु की दोनों प्रकार की अविद्यमानता में उस वस्तु के लिये शब्द का प्रयोग होने से स्पष्ट होता है—शब्द का अर्थ के साथ संयोगादि संबन्ध नहीं है; क्योंकि यह संबन्ध विद्यमान दो वस्तुओं में होता है। परन्तु जब घट किसी जगह नहीं है, तब भी उसके लिये शब्द का प्रयोग होता है—यहां घट नहीं है। जब तक घट उत्पन्न नहीं होता, तब भी उसके लिये शब्द का प्रयोग होता है—घट उत्पन्न होगा। फलतः अर्थ की अविद्यमानता में शब्द के प्रयोग से सिद्ध है—शब्द अर्थ का परस्पर संयोग संबन्ध संभव नहीं ॥१७॥

इसीके परिणामस्वरूप कहा गया—

शब्दार्थाव॰सम्बन्धौ[1] ॥१८॥ (२९९)

[शब्दार्थौ] शब्द और अर्थ (परस्पर) [असंबन्धौ] संबन्ध रहित हैं।

इस दिशा में यह एक विषम स्थिति है। शब्द-अर्थ का परस्पर संयोगादि संबन्ध कोई बनता नहीं; तब शब्द से अर्थ की उपलब्धि कैसे उपपन्न होगी? यह एक अव्यवस्था होजायगी, तब किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ अभिव्यक्त किये जाने की अनभिवाञ्छनीय स्थिति उत्पन्न होजाती है ॥१८॥

शब्द और अर्थ में परस्पर संयोग तथा समवाय संबन्ध क्यों नहीं? सूत्रकार ने बताया—

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च[2] ॥१९॥ (३००)

[संयोगिनः] संयोग संबन्ध वाले [दण्डात्] दण्ड से [समवायिनः] समवाय संबन्ध वाले [विशेषात्] विशेष-अवयव-से।

एक पुरुष के हाथ में दण्ड (लाठी-डंडा) है, उसे 'दण्डी पुरुषः' कहाजाता है। यह पुरुष दण्ड वाला है, दण्ड से संयुक्त है। दण्ड और पुरुष का परस्पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध उक्त प्रतीति में स्पष्टरूप से भासित होता है। ऐसे ही जब कहाजाता है—हाथी सूंडवाला है—'हस्ती कुञ्जरः' अथवा 'करी कुञ्जरः' 'हस्त' व 'कर' हाथी की सूंड का नाम है। यह हाथी-शरीरका एक अङ्ग है, अवयव

---

१. 'शब्दार्थावसंबद्धौ' चन्द्रा०।

२. अ० प्रा० में 'विषाणाच्च दृष्टत्वादहेतुः' पाठ है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'विषाणाच्च' पाठ के साथ सूत्र समाप्त है; तथा आगे तीन अतिरिक्त सूत्र इसप्रकार है...'दृष्टत्वादहेतुः प्रत्ययः। तथा प्रत्ययाभावः। सम्बद्धसंबन्धादिति चेत् सन्देहः।'

विशेष है। अवयवों में अवयवी समवाय संबन्ध से रहता है। उक्त प्रतीति में 'कर' और 'कुञ्जर' का परस्पर समवाय सम्बन्ध स्पष्ट भासित होता है। यदि शब्द और अर्थ का परस्पर संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध होता, तो लोकप्रसिद्ध उक्त प्रत्ययों में जैसे भासता है, वैसे यहां भी भासता। इसके विपरीत शब्दप्रयोगकाल में शब्द और अर्थ का असंबन्ध ही स्पष्ट होता है। यदि शब्द और अर्थ का प्राप्तिरूप संबन्ध रहे, तो 'मोदक' शब्द कहने पर लड्डू से मुँह भर जाना चाहिये, 'अग्नि' शब्द के उच्चारण से मुँह जल जाय, तलवार कहने से मुँह कट जाय। ऐसा न होना शब्द और अर्थ के परस्पर असम्बन्ध को स्पष्ट करता है ॥१६॥

इस विस्तृत पूर्वपक्ष से उद्विग्न होकर शिष्यों ने जिज्ञासा की—यदि ऐसा है, तो किसी नियत शब्द से नियत अर्थ का बोध कैसे हो जाता है ? आचार्य सूत्रकार ने शब्द और अर्थ के अभिमत सम्बन्ध को बताया—

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः[1]॥२०॥ (३०१)

[सामयिकः] समय-संकेत-मूलक है [शब्दात्] शब्द से [अर्थप्रत्ययः] अर्थ का बोध।

आर्षपरम्परा में, इस तथ्य को स्वीकार कियाजाता है, कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, इस व्यवस्था का निर्देश सर्वप्रथम ईश्वरीय प्रेरणा से होता है। इसीका नाम 'समय' या संकेत है। आदि सर्ग में प्रथम ऋषियों को वेद का शब्दार्थ ईश्वरीय प्रेरणा से प्रतिभात होता है। मनु[2] ने इसका उल्लेख किया है। अतः—यह शब्द इस अर्थ का बोधक है—यह सर्वप्रथम संकेत ईश्वरीय है। वैशेषिक परम्परा में इसे स्वीकार किया गया है। अनन्तर काल में मानव द्वारा ऐसे अनेकानेक अभिनव संकेतों का अभिव्यञ्जन हुआ है, जिसके अनुसार शब्दार्थ-व्यवहार लोक में चालू रहता है। मानव द्वारा निर्धारित संकेतों के लिये प्रत्येक प्रकार का मानव अभिलषित है, स्वीकृत है। यह आवश्यक नहीं, कि ऐसे शब्दार्थ संकेत का निर्धारण करने वाला मानव शब्दशास्त्र अथवा अन्य शास्त्रीय ज्ञान में पारंगत हो। ध्वनि-संकेत अनन्त हैं, उनसे प्रतिनियत बोध्य अर्थ विभिन्न समाज, राष्ट्र, वर्ग आदि में बराबर व्यवहृत हुआ करते हैं। इनका अविच्छिन्न तारतम्य संभव नहीं। कहीं परम्परा में न्यूनाधिक साम्य उपलब्ध होता है, अन्यत्र उसका अभाव और कहीं सर्वथा वैपरीत्य। उसकी परम्परा में कहीं कोई

---

१. 'शब्दार्थप्रत्ययः' अ० प्रा०।

२. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्-संस्थाश्च निर्ममे॥ (१।२१)

साम्य उपलब्ध नहीं होता। कदाचित् घुणाक्षरन्याय से कहीं कोई ध्वनि मिलजाय यह अलग बात है।

इस आधार पर आभिधानिकों ने मानव-उच्चार्य ध्वनि को दो भागों में बांटा—आर्य और म्लेच्छ। आर्य परम्परा में ध्वनि की आनुवंशिकता को आधुनिक ध्वनि से वैदिक तक प्रायः अविच्छिन्न धारा में समझा जासकता है। इसमें ईश्वर संकेत और मानव संकेत दोनों मिश्रित हैं। यहां ध्वनि की अधिक विकृत स्थिति को 'म्लेच्छ' नाम देदिया गया है। आर्य-परम्परा की ध्वनियों में अर्थबोध के लिये व्याकरण,[1] उपमान, कोष आदि अनेक साधनों का निर्देश कियागया है। इस परम्परा से सर्वथा विभिन्न वे ध्वनियां हैं, जिनको उच्चारण करने वाला मानव-वर्ग अपने पूर्व समुदाय से—किन्हीं अनिवार्य आघातों के कारण छिटक कर—अचानक दूर जापड़ा। पहले संस्कारों को पूर्णरूप से भुला बैठा, नये वातावरण, नई परिस्थितियों एवं नये साधनों की उपस्थिति में उन्हींके अनुसार ध्वनियों का उच्चारण कर अपना व्यवहार चलाने लगा। ये ध्वनियां विशुद्ध म्लेच्छ वर्ग में आती हैं। आर्य परम्परा से मूलतः इनका सम्बन्ध अज्ञातकाल से टूट चुका है।

फलतः शब्द और अर्थ का परस्पर संबन्ध प्राप्तिरूप न होकर केवल ईश्वर-संकेत व मानवसंकेत पर आधारित है। अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोधक है, ऐसी व्यवस्था का निर्देश ही समय व संकेत है। इस व्यवस्था के अनुसार शब्द 'वाचक' व 'अभिधान' कहाजाता है, तथा अर्थ वाच्य व अभिधेय। इसप्रकार शब्द-अर्थ का सम्बन्ध 'वाच्य-वाचक' अथवा 'अभिधानाभिधेय' रूप में मानाजाता है ॥२०॥

प्रसंगागत शब्दार्थ-सम्बन्ध का निरूपण कर सूत्रकार ने क्रमप्राप्त परत्व-अपरत्व गुणों के विषय में बताया—

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

२. ध्वनियों के लिये 'म्लेच्छ' पद किसी निन्दा की भावना से न होकर केवल 'अव्यक्त शब्द' होने की भावना से है। उनकी 'अव्यक्तता' भी आर्य ध्वनियों की प्रतियोगिता में मान्य है। अपने रूप में वे सब ध्वनि व्यक्त एवं नियत अर्थ की स्पष्ट बोधक हैं।

¹एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ॥२१॥ (३०२)

[एकदिक्काभ्याम्] एक दिशा की ओर अवस्थित दो मूर्त्त द्रव्यों के [एककालाभ्याम्] एक काल की ओर निर्दिष्ट दो मूर्त्त द्रव्यों के [सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्याम्] समीप और दूर होने से (एक दूसरे की अपेक्षा, वहां) [परम्] परत्व गुण [अपरम्] अपरत्व गुण [च] और (उत्पन्न होते अथवा व्यवहृत होते हैं)।

पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण अथवा अन्य किसी दिशा में एक ओर को एक-दूसरे की अपेक्षा समीप अथवा दूर दो मूर्त्त द्रव्य जब अवस्थित रहते हैं, उन मूर्त्त द्रव्यों में जो द्रष्टा के प्रदेश से सन्निकृष्ट—समीप द्रव्य है, उसमें अपरत्व, तथा जो विप्रकृष्ट—दूर है, उसमें परत्व का व्यवहार होता है। यहां वे मूर्त्तद्रव्य परत्व, अपरत्व के समवायिकारण हैं। मूर्त्तद्रव्य और दिशा का संयोग असमवा-यिकारण तथा अन्य अपेक्षित कारण निमित्तकारण रहते हैं। यह दैशिक परत्व-अपरत्व कहाजाता है।

ऐसे व्यवहार व ज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं, कि वे मूर्त्त द्रव्य एक ही दिशा में हों; भिन्न दिशा में होने पर भी द्रष्टा व व्यवहर्त्ता की प्रदेश स्थिति से आपेक्षिक परत्व-अपरत्व का बोध व व्यवहार होता है। जैसे मैं गाजियाबाद में बैठा हूं। दिल्ली यहां से पच्छिम और मुरादाबाद पूर्व में है। सन्निकर्ष और विप्रकर्ष की अपेक्षा कर मुझे यह बोध होता है—दिल्ली यहां से 'अपर' तथा मुरादाबाद 'पर' है। तात्पर्य—यहां से दिल्ली समीप (सन्निकृष्ट) और मुरादाबाद दूर (विप्रकृष्ट) है।

यह भी आवश्यक नहीं, कि व्यवहर्त्ता के प्रदेश से ऐसा बोध हो; प्रत्युत व्यवहर्त्ता को किसी भी निर्दिष्ट प्रतीक से समान या भिन्न दिशाओं में ऐसा बोध होता है। मैं गाजियाबाद में बैठा हूं। परत्व-अपरत्व बोध के लिये मैंने मुरादाबाद को प्रतीक निर्दिष्ट किया। समान दिशा में बोध होता है, मुरादाबाद से बरेली 'अपर' और वाराणसी 'पर' है। तात्पर्य—मुरादाबाद से बरेली समीप (सन्निकृष्ट) और वाराणसी दूर (विप्रकृष्ट) है। भिन्न दिशा में बोध होता है, मुरादाबाद से पच्छिम की ओर सहारनपुर समीप है, पूर्व की ओर वाराणसी की अपेक्षा। तात्पर्य हुआ—मुरादाबाद से सहारनपुर 'अपर' और वाराणसी 'पर' है। अर्थात् सहारनपुर समीप (सन्निकृष्ट) तथा वाराणसी दूर (विप्रकृष्ट है)।

इसीप्रकार जो परत्व-अपरत्व काल के कारण व्यवहृत होता है, वह 'कालिक

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में 'एकदिक्कालाभ्यां' पाठ है। तथा अन्त में 'च' पद नहीं है। अ० प्रा० में सूत्रगत 'एककालाभ्यां' पद नहीं है।

परत्व-अपरत्व' कहा जाता है। देवदत्त यज्ञदत्त से बड़ा है आयुमान में। फलतः देवदत्त में 'परत्व' और यज्ञदत्त पिण्ड में 'अपरत्व' का बोध होगा। देवदत्त पिण्ड के साथ सूर्यसंपर्क अधिक रहा है, यज्ञदत्त के साथ न्यून। देवदत्त ने अधिक वसन्त देखे हैं, यज्ञदत्त ने कम। यहां देवदत्त-यज्ञदत्त पिण्ड परत्व-अपरत्व के समवायिकारण तथा काल-पिण्डसंयोग असमवायिकारण है। शेष निमित्तकारण कहेजाते हैं। यह व्यवहार प्रत्येक उत्पन्न होने वाले द्रव्यों में समानरूप से हुआ करता है ॥२१॥

कालिक परत्व-अपरत्व के विषय में सूत्रकार ने कुछ विशेष बताया--

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥२२॥ (३०३)

[कारणपरत्वात्] कारण के पर-अधिक-होने से [कारणापरत्वात्] कारण के अपर-अल्प-होने से [च] तथा।

सूत्र में 'पर' पद भूयस्त्व का और 'अपर' पद अल्पीयस्त्व का बोधक है। कालिक परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण–पिण्डादि मूर्त्त द्रव्य के साथ काल का संयोग–है। काल का व्यवस्थापन सूर्यादि ग्रहों की प्रकल्पित गति द्वारा कियाजाता है। अतः सूर्यको काल का प्रतीक मानलियागया है। फलतः जब कालिक परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण पिण्ड-कालसंयोग कहाजाता है। उसका तात्पर्य पिण्ड-सूर्यसंयोग समझना चाहिये। प्रत्येक पिण्ड के साथ सूर्य का संयोग सूर्यकिरणों द्वारा होता है। इसलिये सूत्र के 'कारणपरत्व' पद का अर्थ हुआ–पिण्ड के साथ सूर्यकिरण-संयोग का भूयस्त्व। जिस पिण्ड के साथ कालिक अपेक्षाबुद्धि के आधार पर सूर्य-किरणों का अधिक संयोग हुआ है, वह पिण्ड 'पर' है; अर्थात् वहां कालिक परत्व का बोध होता है; उस पिण्ड की अपेक्षा जिसके साथ सूर्यकिरण-संयोग अल्प हुआ है, वहां कालिक अपरत्व का बोध होता है। यह परत्व-अपरत्व एकदेश–अवस्थित पिण्डों में भी संभव है, जबकि दैशिक परत्व-अपरत्व में ऐसा नहीं। यह कालिक व दैशिक परत्व-अपरत्व का परस्पर भेद है ॥२२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, जैसे द्रव्य में परत्व-अपरत्व रहते हैं, क्या ऐसे परत्व-अपरत्व में भी ये रहते हैं? सूत्रकार ने स्मरण कराया—

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः॥२३॥ (३०४)

[परत्वापरत्वयोः] परत्व और अपरत्व में [परत्वापरत्वाभावः] परत्व और अपरत्व का अभाव [अणुत्वमहत्त्वाभ्याम्] अणुत्व-महत्त्व (के व्याख्यान) से [व्याख्यातः] व्याख्यात समझना चाहिये

परत्व में परत्व का और अपरत्व में अपरत्व का अभाव रहता है, यह तथ्य अणुत्व-महत्त्व में अणुत्व-महत्व के अभाव से समझ लेना चाहिये। यह व्याख्यान प्रथम [७।१।१६] कियाजाचुका है ॥२३॥

सूत्रकार ने इसी विषय में अन्य उदाहरण प्रस्तुत किये—

कर्मभिः कर्माणि ॥२४॥ (३०५)

गुणैर्गुणाः ॥२५॥ (३०६)

[कर्मभिः] कर्मों के साथ [कर्माणि] कर्म (संबद्ध नहीं)। [गुणैः] गुणों के साथ [गुणाः] गुण (संबद्ध नहीं, यह व्याख्यान कर दिया गया है)।

गत सूत्र से यहां 'व्याख्यातः' पद का लिङ्ग-वचन विपर्यास के साथ अनुवर्त्तन समझना चाहिये। 'कर्मभिः कर्माणि व्याख्यातानि। गुणैर्गुणा व्याख्याताः।' कर्म कर्माश्रित नहीं रहते, तथा गुण गुणाश्रित नहीं रहते; यह व्याख्यान प्रथम [१।१।१६; १७; २४, तथा ७।१।१५] कर दियागया है॥ २४, २५॥

गुण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, यह अनेक वार कहागया है, यह 'समवाय' क्या बला है? शिष्यों की इस समवाय-विषयक जिज्ञासा के समाधान के लिये सूत्रकार ने—क्रमप्राप्त 'ज्ञान' गुण की परीक्षा का उल्लंघन कर—बताया—

इहेदमिति[1] यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥ (३०७)

[इह] इस (आधार) में [इदम्] यह (आधेय है) [इति] इसप्रकार (का प्रत्यय—ज्ञान—व्यवहार) [यतः] जिस (सम्बन्ध) से, [कार्यकारणयोः] कार्य और कारण में (परस्पर होता है), [सः] वह [समवायः] समवाय (नामक सम्बन्ध) है।

जिन पदार्थों में परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, वहां यह बोध व व्यवहार बराबर हुआ करता है, कि इस कारण (-अधिकरण) में कार्य आश्रित (आधेय) है। जैसे—कपड़ा धागों में आश्रित रहता है। प्रत्येक अवयवी के कारण होते हैं वे अवयव, जिनके संयुक्त होने पर अवयवी उत्पन्न होता या बनता है। अवयव कारण हैं, अवयवी कार्य है। कार्य, कारण में जिस सम्बन्ध से रहता है, वह 'समवाय' कहा जाता है।

ऐसे केवल पांच जोड़े हैं, जिनका परस्पर समवाय सम्बन्ध रहता है। द्रव्य-गुण, द्रव्य-कर्म, अवयव-अवयवी, ये तीन जोड़े हैं। सूत्र के 'कार्यकारणयोः' पद से प्रायः इन तीनों का ग्रहण होजाता है। प्रायः इसलिये कहागया, कतिपय द्रव्याश्रित गुण नित्य होते हैं, उनका द्रव्य के साथ कार्यकारणभाव नहीं होता, केवल

१. 'इदम्' पद नहीं है, चन्द्रा०।

आश्रयाश्रितभाव अथवा आधाराधेयभाव रहता है। अन्य दो जोड़े हैं—व्यक्ति-जाति, अन्त्यनित्यद्रव्य-विशेष। व्यक्ति में जाति आश्रित है, तथा अन्त्य नित्य-द्रव्य (परमाणु) में विशेष। यहां भी कार्यकारणभाव नहीं है। परन्तु इनका सम्बन्ध समवाय है। इसलिये सूत्र का 'कार्यकारणयोः' पद 'अकार्यकारणयोः' का भी उपलक्षण मानागया है। कतिपय ऐसे युगल (जोड़े) में भी समवाय सम्बन्ध होता है, जिनका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं। इसीकारण यह व्यवस्था कीगई है, कि समवाय-अयुतसिद्धों[1] का होता है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह कथन इसलिये किया गया, कि परत्व-अपरत्व का परत्व-अपरत्व के साथ न कार्यकारणभाव है, न ये अयुतसिद्ध हैं। इसलिये परत्व-अपरत्व में परत्व-अपरत्व के आश्रित रहने का प्रश्न नहीं उठता। लोक में जो इसप्रकार का व्यवहार होता है—वह कम दूरी है, वह अधिक दूरी है—इत्यादि यहां 'दूरी' परत्व गुण है, उसमें भूयस्त्व (अधिक), अल्पीयस्त्व (कम) का व्यवहार भी परत्व-अपरत्व रूप है। परत्व-अपरत्व में यह परत्व-अपरत्व व्यवहार भाक्त समझना चाहिये। दूर—समीपस्थित प्रदेशवर्त्ती परत्व-अपरत्व का उपचार दूरी व सामीप्यरूप परत्व-अपरत्व में कर लिये जाने से ऐसा व्यवहार होता रहता है ॥२६॥

'समवाय' नामक पदार्थ द्रव्य, गुण आदि से भिन्न है, सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा बताया—

[2]द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥२७॥ (३०८)

[द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः] द्रव्य होने, गुण होने का प्रतिषेध [भावेन] भाव-सत्ता जाति (के व्याख्यान) द्वारा [व्याख्यातः] व्याख्यात समझना चाहिये।

समवाय पदार्थ न द्रव्य है, न गुण है। यह कर्म का भी उपलक्षण है। न कर्म है। यह तथ्य सत्ता जाति के व्याख्यान से समझ लेना चाहिये। इसके लिये [१।२।८-१०] सूत्रों की व्याख्या द्रष्टव्य है ॥२७॥

जैसे सत्ता जाति एकमात्र है, ऐसे समवाय सर्वत्र एकमात्र है। सूत्रकार ने बताया—

[3]तत्त्वं भावेन ॥२८॥ (३०९)

[तत्त्वम्] वह (एक) होना [भावेन] भाव—सत्ता जाति (के व्याख्यान)

---

१. इसका विवरण [७।२।१३] सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है।
२. 'द्रव्यगुणकर्मत्वप्रति०' अ० प्रा०। 'द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वप्रति०' चन्द्रा०।
३. 'तत्त्वं चेति' चन्द्रा०।

द्वारा (समझना चाहिये) ।

[१।२।१७] सूत्र में सत्ता जाति के एकमात्र होने को सिद्ध किया है। उसी-के समान 'समवाय' नामक पदार्थ को एकमात्र समझना चाहिये। गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् जाति-व्यक्ति आदि समस्त जोड़ों में समवाय केवल एक रहता है ॥२८॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चायं सप्तमोऽध्यायः ।

अथाऽष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम्

द्वितीय अध्याय में द्रव्यादि पदार्थों की परीक्षा के अनन्तर तृतीयाध्याय के प्रारम्भ में आत्मा की परीक्षा के लिये उसके विशेष गुण ज्ञान का कथन किया है। इस समय क्रमप्राप्त बुद्धि की परीक्षा के प्रसंग से उसीका अतिदेश करते हुए सूत्रकार ने कहा—

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥ (३१०)

[द्रव्येषु] द्रव्यों में [ज्ञानम्] ज्ञान [व्याख्यातम्] कह दिया गया है।

सूत्र में 'द्रव्य' पद उस प्रसंग का संकेत करता है, जिसमें द्रव्यों की परीक्षा कीगई है। यह प्रसंग द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अध्यायों में है। इस शास्त्र में ज्ञान, बुद्धि, उपलब्धि, प्रत्यय आदि पद पर्यायवाचक माने जाते हैं। ये सब पद उस एकमात्र अर्थ को कहते हैं, जो इन्द्रिय और अर्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ मानाजाता है। यह अर्थ-ज्ञान गुण है। उक्त प्रसंगों में इसका दो प्रकार में कथन हुआ है। एक-आत्मा की सिद्धि के लिये उसके विशेषगुण के रूप में [३।१२,१८] दूसरे-पृथिव्यादि द्रव्यों का बाह्येन्द्रिय से ज्ञान किस स्थिति में हो पाता है, [४।१।६] इस रूप में। प्रस्तुत प्रसंग में ज्ञान की परीक्षा करने की भावना से सूत्रकार ने उसीका अतिदेश यहां किया है, कि द्रव्यों के प्रकरण में प्रसंगवश 'ज्ञान' का कथन कियागया है। तात्पर्य है, आत्मा द्रव्य की सिद्धि में ज्ञान विशेषगुण लिङ्ग है, इसी आधार पर उक्त प्रकरण में ज्ञान का कथन हुआ है ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, 'अहमस्मि' इत्यादि प्रतीति में आत्मा प्रत्यक्ष है, उसकी सिद्धि के लिये 'ज्ञान' लिङ्ग का कथन अनावश्यक है। सूत्रकार ने विशेष-व्याख्या की भावना से समाधान किया—

तत्रात्मा[1] मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥ (३११)

[तत्र] वहां [आत्मा] आत्मा [मनः] मन [च] तथा [अप्रत्यक्षे] प्रत्यक्ष नहीं होते।

उक्त प्रसंग में ज्ञान विशेषगुण आत्मा का लिङ्ग उस स्थिति के लिये बताया गया है, जहां आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी दो अवस्था हैं—अपने शरीर

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०। 'मन आत्मा च' चन्द्रा०।

में उस समय जब देहादि को आत्मा समझ लिया जाता है, तब ज्ञान गुण से देहाद्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है। दूसरी अवस्था—परशरीर में आत्मा की सिद्धि का कियाजाना है। 'अहं अस्मि—मैं हूं' इत्यादि ज्ञान जब स्थूल, कृश, लम्बा, ठिगना आदि भावनाओं के साथ होता है, तब उसमें आत्मा नहीं भासता, देह का प्रत्यय होता है। वहां आत्मा अप्रत्यक्ष है। इसीप्रकार परशरीर में आत्मा अप्रत्यक्ष रहता है। सूत्र का 'तत्र' पद इन्हीं अवस्थाओं का निर्देश करता है। वहां आत्मा की सिद्धि के लिये ज्ञान विशेषगुण लिङ्ग है [३।१।२;४)। इसीप्रकार अप्रत्यक्ष मन की सिद्धि के लिये–ज्ञान का युगपत् न होना–लिङ्ग बताया गया है [३।२।१] ॥२॥

ज्ञान का कारण क्या है? अथवा ज्ञान कैसे उत्पन्न होजाता है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये सूत्रकार ने अतिदेश द्वारा कहा—

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः[1] ॥३॥ (३१२)

[ज्ञाननिर्देशे] ज्ञाननिर्देश के अवसर पर [ज्ञाननिष्पत्तिविधिः] ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार [उक्तः] बतादिया गया है।

जहां ज्ञान का निर्देश कियागया है [३।१।१८], वहां ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार कह दिया है। वहां बताया है—"आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो उत्पन्न होता है वह, अनुमिति आदि ज्ञान से भिन्न प्रत्यक्ष ज्ञान है। सूत्र में इन्द्रिय पद से बाह्य-आन्तर उभय इन्द्रियों का ग्रहण होजाता है। बाह्य इन्द्रिय चक्षु आदि पांच तथा आन्तर इन्द्रिय एक मन है। बाह्य इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है, मन का बाह्य इन्द्रिय के साथ और आत्मा का मन के साथ सन्निकर्ष होकर आत्मा को उस अर्थ का–विषय का–ज्ञान हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का यह प्रकार वहां बताया है। विस्तार के लिये उस सूत्र की व्याख्या देखें ॥३॥

सूत्रकार उसी प्रकार को विस्तार के साथ उपपादित करता है—

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु[2] ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥ (३१३)

१. 'ज्ञाननिष्पत्तिरुक्ता' अ० प्रा०। चन्द्रा०। इसके आगे 'आत्ममनसी कारणे व्याख्याते' अतिरिक्त सूत्र है। अ० प्रा०।

२. "गुणकर्मस्वसन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणं कारणकारणं च" चन्द्रा०।

[गुणकर्मसु] गुणों और कर्मों में [सन्निकृष्टेसु] सन्निकृष्ट-संबद्ध हुए हुओं में [ज्ञाननिष्पत्तेः] ज्ञान उत्पन्न होने से [द्रव्यम्] द्रव्य [कारणम्] कारण है (गुण-कर्मों का ज्ञान होने में)।

चक्षु आदि इन्द्रियां द्रव्य हैं। इनका ग्राह्य गुण-कर्मों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता। गुण और कर्मों का सीधा सम्बन्ध—समवाय उन्हीं द्रव्यों के साथ है, जहां वे रहते हैं। इसलिये इन्द्रिय का ग्राह्य गुणादि के साथ सीधा सन्निकर्ष संभव नहीं। जब घड़ा-घोड़ा आदि द्रव्य ग्राह्य होता है; तब चक्षु इंद्रिय द्रव्य का उसके साथ सीधा संबन्ध 'संयोग' होता है। जब कहाजाता है, लाल घड़ा हिल रहा है, अथवा श्वेत घोड़ा दौड़ रहा है, उस समय घड़े के रक्त रूप व कम्पन क्रिया तथा घोड़े के श्वेत रूप व गतिक्रिया के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष घड़ा व घोड़ा द्रव्य के द्वारा होता है। घड़ा व घोड़ा के साथ इन्द्रिय का सीधा सन्निकर्ष संयोग है, उन द्रव्यों में 'रूप' गुण व 'गति' क्रिया का समवाय सन्निकर्ष है। गुण व कर्म अपने आश्रय द्रव्य में 'समवाय' सम्बन्ध से रहते हैं। इसप्रकार इन्द्रिय का गुण कर्म के साथ सन्निकर्ष—'संयुक्तसमवाय' हुआ। फलतः गुण-कर्मविषयक ज्ञान में इन्द्रियअर्थ के सन्निकर्ष के लिये द्रव्य कारण रहता है। इन्द्रिय का गुण-कर्म से सन्निकर्ष द्रव्य-सन्निकर्ष द्वारा होजाता है। अधिक विस्तार सूत्र [३।१।१८] की व्याख्या में देखें ॥४॥

'सामान्य' विषयक प्रत्यक्ष के लिये द्रव्यघटित सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, सूत्रकार ने बताया—

[1]सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥५॥ (३१४)

[सामान्यविशेषेषु] सामान्य विशेषों में [सामान्यविशेषाभावात्] सामान्य-विशेष के अभाव से [ततः] उससे (द्रव्यघटित सन्निकर्ष से, अथवा सामान्य-विशेषस्वरूप से) [एव] ही [ज्ञानम्] ज्ञान होजाता है (सामान्यविशेषविषयक)।

प्रत्येक विशिष्टज्ञान में विशेष्य, विशेषण और उनके सम्बन्ध का ग्रहण होता है। 'अयं घटः' इस ज्ञान में 'घट' विशेष्य उसमें विशेषण 'घटत्व' और उनके सम्बन्ध समवाय का ग्रहण होता है। जिज्ञासा है, घट का ग्रहण चक्षुःसंयोगसन्निकर्ष से होगा, पर 'घटत्व' के ग्रहण के लिये सन्निकर्ष संयुक्तसमवाय रहेगा; चक्षुःसंयुक्त घट में घटत्व का समवाय है। क्या घटत्व के ज्ञान में भी विशेषण का ज्ञान अपेक्षित है? सूत्रकार ने बताया—ऐसा नहीं है। सामान्य-विशेष में सामान्य-

१. अ० प्रा० में यह सूत्र नहीं है।

विशेष का अभाव रहता है। सूत्र में 'सामान्यविशेष' पद सामान्य और विशेष तथा सामान्यविशेष धर्मों का बोधक है। 'सामान्य' पद से सत्ता जाति का ग्रहण होता है। सत्ता में अन्य सत्ता जाति नहीं रहती। 'विशेष' पद परमाणुवृत्ति अन्य-व्यावर्त्तक धर्म का निर्देश करता है। उस विशेष में अन्य विशेष नामक कोई पदार्थ नहीं रहता।

सत्ता जाति की अवान्तर जाति द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व हैं, ये 'सामान्य-विशेष' कहेजाते हैं। द्रव्यत्व की अवान्तरजाति पृथिवीत्व जलत्व आदि हैं। द्रव्य-त्व सामान्य की अपेक्षा पृथिवीत्व आदि सामान्यविशेष हैं। पृथिवीत्व सामान्य की अपेक्षा घटत्व, पटत्व आदि सामान्यविशेष हैं। इसीप्रकार गुणत्व की अवान्तर-जाति रूपत्व, रसत्व आदि हैं; ये गुणत्व सामान्य की अपेक्षा सामान्यविशेष कहे-जाते हैं। ऐसे ही कर्मत्व की अवान्तर जाति उत्क्षेपणत्व आदि कर्मत्व सामान्य की अपेक्षा सामान्यविशेष हैं। सामान्यविशेष धर्म में अन्य सामान्यविशेष धर्म का अभाव रहता है। इसलिये सामान्य एवं विशेष तथा सामान्यविशेष का ज्ञान विशेषणयुक्त नहीं होता। वह केवल स्वरूप से गृहीत होता है।

विशिष्टज्ञान में 'समवाय' सम्बन्ध का ग्रहण किस सन्निकर्ष से होता है? इसका निरूपण नवम अध्याय के प्रथम आह्निक में कियागया है ॥५॥

द्रव्य-गुण-कर्मविषयक विशिष्टज्ञान के सम्बन्ध में सूत्रकार ने बताया—

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥ (३१५)

[सामान्यविशेषापेक्षम्] सामान्यविशेष की अपेक्षा करता है [द्रव्यगुण-कर्मसु] द्रव्य-गुण-कर्मविषयक ज्ञान।

प्रत्येक बाह्येन्द्रियग्राह्य द्रव्य-गुण-कर्मविषयक विशिष्टज्ञान में सामान्यवि-शेषधर्म का ज्ञान आवश्यकरूप से अपेक्षित रहता है। जैसे—'दण्डी पुरुषः' प्रतीति में दण्डयुक्त पुरुष का ज्ञान दण्डविशेषण ज्ञान के विना सम्भव नहीं; ऐसे ही—'यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, इत्यादि ज्ञान द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व के ज्ञान के विना संभव नहीं। ये सामान्यविशेष धर्म उक्त ज्ञान में विशेषरूप से भासित होते हैं। विशेषणज्ञान के विना क्योंकि विशिष्टज्ञान संभव नहीं; अतः द्रव्य-गुण-कर्म विषयक विशिष्ट ज्ञान में विशेषणरूप सामान्यविशेष धर्म का ज्ञान अपेक्षित रहता है ॥६॥

द्रव्यविषयक ज्ञान के सम्बन्ध में सूत्रकार ने बताया—

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥ (३१६)

[द्रव्ये] द्रव्यविषयक (सविकल्पक) ज्ञान [द्रव्यगुणकर्मापेक्षम्] द्रव्य, गुण, कर्म की अपेक्षा—सहयोग से उत्पन्न होता है।

जब कहाजाता है--यह पुरुष दण्डवाला है, इस गाय के गले में घण्टा लटका है। इन स्थलों में ऐसे पुरुष अथवा ऐसी गाय के ज्ञान के लिये आवश्यक है, उनके विशेषण दण्ड अथवा घण्टा द्रव्य का ज्ञान होवे। तात्पर्य है, किसी द्रव्य के सविकल्प अथवा विशिष्टज्ञान में उस द्रव्य के विशेषण--द्रव्य का ज्ञान प्रथम होना चाहिये। गुण की अपेक्षा का उदाहरण है--यह गाय सफेद है। ऐसी गाय के ज्ञान में उसके विशेषण शुक्लरूप का ज्ञान अपेक्षित है। कर्म की अपेक्षा का उदाहरण--घोड़ा दौड़रहा है। दौड़ते हुए अश्व के ज्ञान के लिए दौड़ना क्रिया का प्रथम ज्ञान होना अपेक्षित है। इसप्रकार द्रव्य के विशिष्ट ज्ञान में विशेषणभूत द्रव्य, गुण, कर्म के ज्ञान की अपेक्षा रहती है ॥७॥

गुण-कर्मविषयक ज्ञान के विषय में सूत्रकार ने बताया--

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं
न विद्यते ॥८॥ (३१७)

[गुणकर्मसु] गुण और कर्मों में [गुणकर्माभावात्] गुण और कर्मों के न रहने से (गुण-कर्मविषयक ज्ञान) [गुणकर्मापेक्षम्] गुण-कर्म की अपेक्षा करके [न] नहीं [विद्यते] होता।

गुण में गुण तथा कर्म में कर्म, एवं कर्म में गुण तथा कर्म कभी नहीं रहते। इसलिये गुणविषयक ज्ञान में गुण एवं कर्म; तथा कर्मविषयक ज्ञान में गुण एवं कर्म विशेषणरूप से कभी नहीं भासते। फलतः गुणविषयक ज्ञान एवं कर्मविषयक ज्ञान में गुण-कर्म, अपेक्षित नहीं होते। यह संभव नहीं, कि गुण-कर्म, गुण-कर्म के विशेषण बनें ॥८॥

गुण और कर्मों में गुण और कर्मों के न होने पर भी यह एक नियत व्यवस्था है, कि प्रत्येक विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण होता है। इसी तथ्य को सूत्रकार ने बताया--

समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते
एते[1] कार्यकारणभूते ॥९॥ (३१८)

[समवायिनः] समवाय सम्बन्ध से रहने वाले (किसी द्रव्य में) [श्वैत्यात्] श्वेत गुण से [श्वैत्यबुद्धेः] श्वेतगुण (विषयक विशेषण) ज्ञान से [च] तथा [श्वेते] श्वेतगुणयुक्त द्रव्य में [बुद्धिः] विशिष्टबुद्धि-विशिष्टज्ञान होता है। [ते] वे [एते] ये दोनों परस्पर [कार्यकारणभूते] कार्य-कारणभाव युक्त होते हैं।

---

१. 'एते' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

'श्वेतः पटः, श्वेतः शंखः' श्वेत वस्त्र अथवा श्वेत शंख है, यह ज्ञान विशिष्ट-ज्ञान है, यहां पट आदि द्रव्य विशेष्य और श्वेत गुण विशेषण है। इस विशिष्ट-ज्ञान के लिये आवश्यक है, कि पट आदि द्रव्य में श्वेतगुण का समवाय हो, तथा श्वेतगुण–विशेषण का पहले से ज्ञान हो। इसके अनन्तर विशिष्टज्ञान होसकता है। इसप्रकार विशिष्टबुद्धि कार्य और विशेषणज्ञान उसका कारण होता है। फलतः विशिष्टज्ञान और विशेषणज्ञान का परस्पर कार्यकारणभाव निश्चित है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, विशेषणज्ञान के अनन्तर होने से यदि विशिष्टज्ञान उसका कार्य है, तो घटज्ञान के अनन्तर पटज्ञान होने पर पटज्ञान घटज्ञान का कार्य मानना चाहिये ? सूत्रकार ने समझाया—

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः[1] ॥१०॥ (३१६)

[द्रव्येषु] द्रव्यों में (क्रमिक ज्ञान होने पर, उन ज्ञानों का) [अनितरेतर-कारणाः] परस्पर कार्यकारणभाव नहीं होता।

आनन्तर्य से होनेवाले घटज्ञान, पटज्ञान में विशेष्य–विशेषणभाव नहीं है। तात्पर्य है, केवल आनन्तर्य से किन्हीं ज्ञानों का परस्पर विशेष्य–विशेषणभाव अथवा कार्यकारणभाव नहीं होजाता। 'घटज्ञान' अपने में तथा 'पटज्ञान' अपने में पूर्ण विशिष्टज्ञान हैं, वहां घट-घटत्व आदि का विशेष्य-विशेषणभाव व कार्यकार-णभाव है। परन्तु घट-पट आदि विभिन्न द्रव्यों का ज्ञान एक-दूसरे का न कार्य होता न कारण। 'श्वेतः पटः' आदि ज्ञान में श्वेत गुण से युक्त पट का भान होता है, श्वेत गुण पट की विशेषता को बताने से पट द्रव्य का विशेषण है। द्रव्य अपने में स्वतन्त्र हैं; गुण द्रव्याधीन होने से उसका विशेषण रहता हुआ द्रव्य के विशि-ष्टज्ञान में उपयोगी होता है ॥१०॥

इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

कारणायौगपद्यात्[2] कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां
क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥ [३२०]

[कारणायौगपद्यात्] कारणों के युगपत्–एक साथ न होने से [कारणक्रमात्] कारणों के क्रमपूर्वक होने से [च] तथा [घटपटादिबुद्धीनाम्] घटज्ञान, पटज्ञान आदि का [क्रमः] क्रम-आनन्तर्य (होता है) [न] नहीं [हेतुफलभावात्] कारण-कार्य-

१. 'द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः प्रत्ययाः' अ० प्रा०। '०कारणात् कारणायौग-पद्यात्' चन्द्रा०।

२. यह पद पहले सूत्र के साथ जोड़ दिया है, शेष सूत्र नहीं है; और आगे "तथा द्रव्यगुणकर्मसु कारणविशेषात्" यह अतिरिक्त सूत्र दिया है, चन्द्रा०।

भाव से ।

घटज्ञान, पटज्ञान आदि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होता है । विभिन्न द्रव्यों के साथ इन्द्रिय का युगपत् सन्निकर्ष नहीं होता, क्रम से हुआ करता है । जिस द्रव्य के साथ पहले सन्निकर्ष हुआ, उसका ज्ञान पहले होजायगा, अन्य का पीछे होगा । यह आवश्यक नहीं, कि घट का ज्ञान पहले हो, अथवा पट का । इसलिये द्रव्यों के ज्ञान में जो क्रम-आनन्तर्य देखा जाता है, वह इनके परस्पर कार्य-कारण-भाव से नहीं, प्रत्युत घटादि द्रव्यज्ञान के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि हेतुओं के आनन्तर्य के कारण होता है । यह स्थिति गुणयुक्त द्रव्य के–'श्वेतः पटः' इत्यादि ज्ञान में नहीं रहती । इसलिये पट-द्रव्य ज्ञान में श्वेतगुण-विशेषणज्ञान का प्रथम होना आवश्यक है; क्योंकि विशेषणज्ञान विशिष्टज्ञान में कारण होता है । यदि कहीं एक द्रव्य अन्य द्रव्य को विशेषित करता है, तो वहां उन द्रव्यों का विशेष्य-विशेषणभाव संभव है ॥११॥

इति वैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
अष्टमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

अथाऽष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

गत आह्निक में निश्चय किया गया—विशिष्टज्ञान में विशेषणज्ञान कारण होता है । उसी प्रसंग को चालू रखते हुए सूत्रकार ने बताया, कतिपय स्थलों में होनेवाले ज्ञान के प्रति पूर्व-ज्ञान विशेषण रहता है । इस विषय के कतिपय स्थलों का निर्देश सूत्रकार ने किया—

अयमेष त्वया[1] कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥१॥ [३२१]

[अयम्] यह, [एषः] यह (कुछ दूर स्थित), [त्वया] तुमने, [कृतम्] किया, [भोजय] खिलाओ, [एनम्] इसको, [इति] ऐसा (प्रयोगजन्यज्ञान) [बुद्ध्यपेक्षम्] बुद्धि-ज्ञान की अपेक्षा से होता है ।

जब प्रयोग किया जाता है–'अयं पटः, एष घटः' यह वस्त्र है, और यह घड़ा है, ऐसे प्रयोग से जो ज्ञान उस समय होता है, उस ज्ञान में उस वस्तु का पहले हुआ ज्ञान विशेषण है । 'अयम्' ऐसा प्रयोग उसी पुरोवर्त्ती विषय में हो सकता है,

---

१. 'अयमेष कृतं त्वया' चन्द्रा० । 'अयं त्वया भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम्' अ० प्रा० ।

जिसको पहले से जाना हुआ है। इसी प्रकार कुछ अन्तर पर स्थित पुरोवर्त्ती विषय के लिए 'एषः' प्रयोग होता है। जब कोई कहता है—'यह वस्त्र और यह घट है' यहां निश्चित है, उसने वस्त्र और घट को पहले जाना हुआ होता है, तभी यह ज्ञान होसकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये ऐसे ज्ञान में उस विषय का पहला ज्ञान विशेषण है, और वह इस ज्ञान में कारण रहता है।

इसी प्रकार जब वक्ता किसीके प्रति 'त्वया' पद का प्रयोग कर रहा है, तो वक्ता को उसके कर्त्ता होने का ज्ञान है। 'त्वया' पद से कर्त्ता अवबोधित होता है, जो क्रिया करने में स्वतन्त्र है। 'त्वया' के आगे क्रिया कोई लगाइये–'भुक्तम्, पीतम्, पठितम्, लिखितम्, रुदितम्, हसितम्' आदि। क्रिया के प्रति उस व्यक्ति के कर्त्तृत्व का ज्ञान प्रयोक्ता को है, जो 'त्वया' पद का प्रयोग उस व्यक्ति के लिये कर रहा है। वह ज्ञान इस समय के प्रयोगकाल के ज्ञान में विशेषण है, और इस ज्ञान का कारण है। यदि प्रयोक्ता को उस व्यक्ति के कर्त्तृत्व का ज्ञान न होता, तो वह उसके लिए 'त्वया' पद का प्रयोग नहीं कर सकता था।

ऐसे ही 'कृतम्' का प्रयोग करणव्यापारविषयक ज्ञान की अपेक्षा से होता है। जब प्रयोक्ता किसीके लिये 'कृतम्' का प्रयोग कर रहा है, तब निश्चयपूर्वक उसे करणव्यापारविषयक ज्ञान है। अन्यथा वह 'कृतम्' का प्रयोग नहीं कर सकेगा। गत करणव्यापार का ज्ञान विशेषण है, और इसलिये यह उस ज्ञान में कारण है।

इसी प्रकार 'भोजय एनम्' पदों का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयोक्ता करता है, उससे पूर्व 'यह भुजिक्रिया का कर्त्ता, तथा यह प्रयोजक है' ऐसा ज्ञान प्रयोक्ता को होता है। इस कारण वह उक्त पदों का प्रयोग करता है; इसलिये वह ज्ञान 'भोजय एनम्' पदों से होनेवाले ज्ञान में विशेषण है, और इसीलिये यह विशेषणज्ञान उस ज्ञान में कारण है।

तात्पर्य है, जब प्रयोक्ता किसी पद या पद-समूह का उच्चारण–अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिये–करता है, उससे पूर्व प्रयोक्ता को उन पदों और पदों से संकेतित अर्थ का ज्ञान होता है। यदि उसे ऐसा ज्ञान न हो, तो किसी अभिमत अर्थ को अभिव्यक्त करने की भावना पैदा नहीं हो सकती। इसलिये पदों से होने वाले अर्थज्ञान में पूर्वावगत ज्ञान विशेषण होता हुआ उसका कारण बनता है ॥१॥

ऐसे ज्ञान की अपेक्षा क्यों होती है? सूत्रकार ने बताया—

दृष्टेषु भावाददृष्टेश्वभावात्[1] ॥२॥ [३२२]

[दृष्टेषु] देखे हुओं में [भावात्] होने से [अदृष्टेषु] न देखे हुओं में [अभावात्] न होने से।

पद और पदों से संकेतित अर्थों का पहले ज्ञान होने पर उनके प्रयोग से ज्ञान होता है। प्रयोक्ता और श्रोता दोनों के लिये यह समान है। यदि पदज्ञान और पदार्थज्ञान पहले न हो, तो न प्रयोक्ता को उससे अर्थज्ञान होगा, न श्रोता को। क्योंकि विशिष्टज्ञान विना विशेषणज्ञान के होना संभव नहीं; और विशेषण का ज्ञान हुआ नहीं है। इसलिये पद प्रयोग से जो ज्ञान होता है, वह पद पदार्थ के पूर्वज्ञान की अपेक्षा करता है। ऐसे ज्ञानों को इसी कारण बुद्धचपेक्ष बताया है ॥२॥

पद तो 'घट-पट' आदि हैं, शास्त्र में 'अर्थ' का तात्पर्य क्या है? सूत्रकार ने बताया—

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु[2] ॥३॥ (३२३]

[अर्थः] अर्थ [इति] यह [द्रव्यगुणकर्मसु] द्रव्य, गुण, कर्म में (परिभाषित है)।

प्रस्तुत शास्त्र में 'अर्थ' द्रव्य, गुण, कर्म हैं। ये वस्तुतत्त्व हैं, जिनका विभिन्न पदों द्वारा अभिलापन होता है। वैशेषिक शास्त्र में इन तीनों का 'अर्थ' यह नाम रख दिया गया है। 'अर्थ' पद कहने से इस शास्त्र में इन तीन का ग्रहण होता है। वस्तु-तत्त्व इन तीन में पूरा होजाता है।

समानशास्त्र गौतमीय न्यायशास्त्र में 'गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः' [१।१।१४] सूत्र द्वारा गन्ध आदि पांच गुणों को 'अर्थ' कहा है। यहां इस पद का तात्पर्य—विषय अर्थात् इन्द्रियग्राह्य—है। वैशेषिक में द्रव्यादि के समान यह केवल गुणों का नाम रख दिया गया हो, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यहां भी वाक्य-भेद करके सूत्रार्थ किया जाय, तो यह भी वैशेषिक के समान अभिप्राय का बोधक है। गन्ध आदि पृथिवी आदि के यथाक्रम गुण हैं; एक वाक्य पूरा कर, दूसरा वाक्य 'पृथिव्यादिगुणाः' पद की आवृत्ति करके किया जाय—'पृथिव्यादयो गुणाश्च तदर्थाः, तेषामिन्द्रियाणामर्था विषया इति।' पृथिवी आदि द्रव्य और गुण इन्द्रियों के अर्थ हैं। 'गुण' पद कर्मों का उपलक्षण संभव है। इसप्रकार न्याय-

१. अ० प्रा० में इस सूत्र पर अष्टमाध्याय के प्रथम आह्निक की समाप्ति मानी है।

२. अ० प्रा० के अनुसार अष्टमाध्याय के द्वितीय आह्निक का यह प्रथम सूत्र है।

शास्त्र में 'अर्थ' पद द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का बोधक कहा जा सकता है। वहां प्रत्यक्षलक्षण सूत्र [१।१।४] में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' कहा है। यहां 'अर्थ' पद से द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का ग्रहण न्याय्य है। जो हो; वैशेषिक शास्त्र में 'अर्थ' पद द्रव्य, गुण, कर्म में परिभाषित है, इतनामात्र अभिप्रेत है ॥३॥

किस इन्द्रिय का कौन उपादान कारण है, तथा कौन इन्द्रिय किस अर्थ का ग्राहक है; यह बतलाने के लिये सूत्रकार ने प्रकरण का प्रारम्भ किया—

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं[1] प्रतिषिद्धम् ॥४॥ [३२४]

[द्रव्येषु] द्रव्यों में [पञ्चात्मकत्वम्] पञ्चात्मकता का [प्रतिषिद्धम्] प्रतिषेध किया गया है।

किसी द्रव्य की रचना में पांचों भूत अथवा तीन भूत समवायिकारण (उपादानकारण) होते हैं, इसका सूत्रकार ने प्रथम [४।२।२,३] प्रतिषेध कर दिया है। कोई द्रव्य एक द्रव्य से ही उत्पन्न होता या बनता है। पृथिवी, जल आदि द्रव्य पृथक्-पृथक् एक प्रकार के अवयवों से बनते हैं। पृथिवी के उपादान पार्थिव परमाणु और जल के जलीय परमाणु। ऐसा कभी नहीं होता, कि पृथिवी, जल, तेज अथवा सभी भूतों के थोड़े-थोड़े अवयव मिलकर किसी एक द्रव्य के उपादानकारण (समवायिकारण) हों। पार्थिव अवयवों से पार्थिव द्रव्य एवं जलीय आदि अवयवों से जलीय आदि द्रव्य उत्पन्न होते हैं ॥४॥

इसीके फलस्वरूप सूत्रकार ने बताया—

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः[2] ॥५॥ (३२५)

[भूयस्त्वात्] बहुत होने से [गन्धवत्वात्] गन्धवाला होने से [च] तथा [पृथिवी] पृथिवी [गन्धज्ञाने] घ्राण में [प्रकृतिः] कारण है।

सूत्र में 'गन्धज्ञान' पद घ्राण इन्द्रिय के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'गन्धो ज्ञायतेऽनेन इति गन्धज्ञानं घ्राणम्।' जिससे गन्ध का ज्ञान हो, वह 'गन्धज्ञान' गन्ध का ग्राहक इन्द्रिय घ्राण है। घ्राण इन्द्रिय की रचना में पृथिवी प्रकृति है, अर्थात् उपादान कारण है। सूत्रकार ने इसमें हेतु दिया—'भूयस्त्वात्'। 'भूयस्त्व' का शब्दार्थ है—बहुत अधिक होना। इसका यह तात्पर्य हुआ, कि घ्राण की रचना में पृथिवी तत्त्व अत्यधिक रहते हैं, पर उनके अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की अल्पमात्रा उपादान कारण में सम्मिलित है। परन्तु 'भूयस्त्व' पद के विषय में ऐसा विचार सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत है। गतसूत्र में सूत्रकार ने

१. 'द्रव्येषु पञ्चकात्मकम्' अ० प्रा०। 'द्रव्येषु पञ्चात्मकं प्रत्युक्तम्' चन्द्रा०।
२. 'प्रकृतिः' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

किसी एक कार्यद्रव्य के प्रति एक से अधिक भूत तत्वों की उपादानता का प्रतिषेध किया है। फलतः 'भूयस्त्व' पद का तात्पर्य होगा—एक ही विशुद्ध तत्त्व के अवयवों से किसी द्रव्य की रचना होना। इसप्रकार घ्राण इन्द्रिय की रचना में विशुद्ध पृथिवी तत्त्व के अवयव उपादान कारण होते हैं। घ्राण इन्द्रिय केवल गन्ध का ग्रहण करता है, इसलिये गन्धवाला द्रव्य उसका उपादान कारण संभव है, यह अभिप्राय 'गन्धवत्वात्' हेतु से सूत्रकार ने प्रकट किया है।

शरीर के अन्य अवयव पार्थिव तत्त्व से आरब्ध हुए हैं; परन्तु उनमें गन्ध ग्राहकता का अभाव है, कारण यह है, कि उनके उपादान तत्त्व पार्थिव होने पर भी उनकी रचना में जलादि तत्त्वों का सहयोग रहता है। परन्तु घ्राण इन्द्रिय की रचना में ऐसा नहीं है। इसलिये गन्धग्राहकक्षमता उसमें है, अन्य देहावयव में नहीं। यह अभिप्राय 'गन्धवत्व' हेतु से अभिव्यक्त होता है ॥५॥

इसी स्थिति को सूत्रकार ने अन्य इन्द्रियों की रचना में अतिदेश द्वारा बताया...

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात्[1] ॥६॥ (३२६)

[तथा] उसीप्रकार [आपः] जल [तेजः] तेज-अग्नि [वायुः] वायु [च] और (रसन आदि इन्द्रियों के उपादान कारण हैं), [रसरूपस्पर्शाविशेषात्] रस, रूप, स्पर्श के ग्रहण में (गन्धग्रहण की) समानता होने से।

जैसे घ्राण इन्द्रिय केवल गन्ध गुण का ग्रहण करता है, इसीकारण गन्धवती पृथिवी उसका उपादान है; ऐसे ही रसन इन्द्रिय केवल रस गुण का ग्रहण करता है, इस कारण रस गुण वाले जलीय तत्त्व उसके उपादान कारण हैं। इसीप्रकार चक्षु केवल रूप गुण का ग्राहक है, इसीलिये रूप गुणवाले विशुद्ध तैजस द्रव्य उसके उपादान कारण हैं। त्वक् इन्द्रिय केवल स्पर्श गुण का ग्रहण करता है, इसलिये उसके उपादान कारण स्पर्श गुण वाले विशुद्ध वायवीय द्रव्य हैं। इसप्रकार घ्राण आदि इन्द्रियों की रचना विशुद्ध एक-एक द्रव्य के अवयवों से होती है। इनकी

---

१. अ० प्रा० में 'तथापस्तेजो वायुश्च, तथा रसरूपस्पर्शात्' इस आनुपूर्वी के दो सूत्र माने हैं। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में सूत्रपाठ है—'तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शज्ञानेषु रसरूपस्पर्शविशेषादिति।' अर्थ की दृष्टि से यह अधिक स्पष्ट है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में अष्टमाध्याय को दो आन्हिकों में विभक्त नहीं दिखायागया, न आह्निक का निर्देश है। आदि और अन्त में 'अष्टमोऽध्यायः' इतनामात्र लेख है।

रचना में अन्य किसी भूततत्त्व का संमिश्रण नहीं रहता; जैसा कि देह के अन्य अवयवों की रचना में मानागया है ॥६॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
अष्टमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।
अष्टमोऽध्यायः सम्पूर्णः ।

अथ नवमाध्याये प्रथमाह्निकम्

किसी अर्थ का ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा होता है। संयोगसन्निकर्ष तथा समवायसन्निकर्षजन्य लौकिक प्रत्यक्ष का निरूपण अष्टमाध्याय में कियागया। अब नवम अध्याय में संयोग-समवायसन्निकर्ष से भिन्न सन्निकर्ष द्वारा जिनका लौकिक प्रत्यक्ष होता है, उनका कथन कियाजायगा। इसी प्रसंग से अलौकिक प्रत्यक्ष का उपपादन होगा। अभाव और समवाय के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्य-भाव[1] सन्निकर्ष होता है। इसीको 'विशेषणता-सन्निकर्ष' कहा जाता है। अभाव प्रत्यक्ष के सन्निकर्ष का कथन करने की भावना से सूत्रकार ने प्रथम 'अभाव' का स्वरूप बताया—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात्[2] प्रागसत् ॥१॥ (३२७)

[क्रियागुणव्यपदेशाभावात्] क्रिया का व्यपदेश (कथन) तथा गुण का व्यप-देश न होने से [प्राक्] कार्योत्पत्ति से पूर्व [असत्] अभाव रहता है (कार्य का)।

कोई कार्य अपने निर्धारित कारणों से उत्पन्न होता है, अथवा कार्यरूप से प्रकाश में आता है। ऐसा नहीं है, कि प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होजाय। किसी कार्यविशेष को उत्पन्न करने की योग्यता अथवा क्षमता किन्हीं विशेष कारणों में होती है। तन्तुओं में पट बनने की क्षमता है, उनसे घट नहीं बन सकता। मट्टी से वस्त्र नहीं बन सकता, घड़ा बनजाता है। वस्तुओं के कार्य-कारणभाव की इस स्थिति को लक्ष्यकर कहा जाता है, उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारणों में कारणरूप से विद्यमान भी कार्यरूप से असत् होता है; क्योंकि कार्यदशा में जिन क्रियाओं व गुणों का उसमें व्यपदेश-कथन-व्यवहार कियाजाता है, कारण दशा में उन सबका अभाव रहता है। केवल तन्तुओं से न देह ढका जाता है, न शीतातप का वारण होपाता है; न मट्टी से पानी भराजाता। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहाजाता है ॥१॥

प्रागभाव से अन्य एक और अभाव सूत्रकार ने बताया—

---

१. द्रष्टव्य, न्यायवार्त्तिक, प्रत्यक्षलक्षणसूत्र [१।१।४], वाराणसी, चौखम्बा संस्करण, पृष्ठ ३१, पं० २२।

२. सूत्रगत 'प्राक्' पद नहीं है, अ० प्रा०। चन्द्रा०।

सदसत्[1] ॥२॥ (३२८)

[सत्] विद्यमान कार्य [असत्] अविद्यमान होजाता है।

उत्पन्न होजाने पर कार्य सत् है। अपने रूप में विद्यमान घट से जलाहरण आदि कार्य होता है, और वह गुण व क्रिया का आधार है, यह व्यवहार उसमें बराबर होता रहता है। ऐसे ही तन्तुओं से वस्त्र बन जाने पर उससे देहादि आवृत होते हैं, और शीत वर्षा आदि से वस्त्र द्वारा देह की रक्षा कीजासकती है। यह घट, पट आदि कार्यों की सत् अवस्था है। घड़ा ऊपर से गिरगया, हाथ से छूट गया, किसीने पत्थर मार दिया, फूटगया, नष्ट होगया। जैसे उत्पत्ति से पूर्व असत् होने से घट के क्रियागुणव्यपदेश का अभाव था, वैसी स्थिति अब घट के फूट जाने पर उपस्थित होजाती है। प्रत्येक कार्य-वस्तु का यही अवसान है। वस्तु के ऐसे अभाव को 'ध्वंसाभाव' कहते हैं।

कोई कार्यवस्तु अपने रूप में केवल एक बार अभिव्यक्ति में आती है। वह उत्पत्ति के अनन्तर की सत् अवस्था है। उससे पहले वस्तु का अभाव अनादि है, और वस्तु की उत्पत्ति होजाने पर उसका कारणविशेष से अन्त होजाता है। वस्तु के नष्ट होजाने पर 'ध्वंसाभाव' का आरम्भ होता है, अर्थात् उसका आदि है, पर अन्त कभी नहीं होता। क्योंकि जो वस्तु अपने व्यक्ति-रूप से उछट गई, फिसलगई; उसका वह व्यक्ति-रूप फिर कभी प्रकाश में नहीं आता; जो आयेगा, वह नया होगा; जो पहले कभी प्रकाश में नहीं आया। इसलिये ध्वंसाभाव का कभी अन्त नहीं आसकता ॥२॥

अभाव द्रव्य-गुण-कर्मरूप नहीं है। ये अभाव से भिन्न हैं; सूत्रकार ने बताया…

असतः[2] क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥३॥ (३२९)

[असतः] अभाव से [क्रियागुणव्यपदेशाभावात्] क्रियाव्यपदेश और गुण-व्यपदेश के न होने से (अभाव में), [अर्थान्तरम्] भिन्न अर्थ है (सत्)।

असत् से सत् भिन्न अर्थ है, क्योंकि सत् में क्रियागुणव्यपदेश होता है; असत् में नहीं होता। अर्थ हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, ये अभाव से भिन्न हैं, इसलिये अभाव को द्रव्यादि रूप नहीं कहा जासकता। घटाभाव आदि घटादि वस्तु की ही अवस्थाविशेष है, ऐसा कहना निराधार है ॥३॥

---

१. यह सूत्र नहीं है, अ० प्रा०।

२. 'असति क्रियागुण०' अ०प्रा०। 'असतः सत् क्रियागुणव्ययदेशभावादर्थान्तरम्' चन्द्रा०। ग्रन्थ के सम्पादक ने '०व्यपदेशभावात्' को प्रचलित पाठ के

प्रागभाव और ध्वंसाभाव को सिद्ध कर सूत्रकार ने अन्योन्याभाव नामक एक और अभाव बताया—

सच्चासत् ॥४॥ (३३०)

[सत्] विद्यमान पदार्थ [च] भी [असत्] अभावरूप (कहाजाता है)।

एक भूप्रदेश पर घट रखा हुआ है। वह प्रदेश घट से युक्त है। वहां यह नहीं कहा जा सकता, कि यहां घट का अभाव है। परन्तु घट के विद्यमान रहते भी यह कहना सर्वथा युक्त है, कि 'भूतल घट नहीं' है, और घट भूतल नहीं है। दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं। ऐसे ही घोड़ा गाय नहीं, गाय घोड़ा नहीं। दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का अन्योऽन्य से भेद है। यह एक-दूसरे से प्रत्येक वस्तु का भेदरूप अभाव 'अन्योऽन्याभाव' कहा जाता है ॥४॥

एक और अभाव सूत्रकार ने बताया, जो इन पूर्वोक्त अभावों की सीमा में नहीं आता—

यच्चा[1]न्यदसदतस्तदसत् ॥५॥ (३३१)

[यत्] जो [च] और [अन्यत्] भिन्न है [अतः] इससे [तत्] वह [असत्] अभाव है (एक और)।

जो इससे भिन्न है, पूर्वोक्त से अथवा सत् से; वह एक और अभाव है। अन्य प्राचीन व्याख्याओं के संस्करणों में सूत्र के अन्तर्गत 'सतः' पद का पाठ है, जो अधिक स्पष्टार्थ है। प्रस्तुत सूत्रपाठ में 'अतः' पद से उसका वैकल्पिक परामर्श होता है। विकल्प से इस रूप में कि–'अतः' पद से पूर्वोक्त तीन अभावों का परामर्श हो सकता है, और पक्ष में 'सतः' का भी। तात्पर्य हुआ, पूर्वोक्त तीन अभावों से भिन्न जो एक और अभाव है, वह चौथा अत्यन्ताभाव है।

'सतः' पदघटित सूत्रपाठ में 'अत्यन्ताभाव' की भावना अधिक स्पष्ट हो

अनुसार '०व्यपदेशाभावात्' करने का सुझाव दिया है। परन्तु सूत्र में 'सत्' पद का पाठ होने से '०व्यपदेशभावात्' पाठ अयुक्त नहीं है। सूत्र पदों का अन्वय होगा–'असतः सत् अर्थान्तरम्, क्रियागुणव्यपदेशभावात् (सति पदार्थे)। असत् से सत् अर्थान्तर है, भिन्न है; क्योंकि सत् पदार्थ में क्रियागुणव्यपदेश होता है, असत् में नहीं होता। जब सूत्र में 'सत्' पद का पाठ नहीं है, तब हेतु का निर्देश असत् में होने से '०क्रियागुणव्यपदेशाभावात्' पाठ ठीक होगा। 'सत्' पद का अर्थपूर्त्ति के लिये अध्याहार करना पड़ेगा।

१. यच्चान्यत्सतस्तदसत्' अ० प्रा०। 'यच्चान्यत् सतस्तदप्यसत्' चन्द्रा०।

जाती है। 'सत्' से भिन्न – सर्वथा विपरीत—जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। अन्य अभावों में अभाव का प्रतियोगी पदार्थ कभी सद्भाव में रहता है; परन्तु इस चौथे अभाव का प्रतियोगी अत्यन्त असत् रहता है, वह कभी सद्भाव में नहीं आता। जैसे–शशविषाण, नरशृंग, आकाशपुष्प आदि। यद्यपि खरहा आदमी आदि सत् हैं, गाय भैंस आदि के सींग भी हैं; परन्तु खरहा या आदमी सम्बन्धी सींग कभी अस्तित्व में नहीं आता, लता के विना आकाश में कभी फूल नहीं लगता। रेत से कभी तेल नहीं निकलता। यह 'सत्' का अत्यन्त विरोधी होने से 'अत्यन्तासत्' अथवा 'अत्यन्ताभाव' कहा जाता है ॥५॥

इन अभावों का प्रत्यक्षज्ञान ऐसे ही होता है, जैसे अभाव के विरोधी भाव पदार्थ का। सूत्रकार ने बताया—

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्[1]विरोधि-प्रत्यक्षवत् ॥६॥ (३३२)

[असत्] अभाव है, [इति] इसप्रकार, [भूतप्रत्यक्षाभावात्] भूत (उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादि) के प्रत्यक्ष न होने से [भूतस्मृतेः] भूत का स्मरण होआने से [विरोधिप्रत्यक्षवत्] विरोधी (भाव) के प्रत्यक्ष के समान (अभाव का प्रत्यक्ष होता है)।

जब घट विद्यमान रहता है, तब 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है। यह 'घट' अभाव का विरोधी अर्थात् प्रतियोगी है। घट के न रहने पर अर्थात् नष्ट होजाने पर 'घट नहीं है, घट नष्ट होगया' इत्यादि प्रकार का ज्ञान होता है। यह उसी अवस्था में होता है, जब उत्पन्न हुए घट का–नष्ट होजाने के अनन्तर–प्रत्यक्ष नहीं होरहा होता। परन्तु उस अवस्था में भी पहले प्रत्यक्ष हुए घट का स्मरण हो आता है, स्मृति का विषय घट उस समय दिखाई नहीं देरहा। घट प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थ है, यदि यहां रहता तो अवश्य दिखाई देता; जैसे यह भूतल दिखाई देरहा है। भूतल के प्रत्यक्ष के समान भूतल में घट के अभाव का भी वैसा ही प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष का स्वरूप है—'यहां भूतल में घट का अभाव है'। इसमें भूतल विशेष्य और घटाभाव विशेषण है। भूतल के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग है, वहां घटाभावविशेषण होने से चक्षु का घटाभाव के साथ 'चक्षुःसंयुक्तविशेषणता' सन्निकर्षहुआ। इसप्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा भूतल का प्रत्यक्ष संयोगसन्निकर्ष से तथा भूतल में घटाभाव का प्रत्यक्ष 'चक्षुःसंयुक्तविशेष-

---

१. अ० प्रा० में तथा चन्द्रानन्दीय व्याख्या में—'भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षत्वाच्च ज्ञानम्' पाठ है।

णता' सन्निकर्ष से होता है। यह ध्वंसाभाव के प्रत्यक्ष विषय में बतायागया ॥६॥

अब सूत्रकार ने प्रागभाव के प्रत्यक्ष के विषय में बताया—

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥७॥ (३३३)

[तथा] वैसे [अभावे] प्रागभावविषयक (प्रत्यक्ष होता है), [भावप्रत्यक्षत्वात्] भाव (प्रतियोगी) का प्रत्यक्ष होने से [च] और (कारणों से)।

'अभाव' पद यद्यपि सामान्य अभाव का वाचक है, परन्तु प्रसंग के अनुसार यहां सूत्र में 'प्रागभाव' का निर्देश करने की भावना से प्रयुक्त हुआ है। जैसे ध्वसाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी वस्तु की प्रत्यक्षयोग्यता तथा उस वस्तु का अथवा तत्समवस्तु का अतीत अनुभवजन्य स्मरण कारण हैं; वैसे प्रागभाव के प्रत्यक्ष में भी समझना चाहिये।

ध्वंसाभाव सादि अनन्त हैं, परन्तु प्रागभाव अनादि सान्त होता है। ध्वंसाभाव में प्रतियोगी का प्रत्यक्ष संभव है, तथा अभावज्ञान में उसका स्मरण कारण होता है। यह स्थिति प्रागभाव में संभव नहीं, क्योंकि प्रागभावज्ञानकाल में प्रतियोगी कार्य के अनुत्पन्न होने से उसका ज्ञान किसीप्रकार संभव नहीं। अभाव ज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, तब प्रागभाव-प्रतियोगी का पूर्वप्रत्यक्ष न होने से प्रागभाव का प्रत्यक्ष कैसे होगा ?

सूत्रकार ने बताया—भावप्रत्यक्षत्वात्। 'भवति अस्मादिति भावः' अपादान अर्थ में 'भू' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर 'भाव' पद बना है। जब चाक पर मट्टी संस्कृत कर रख दीजाती है, और कुलाल उसके अनुकूल व्यापार में लगजाता है; इसीप्रकार तन्तुओं का आतान करदियागया है, और वितान के लिये तन्तुवाय तैयार होकर कार्य में लगगया है; ऐसे ही पटेरों (वीरण) को व्यवस्थित कर चटाई बुनने वाले ने अपना कार्य प्रारम्भ करदिया है; उस अवस्था में द्रष्टा व्यक्ति को यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि यहां घट-पट-कट उत्पन्न होंगे, बनेंगे। यह घट आदि के प्रागभाव का ज्ञान है। यह ज्ञान उसी समय उभरता है, जब समस्त कारणसामग्री प्रस्तुत होजाती है। यद्यपि उस काल तक प्रागभाव के प्रतियोगी उत्पद्यमान घट आदि का प्रत्यक्षज्ञान द्रष्टा को नहीं हुआ; परन्तु उसने घट आदि की इस उत्पत्ति-प्रक्रिया को अनेक बार देखा, और अनन्तर घट आदि को उत्पन्न होते, बनते व अभिव्यक्ति में आते प्रत्यक्ष किया है। उसका स्मरण इस समय उत्पद्यमान घट आदि के प्रागभावप्रत्यक्ष में सहयोगी कारण होता है। चरमकारणसामग्री के उपस्थित होने पर अब 'घट आदि कार्य उत्पन्न होने वाला है' इत्यादि प्रकार प्रागभाव के प्रत्यक्ष का स्वरूप है। जब तक घट आदि कार्य उत्पन्न नहीं होता, प्रागभाव का प्रत्यक्ष होता है। कार्य के उत्पन्न होजाने पर प्रागभाव

का अन्त होजाता है ॥७॥

ऐसे ही अतिदेश द्वारा सूत्रकार अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्ष के विषय में बताता है—

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः[1] ॥८॥ (३३४)

[एतेन] इससे [अघटः] घट नहीं है (पट आदि), [अगौः] गाय नहीं है (अश्व आदि), [अधर्मः] धर्म नहीं है (पाप अथवा सुख)।

ध्वंसाभाव और प्रागभाव के प्रत्यक्ष के व्याख्यान से अन्योऽन्याभाव के प्रत्यक्ष का व्याख्यान समझ लेना चाहिये। जैसे–कहागया 'अघटः'। किसी कारण से बटलोई को घड़ा समझलियागया; परन्तु कारणान्तर से जब वस्तु का यथार्थ ज्ञान हुआ, तब कहा—'अयम् न घटः, स्थालीयम्' यह घड़ा नहीं है, बटलोई है। यहां बटलोईरूप से घट का अभाव कहा है। बटलोई उपलक्षणमात्र है, घट के अतिरिक्त अन्य समस्त विश्व 'अघट' है। इस अभाव का प्रतियोगी घट और अधिकरण बटलोई आदि हैं। इन्द्रियसंयुक्त बटलोई अधिकरण में घटाभाव विशेषण है; इसलिये यहां अभाव के प्रत्यक्ष में इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता-सन्निकर्ष है, तथा अन्य कारण–प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता एवं वहां उसकी उपलब्धि का न होना आदि–पूर्वोक्त अभावज्ञानकारणों के समान हैं।

जब 'अगौः' कहाजाता है, तो गौ से अतिरिक्त समस्त अश्व आदि का बोध होता है; अर्थात् अश्व आदि गाय नहीं हैं। यहां अश्वादि रूप से गाय का अभाव कहाजाता है। यहां भी अभाव के प्रत्यक्ष में सब कारण पहले के समान हैं।

'अधर्मः' कहने पर दो बात सामने आती हैं, एक–धर्म नहीं है पाप। पाप का विरोधी है धर्म, अथवा उससे विलक्षण। दूसरी बात है--धर्म से जन्य सुख स्वयं धर्म नही है, अर्थात् सुख अधर्म है। तात्पर्य हुआ, सुख धर्म का कार्य है, स्वयं धर्म नहीं। यह भेद का दिखाना अन्योऽन्याभाव का स्वरूप है। धर्म अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता। पर सुखोपलब्धि से उसका अनुमिति-ज्ञान होता है। 'अधर्मः सुखम्' इस अन्योऽन्याभावप्रतीति में धर्माभाव के प्रतियोगी धर्म में प्रत्यक्ष योग्यता नहीं है; यद्यपि ज्ञानयोग्यता है। सूत्रकार ने यह उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है, कि प्रतियोगी के अतीन्द्रिय होने पर अन्योऽन्याभावग्रह में अधिकरण की प्रत्यक्षयोग्यता को कारण मानना चाहिये। अधिकरण सुख का प्रत्यक्ष होता है। अनुमितिज्ञान प्रतियोगी का भी रहता है। इस रूप में अन्यो-

१. इस सूत्र के आगे मिथिला विद्यापीठ से प्रकाशित वैशेषिकदर्शन की अज्ञात-कर्तृक प्राचीन व्याख्या खण्डित है।

ऽन्याभाव के प्रत्यक्ष का उपपादन कियागया ॥८॥

अत्यन्ताभाव के प्रत्यक्ष के विषय में सूत्रकार ने बताया—

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥९॥ (३३५)

[अभूतम्] नहीं हुआ, [न-अस्ति] नहीं है, [इति] यह [अनर्थान्तरम्] अर्थान्तर–भिन्न अर्थ–नहीं है।

प्रागभाव, ध्वंसाभाव तथा अन्योऽन्याभाव त्रैकालिक नहीं होते। कार्य की उत्पत्ति से पहले प्रागभाव है, कार्य उत्पन्न होजाने पर वह नहीं रहता। इस दशा में प्रागभाव के लिये 'नास्ति' कह सकते हैं, पर 'अभूतम्' नहीं कहसकते; क्योंकि पहले वह रहा है। ध्वंसाभाव कार्योत्पत्ति से पूर्व तथा कार्यसत्ताकाल में नहीं रहता, कार्य के नष्ट होजाने पर होता है। उस दशा में उसके लिये 'अभूतम्' कह सकते हैं। परन्तु 'नास्ति' नहीं कह सकते; क्योंकि तब वह विद्यमान रहता है; पहले नहीं था। अन्योऽन्याभाव आपेक्षिक है, विवक्षा पर अवलम्बित रहता है, कभी है कभी नहीं है।

इन तीनों से अतिरिक्त एक अभाव है, जिसके प्रतियोगी के लिये 'अभूतम्' और 'नास्ति' का समानरूप से प्रयोग होता है। जो न कभी पहले था, न अब है। भूत, वर्तमान को भविष्य का उपलक्षण समझना चाहिये। इसप्रकार न उसके कभी आगे भविष्यत् में होने की संभावना है। किसी वस्तु का जो अभाव इस-प्रकार द्योतित होता है, वह अत्यन्ताभाव समझना चाहिये। मानव के सिर पर न कभी सींग था, न अब है, न आगे होने की संभावना है। लता या वनस्पति के बिना केवल आकाश में फूल न कभी हुआ, न अब है, न आगे होने की संभावना है। मानवशृंग अथवा शशशृंग और आकाशपुष्प आदि का अत्यन्ताभाव रहता है।

वस्तुतः इस अभाव में वस्तु की सत्ता का अभाव बोधित नहीं होता, प्रत्युत उनके संसर्ग का त्रैकालिक अभाव बोधित होता है। मानव है, शश भी है, शृंग भी अनेक पशुओं के हैं। आकाश है, फूल भी अनेक प्रकार के हैं। परन्तु इनके परस्पर संसर्ग का अत्यन्त अभाव रहता है। खरहा के सिर पर अथवा मानव के सिर पर सींगों का संसर्ग तीनों कालों में नहीं है। इसप्रकार 'अभूतं, नास्ति, न भविष्यति' पदों से जो अभाव बोधित होता है, वह एकमात्र अत्यन्ताभाव है, इन पदों से किन्हीं भिन्न अर्थों–अभावों–का बोध नहीं होता।

इस अभाव का प्रत्यक्ष पूर्वनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति करता है। मानव, खरहा अथवा गदहा आदि के सिर के साथ चक्षु इन्द्रिय का संयोग है, और वहां (सिर में) शृंगाभाव विशेषण है। इसप्रकार इस अभाव के प्रत्यक्ष में 'इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष होगा। अन्य कारण–प्रतियोगी की प्रत्यक्ष

–योग्यता आदिसब पूर्ववत् रहेंगे ॥९॥

अत्यन्ताभाव की विशेष स्थिति को सूत्रकार ने उदाहरण देकर बताया —

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्ग-प्रतिषेधः ॥१०॥ (३३६)

[न-अस्ति] नहीं है [घटः] घड़ा [गेहे] घर में [इति] इसप्रकार [सतः] विद्यमान (अन्यत्र) [घटस्य] घट का [गेहसंसर्गप्रतिषेधः] घर के साथ संसर्ग का प्रतिषेध है।

'घर में घड़ा नहीं है' इस वाक्य से अन्यत्र विद्यमान घट का घर के साथ संसर्ग का अभाव बोधित होता है। यह अभाव प्रागभाव आदि किसी अन्य अभाव में अन्तर्हित नहीं होता। यह अत्यन्ताभाव की एक स्थिति है। पूर्वोक्त अत्यन्ताभाव यद्यपि मानव आदि के सिर पर अन्यत्र विद्यमान शृंग के संसर्ग का अभाव बोधित होता है। परन्तु इन दोनों में कुछ अन्तर है। घर में घड़ा इस समय नहीं है, पर आगे-पीछे होसकता है। पहले वहां घड़ा रहा हो, और अनन्तर फिर भी आजाय, यह संभव है; परन्तु मानव आदि के सिर पर शृंग का तीनों कालों में संसर्ग प्रतिषिद्ध है। इसीकारण कतिपय आचार्यों ने इनका भेद करने की भावना से 'घर में घड़ा नहीं है' इस अभाव को 'सामयिकाभाव' नाम दिया है। जो समयविशेष में रहता, और फिर नहीं रहता।

इन अभावों में एक और अन्तर है। 'घर में घड़ा नहीं है' यहां एक समय घर में रहने वाला तथा अन्य समय न रहने वाला घड़ा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। परन्तु मानव आदि के सिर के सींग का कभी अस्तित्व नहीं है। अन्य पशु आदि के सींग की मानवसंसर्गिशृंग के रूप में कभी कल्पना नहीं कीजासकती। इसलिये पूर्वोक्त अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी वस्तु का भी त्रैकालिक अभाव रहता है, न केवल संसर्ग का।

अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष की दृष्टि से अभावाधिकरण के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध देखना चाहिये, क्या सम्बन्ध बनता है। जो बनता हो, उसके साथ आगे विशेषणता लगा देने से इन्द्रिय का अभाव के साथ सन्निकर्ष सम्पन्न होजाता है। उसे संक्षेप में इसप्रकार समझना चाहिये—

अभाव का अधिकरण	सन्निकर्ष
द्रव्य	इन्द्रियसंयुक्तविशेषणता,
द्रव्यत्वजाति, गुण, कर्म	इन्द्रियसंयुक्तसमवेतविशेषणता,
गुणत्व, कर्मत्व जाति	इन्द्रियसंयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता।

क, ख, आदि वर्ण अथवा पद (श्रोत्रग्राह्य अभाव के लिये)	इन्द्रियसमवेतविशेषणता
कत्व, खत्व आदि जाति	इन्द्रियसमवेतसमवेतविशेषणता

भाव और अभावविषयक लौकिक सन्निकर्ष से होनेवाले प्रत्यक्ष की परीक्षा के अनन्तर, अलौकिक योगज सन्निकर्ष से होनेवाले प्रत्यक्ष का उपपादन करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

आत्मन्यात्ममनसोः[1] संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥११॥ (३३७)

[आत्मनि] आत्मा में, [आत्ममनसोः] आत्मा और मन के [संयोगविशेषात्] संयोगविशेष से [आत्मप्रत्यक्षम्] आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

आत्मा और मनका संयोग सदा बना रहता है। यहां समाधिजन्य शक्ति का सहयोग होना विशेषता है। आत्मा और मन के ऐसे संयोग-विशेष से आत्मा में अपना और पराये आत्मा का भी साक्षात्कार होजाता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष है; इसमें बाह्य इन्द्रियों का उपयोग नहीं होता। योगी दो प्रकार के बताये जाते हैं। एक युञ्जान, दूसरा—युक्त। इसका विवरण सूत्रकार ने आगे तेरहवें सूत्र में दिया है। पहला योगी वह है, जिसे आत्मप्रत्यक्ष के लिये ध्यान-पूर्वक समाधि अवस्था में पहुंचने की अपेक्षा रहती है। समाधि-दशा में आत्मा और मन के संयोगविशेष से वह योगी स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

दूसरा योगी वह है, जो पूर्ण समाधि अवस्था के स्तर को प्राप्त कर चुका है। उसका आत्मदर्शन निरन्तर बना रहता है। उसे ध्यानपूर्वक समाधि में पहुंचने की अपेक्षा नहीं रहती। उसकी वह दशा निरन्तर बनी रहती है। पहले को संयोग-विशेष के लिये प्रयत्न करना पड़ता है, दूसरी दशा में वह सदा बना रहता है ॥११॥

उस दशा में न केवल आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, अपितु अन्य सूक्ष्म अति-सूक्ष्म द्रव्यादि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष होजाता हैं। सूत्रकार ने बताया—

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्[2] ॥१२॥ (३३८)

[तथा] उसीप्रकार [द्रव्यान्तरेषु] अन्य द्रव्यादि पदार्थ विषयक [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष होजाता है।

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में इस सूत्र से पूर्व तथा दसवें सूत्र के अनन्तर दो अतिरिक्त सूत्र इसप्रकार दिये हैं 'नास्त्यन्यश्चन्द्रमा इति सामान्याच्चन्द्रमसः प्रतिषेधः। सदसतोर्वैधर्म्यात् कार्ये सदसत्ता न।'

२. 'प्रत्यक्षम्' पद नहीं है। चन्द्रा०।

दोनों प्रकार के योगियों को जैसे आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होजाता है; उसीप्रकार अन्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्यों–परमाणु मन, आकाश आदि–का प्रत्यक्ष होजाता है। योगी एक प्रकार से सर्वज्ञकल्प बनजाता है ॥१२॥

ऐसा प्रत्यक्षज्ञान होना जिन योगियों के लिये कहा गया है; सूत्रकार ने उनका स्वरूप बताया—

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च[1] ॥१३॥(३३९)

[असमाहितान्तःकरणाः] जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधि में स्थित नहीं रहता [उपसंहृतसमाधयः] जिन्होंने समाधि दशा को पूर्णरूप से सफलता-पूर्वक प्राप्त कर लिया है [तेषाम्] उन योगियों को (सबका प्रत्यक्ष होता है) [च] और।

गत सूत्रों में आत्मा व सूक्ष्म द्रव्यादि का प्रत्यक्ष होना जो योगियों के लिये कहा गया है, वह किन योगियों के लिये है? 'तदात्मप्रत्यक्ष द्रव्यादिप्रत्यक्षं च केषां योगिनां भवति ? इति जिज्ञासायां समाधत्ते सूत्रकारः—तेषां योगिनां तत्प्रत्यक्षं भवति, ये असमाहितान्तःकरणाः, ये च उपसंहृतसमाधयः।' सूत्रकार ने समाधान किया—जिन योगियों के लिये आत्मा व द्रव्यादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का प्रत्यक्ष होजाना बताया है, वे दो प्रकार के योगी हैं। एक हैं—'असमाहितान्तः-करणाः' जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधिदशा में स्थित नहीं रहता। समाधि-दशा टूटने पर जो व्युत्थानदशा में आजाते हैं। उन्हें आत्मा व द्रव्यादि पदार्थों का साक्षात्कार उसी दशा में होपाता है, जब वे समाधि दशा का अनुभव कर रहे होते हैं। ऐसे योगी 'युञ्जान' नाम से कहे जाते हैं।

दूसरे वे योगी हैं, जिन्होंने पूर्णरूप से समाधि स्थिति को प्राप्त करलिया है। उन्हें प्रयत्न करके ध्यान आदि द्वारा समाधि दशा को पुनः प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रहती। वे निरन्तर समाहितान्तःकरण रहते हैं। उनका अन्तःकरण समाधि दशा में बराबर बना रहता है। बाह्य क्रियाओं—खाना-पीना, चलना-फिरना आदि आहार व्यवहार—के करते रहने पर भी उनकी व्युत्थान दशा उभार में नहीं आती, बाह्य व्यवहार के समय भी वे समाहित रहते हैं। ऐसे पूर्ण-योगी 'युक्त' नाम से कहेजाते हैं। ऐसे योगी आत्माओं को योगज धर्म से इतना सामर्थ्य प्राप्त होजाता है, कि ये सूक्ष्म अतीन्द्रिय तथा अतीत–अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लेते हैं ॥१३॥

---

१. **यह सूत्र नहीं है, तथा इसी क्रम पर एक अन्य सूत्र इसप्रकार है—'आत्मे-न्द्रियमनोर्थसन्निकर्षाच्च' चन्द्रा०।**

योगी जन जिन सूक्ष्म अतीन्द्रिय द्रव्यों का प्रत्यक्ष करते हैं, उन द्रव्यों में समवेत कर्म और गुणों को भी प्रत्यक्ष करलेते हैं। सूत्रकार ने बताया—

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥१४॥ (३४०)

[तत्समवायात्] द्रव्यों में समवाय से [कर्मगुणेषु] कर्मविषयक तथा गुण-विषयक (प्रत्यक्ष उन योगियों को होजाता है)।

योगी योगज धर्म से जिन सूक्ष्म अतीन्द्रिय द्रव्यों का प्रत्यक्ष करलेता है, उन द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले जो कर्म तथा गुण हैं, उनको भी वह प्रत्यक्ष कर लेता है। सूक्ष्म अतीन्द्रिय द्रव्यों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं तथा उनके गुणों का प्रत्यक्ष करनेवाले प्रायः प्रारम्भिक श्रेणी के 'युञ्जान' नामक योगी होते हैं। ये लोग भौतिक द्रव्यों की यथार्थता का साक्षात्कार कर उससे वाञ्छित उप-योग लेने की भावना से उन्हीं विषयों में समाहित होते हैं; एवं समाधि दशा में उनकी यथार्थता को जानलेते हैं। यह स्थिति न रहने पर वे पूर्ण व्युत्थान दशा में आजाते हैं। आधुनिक भौतिक तत्त्वों का अनुसंधान कर उनसे जनोपयोगी विविध निर्माण करनेवाले, तथा अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति 'युञ्जान' योगियों की कोटि के ही समझने चाहियें। इनको आत्मसाक्षात्कार की कोई चिन्ता नहीं होती; न उधर इनकी प्रवृत्ति रहती है ॥१४॥

आत्मसाक्षात्कार होजाने से आत्मगुणों का साक्षात्कार होजाता है; सूत्रकार ने बताया—

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥१५॥ (३४१)

[आत्मसमवायात्] आत्मा में समवाय से [आत्मगुणेषु] आत्मगुणविषयक साक्षात्कार होजाता है (आत्मसाक्षात्कार होजाने पर)।

जिन योगियों को आत्मा का साक्षात्कार होजाता है, उनको आत्मगत गुणोंका भी साक्षात्कार होजाता है। ऐसे योगी उच्चकोटि के 'युक्त' नामक योगी मानेजाते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य आत्मा का साक्षात्कार करना होता है। इनको योगज धर्म से वह अतुल सामर्थ्य प्राप्त होजाता है, जिससे ये भौतिक पदार्थों व उनकी सूक्ष्म प्रगतियों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं; परन्तु ऐसे योगियों का उस दिशा में रुझान नहीं होता। इसलिये आत्मसाक्षात्कार की अन्तिम स्थिति अथवा सर्वोच्च दशा में पहुंच जाने पर ऐसे योगियों की व्युत्थान अवस्था फिर कभी पूर्णरूप से उभार में नहीं आती। संभवतः इसप्रकार के 'युञ्जान' तथा 'युक्त' नामक योगियों, अथवा भूतदर्शी व आत्मदर्शी योगियों में अन्तर दिखाने की भावना से सूत्रकार ने गुण-कर्मों के साक्षात्कार का निर्देश पृथक् दो सूत्रों द्वारा किया है।

भूतद्रव्य--समवेत कर्म-गुणों के साक्षात्कार का पृथक्; तथा आत्म-समवेत गुणों के साक्षात्कार का पृथक्। आत्मदर्शन के साथ योगजधर्म को प्राप्त कर लेना परमकल्याण की दशा है ॥१५॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
नवमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।[1]

अथ नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्।

गत आह्निक में अभाव पदार्थ के लौकिकप्रत्यक्ष तथा योगी के योगजधर्म द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष का विवेचन कियागया। प्रत्यक्ष ज्ञान के निरूपण के अनन्तर क्रमप्राप्त अनुमितिज्ञान का निरूपण करने की भावना से सूत्रकार ने कहा—

अस्येदं[1] कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति
लैङ्गिकम् ॥१॥ (३४२)

[अस्य] इसका [इदम्] यह [कार्यम्] कार्य, [कारणम्] कारण [संयोगि] संयोग वाला [विरोधि] विरोधवाला [समवायि] समवाय वाला (लिङ्ग है) [च] और (एकार्थसमवायि लिङ्ग है; ऐसा होने वाला ज्ञान) [लैङ्गिकम्] लिङ्ग से होनेवाला कहाजाता है)।

लिङ्ग द्वारा होनेवाला ज्ञान लैङ्गिक है। नियमपूर्वक साथ रहने वाली दो वस्तुओं में से जब एक दीखती है, दूसरी नहीं; तब दीखने वाली वस्तु से न दीखने वाली का ज्ञान होजाता है! क्योंकि उन दोनों में से एक दूसरी को छोड़कर नहीं रह सकती। जो दीखती है, वह लिङ्ग है, ज्ञान का साधन है। जो जानीजाती है, वह साध्य या लिङ्गी है।

एक रेखा में उठते हुए धूम को देखकर ओट में आई आग का ज्ञान होजाता है। धुआं आग के विना हो नहीं सकता। रसोईघर में उन दोनों का नियम से

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में नवमाध्याय के आह्निकों का विभाग नहीं है। पूरा अध्याय एकरूप में प्रस्तुत किया है।

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में सूत्र का पाठ है 'अस्येदं कार्यं कारणं सम्बन्धि एकार्थसमवायि विरोधि चेति लैङ्गिकम्।'

साथ रहना पहले देखा हुआ है। दो धर्मों का इसप्रकार नियत साहचर्य होना 'व्याप्ति' कहाजाता है। व्याप्ति की जानकारी के साथ जब किसी जगह केवल रेखारूप में उठता धुआं देखाजाता है, तब यह लिङ्ग अर्थात् साधनरूप में प्रस्तुत होता है। दीखने पर धुआं उसी दशा में अग्नि का बोध करायेगा, जब पहले व्याप्ति की जानकारी हो।

यह लिङ्ग-साधन-करण कहीं साध्य का कार्य होता है, कहीं कारण, कहीं संयोगी, कहीं विरोधी, कहीं समवायी और कहीं एकार्थसमवायी। सूत्र के 'अस्य' पद का अर्थ है—'साध्यस्य'। अर्थात् यह सर्वनाम पद 'साध्य' अर्थ का बोध कराता है। 'इदम्' सर्वनाम 'लिंग' का बोधक है। 'कार्यम्' आदि प्रत्येक पद के साथ अलग-अलग इसका संबन्ध होगा। सूत्रार्थ है—इस साध्य का यह कार्य लिंग है; इस साध्य का यह कारण लिङ्ग है, इस साध्य का यह संयोगी लिङ्ग है, इत्यादि।

जहां कार्य लिङ्ग है; इसका तात्पर्य है–वहां कार्य से कारण का अनुमान कियाजाता है पुत्र को देखकर पिता का अनुमान होता है। नदी के बहाव में पहले की अपेक्षा--वेग की तीव्रता, पानी की अधिकता, मैलापन, कूड़ा करकट, झाड़ झंखाड़ आदि का बहकर आना आदि–देखकर ऊपर हुई कारणभूत वृष्टि का ज्ञान होजाता है। यह ज्ञान लैङ्गिक है। कार्यलिङ्ग से कारण वृष्टिका ज्ञान होता है। इसीको आनुमानिक ज्ञान कहाजाता है।

कारण लिङ्ग से कार्य का ज्ञान होता है। उमड़ते-घुमड़ते काली घटाओं के रूप में मेघों को देखकर आगे होनेवाली वर्षा का ज्ञान होजाता है। यहां कारण मेघ से कार्य वृष्टि का ज्ञान है। इन सब प्रकार के लिङ्गों के उदाहरण प्रथम [३।१।९-१३] सूत्रकार ने स्वयं प्रस्तुत किये हैं, वहां देख लेने चाहियें ॥१॥

लैङ्गिक ज्ञान के लिये मुख्य अपेक्षित आधार क्या है; सूत्रकार ने बताया—

अस्येदं कार्यकारणसंबन्धश्चावयवाद्भवति[1] ॥२॥ (३४३)

[अस्य-इदम्] इसका यह है (लिङ्ग-व्याप्य; इसप्रकार का) [कार्यकारण-संबन्धः] लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्ध, अथवा व्याप्य-व्यापक संबन्ध [च] निश्चयपूर्वक [अवयवात्] अवयव से [भवति] होता है।

लैङ्गिक ज्ञान के लिये सूत्रकार 'अस्य-इदम्' इन सम्बन्धी पदों के द्वारा दो धर्मों के परस्पर निश्चयात्मकरूप से व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को आवश्यक बताना चाहता है। सूत्र में 'कार्य' पद व्याप्य अथवा लिङ्ग को, तथा 'कारण' पद व्यापक

१. यह सूत्र नहीं है, चन्द्रा०।

अथवा लिङ्गी अर्थ को अभिव्यक्त करता है। सूत्रकार ने यहां और पहले [३।१।६] हेतु का साध्य के साथ कार्य, कारण, संयोग, समवाय आदि जो सम्बन्ध बताया है, वह उपलक्षणमात्र है; इससे अन्य सब प्रकार के संभावित सम्बन्धों का ग्रहण अभीष्ट है। वह सम्बन्ध चाहे कोई भी रहे, पर हेतु और साध्य का मुख्य अपेक्षित सम्बन्ध व्याप्य-व्यापकभाव है। यदि हेतु की व्याप्ति निश्चयात्मकरूप से साध्य के साथ उपलब्ध है, तो वह हेतु साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होसकता है, अन्यथा नहीं। 'कार्यकारणसम्बन्ध' पदों से सूत्रकार ने इसी भाव को यहां अभिव्यक्त किया है।

हेतु और साध्य के लिङ्ग-लिङ्गिभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध का निश्चय कैसे होता है? सूत्रकार ने बताया–'अवयवाद् भवति' अवयव से होता है। साध्य की सिद्धि जिन पांच वाक्यों के आधार पर सम्पन्न होती है, वे 'पञ्चावयव वाक्य' कहे जाते हैं। वे हैं–प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय, निगमन। इनमें तीसरा अथवा मध्यवर्ती 'उदाहरण' अवयव ऐसा है, जिसमें हेतु और साध्य की व्याप्ति का निश्चयात्मक निर्देश रहता है। सूत्र में 'अवयव' पद से उसीका संकेत किया गया है ॥२॥

शब्द प्रमाण से होने वाले ज्ञान के विषय में सूत्रकार ने कहा—

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥ (३४४)

[एतेन] इससे (प्रत्यक्ष एवं लैङ्गिक ज्ञान के व्याख्यान से) [शाब्दम्] शब्दजन्य ज्ञान [व्याख्यातम्] कहागया समझना चाहिये।

अभीतक सूत्रकार ने प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों का व्याख्यान किया। उसीका अतिदेश करते हुए सूत्रकार ने कहा; प्रत्यक्ष और अनुमान के व्याख्यान के समान शब्द प्रमाण का व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

शब्द प्रमाण दो रूप में कहाजाता है–लौकिक और वैदिक। लौकिक शब्द उसी दशा में प्रमाण माना जाता है, जब प्रवक्ता ने प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा वक्तव्य एवं बोद्धव्य अर्थ का साक्षात्कार अथवा निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया हो। अन्य व्यक्ति को–जिसने वह अर्थ नहीं जाना–बोध कराने के लिये शब्द का उपयोग होता है। यदि कोई धूर्त्त व ठग वास्तविकता से अन्यथा अर्थात् अवास्तविक रूप में अर्थ का कथन करता है, तो उन पदों से अर्थ का बोध तो होगा, पर उसे प्रमाण नहीं माना जायगा।

किसी व्यक्ति ने किसी अन्य से कहा–'नदी के किनारे पांच फल रक्खे हैं, ले आना'। यदि बोद्धा व्यक्ति नदी किनारे जाकर पांच फल प्राप्त कर लेता है, तो उक्त शब्द का प्रामाण्य सिद्ध है। परन्तु कोई ठग किसी को लूटने के लिये

उक्त शब्दों का प्रयोग करता है, बोद्धा को उससे अर्थबोध होता है, उसीके अनुसार लोभाविष्ट होकर फलों की आशा से नदीकिनारे जाता है, और लुट जाता है। इस दशा में उक्त शब्द प्रमाण नहीं माना जाता। क्योंकि उससे अर्थबोध होने पर भी वह अयथार्थ रहा; अतः वह प्रमाण नहीं।

वैदिक शब्द के दो भाग हैं। एक—वेदसंहितारूप शब्दसमुदाय है, जो ईश्वर-प्रेरणा से प्रकाश में आया। दूसरा है--जो वेदों के व्याख्यान-रूप में ऋषियों की रचना है। इनमें आर्ष-संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि शब्द-समुदाय है। इसके रचयिता ऋषि साक्षात्कृतधर्मा लोककर्त्ता पुरुष थे, उन्होंने जो कुछ कहा, प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से है। यथार्थ होने से उसका प्रामाण्य है। फिर भी पुरुष में भ्रम, प्रमाद, आलस्य, विप्रलिप्सा आदि दोषों की संभावना रहती है। इसलिये इनके प्रामाण्य के लिये स्वयं ऋषियों ने कसौटी बताई--ऋषियों का जो कथन वेदानुकूल है, वह प्रमाण; अन्य अप्रमाण है।

ईश्वरप्रेरित वेदरूप शब्द स्वतः प्रमाण है, क्योंकि ईश्वर में भ्रमादि दोषों का होना असंभव है। इसप्रकार 'शब्द' की प्रमाणता संपन्न होती है।

सूत्रार्थ के विषय में व्याख्याकारों ने ऐसा कहा है, कि जैसे लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है, और वह लैङ्गिक ज्ञान है; इसीप्रकार शब्दरूप लिङ्ग से अर्थरूप लिङ्गी का ज्ञान होने से शाब्दज्ञान को भी लैङ्गिकज्ञान मानना चाहिये, वह इससे अतिरिक्त नहीं है। संभवतः सूत्र की ऐसी व्याख्या सूत्रकार के आशय के अनुकूल प्रतीत नहीं होती। सूत्र में 'शाब्दम्' कहने से यह ध्वनित होता है, कि वह ज्ञान शब्दबोध्य है। शब्द अर्थ का लिङ्ग नहीं है। अथवा यह कहना चाहिये, कि किसी एक अर्थ के प्रति शब्द का व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है। समान अथवा एकमात्र ध्वनि, संकेत के अनुसार विभिन्न अर्थों का बोध करा देती है। एक **शब्द एक अर्थ** में संकेतित है, वही देश-काल भेद से अन्य अर्थ में संकेतित होता है। अनेक अर्थों में संकेतित होने से अनेक शब्द संशय के जनक होसकते हैं, निश्चयात्मक ज्ञान के नहीं।

फिर जैसे शब्द को लिङ्ग मानकर उससे बोध्य अर्थज्ञान को लैंगिक ज्ञान कहाजाता है, ऐसे ही इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को लिंग मानकर उससे होने वाले ज्ञान को भी लैङ्गिक ज्ञान कहना चाहिये। यदि 'प्रत्यक्षमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क-रसिकाः, के अनुसार यही अभीष्ट है, तो अलग बात है। फिर भी प्रत्यक्ष एवं शब्द की प्रमाणता के ऊपर कोई बाधा नहीं आती। प्रत्यक्ष या शब्द से जाने गये अर्थ को अनुमान द्वारा कोई जानना चाहे, तो भले जाने। इससे अन्य प्रमाणों की प्रमाणता तो अक्षुण्ण बनी ही रहती है ॥३॥

सूत्रकार ने इसी भावना से प्रसंगानुकूल ज्ञान में साधनरूप पदों की साधारण पर्यायता का निर्देश किया—

हेतुरपदेशो लिङ्ग[1]प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥ (३४५)

[हेतुः] हेतु [अपदेशः] अपदेश [लिङ्गम्] लिङ्ग [प्रमाणम्] प्रमाण [कारणम्] कारण [इति] ऐसा यह (प्रत्येक पद) [अनर्थान्तरम्] भिन्न अर्थ को नहीं कहता (साधनरूप समान अर्थ को कहता है)।

हेतु आदि पदों में साधारणरूप से अर्थ की समानता केवल साधनतारूप में कहीजाती है। इन सभी पदों का साधनरूप अर्थ प्रकट करने के लिये प्रयोग होता है। परन्तु इनके प्रयोगस्थल भिन्न रहते हैं। 'हेतु' पद का प्रयोग वहां होता है, अथवा होना चाहिये, जहां वस्तुओं का कार्यकारणभाव प्रकट करना है। जैसे—घट कार्य की उत्पत्ति में कुलाल, मृत्तिका, चक्र, दण्ड आदि कारण हैं, इन कारणों के लिये 'हेतु' पद का प्रयोग होगा।

'अपदेश' पद का प्रयोग—शब्द द्वारा अर्थ का बोध कराने में जो साधन है शब्द—उसको अभिव्यक्त करने के लिये होगा। अर्थ का बोध कराने में शब्द की साधनता का निर्देश 'अपदेश' पद से होना चाहिये।

अनुमान वाक्य में जो साधन का निर्देश है, उसके लिये 'लिङ्ग' पद का प्रयोग होगा।

'प्रमाण' और 'करण' ये दोनों पद प्रत्येक प्रमाण में 'ज्ञान-साधन' के लिये प्रयुक्त होते हैं। प्रत्यक्ष में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' प्रमाण अथवा करण है। अनुमान प्रमाण में लिङ्गज्ञान अर्थात् व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान–अनुमिति का साधन होने से 'प्रमाण' अथवा 'करण' कहाजायगा। शब्द प्रमाण में शब्द द्वारा अर्थ का बोध कराने में पदज्ञान साधन होता है, अतः वह 'प्रमाण' अथवा 'करण' पद से कहाजायगा।

फलतः इन पदों में साधनतारूप अर्थ के आधार पर समानता है, वैसे इनके प्रयोग का अपना-अपना क्षेत्र है। इसलिये केवल इतने आधार पर, कि अर्थ का बोध कराने में शब्द साधन है; शब्दज्ञान को लैङ्गिकज्ञान नहीं समझना चाहिये ॥४॥

प्रसंग का निगमन करते हुए सूत्रकार ने समस्त ज्ञानों के समान मूलाधार का निर्देश किया—

१. '…लिङ्ग निमित्तं प्रमाणं कारण०' चन्द्रा०।

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात्[1] ॥५॥ (३४६)

[अस्य] इसका [इदम्] यह है [इति] इसप्रकार [बुद्ध्यपेक्षितत्वात्] बुद्धि (ज्ञान) के अपेक्षित होने से।

सूत्र में 'अस्य' और 'इदम्' दोनों सर्वनाम पद हैं। ये यथाप्रसंग अभिमत अर्थ का बोध कराते हैं।

"अस्य कार्यस्य इदं कारणम्।
अस्य कारणस्य इदं कार्यम्।
अस्य ज्ञापकस्य इदं ज्ञाप्यम्।
अस्य अपदेशस्य इदं अपदेश्यम्।
अस्य लिङ्गस्य इदं लिङ्ग्यम्।
अस्य प्रमाणस्य इदं प्रमेयम्।
अस्य करणस्य इदं कार्यम्।
अस्य व्यापकस्य इदं व्याप्यम्।
अस्य साध्यस्य इदं साधनम्।"

इत्यादि अर्थों का बोध प्रसंगानुसार इन सर्वनाम पदों द्वारा होता है। इन सभी प्रसंगों में दो धर्मों की परस्पर साध्य-साधन बुद्धि अपेक्षित होती है। जब किसी एक धर्म से दूसरे धर्म का ज्ञान करना होता है, तो उनके परस्पर साध्य-साधनभाव का ज्ञान आवश्यकरूप से होना चाहिये। इस साधन का यह साध्य है, अथवा इस साध्य का यह साधन है, इसप्रकार का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रमाण चाहे कोई हो, साध्य-साधनभाव की समानता सर्वत्र रहती है। इतनी समानता से शब्दप्रमाण की स्वतन्त्र सत्ता में कोई बाधा नहीं आती। यह प्रथम कहागया है, कि शब्द से अर्थ का बोध संकेत के अधीन रहता है। कौन शब्द किस अर्थ का बोधक है, यह संकेत द्वारा निर्धारित है। अनेकत्र व्युत्पत्ति अथवा निर्वचन द्वारा उस अर्थ को अभिव्यक्त कियाजाता है। संकेतों में देश-काल भेद से भेद होना सुतरां संभव है। यह नैसर्गिक वस्तुधर्म नहीं है, जो एक निश्चित लिङ्ग-लिङ्गिभाव का नियामक हो।

यदि उपमान, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संभव, अभाव आदि नामों से कथित प्रमाणों की प्रक्रिया का अनुमान प्रमाण की प्रक्रिया से नितान्त साम्य है, तो उन को अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं रहती। पर उन प्रक्रियाओं से अर्थबोध तो होता ही है। अङ्गुलीनिर्देश, भ्रूविक्षेप, शिरःकम्पन आदि विविध

१. 'बुद्ध्यपेक्षत्वात्' चन्द्रा०।

दैहिक क्रियाओं से विशिष्ट अर्थ का बोध होता है; परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इसरूप में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाणों का स्वतन्त्ररूप से मानना अपेक्षित है ॥५॥

उक्त प्रमाणजन्य अनुभवों से संस्कार द्वारा निमित्तवश स्मृतिरूप ज्ञान का उदय हुआ करता है। अनुभवज्ञान के उपपादन के अनन्तर सूत्रकार ने स्मृतिज्ञान के विषय में कहा—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च
स्मृतिः ॥६॥ (३४७)

[आत्ममनसोः] आत्मा और मन के [संयोगविशेषात्] संयोगविशेष से [संस्कारात्] संस्कार से [च] तथा [स्मृतिः] स्मृति ज्ञान होता है।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आत्मा को जो अनुभव होते हैं, वे तात्कालिक रहते हैं; परन्तु उन अनुभवों से उस विषय के संस्कार आत्मा में जमजाते हैं। यह 'संस्कार' नामक एक विशेषगुण आत्मा का मानाजाता है। इसका अन्य नाम 'भावना' है। जो आत्मा को अनुभव होता है, उसकी 'भावना' आत्मा में निहित रहती है। जब कभी कोई निमित्त सामने आता है, तो आत्मा के साथ मन का संयोगविशेष होने से वे भावना उभर आती हैं, और उस विषय का स्मरण हो आता है। स्मृति के उभरने में विषयस्मरण की दृढ़ इच्छा कारण है, संस्कार व्यापार है, आत्ममनःसंयोग असमवायिकारण है, तात्कालिक अन्य उद्बोधक सहकारी कारण हैं, प्रणिधान[1] आदि निमित्तकारण कहेजाते हैं। आत्मा और मन का संयोग तो सदा रहता है, उसकी विशेषता है–प्रणिधान आदि निमित्तसहकृत होना। जब स्मृति को उभारने वाले अन्य निमित्त सामने आजाते हैं, तो यह संयोग स्मृति की उत्पत्ति में कारगर होजाता है ॥६॥

स्वप्न दशा में होनेवाले स्मृतिज्ञान के विषय में सूत्रकार ने बताया—

तथा स्वप्नः ॥७॥ (३४८)

[तथा] वैसे [स्वप्नः] स्वप्न (में होनेवाला ज्ञान स्मृति है)।

जैसे गत सूत्र में स्मृति उत्पन्न होने के कारण बताये है, वैसे अर्थात् उन्हीं कारणों से स्वप्नज्ञान उत्पन्न होता है; इसलिये वह स्मृतिरूप समझना चाहिये। स्मृति के कारण आत्ममनःसंयोग और संस्कार बताये। स्वप्न में बाह्य इन्द्रियां निष्क्रिय होजाती हैं। यह ज्ञान केवल मानस रहता है। यद्यपि अन्य स्मृतिरूप ज्ञान सदा मानस होता है, पर वहां बाह्येन्द्रियसापेक्ष अन्य अनेकप्रकार के निमित्त

---

१. द्रष्टव्य, न्यायदर्शन, ३।२।४४, सूत्र तथा वात्स्यायन भाष्य।

सहकारी रहते हैं। स्वप्न में उनका प्रायः अभाव रहता है। स्वप्न में आत्मा के साथ मनःसंयोग की विशेषता निद्रादोष समझना चाहिये। इसके कारण स्वप्न में स्मृति की शृंखला व्यवस्थित नहीं रहती। स्वप्न में जो अभी कुत्ता दीखरहा है, क्षण में वही घोड़ा और तत्काल अनन्तर वही ऊंट दिखाई देने लगता है।

स्वप्न में संस्कार इस जन्म के तथा कभी-कभी पूर्वजन्मों के उद्बुद्ध होजाते हैं। ऐसे संस्कारों से उभरा स्वप्न-ज्ञान स्वप्न में ही समाप्त होजाता है। स्वप्न के टूटते-टूटते प्रयत्न करने पर भी उसका आभास तक नहीं रहता। अनेक बार ऐसी स्थिति आई हैं, किसी–समझ में न आनेवाली–गहरी समस्या का समाधान स्वप्नदशा में अनायास उपलब्ध होगया है, और उससे एक अनुपम सन्तोष व आनन्द की प्रतीति हुई। उस प्रसन्नता के उद्रेक में स्वप्न टूटता गया, और वह ज्ञान पूर्णरूप से बिखरगया। गहरा प्रयत्न करने पर भी उसे फिर न समेटा जासका, न पकड़ा जासका। स्वप्न-विशेषज्ञों का कहना है, ऐसे संस्कार पूर्व-जन्म के होते हैं। इस जन्म से उनका कोई लगाव नहीं। स्वप्न में किसी पुण्यविशेष के सहयोग से उभर आने पर भी उनका इस जीवन (चालू जीवन) में किसीप्रकार का उपयोग नहीं किया जासकता।

स्वप्न वस्तुतः एक गम्भीर रहस्य है। इस विषय–विवेचन के लिये जो कुछ समझा व लिखाजाय, अत्यन्त अल्प है। अभी तक इस विषय में जो कुछ कहा व लिखागया है, वह उस स्थिति के शतांश–सहस्रांश को भी अभिव्यक्त नहीं करता। यथार्थ में यह मन की क्रीड़ा का खुला क्षेत्र है। मानस जगत् के विषय में अभी मानव अज्ञानी जैसा है। संभव है, संसार में इस अज्ञान का कभी अन्त न हो। पर यह एक मोटा-अटूटा सिद्धान्त है, कि स्वप्न अपने अनुभवों से जनित स्मृतियों का जाल-जंजाल है, जिसकी उलझनों को सुलझाने के लिये कोई साधन व उपाय संसारी-जन के सामने नहीं आया ॥७॥

स्वप्न के अन्तर्गत होने वाले स्वप्नज्ञान के विषय में सूत्रकार ने बताया—

स्वप्नान्तिकम्[1] ॥८॥ (३४९)

[स्वप्नान्तिकम्] स्वप्न के अन्तर्गत होनेवाला (स्वप्नज्ञान भी स्मृतिरूप होता है)।

गतसूत्र से 'तथा' पद का अनुवर्त्तन यहां समझना चाहिये। जैसे स्वप्नज्ञान आत्ममनःसंयोगविशेष और संस्कारजन्य होने के कारण स्मृति है; ऐसे ही स्वप्नान्तिकज्ञान स्मृति है। क्योंकि यह अतीतज्ञान के प्रत्यवेक्षण (पुनः उसीरूप

१. 'तथा स्वप्नः स्वप्नान्तिकं च' चन्द्रा०।

में ज्ञान होने) से उत्पन्न होता है, तथा आत्ममनःसंयोग एवं भावना का सहयोग भी रहता है।

स्वप्नान्तिक पद के अर्थ में व्याख्याकारों का परस्पर मतभेद दीखरहा है। चन्द्रकान्त भट्टाचार्य ने इसका अर्थ 'सुषुप्ति' माना है। परन्तु सुषुप्ति दशा में कोई ज्ञान होता है, और वह स्मृतिरूप है, ऐसा विचार साधारणतः दार्शनिकों में स्वीकार कियागया प्रतीत नहीं होता। जागने पर जो प्रतीति होती है—'सुख-महमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्'। सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना। यह सुषुप्ति दशा में किसी स्मृतिरूप ज्ञान के होने की साधक नहीं है। इससे तो यही प्रतीत होता है, कि उस दशा में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। सुखपूर्वक सोने की प्रतीति जो जागने पर होती है, वह उस दशा में किसी प्रकार की प्रति-कूल वेदना के अभाव की द्योतक है। आचार्यों ने इसीकारण सुषुप्ति दशा को अज्ञानमूलक तामस दशा माना है।

अन्य व्याख्याकार[1] का कहना है—स्वप्न में जो अनुभवसदृश प्रतीति होती रहती है, उससे जो संस्कार आत्मा में बनते हैं, उनके द्वारा उसी स्वप्न के अनुक्रम (सिलसिले) में जो स्मृतियां आगे उभरती हैं, वे 'स्वप्नान्तिक' पद से कहीगई हैं। इसप्रकार 'स्वप्नान्तिक' ज्ञान स्मृति है। इसमें इतना विशेष है, कि स्वप्न में स्मृतिज्ञान पहले (अर्थात् जागृत अवस्था के) अनुभव से जनित संस्कारों के द्वारा उत्पन्न होता है, और स्वप्नान्तिक स्मृतिज्ञान स्वप्नकाल में उत्पन्न अनुभव से जनित संस्कारों से होता है। शंकर मिश्र ने अपनी व्याख्या में 'केचित्' कहकर एक विचार यह दिया है—स्वप्न[2] के मध्य में प्रमाभूत जो ज्ञान होता है, वह 'स्वप्नान्तिक' है।

ये विचार विवेचनीय हैं। वैशेषिक एवं न्यायकी परम्परा में स्वप्न को दृढ़ता के साथ स्मृतिरूप ज्ञान मानाजाता है। अनुभवज्ञान होने का स्वरूप स्मृति से सर्वथा भिन्न वर्णन कियागया है। तब—'स्वप्न में अनुभव होता है—इस कथन का आधार क्या हुआ? यह तो—स्वप्न को स्मृति मानते हुए वहां अनुभवात्मक ज्ञान का स्वीकार करना—वदतोव्याघात है। एक ओर उसे स्मृति बतला रहे हैं, साथ ही उसे अनुभव कहरहे हैं। वस्तुतः स्वप्नज्ञान को स्मृति मानते हुए आचार्यों

१. द्रष्टव्य—इस सूत्र पर शंकर मिश्र का व्याख्यान 'उपस्कार' तथा जय-नारायण भट्टाचार्य का व्याख्यान 'विवृत्ति'।
२. 'स्वप्नमध्ये प्रमाभूतं यज्ज्ञानं तत्स्वप्नान्तिकमिति केचित्।' प्रस्तुत सूत्र पर शंकरोपस्कार।

ने यह स्वीकार किया है, कि स्वप्नज्ञान में स्मृत्यंश पूर्णरूप से मुषित रहता है, अभिव्यक्ति में नहीं आता। इस कारण वहां ज्ञान अनुभव के समान होता प्रतीत होता है। आचार्य[1] प्रशस्तपाद ने स्वप्नज्ञान का विवरण देते हुए 'अनुभवनं मानसम्' कहा है। यहां 'अनुभवनम्' पद का प्रयोग उक्त भावना के अनुसार संभव है। इसी कारण प्रथम सन्दर्भ के प्रारम्भ में उपस्कार की पंक्ति का अर्थ करते हुए 'अनुभव' पद का तात्पर्य 'अनुभव सदृश प्रतीति' लिखा है।

'स्वप्नान्तिक' का भाव समझने के लिये यह व्याख्या कुछ सहयोग नहीं देती। आचार्य **प्रशस्तपाद** ने स्वप्नान्तिक के विषय में लिखा है—जब इन्द्रिय-समूह अपने कार्य से विरत होजाता है, उस दशा में भी अतीत ज्ञान के प्रबन्ध (अनुक्रम–सन्तान–सिलसिले) का पुनः बाद में दर्शन होने से वह स्मृति ही है[2]। इस लेख में ऐसा भाव कहीं प्रतीत नहीं होता, कि वह अतीतज्ञान स्वप्नदशा में हुआ ही होना चाहिये। आचार्य के इस स्वप्नान्तिकपदविवरण का स्वप्नज्ञान के विवरण से कोई भेद प्रतीत नहीं होता।

स्वप्नान्तिक ज्ञान को प्रमारूप कहना तो स्पष्ट शास्त्रविरुद्ध है। स्वप्न की गणना अयथार्थज्ञान (अविद्या) में कीगई है। 'प्रमा' पद से यथार्थज्ञान का बोध होता है। 'स्वप्नान्तिक' स्वप्न की एक अवस्थाविशेष है। तब स्वप्नान्तिक ज्ञान को प्रमा कहना संगत न होगा।

'स्वप्नान्तिक' स्वप्न की कौन-सी दशा है, विचारणीय है। हमारा विचार है, स्वप्न के अन्तर्गत जो स्वप्न होता है, वह स्वप्नान्तिक है। अनेकबार यह देखाजाता है—स्वप्न का एक लम्बा सिलसिला चल रहा है, उसीमें व्यक्ति को यह प्रतीत होता है, कि वह सोकर उठा है, और उसने अमुक स्वप्न देखा। वह अपने साथियों को वह स्वप्न सुनाता है, और समझता है, कि मैं अब जाग गया हूं। पर वस्तुतः वह एक लम्बे स्वप्न का सिलसिला चल रहा होता है। कई बार व्यक्ति एक ही स्वप्न के अनुक्रम में अपने आपको अनेकबार सोता और जागता प्रतीत करता है। उस समय सोती हुई दशा के स्वप्न को स्वप्न में सुनाता है। इसप्रकार जब एक स्वप्न के अन्तर्गत स्वप्न देखाजाता है, वह 'स्वप्नान्तिक' समझना चाहिये।

---

१. **उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्येन्द्रियद्वारेणेव यदनुभवनं मानसं तत् स्वप्नज्ञानम्।'**

२. **'स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेव'**

इसमें यह आवश्यक नहीं, कि स्वप्नगत ज्ञान से होनेवाले संस्कार ही इसके कारण हों। वस्तुतः यह जागृत अवस्था के अनुभवों का स्मरण होता है। आये दिन व्यक्ति अपने स्वप्नों को जागृत अवस्था में साथियों को सुनाता देखाजाता है। जागृत का यह अनुभव कभी स्वप्न में उभर आता है। स्वप्न में व्यक्ति अपने आपको सोता और जागता प्रतीत करता है; और उस समय के स्वप्न को स्वप्न में सुनाता है। यह पूर्णरूप से जागृत अवस्था के अनुभव का स्वप्न में स्मरण है। यही 'स्वप्नान्तिक' का स्वरूप है ॥८॥

कभी ऐसा होता है, जिसका साक्षात् अनुभव नहीं किया, वह स्वप्न में दिखाई देजाता है। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

धर्माच्च ॥९॥ (३५०)

[धर्मात्] धर्म से [च] और (अधर्म से)।

कभी कोई स्वप्न शुभ के और कोई अशुभ के सूचक होते हैं। व्यक्ति ने उन शुभ-अशुभ की सूचनाओं का जागृत में कभी अनुभव नहीं किया होता। फिर भी स्वप्न में उनकी प्रतीति होजाती है। सूत्रकार ने बताया—ऐसी स्वप्नगत प्रतीतियों में धर्म और अधर्म निमित्त रहता है। शुभाशुभ सूचक अनेक बातों का उल्लेख मध्यकालिक आचार्यों ने अनेकत्र किया है[1]। उनमें से शुभसूचक कुछ चिह्न हैं—अपने आपको हाथी या घोड़े पर सवार देखना, पर्वत पर चढ़ना, छत्र लगाये देखना, खीरखाना, राजा अथवा राज-पुरुष का दर्शन करना आदि। अशुभ के सूचक हैं—स्वप्न में तेल मालिश करना, अन्धेरे कुए में गिरना, ऊंट, गधा अथवा भैंसे पर सवारी करना, कीचड़ में फंसना, अपना विवाह देखना आदि।

जो व्यक्ति जागृत अवस्था में कभी हाथी आदि पर नहीं चढ़ा, फिर भी स्वप्न में अपने आपको हाथी आदि पर सवार देखता है; इसको स्मृतिरूप समझने का आधार यह है, कि उसने अन्य व्यक्तियों को हाथी पर सवार देखा है, उसकी भी सवार होने की भावना होती रही है। धर्मविशेष का उद्रेक होने पर उसी भावनावश स्वप्न में वैसा प्रतीत होजाता है[2]। इसीरूप में इसे स्मृति समझना

१. "आरोहणं गोवृषकुञ्जराणां प्रासादशैलाग्रवनस्पतीनाम्।
आरुह्य नौकां प्रतिगृह्य वीणां भुक्त्वा रुदित्वा ध्रुवमर्थलाभः॥
कृष्णाम्बरधरा नारी कृष्णगन्धानुलेपना।
उपगूहति यं स्वप्ने तस्य मृत्युर्न संशयः॥

२. मेरे जीवन में ऐसी घटना दो बार हुई। छात्रावस्था में एकबार मैंने अपने-आपको हाथी पर सवार हुए जाता देखा। तब तक मैं कभी हाथी पर जागृत

चाहिये।

विविध प्रकार के स्वप्न होने में शास्त्रकारों ने अन्य अनेक निमित्त बताये हैं। स्वप्न के सभी प्रकार के निमित्तों का तीन में समावेश होजाता है—(१) संस्कारपाटव, (२) धातुदोष, (३) अदृष्ट।

१. किसी विषय के संस्कार का तीव्र होना, काम अथवा क्रोध आदि से अभिभूत व्यक्ति उसीका चिन्तन करता हुआ जब सोजाता है; वही भावना शयनकाल में उभर कर स्वप्न के रूप में प्रतीत होती हैं।

२. शरीर में धातु तीन प्रकार के हैं—वात, पित्त, कफ (श्लेष्मा)। वात के प्रधान अथवा विकृत होने पर स्वप्न में व्यक्ति अपने-आपको आकाश में उड़ता देखता है। भय आदि तथा अन्य प्रकार की बाधा आने पर अपनी रक्षा की भावना से वह आकाश में उड़कर भय व बाधा आदि से अपने आपको दूर हुआ समझता है। इसीप्रकार पृथ्वी पर अपने आपको विचरण करता देखता है।

पित्त के प्रबल होने अथवा विकृत होने पर व्यक्ति स्वप्न में जगह-जगह पर आग जलती देखता है। कभी सुनहरे पहाड़ व चमकती बिजलियों को देखता है। आग को छूलेने पर अथवा हाथ आदि कोई अंग आग के अन्दर देदेने पर भी वह प्रकट करता है, देखो–मैं जला नहीं। यह कैसा चमत्कार है।

शरीर में श्लेष्म धातु के प्रबल होने अथवा विकृत होने पर व्यक्ति स्वप्न में नदी-नद प्रवाह, समुद्र तथा विशाल विस्तृत जलराशि, हरे-भरे पहाड़, फसलों से भरे खेत आदि देखता है।

३—अदृष्टनिमित्तक स्वप्नों का धर्म-अधर्म से होने वाले शुभाशुभसूचक स्वप्न के रूप में उल्लेख कर दिया गया है। शास्त्रीय परिभाषा में 'अदृष्ट' पद धर्म-अधर्म का बोधक है। शुभसूचक स्वप्न धर्म-निमित्तक तथा अशुभसूचक अधर्मनिमित्तक हुआ करते हैं। सब प्रकार के स्वप्नों में आत्म-मनःसंयोग और संस्कार अवश्य कारण रहते हैं।

प्रायः यह समझाजाता है, कि स्वप्नज्ञान से बाह्येन्द्रिय प्रभावित नहीं होतीं, अथवा शयनकाल में बाह्येन्द्रियग्राह्य ज्ञान से स्वप्न कभी प्रभावित नहीं होता। पर इन दोनों का विपर्यास स्वप्न की स्थिति में देखाजाता है। स्वप्न

दशा में सवार नहीं हुआ था। उसी दिन मेरी न्यायतीर्थ परीक्षा का परिणाम आया था, मैं विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ। इसीप्रकार दुबारा एक ग्रन्थ पर राजकीय पुरस्कार मिलने से पूर्व ऐसा स्वप्न हुआ था। पर तब तक जागृत में हाथी की सवारी अनेक बार कर चुका था।

ज्ञान का बाह्येन्द्रिय पर प्रभाव के उदाहरणरूप में 'स्वप्नदोष' नामक रोग का नाम लिया जासकता है। अनेक बार सोता हुआ व्यक्ति बड़बड़ाता व चीखता है। कभी व्यक्ति हाथ व पैर आदि को पटक कर मारता है। इसप्रकार के अन्य अनेक उदाहरण—स्वप्नज्ञान से बाह्येन्द्रियों के प्रभावित होने के—देखे जाते हैं।

एक व्यक्ति सोया हुआ है। उसके थोड़ी दूरी पर संगीत का कार्यक्रम चल रहा है। वहां के गाने व बजाये जाने की आवाज सोते हुए व्यक्ति तक बड़े आराम से पहुंच रही है। वह ध्वनि उसके कान में पड़ती है। वहां वह एक स्वप्न की स्थिति को प्रस्तुत करती है। उस व्यक्ति को प्रतीत होता है, कि वह एक संगीत पार्टी (महफ़िल) में विद्यमान है, उसके अनेक मित्र-परिचित मौजूद हैं, जो सब एकत्रित संगीत का आनन्द ले रहे हैं। यह स्थिति तात्कालिक बाह्य घटनाओं का इन्द्रियों पर प्रभाव और उससे घटित स्वप्न का निश्चय कराती है।

यह श्रोत्रेन्द्रिय का उदाहरण हुआ। एक त्वगिन्द्रिय का उदाहरण लीजिये। सोते व्यक्ति के ऊपर से ओढ़ा हुआ कपड़ा उतर गया है। धीरे-धीरे उसे ठण्ढ लगने लगी है, पर ऐसी ठण्ढ नहीं है, जो उसकी नींद को तोड़ दे, समझिये ठण्ढ मीठी है। उस मधुर ठण्ढ का अनुभव करते हुए व्यक्ति को स्वप्न होता है—वह कहीं चला जा रहा है, धीरे-धीरे बूंदें पड़ने लगती हैं, उसे प्रतीत होता है, वह पानी से भीग रहा है। उसीके अनुसार कभी नहाने का स्वप्न बन जाता है, कभी नदी में तैरने का।

कभी-कभी **भविष्यत्** में होने वाली घटना स्वप्न में पहले दिखाई देजाती है। ऐसी एक घटना इन्हीं दिनों मेरे साथ बीती है।[1] जीवन में अनेक बार ऐसी घटना आचुकी हैं। ऐसे स्वप्नों में अदृष्ट को निमित्त माना जासकता है। इसी आधार

१. दिनांक ५ मार्च, सन् ७१ को एक लिफ़ाफा अपने सम्बन्धी लै० कर्नल केशरीसिंह को इम्फाल [मणिपुर राज्य की राजधानी] के पते पर रजिस्ट्री किया। आशा थी, उसके उत्तर में दि० १७/१८ मार्च तक उनका कुशल समाचार मिलेगा। परन्तु कोई उत्तर उधर से २० मार्च तक भी नहीं मिला। दि० २० मार्च शनिवार की रात में लगभग तीन-चार बजे के बीच स्वप्न के सिलसिले में आया, कि पोस्टमैन ने वह लिफ़ाफा लाकर मेरे हाथ में दिया, कहा—यह आपका रजिस्ट्री पत्र वापस आगया है, इस स्लिप पर दस्तखत कर दें। हस्ताक्षर कर स्लिप वापस कर दी। स्वप्न में जो पारिवारिक जन दिखाई दे रहे थे, उन्हें वह रजिस्ट्री-पत्र दिखाया, और वापस आजाने का जिक्र किया। उसकी साधारण चिंता में करवट बदलते उठने

पर श्रीहर्ष ने कहा है–न देखे हुए ग्रर्थ को भी ग्रदृष्ट के प्रताप से स्वप्न किसी भी व्यक्ति को दिखा देता है ।[१] इसप्रकार स्पष्ट होता है, कि अनेक बार स्वप्न विशेषों में धर्म-अधर्म कारण होते हैं ॥६॥

वैशेषिक शास्त्र में स्वप्न को **ग्रविद्या** के ग्रन्तर्गत माना है। इसी प्रसंग से स्वप्न का विवेचन करने के ग्रनन्तर सूत्रकार ने ग्रविद्या के कारण बताये—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥१०॥ (३५१)

[इन्द्रियदोषात्] इन्द्रियों के दोष से [संस्कारदोषात्] संस्कारों के दोष से [च] तथा [ग्रविद्या] ग्रविद्या उत्पन्न होती है।

वैशेषिक शास्त्र में 'ग्रविद्या' के ग्रन्तर्गत संशय, स्वप्न, ग्रनध्यवसाय, विपर्यय चारों की गणना कीजाती है। परन्तु प्रकरण का विचार करते हुए यहां 'ग्रविद्या' पद केवल विपर्यय का बोध कराता है। विपर्यय ग्रर्थात् मिथ्याज्ञान इन्द्रियदोष से तथा संस्कारदोष से हुग्रा करता है। इन्द्रियदोष है–वात, पित्त ग्रादि शारीर धातुग्रों के विकृत होने से इन्द्रियों के द्वारा विषयग्रहण करने की क्षमता में दुर्बलता ग्राजाना प्रत्येक इन्द्रिय में विभिन्न कारणों से दुर्बलता ग्राजाने पर विविध

का समय होगया। ग्रावश्यक कार्यों से निबट कर जब सब पारिवारिक जन उपाहार के लिये बैठे, तब उस स्वप्न का मैंने जिक्र किया। सबने चिन्ता का भावना व्यक्त की, ग्रौर बात ग्राई-गई होगई। उस दिन [२१।३।७१] रविवार था। मैं ग्राशान्वित रहा, संभवतः इस सप्ताह कोई सूचना उधर से ग्राये। सप्ताह बीतने पर ग्रन्य पत्र लिखने का संकल्प किया। पर ग्राज ता० २५।३।७१, गुरुवार को दोपहर पोस्टमैन ने ग्रावाज दी, ग्रौर वही रजिस्ट्री लिफाफा मेरे हाथ में देकर कहा, ग्रापकी यह रजिस्ट्री वापस ग्रा गई है; इस स्लिप पर दस्तखत कर दें। उस समय मेरे ग्रौर पारिवारिक जनों के ग्राश्चर्य का ठिकाना न था। समझता हूं, उस दिन ता० २०।३।७१, शनिवार को यह पत्र इम्फाल के पोस्ट ग्राफ़िस से वापस किया गया। उसी रात मुझको उक्त स्वप्न हुग्रा। वह लिफ़ाफा ग्रब मेरे पास सुरक्षित है।

उसी दिन प्रातः ग्रपने कार्यकाल के ग्रवसर पर प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या लिखी गई थी। प्रसंग ग्रनुकूल देखकर टिप्पणी में उक्त घटना का यह उल्लेख कर दिया है।

१. नैषध [१।३९] में श्रीहर्ष की उक्ति है--'ग्रदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात् करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ।'

रोग उत्पन्न हो जाते हैं, यही इन्द्रियदोष हैं। ऐसा होने पर विषय का उपयुक्त ग्रहण न होने से उसका अन्यथा—कुछ का कुछ—ज्ञान होजाता है; यही मिथ्याज्ञान व विपर्ययज्ञान है। अनुमान में भी इन्द्रियदोष से मिथ्या-अनुमान होजाता है। धूल आदि को इन्द्रियदोष से धुआं समझ लिया जाय, तो उससे अग्नि का अनुमान मिथ्या होगा। इन्द्रियदोष आदि से 'प्रत्यभिज्ञान' भी कभी मिथ्या होजाता है। इसमें संस्कारादि दोष भी कारण संभव है। जैसे स्वप्न के मिथ्या होने में निद्रा दोष कारण रहता है; ऐसे अनेकत्र वस्तु का दूर होना; व्यवहित होना आदि भी विपर्ययज्ञान में कारण होजाते हैं।

संस्कारदोष से मिथ्याज्ञान उस अवस्था में होता है, जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो, और उससे भ्रान्त संस्कार होजाय। उससे जो स्मृति आदि ज्ञान होगा, वह मिथ्या होगा ॥१०॥

सूत्रकार ने अविद्या का स्वरूप बताया—

तद् दुष्ट[1]ज्ञानम् ॥११॥ (३५२)

[तत्] वह (अविद्या), [दुष्टज्ञानम्] दोषपूर्ण ज्ञान है।

सूत्र में 'तत्' पद गतसूत्र में पठित 'अविद्या' का परामर्श करता है। 'अविद्या' पद स्त्रीलिंग और 'तत्' नपुंसक पद है। व्याख्याकारों ने इस असामञ्जस्य का सामाधान—'तत्' पदको सर्वनाम समानार्थक मानते हुए अव्यय कहकर—किया है। अव्यय पद अनियतलिंग होने से 'तत्' नपुंसक पद से स्त्रीलिंग 'अविद्या' के परामर्श में कोई असामञ्जस्य नहीं है। विधेय पद (ज्ञान) की भावना से भी 'तत्' के नपुंसक प्रयोग का समाधान संभव है। गतसूत्र में जो 'अविद्या' कही गई है, वह दुष्ट ज्ञान है।। 'या अविद्या प्रागुक्ता, दुष्टज्ञानं तत्'। ऐसे प्रयोग में कोई आपत्ति नहीं दिखाई देती। सूत्र का तात्पर्य हुआ—जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या है—'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानम्-अविद्या' ॥११॥

प्रसंगवश विद्या का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अदुष्टं विद्या ॥१२॥ (३५३)

[अदुष्टम्] दोषपूर्ण नहीं है (जो ज्ञान, वह) [विद्या] विद्या है, (प्रमा अथवा यथार्थज्ञान है)।

पूर्वसूत्र से 'ज्ञान' पद की अनुवृत्ति यहां है। जो ज्ञान दोषरहित है, वह विद्या है। इसीको 'प्रमा' नाम से कहाजाता है। अविद्या से विपरीत होने के कारण विद्या का स्वरूप होगा—जो जैसा पदार्थ है, उसको वैसा ही जानना।

१. 'तद् दुष्टं ज्ञानम्' चन्द्रा०।

'तस्मिंस्तदिति बुद्धिः विद्या, सैव 'प्रमा' इत्युच्यते' ॥१२॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, योगी के ज्ञान को अविद्या क्यों नहीं कहाजाता ? क्योंकि वहां भी दूरत्व एवं व्यवधान आदि दोष रहते हैं, तथा वस्तु के न रहने पर भी उसका [-अतीत-अनागतकालिक] ज्ञान योगी को होजाना बताया जाता है। सूत्रकार ने बताया—

आर्ष सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥१३॥ (३५४)

[आर्षम्] आर्ष (ज्ञान), [सिद्धदर्शनम्] सिद्ध व्यक्तियों को हुआ (ज्ञान), [च] तथा [धर्मेभ्यः] धर्मों (के उद्रेक) से होता है।

लिङ्ग आदि की अपेक्षा के बिना अतीत अनागत वर्त्तमान अर्थों में—धर्म आदि अतीन्द्रिय अर्थों में तथा ऐसे अर्थों के विषय में जो प्रायः ग्रन्थों में उल्लिखित नहीं मिलते—साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को जो प्रतिभामूलक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'आर्ष' ज्ञान है। ऐसा आर्षज्ञान अथवा प्रातिभज्ञान कभी साधारण लौकिक व्यक्तियों को होजाता है। जैसे—घर में कोई कन्या अचानक कहती है—कल मेरा भाई आने वाला है, मेरा हृदय कह रहा है[1]। ऐसा ज्ञान स्वभावतः पवित्रात्मा व्यक्तियों को कभी होजाता है।

जिन व्यक्तियों ने किसी दिशा में विशेष सिद्धि प्राप्त करली है, उनको भी उन विषयों में ऐसा ज्ञान होजाता है, जो साधारण व्यक्ति के लिये संभव नहीं होता। सिद्धि प्राप्त होजाने का तात्पर्य है—उस विषय की मूलभूत अवस्थाओं तक यथार्थ जानकारी प्राप्त होजाना। यह किसी एक विषय में विशेष जानकारी की स्थिति है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों को जो ज्ञान होता है, उसकी प्रवृत्ति विभिन्न विषयों में संभव है। उनके लिये विशेष ज्ञान का कोई एक विषय सीमित नहीं रहता। यही आर्ष और सिद्धदर्शन में थोड़ा अन्तर है। इन सब प्रकार के विशेष ज्ञानों में धर्मोद्रेक निमित्त रहता है। कारण यह है, इसप्रकार की स्थिति प्राप्त करने में व्यक्ति के लिये धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्यथा साधारण जीवन के समान प्रत्येक व्यक्ति को यह अवस्था प्राप्त होजाया करे।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार कर देखाजाय, तो इसप्रकार के ज्ञान की वही स्थिति होती है, जो स्थिति योगज धर्म द्वारा योगी को होने वाले ज्ञान की है। योगी अतीत, अनागत, वर्त्तमान–व्यवहित विप्रकृष्ट आदि विषयों का साक्षात्कार करता है; यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष है। ऐसा ज्ञान आर्ष अथवा सिद्धदर्शन संभव है। इनको अतिरिक्त अथवा विभिन्न प्रकार का ज्ञान मानना किसी प्रबल

---

१. कन्या कथयति—श्वो मे भ्राता आगन्ता, हृदयं मे कथयतीति।

प्रमाण पर आधारित नहीं है। लौकिक प्रातिभ ज्ञान में साधन की दृष्टि से थोड़ा अन्तर कहा जासकता है ? क्योंकि यहां विषय की मूलभूत अवस्थाओं तक किसी प्रकार की विशेष जानकारी–अथवा साधनविशेष की सिद्धि–का प्रश्न नहीं रहता। इतना अवश्य है, कि सभी प्रकार के ज्ञानों में धर्मविशेष निमित्त रहता है ॥१३॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
नवमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्।
सम्पूर्णो नवमोऽध्यायः[१]।

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में इस अध्याय का आह्निक–विभागनिर्देश नहीं है। अन्त में केवल '॥इति नवमोऽध्यायः॥' निर्दिष्ट है।

अथ दशमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

आत्मा के विशेषगुण ज्ञान का विवेचन करने के अनन्तर सूत्रकार ने अन्य गुण सुख-दुःख के विषय में बताया—

[1]इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुख-
दुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥ (३५५)

[इष्टानिष्टकारणविशेषात्] इष्ट, अनिष्ट कारणविशेष से [विरोधात्] विरोध से [च] और [मिथः] परस्पर [सुखदुखयोः] सुख और दुःख का [अर्थान्तरभावः] भेद है।

संसार के अन्दर न केवल साधारण जनता, अपितु विशिष्ट व्यक्तियों के व्यवहार में भी यह देखा जाता है, कि लोग दुःखों में सुख का अभिमान करलेते हैं। जो कार्य दुःखजनक और दुःखस्वरूप हैं, उनको सुख समझ लिया जाता है। चोरी, जारी, मद्यपान, परपीड़न आदि ऐसे ही कार्य हैं। इससे कोई यह न समझ ले, कि दुःख का दूसरा नाम सुख है; सूत्रकार ने बताया—सुख और दुःख सर्वथा परस्पर भिन्न गुण हैं। कारण यह है, इन गुणों का आपस में विरोध है। जब सुख है, तो दुःख नहीं रहता, और दुःखावस्था में सुख नहीं। अनुकूलवेदनीय सुख तथा प्रतिकूलवेदनीय दुःख होता है। इसप्रकार इन दोनों का परस्पर विरोध होने से ये अभिन्न नहीं हैं।

इनके परस्पर भिन्न होने में एक और कारण यह है—सुख इष्ट कारणों से उत्पन्न होता है; दुःख अनिष्ट कारणों से। सुगन्धित माला, चन्दन, वनिता आदि इष्ट हैं, ये सुखजनक होते हैं। विष, सर्प, कण्टक, दुर्गन्ध आदि अनिष्ट हैं, ये दुःख के जनक हैं। इसप्रकार कारणभेद से इनका परस्पर भेद मानना युक्त है। यह भेद इतना दृढ़ है, कि इनमें से एक का नाश होने पर दूसरा अस्तित्व में आता है। तब इनके एकत्व की कल्पना भी संभव नहीं। यदि शास्त्र में अन्यत्र कहीं इनके अभेद का कल्पनामूलक कथन होगया है, तो वह केवल वैराग्य की भावना से है। वैषयिक सुखों में आत्मा न फंसा रहे, जो आपातमात्र हैं, केवल

---

१. इस सूत्र से पहले अतिरिक्त सूत्र है—'आत्मसमवायः सुखदुःखयोः पञ्चभ्योऽर्थान्तरत्वे हेतुस्तदाश्रयिभ्यश्च गुणेभ्यः' चन्द्रा०।

क्षणस्थायी। वैषयिक सुखों के प्रति वैराग्य की भावना जगाने के लिये ऐसे सुखों को दुःख कहागया है, जिससे व्यक्ति अध्यात्म की ओर प्रवृत्ति में सजग सतर्क हो-सके ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, सुख-दुःख परस्पर भिन्न रहें, पर इनको ज्ञानरूप अर्थात् ज्ञान से अभिन्न मान लेना चाहिये; क्योंकि अनुकूल ज्ञान का नाम सुख और प्रतिकूल ज्ञान का नाम दुःख कहा जाता है। सूत्रकार ने समाधान किया—

संशयनिर्णयान्तराभावश्च[1] ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥ (३५६)

[संशयनिर्णयान्तराभावः] संशय और निर्णय इन दोनों के अन्तर्गत न आना [च] और भी [ज्ञानान्तरत्वे] ज्ञान से भिन्न होने में (सुख-दुःख के) [हेतुः] हेतु है।

सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं, इसमें यह एक और हेतु है, कि ये दोनों न संशय के अन्तर्गत आते हैं, न निर्णय के। ज्ञान दो प्रकार से अभिव्यक्त होता है—संशय और निर्णय। कोई ज्ञान या तो संशयरूप होगा, या निर्णयरूप। सुख अथवा दुःख न संशय के रूप में आता है, न निर्णय के। संशय द्विकोटिक ज्ञान होता है—यह ऐसा है, या वैसा ? सुख-दुःख का स्वरूप ऐसा नहीं होता। निर्णय का रूप होता है—यह ऐसा न होकर वैसा ही है। सुख अथवा दुःख इस रूप में भी कभी नहीं भासता, अतः सुख-दुःख का ज्ञानरूप होना संभव नहीं।

सूत्रपठित 'च' पद से अन्य हेतु 'उपलब्धि' का संकेत किया। सुख, दुःख, ज्ञान इनकी उपलब्धि भिन्न प्रकार से होती है। मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं ज्ञानी हूं अथवा जानता हूं। 'सुख-दुःखी हूं' प्रतीति में ज्ञान नहीं भासता। 'जानता हूं' इस प्रतीति में सुख-दुःख नहीं भासते। अतः सुख-दुःख को ज्ञानरूप नहीं माना जासकता।

यह कहना युक्त नहीं, कि अनुकूलज्ञान का नाम सुख और प्रतिकूलज्ञान का नाम दुःख है, तथा इस विवरण के अनुसार सुख-दुःख को ज्ञान मानाजाय। वस्तुतः अनुकूलज्ञान के विषय का नाम सुख और प्रतिकूलज्ञान के विषय का नाम दुःख होता है। सुख-दुःख अनुकूल-प्रतिकूलज्ञान नहीं प्रत्युत उस ज्ञान के विषय होते हैं। जो इष्ट है, उस विषय का ज्ञान अनुकूल, और जो अनिष्ट है, उस विषय का ज्ञान प्रतिकूल है। वे विषय सुख-दुःख हैं, ज्ञान नहीं ॥२॥

---

१. 'संशयनिर्णययोरर्थान्तरभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः' चन्द्रा०।

इसी भावना को सूत्रकार ने प्रकारान्तर से बताया—

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्[1] ।।३।। (३५७)

[तयोः] उन दोनों की [निष्पत्तिः] सिद्धि [प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम्] प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है।

ज्ञान के दो प्रकार संशय और निर्णय की सिद्धि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से होती है। परन्तु सुख-दुख की सिद्धि–ज्ञान का जो विषय है, उसके–उपयोग-अनुपयोग से होती है। प्रत्यक्ष और अनुमान से जब किसी विषय का ज्ञान होता है, वह ज्ञान स्वयं सुख-दुःख नहीं है, यह तथ्य तो सूत्रकार ने पांचवें सूत्र में बताया है। यहां इतना बोध्य है, कि उस ज्ञान के विषय का उपयोग-अनुपयोग सुख-दुःख का स्वरूप है। उपयोग यदि अनुकूल है, तो सुख; प्रतिकूल है, तो वह दुःख होगा। स्रग् आदि का उपयोग सुख और विष आदि का दुःख है। इसीप्रकार अनुपयोग को सुख-दुःखरूप समझना चाहिये। स्रग् आदि का अनुपयोग दुःख है, तथा विष आदि का अनुपयोग सुख है।

गत सूत्र में ज्ञान और विषय का भेद बताना लक्ष्य है। इसीके अनुसार उस की व्याख्या में ज्ञान से भिन्न विषय को सुख-दुःख कहा है। प्रस्तुत सूत्र में साधन का भेद बताना लक्ष्य है। संशय-निर्णयरूप ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष व अनुमान हैं, और सुख-दुःख का साधन विषय है। विषय का उपयोग सुख-दुःखरूप होने से विषय को उसका साधन मानना बाधारहित है। इसप्रकार ज्ञान से सुख-दुःख का भेद प्रमाणित होता है।

विवृतिकार जयनारायण भट्टाचार्य के विचार से प्रस्तुत सूत्र में सुख-दुःख का निर्विकल्पक ज्ञान से भेद बतायागया है। सूत्र का 'तयोः' सर्वनाम सुख-दुःख का परामर्श करता है। सुख-दुःख की सिद्धि प्रत्यक्ष व अनुमान से होती है। अपने आत्मा में सुख-दुःख प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। पर-आत्मा में मुखादि की प्रसन्नता और दीनता आदि के द्वारा पहचानेजाते हैं। परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान न प्रत्यक्ष से जानाजाता, न अनुमान से। अतः सुख-दुःख, निर्विकल्पक ज्ञान से भिन्न मानेजाने चाहियें ।।३।।

लैङ्गिक ज्ञान से सुख-दुःख का भेद बतलाने के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु

---

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में इस पद के आगे 'ज्ञानाभ्यां व्याख्याता' इतना अतिरिक्त पाठ है। इस सूत्र के आगे तीन अतिरिक्त सूत्र प्रस्तुत व्याख्या में इसप्रकार हैं—'भूतमिति प्रत्यक्षं व्याख्यातम् । भविष्यतीति कार्यान्तरे दृष्टत्वात् । तथा भवतीति सापेक्षेभ्योऽनपेक्षेभ्यश्च ।'

प्रस्तुत किया—

अभूदित्यपि[1] ॥४॥ (३५८)

[अभूत्] था, हुआ था [इति] इसप्रकार [अपि] भी (और भी)।

लैङ्गिक ज्ञान भूतकाल विषयक होजाता है। उसका प्रकार है—'अभूत्'–था अमुक पदार्थ ऐसा था। पदार्थ के नष्ट होजाने पर पदार्थ का लैङ्गिक ज्ञान होता है। शरीर के हाथ, पैर, ग्रीवा आदि अङ्गों को अलग-अलग देखकर अवयवसंयोग–असमवायिकारण के नाश से शरीर का नाश होजाने पर उस शरीर का लैङ्गिक ज्ञान होता है। यह नष्ट शरीर का अनुभवात्मक ज्ञान है। सूत्रगत 'अपि' पद भविष्यत् में होनेवाले ज्ञान का निर्देश करता है। तात्पर्य है, लैङ्गिकज्ञान अतीत–अनागत विषय का होता है; परन्तु इसप्रकार सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। अतीत सुख का स्मरण संभव है, और अनागत की आकांक्षा, पर अतीत-अनागत रूप विषयज्ञान के समान सुख-दुःखानुभव नहीं होता। अतः सुख-दुःख लैङ्गिकज्ञान से भिन्न गुण हैं ॥४॥

ज्ञान से सुख-दुःख के भिन्न होने में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

सति च कार्यादर्शनात्[2] ॥५॥ (३५९)

[सति] होने पर [च] भी [कार्यादर्शनात्] कार्य के न देखेजाने से।

ज्ञान-कारणों के होने पर भी सुख-दुःख कार्य का होना नहीं देखाजाता। प्रत्यक्ष सामग्री-इन्द्रियार्थसन्निकर्ष तथा अनुमितिसामग्री लिंगज्ञान आदि के होने पर प्रत्यक्षज्ञान एवं अनुमितिज्ञान होता है। यदि सुख-दुःख उस ज्ञान से अभिन्न हों, तो इन साधनों से सुख-दुःख के कार्य–मुखप्रसाद, मुखमालिन्य आदि होने चाहियें। पर ऐसा नहीं होता। इसके अतिरिक्त उक्तज्ञान होने पर 'मैं सुखी अथवा दुःखी हूं' ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। इसलिये सुख-दुःख का ज्ञानरूप होना किसीप्रकार संभव नहीं ॥५॥

ज्ञानकारणों से सुख-दुःख के कारण भिन्न हैं। यह कारणभेद भी ज्ञान से सुख-दुःख का भेदक है; यह सूत्रकार ने बताया—

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात्[3] ॥६॥ (३६०)

[एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु] एक अर्थ (द्रव्य) में समवायसम्बन्ध से रहने

---

१. 'अभूदित्यभूतात्' चन्द्रा०।

२. 'कार्यासमवायात्' चन्द्रा०।

३. 'एकार्थसमवायिषु कारणान्तरेषु दर्शनात्' चन्द्रा०। अग्रिम सूत्र का 'एकदेश इत्येकस्मिन्' अंश इसी सूत्र में पठित है।

वाले विशिष्टकारणों के होने पर [दृष्टत्वात्] देखेजाने से (सुख-दुःख के)।

एक अर्थ--आत्मा द्रव्य–में सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं। उसी आत्मद्रव्य में सुख-दुःख को उत्पन्न करने वाले कारणविशेष समवेत रहते हैं। ये कारण हैं सुख के–धर्म, सुखविषयक राग, सुखकारणों की इच्छा, उन कारणों को जुटाने का यत्न, स्रक्-चन्दन आदि का ज्ञान। सुख के ये सब कारण—धर्म, राग, इच्छा, यत्न, ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं, आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहते हैं। आत्मा में ही ये सुख को उत्पन्न करते हैं। इसीप्रकार दुःख के कारण हैं—अधर्म, अहि, कण्टक, आदि अनिष्ट का ज्ञान। ये अधर्म, अनिष्टज्ञान आदि आत्मगुण आत्मा में दुःख को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार एक द्रव्य में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले विशिष्ट कारणों की विद्यमानता में उसी द्रव्य में समवेत सुख-दुःख की उत्पत्ति देखीजाती है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति आदि ज्ञान के कारणों की स्थिति ऐसी कभी नहीं होती। ज्ञान के कारण एकार्थसमवायी हों, ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त यह स्पष्ट है–प्रत्यक्षज्ञान के कारण हैं–इन्द्रिय-अर्थसन्निकर्ष, लैंगिकज्ञान के कारण–लिंगज्ञान, स्मृति के निमित्त–प्रणिधान आदि। जबकि सुख-दुःख के कारण हैं—धर्म-अधर्म आदि। इसप्रकार कारणों का भेद, ज्ञान से सुख-दुःख के भेद का निश्चायक है ॥६॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि कारणभेद से ज्ञान, सुख, दुःख आदि का परस्परभेद है, तो शरीर के सिर, पीठ, उदर आदि अंगों का परस्पर भेद नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनके कारण—अस्थि, मांस, रुधिर आदि एक हैं। कारण एक होने पर इनका भेद क्यों? सूत्रकार ने बताया—

एकदेश इत्येकस्मिन्[1] शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेष-स्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥ (३६१)

[एकदेशे] एक देश में--अवयव में [इति] इसप्रकार [एकस्मिन्]एक (देह) में [शिरः] सिर [पृष्ठम्] पीठ [उदरम्] उदर-पेट [मर्माणि] मर्मस्थल (अन्य) [तद्विशेषः] उस-उसरूप में विलक्षण (व्यवहार होता है; यह) [तद्विशेषेभ्यः] उन-उनके कारणविशेष से है।

एक देह में अनेक अवयव हैं। किसी एक अवयव में 'सिर' इसप्रकार व्यवहार होता है। किसी अन्य में 'पीठ' किसी अन्य में 'उदर' तथा किन्हीं अन्य में–'ये मर्मस्थल हैं, ऐसा व्यवहार होता है। सूत्र में 'इति' पद का 'शिरः' आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध हैं। यद्यपि ये सब अवयव मिलकर एक अवयवी शरीर है; परन्तु

---

१. एकदेश इत्येकस्मिन्' यह अंश गतसूत्र में पठित है, चन्द्रा०।

अपने रूप में ये सब एक दूसरे से भिन्न हैं । इनके इस भेद व विलक्षणता का कारण--इनके अपने-अपने कारणों का भेद है। सिर के जो मांस, अस्थि आदि अवयव कारण हैं, वही अवयव पीठ, उदर आदि के कारण नहीं हैं। सिर के कारण–अवयव भिन्न हैं; पीठ, उदर आदि के भिन्न। यह समझना नितान्त अयुक्त है, कि शरीर के विभिन्न अंगों के कारण–अवयव एक ही अस्थि, मांस आदि हैं। जैसे घट-पट आदि का भेद, उनके कारणभूत अवयवों के भेद के आधार पर है; इसीप्रकार एक देह में विभिन्न अंगों का एक-दूसरे से भेद उनके कारण-भेद पर आधारित है।

इस सब विवेचन के फलस्वरूप प्रस्तुत आह्निक में आत्मा के विशेष गुण-ज्ञान, सुख, दुःख का परस्पर भेद निरूपित कियागया ॥७॥

इति श्रीवैशेषिकदर्शनविद्योदयभाष्ये
दशमस्याध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

अथ दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम्[1] ।

गत अध्याय के अन्तिम भाग में कारण भेद से कार्यभेद बताया गया। प्रस्तुत आह्निक में प्रसंगानुसार सूत्रकार कारण का विवेचन आरम्भ करता है—

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥ (३६२)

[कारणम्] कारण है [इति] इसप्रकार (प्रयोग, व्यवहार अथवा ज्ञान) [द्रव्ये] द्रव्य में (होता है), [कार्यसमवायात्] कार्य का (द्रव्य में) समवाय होने से।

कारण तीन प्रकार का मानाजाता है–समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण। प्रत्येक कार्य का समवायिकारण द्रव्य होता है । सूत्र में 'कारणम्' पद समवायिकारण के अभिप्राय से कहागया है। 'यह समवायिकारण है' ऐसा प्रयोग, व्यवहार एवं ज्ञान केवल द्रव्य में होता है, क्योंकि कार्यमात्र समवाय-सम्बन्ध से द्रव्य में आश्रित रहता है। द्रव्य, गुण, कर्म-तीनों प्रकार के कार्य, द्रव्य में समवेत रहते हुए आत्मलाभ करते हैं। तात्पर्य हुआ—कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य होता है। जैसे–घट द्रव्य के मृद्रूप द्रव्यावयव समवायिकारण

१. चन्द्रानन्दीय व्याख्या में दशम अध्याय का आन्हिक विभाग नहीं है।

हैं। घटगत रूप, रस, गन्ध आदि गुणों का समवायिकारण घट द्रव्य है। घटगत क्रिया [कर्म-हिलना डुलना आदि] का समवायिकारण घट द्रव्य है। इसप्रकार कार्यरूप द्रव्य, गुण, कर्म का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है ॥१॥

द्रव्य के समवायिकारण होने में सूत्रकार ने अन्य प्रकार प्रस्तुत किया—

संयोगाद्वा ॥२॥ (३६३)

[संयोगाद्वा] संयोग से [वा] तथा, भी।

गतसूत्र में बतायागया—कार्यमात्र का समवायिकारण होने से द्रव्य में समवायिकारण व्यवहार होता है। कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव द्रव्य होते हैं, उन अवयवों का परस्पर संयोग उस कार्य-द्रव्य का असमवायिकारण होता है। स्पष्ट है—उस संयोग के आश्रय वे अवयवद्रव्य हैं, जो कार्य के समवायिकारण हैं। इसप्रकार संयोग का आश्रय होने से भी द्रव्य में समवायिकारण—व्यवहार होता है। सूत्र में 'संयोग' पद संयोग के आश्रय का द्योतक है। कारण यह है, कि जैसे कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य है, ऐसे ही द्रव्यकार्यमात्र का असमवायिकारण है—अवयव-संयोग। वह संयोग उन अवयवों में आश्रित रहता है। कार्यद्रव्यमात्र का असमवायिकारण अवयव-संयोग के अतिरिक्त अन्य संभव नहीं। कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में केवल अवयय-संयोग असमवायिकारण होता है, यह एक निर्धारित व्यवस्था है ॥२॥

द्रव्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण संयोग होता है। गुण और कर्म की उत्पत्ति में असमवायिकारण कहीं गुण और कहीं कर्म होते हैं। कर्म असमवायिकारण कहां होते हैं? सूत्रकार ने बताया—

कारणे[1] समवायात् कर्माणि ॥३॥ (३६४)

[कारणे] कारण में [समवायात्] समवाय से [कर्माणि] कर्म (असमवायिकारण होते हैं)।

सूत्र में 'कारण' पद समवायिकारण का निर्देश करता है। किसी कार्य के समवायिकारण में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ कर्म उस कार्य का असमवायिकारण होता है। असमवायिकारण के—भावी कार्य के साथ—सम्पर्क या सन्निकर्ष को शास्त्रीय भाषा में 'प्रत्यासत्ति' कहाजाता है। सन्निकर्ष आदि पद उस भावना को अभिव्यक्त नहीं करपाते, जो 'प्रत्यासत्ति' पद द्वारा होती है। कारण यह है, कि असमवायिकारण कर्म का कार्य के साथ सन्निकर्ष कहना युक्त नहीं, क्योंकि कार्य अभी है ही नहीं, तो उसके साथ सन्निकर्ष कैसा? सन्निकर्ष

१. 'कारणसमवायात्' चन्द्रा०।

स्पष्ट सम्बन्ध है। 'प्रत्यासत्ति' पद कार्य के सांमुख्य (मुकाबले) में समीप तक पहुचने की भावना को अभिव्यक्त करता है।

असमवायिकारण अपने कार्य का सामीप्य जिन दो प्रकार से प्राप्त करता है, उनका नाम है—कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति और कारणैकार्थप्रत्यासत्ति। पहली 'लघु' और दूसरी 'महती' कहीजाती है। वैशेषिक में ये पारिभाषिक पद हैं। लघु प्रत्यासत्ति का क्षेत्र है—द्रव्यकार्य। कार्यद्रव्य-पट है, वह जिस अर्थ (तन्तुओं) में समवेत है, उसी एक (तन्तुसमूहरूप) अर्थ में तन्तुओं का संयोग समवेत है। इसप्रकार तन्तुसंयोग पट का असमवायिकारण है। यह कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति है। कार्य (पट) के साथ एक अर्थ (तन्तुओं) में प्रत्यासन्न है—संयोग। जिस अर्थ (तन्तुओं) में भावी कार्य (पट) उत्पन्न होने को है, उन्हीं-में संयोग बैठा रहता है। इस रूप में भावी कार्य के साथ संयोग का सामीप्य होने से संयोग उस कार्य का असमवायिकारण रहता है। जहां कार्य का असम-वायिकारण कर्म है, वहां भी यही प्रत्यासत्ति रहती है।

महती प्रत्यासत्ति का क्षेत्र वह है, जहां कार्य—गुण और कर्म हैं। पट में जो रूपादि गुण उत्पन्न होते है, उनके असमवायिकारण तन्तुगत रूपादि गुण हैं। तन्तुगत रूप का पटगत भावीरूप के साथ सामीप्य कार्याश्रय के कारण (समवायिकारण) द्वारा होपाता है। कार्य—रूप का आश्रय पट है, उसके कारण हैं—तन्तु। उन तन्तुओं में बैठा हुआ (समवेत-प्रत्यासन्न) रूप पट के रूप का असम-वायिकारण होता है। यह कारणैकार्थप्रत्यासत्ति है। भावी कार्य रूप के आश्रय पट के कारण एक अर्थ (तन्तुसमूह) में प्रत्यासन्न है—रूप। इस प्रत्यासत्ति के द्वारा तन्तुरूप पटरूप का असमवायिकारण होता है।

प्रस्तुत सूत्र में किन्हीं गुणों का ऐसा असमवायिकारण कर्म को बताया है। कर्म जिनका असमवायिकारण होता है, ऐसे गुण हैं—संयोग, विभाग और वेग तथा स्थितिस्थापक संस्कार। संयोग आदि की उत्पत्ति में कर्म असमवायिकारण होता है। जब किसी निमित्त से कर्म उत्पन्न होजाता है, तब उस द्रव्य का पूर्व देश से विभाग—एवं पूर्व देश के साथ संयोग का नाश—होकर उत्तर देश के साथ संयोग होता है। विभाग और संयोग सदा द्विष्ठ होते हैं, दो द्रव्यों में समवेत रहते हैं। कर्म चाहे एक द्रव्य में उत्पन्न हो अथवा दोनों में; संयोग-विभाग सदा द्विष्ठ रहेंगे। जिस द्रव्य में संयोग-विभाग उत्पन्न होरहे हैं, कर्म उसी द्रव्य में समवेत रहता हुआ संयोग-विभाग को उत्पन्न करता है, अतः कर्म संयोग-विभाग का असमवायिकारण है। यह कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से जानाजाता है। कार्य संयोग-विभाग जिस अर्थ—समवायिकारण द्रव्य—में उत्पन्न होने को हैं,

उसी द्रव्य में कर्म प्रत्यासन्न है, समवेत है। कार्येकार्थप्रत्यासत्ति-पद बोध्य अर्थ को सूत्रकार ने 'कारणे समवायात्' अथवा 'कारणसमवायात्' पद से अभिव्यक्त किया है ॥३॥

रूपादि गुणों की उत्पत्ति में असमवायिकारण की व्यवस्था को सूत्रकार ने बताया—

तथा रूपे [1]कारणैकार्थसमवायाच्च ॥४॥ (३६५)

[तथा] उसीप्रकार [रूपे] रूप में [कारणैकार्थसमवायात्] कारण के साथ एक अर्थ में समवाय से (असमवायिकारण व्यवहार होता है) [च] और (कारणों से भी)।

जैसे कर्म कतिपय गुणों की उत्पत्ति में असमवायिकारण होता है, और कर्म में असमवायिकारण-व्यवहार युक्त है; उसीप्रकार कार्य-घट आदि के रूप का कारण—कपालगत रूप असमवायिकारण होता है, अतः रूप में असमवायिकारण-व्यवहार युक्त है। जो तात्पर्य 'कारणैकार्थसमवाय' पद का है, वही 'कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति' पद का। 'कारणकारणसमवाय' पद भी उसी भाव को अभिव्यक्त करता है। घटगत रूप का कारण घट है, उसका कारण कपाल, उसमें रूप का समवाय है। यह कपालगत रूप घट के रूप का असमवायिकारण होता है। कारणैकार्थप्रत्यासत्ति का विवरण गतसूत्र की व्याख्या में देदिया है।

सूत्र का 'रूप' पद उन सब गुणों का उपलक्षण है, जहां कारणगत गुण कार्यगत गुण का असमवायिकारण होता है। वे गुण हैं—गन्ध, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह।

सूत्र में 'च' पद कर्म की असमवायिकारणता से रूपादि की असमवायि-कारणता के प्रकार का भेदक होने पर भी चन्द्रकान्त भट्टाचार्य का विचार है, कि यह पद 'उपलब्धि' हेतु का संग्राहक है। लाल तन्तुओं से लाल पट और श्वेत तन्तुओं से श्वेत पट उत्पन्न होता है; इससे तन्तु का रूप पट के रूपका कारण निश्चित है। शङ्कर मिश्र का कहना है, सूत्र का 'च' पद रूपादि गुणों की निमित्त-कारणता का भी समुच्चायक है। ये गुण असमवायिकारण होते हैं, और कहीं निमित्तकारण भी ॥४॥

प्रत्येक कार्य द्रव्य के कारण द्रव्यों का परस्पर संयोग कार्य द्रव्य का असम-वायिकारण होता है; सूत्रकार ने बताया—

---

१. 'कारणकारणसमवायाच्च' चन्द्रा०।

कारणसमवायात् संयोगः[1] पटस्य ॥५॥ (३६६)

[कारणसमवायात्] कारण में समवाय से [संयोगः] संयोग [पटस्य] पट का (असमवायिकारण होता है)।

पट कार्य के कारण तन्तु हैं, पट तन्तुओं में समवेत हुआ उत्पन्न होता है। उन्हीं तन्तुओं में संयोग का समवाय है। इसप्रकार कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति अथवा लघुप्रत्यासत्ति द्वारा कारणगत संयोग कार्य द्रव्य का असमवायिकारण होता है। इस प्रत्यासत्ति का विवरण तीसरे सूत्र की व्याख्या में कर दियागया है॥५॥

संयोग किसी कार्य में महती प्रत्यासत्ति द्वारा असमवायिकारण होता है, सूत्रकार ने बताया—

[1]कारणकारणसमवायाच्च ॥६॥ (३६७)

[कारणकारणसमवायात्] कारण के कारण में समवाय से [च] भी (कहीं संयोग असमवायिकारण होता है)।

गतसूत्र से यहां 'संयोग' पद की अनुवृत्ति है। किसी कार्य के समवायिकारण के समवायिकारण में रहता हुआ (समवेत) संयोग उस कार्य का असमवायिकारण होता है। धुनी हुई रुई के गल्लों (तूल-पिण्डों) के अवयवों में बहुत शिथिल संयोग रहता है। यह संयोग बृहत् तूलपिण्ड में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है। यहां कार्य महत्परिमाण है; उसका समवायिकारण बृहत् तूलपिण्ड, और उसके समवायिकारण लघुतूलपिण्ड हैं; उनमें समवेत संयोग बृहत् तूल-पिण्ड में महत्परिमाण को उत्पन्न करता है। इसप्रकार महत्परिमाण कार्य के समवायिकारण बृहत्तूलपिण्ड के समवायिकारणों में समवेत संयोग महत्परिमाण का असमवायिकारण होता है। यह 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' अथवा 'महती प्रत्यासत्ति' या 'परम्परासंबन्ध' पदों से व्यवहृत है।

चन्द्रानन्दीय व्याख्या में सूत्रगत हेतु का पाठ 'कारणाकारणसमवायात्' है। वहां ऐसे संयोगस्थल के उदाहरण दिये हैं, जहां कार्य का असमवायिकारण संयोग कारण और अकारण दोनों प्रकार के द्रव्यों में रहता है। जैसे—पाकज गुणों की उत्पत्ति में अग्निसंयोग असमवायिकारण होता है। यहां घट—जिसमें पाक होता है—पाकज गुणों का समवायिकारण है, और अग्नि समवायिकारण नहीं है, अर्थात्

१. 'कारणसमवायात् संयोगे' इतना मात्र पाठ है, चन्द्रा०। इस पाठ के अनुसार 'संयोग में कार्य द्रव्य के प्रति असमवायिकारणबुद्धि अथवा असमवायि-कारण व्यवहार होता है' ऐसा अन्वय करलेना चाहिये।

१. 'तथा कारणाकारणसमवायाच्च' चन्द्रा०।

अकारण है। इसप्रकार पाकज गुणों की उत्पत्ति में असमवायिकारण संयोग कारण (घट) और अकारण (अग्नि) दोनों में रहता है।

इसीप्रकार कोई वेगयुक्त द्रव्य जब किसी स्थित द्रव्य में आघात करता है, तो स्थित द्रव्य में कर्म उत्पन्न होजाता है। उस कर्म का समवायिकारण पूर्व-स्थित द्रव्य है। जिस वेगवद्द्रव्य के आघातरूप संयोग से कर्म उत्पन्न हुआ है, वह द्रव्य उस कर्म का समवायिकारण नहीं है। इन दोनों कारण (स्थितद्रव्य) और अकारण (वेगवद्द्रव्य) द्रव्यों का आघातरूप संयोग आघात्य द्रव्य में उत्पन्न कर्म का असमवायिकारण होता है ॥६॥

गुण और कर्म असमवायिकारण होते हैं, गतसूत्रों में यह निरूपण कियागया। कतिपय गुण कार्य के निमित्तकारण होते हैं, सूत्रकार ने बताया—

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥ (३६८)

[संयुक्तसमवायात्] संयुक्तसमवाय से [अग्नेः] अग्नि का [वैशेषिकम्] विशेष गुण औष्ण्य–उष्णस्पर्श (पृथिवी में पाकज रूपादि गुणों का निमित्तकारण होता है)।

पृथिवी अथवा पार्थिव घटादि द्रव्यों में रूप रस आदि गुण पाकज होते हैं। घट के पाकज रूपादि गुणों का समवायिकारण घट है, असमवायिकारण अग्नि-घट संयोग है। घट में पाक का कारण अग्नि का विशेषगुण उष्णस्पर्श है। अग्नि-संयोग द्वारा घट में पाक उष्णस्पर्श से होता है। संयोगसापेक्ष होने से निमित्त-कारण रहता है। यहां कार्य-कारण का सम्बन्ध स्वाश्रयसंयुक्तसमवाय हुआ। 'स्व' पद से गृहीत अग्नि का विशेषगुण उष्णस्पर्श, उसका आश्रय अग्नि, अग्नि से संयुक्त घट, उसमें समवाय सम्बन्ध से रूपादि की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार पाकज रूपादिगुणों की उत्पत्ति में उष्णस्पर्श निमित्तकारण है।

कतिपय गुण ऐसे हैं, जो किसीके असमवायिकारण नहीं होते। ऐसे गुणों में आत्मा के विशेषगुणों की गणना मुख्यरूप से कीजाती है–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना (संस्कार)। आत्मा में जो ज्ञान, सुख, इच्छा आदि गुण उत्पन्न होते हैं, उनका समवायिकारण आत्मा और असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग होता है। परन्तु आत्मा के विशेषगुण एक-दूसरे के कारण देखेजाते हैं। 'मैं जानूं' ऐसी इच्छा ज्ञान का कारण है। जानने पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होना, यहां ज्ञान इच्छा का कारण है। कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति के अनुसार इन्हें एक-दूसरे का असमवायिकारण मानाजाना चाहिये। अनिष्टापत्ति होने से आत्मविशेषगुणों को असमवायिकारण न मानकर केवल निमित्तकारण मानाजाता है ॥६॥

प्रस्तुत शास्त्र का निगमन करते हुए सूत्रकार ने कहा—

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगो-
ऽभ्युदयाय ॥८॥ (३६९)

[दृष्टानाम्] देखे हुए [दृष्टप्रयोजनानाम्] देखे हुए प्रयोजन वाले (पदार्थ और उनके धर्मों के) [दृष्टाभावे] दृष्ट प्रयोजन के अभाव में, जो [प्रयोगः] प्रयोग (प्रयोगात्मक रीति पर परीक्षण करके परिणाम प्राप्त कियेजाते हैं, वह सब) [अभ्युदयाय] कल्याण के लिये (अपने और राष्ट्र के) होते हैं।

शास्त्र के प्रारम्भ में अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनभूत धर्म का निर्देश कियागया है। वह धर्म उन पदार्थों का है, जिनके बीच–संसार में आकर–आत्मा बैठता है। संसार की रचना आत्माओं के भोग और अपवर्ग को सम्पन्न करने के लिये है। मानव आदि समस्त प्राणियों का जिन पदार्थों के साथ सीधा सम्पर्क है, वे पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि हैं। इन्हीं के बीच–संसार में आकर–आत्मा बैठता है। प्राणिमात्र के समस्त अभ्युदय–ऐहिक कल्याण के निखिल मार्ग–इन्हीं में होकर गुजरते हैं; यहां तक कि–प्राणी का जीवन इन्हींपर आश्रित है। इनके अभाव में क्षणभर भी प्राणी जीवित नहीं रहसकता। इसप्रकार इन पदार्थों और इनके धर्मों का उपयोग प्राणी के पूर्ण अभ्युदय का एकमात्र साधन है।

जगत् के जिस स्तर में प्राणी बैठा है, उसके लिये वह सब दृष्ट है, देखाहुआ है, उसके उपयोग में आता है। उसका प्रयोजन भी दृष्ट है। दृष्टप्रयोजन है–भोग। मानव आदि प्रत्येक प्राणी पृथिवी, जल, तेज, वायु से–अपने जीवन की रक्षा एवं टिकाव के लिये–निरन्तर खुराक लिया करता है। प्राणी का समस्त आहार-विहार इन्हींके आधार पर चलता है। इन दृष्ट पदार्थों और पदार्थों के धर्मों का यही दृष्टप्रयोजन है।

इन पदार्थों और इनके धर्मों की एक और दुनिया है, जहां इनके दृष्टप्रयोजन का प्राप्त करना मुख्य लक्ष्य नहीं रहता। दृष्टप्रयोजन के अभाव में अतिविरल प्रतिभाशाली व्यक्ति उसके अन्दर प्रवेश करते हैं। वे इन पदार्थों और इनके धर्मों का प्रयोगात्मक विधियों के द्वारा साक्षात्कार कर, इनके वास्तविक स्वरूप को पहचानते है। वस्तुतः पदार्थ और उनके धर्म का वह स्वरूप न केवल सर्वसाधारण के लिये, अपितु अपने को अभिज्ञ समझने वाले व्यक्तियों के लिये भी अज्ञात व अदृष्ट रहता है।

जो महान आत्मा पदार्थों व उनके धर्मों के वास्तविक स्वरूप को जानपाते हैं, उनके सामने दो मार्ग रहते हैं। एक–उन ज्ञात पदार्थों से विविध अपेक्षित

वस्तुओं का निर्माण, जिनसे साधारण जनता अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, तथा विविध प्रकार के अभ्युदय के लिये राष्ट्र उनको अपनाता, व उपयोग में लाता है। इसीके साथ वे लोककर्त्ता पुरुष अपेक्षित साहित्य की रचना करते हैं, जिसमें पदार्थ और उसके धर्मों का वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्त करदियाजाता है। उससे भी अन्य साधारण जन वस्तुतत्त्वविषयक ज्ञानवृद्धि का लाभ उठाते हैं।

दूसरा मार्ग उनके सामने होता है–अध्यात्मचिन्तन का। जब वे पृथिव्यादि भूत-भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का साक्षात्कार करलेते हैं; और समझते हैं, ये सब तत्त्व जड़ हैं, नश्वर हैं, ये आत्मा के केवल भोग्य पदार्थ हैं; आत्मा इन से अतिरिक्त चेतन तत्त्व है, उस स्वरूप का साक्षात्कार आवश्यक है। इस तथ्य को समझकर वे महान पुरुष आत्मतत्त्व के चिन्तन-मार्ग पर चल पड़ते हैं, और उसका साक्षात्कार कर परमपद निःश्रेयस का लाभ करते हैं। पृथिव्यादि तत्त्वों व उनके धर्मों का साक्षात्कार सीधा निःश्रेयस का साधन नहीं होता, पर वह निःश्रेयस के मार्ग का द्वार खोलदेता है; इसी भावना से शास्त्रकार ने शास्त्र के प्रारम्भ में अभ्युदय-निःश्रेयस दोनों का साधन धर्म [पदार्थ-धर्म] को बताकर प्रस्तुत निगमन सूत्र में निःश्रेयस का उल्लेख न कर केवल 'अभ्युदय' का निर्देश किया है। शास्त्रकार की यह प्रवृत्ति प्रकट करती है, कि पदार्थ-धर्मविषयक तत्त्वज्ञान अभ्युदय का तो साक्षात् साधन है; परन्तु निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये वह केवल मार्ग का उद्घाटन करता है। ऐसे पुरुष अपेक्षित उपायों द्वारा आत्म-साक्षात्कार कर निःश्रेयस को प्राप्त करलेते हैं। इसप्रकार निःश्रेयस को सिद्ध करने के लिये भी पदार्थ–धर्म-तत्त्वज्ञान परम्परारूप से आवश्यक साधन है।

प्रत्येक दिशा में यह अपेक्षित नहीं होता, कि अध्यात्म मार्ग पर जाने के लिये पदार्थधर्मों का साक्षात्कार आवश्यकरूप किया जाय। इन तत्त्वों के साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत साहित्य का गम्भीर अध्ययन भी अनेक व्यक्तियों को–जिनके प्राक्तन संस्कार अनुकूल होते हैं–अध्यात्ममार्ग के आश्रयण के लिये प्रेरित करदेता है। ऐसे संस्कारी जन शास्त्रद्वारा पदार्थ-धर्मों की वास्तविकता को शाब्दिकरूप से जानकर उसका गम्भीर चिन्तन करते हुए अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर होजाते हैं।

मानव शरीर प्राप्त किये विना आत्मा का निःश्रेयस प्राप्त करना संभव नहीं। यह स्तर आत्मा के भूत-भौतिक बीच का निवास है। इसीमें से अध्यात्म का मार्ग फटता है। इसे सर्वथा छोड़कर अध्यात्म का पकड़ना सर्वात्मना असंभव है। इन्हीं वास्तविकताओं का ध्यान करते हुए शास्त्रकार ने निःश्रेयस की

साधनता में पदार्थधर्मतत्त्वज्ञान का उपयोग बताया है[१] ॥८॥

विश्व की रचना अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म परमात्मा की कृति है। वही इसमें सर्वान्तर्यामीरूप से व्याप्त होकर इसकी स्थिति एवं प्रलय का नियामक है। उस जगत्कर्त्ता परमात्मा की प्रेरणा से आम्नाय-वेद प्रकाश में आता है। प्रस्तुत शास्त्र में उस जगत् का जो विवरण दिया गया है, वह सब वेदमूलक है। इस आधार पर वेद का प्रामाण्य सूत्रकार ने बताया—

तद्वचनादाम्नायस्य[२] प्रामाण्यमिति ॥९॥ (३७०)

[तद्वचनात्] उसके कथन से [आम्नायस्य] आम्नाय-वेद का [प्रामाण्यम्] प्रामाण्य सिद्ध होता है, [इति] ग्रन्थसमाप्ति का द्योतक पद।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद प्रस्तुत शास्त्र में वर्णित पदार्थ एवं उनके धर्मों का निर्देश करता है। पदार्थ–धर्म विवरण यहां विस्तार के साथ एक दार्शनिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत कियागया है। विश्व के इस वस्तुतत्त्वरूप का मौलिक कथन वेदों में हुआ है। जगत् का कर्त्ता और वेदों का प्रकाश करने वाला एक परमात्मा है। इस विषय में किसी को अधिक सन्देह नहीं होता, कि जगत् का बनाने वाला ईश्वर है। परन्तु वेद को ईश्वरीय ज्ञान व रचना कहने में अधिक सन्देह प्रकट कियाजाता है। इसी भावना से वेद का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये सूत्रकार ने यह अन्तिम सूत्र कहा है।

सूत्रकार का तात्पर्य है, जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। उसके वास्तविक स्वरूप को पूर्णरूप से वही जान सकता है। जो कुछ, जैसा कुछ जगत् है, उसका यथायथ विवरण वेद में–केवल वेद में–उपलब्ध होने से यह प्रमाणित होता है, कि जगत् को जो पूर्णरूप से जानता है, वही ऐसा वर्णन प्रकाश में ला सकता है। इस आधार पर वेद-ज्ञान ईश्वरीय है, यह स्पष्ट होता है। ऐसा होने से उसका प्रामाण्य है। इसप्रकार पदार्थ और उनके धर्मों का, एवं जगद्रचना की प्रक्रियाओं का वर्णन वेदों में है, और उसीको आधार मानकर वस्तुतत्त्व का

---

१. चालू सूत्र की जो व्याख्या यहां प्रस्तुत कीगई है, उसका निर्देश अन्य किसी प्राचीन-नवीन व्याख्या में उपलब्ध नहीं होता। परन्तु चन्द्रानन्दीय व्याख्या में संकेतमात्र इसप्रकार उपलब्ध है—

"एवं द्रव्यादीनां साधर्म्यवैधर्म्यपरिज्ञानाद् वैराग्यद्वारेण ज्ञानोत्पत्तेः 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्यादिवाक्येभ्यश्चोपासाक्रमेण विज्ञानावाप्तेर्निःश्रेयसाधिगमः।" यह सन्दर्भ अन्तिम सूत्र की व्याख्या का सर्वान्तिम भाग है।

२. 'तद्वचनादाम्नायप्रामाण्यमिति' चन्द्रा०।

विवरण प्रस्तुत शास्त्र में है। फलतः वेद के प्रामाण्य के साथ शास्त्रप्रतिपादित विषय का प्रामाण्य निर्धारित होजाता है।

ईश्वरीय रचना में जगद्रचना प्रयोगात्मक [Practical] रूप है, तथा वेद सिद्धान्त [Theory] रूप है। जैसे एक शिल्पी किसी विशेष यन्त्र का निर्माण करता है; और उसके विषय में वर्णनात्मकरूप से ग्रन्थ की रचना कर देता है। दोनों में पूर्णसाम्य होने पर यह प्रमाणित होता है-दोनों रचना एक व्यक्ति की हैं। ऐसे ही जगद्रचना एवं स्थिति का वेदगत विवरण इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं, कि इन दोनों का रचयिता एक है, और वह सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ परमात्मा है।

इसी तथ्य को बादरायण मुनि-वेदव्यास ने वेदान्तदर्शन के प्रारम्भिक सूत्रों में[1] अभिव्यक्त किया है। जगत् के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का कर्त्ता और वेदशास्त्र का रचयिता एक परब्रह्म है, इसको कैसे जानें? सूत्रकार ने वहां बताया—दोनों के समन्वय-सामञ्जस्य [Harmony] से जानना चाहिये। वही आशय प्रस्तुत सूत्र में कणाद ऋषि ने अभिव्यक्त किया है। यही भाव शास्त्र के प्रारम्भ में है।

सूत्र के अन्त में 'इति' पद शास्त्र की समाप्ति का द्योतक है ॥९॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलिया मण्डलान्तर्गत
'छाता'वासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-बनैल-ग्राम वास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना **उदयवीर शास्त्रिणा** समुन्नीते
वैशेषिकसूत्राणां 'विद्योदय' भाष्ये
दशमोध्यायः।
सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः।

चैत्र-शुक्ल ९ [रामनवम्यां, रविवासरे] २०२८, मिते वैक्रमवत्सरे, एवं ४।४।१९७१ तमे ईसवी-वत्सरे, सूत्रभाष्यलेखनकार्यं पूर्णतामगमत् ॥

---

१. द्रष्टव्य, सूत्र—१।१।२—४॥ विस्तृत विवरण के लिये 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य' देखना चाहिये।

परिशिष्ट—१

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥

वैशेषिक शास्त्र की परम्परा में यह एक कहावत चली आरही है, कि द्वित्व संख्या की उत्पत्ति के प्रकार में, पृथिवी परमाणुओं के गन्धादि गुणों की पाकज उत्पत्ति के प्रकार में तथा विभागज विभाग की उत्पत्ति-प्रक्रिया में जिसकी बुद्धि डांवाडोल नहीं होती; उसीको वैशेषिक शास्त्र का विशेषज्ञ समझना चाहिये। वैशेषिकदर्शन के पाण्डित्य की यह कसौटी है।

प्रस्तुत शास्त्र के ये प्रसंग कुछ ऐसे जटिलरूप में वर्णित हुए हैं, जिनको स्पष्ट रीति से समझने में साधारणमति व्यक्ति का मस्तिष्क चकराजाता है, एवं प्रसंग की दुरूहता उसे विचलित व व्यथित करदेती है। ये विषय सरलता से स्पष्ट रीति पर समझे जासकें, इसी भावना से इस परिशिष्ट का उद्भावन किया-गया है।

द्वित्व संख्या की उत्पत्ति—संख्या गुण के विषय में बतायागया है—यह गुण समस्त द्रव्यों में विद्यमान रहता है। द्रव्य नौ गिनाये हैं, उनमें कुछ नित्य हैं—आत्मा, काल, आकाश, मन आदि; इनके अतिरिक्त कुछ अनित्य हैं—पार्थिव आदि परमाणुओं से उत्पन्न द्व्यणुक से लेकर महाभूत पर्यन्त तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले अन्य विविध प्रकार के द्रव्य। नित्य द्रव्यों में एकत्व-संख्या गुण नित्य तथा अनित्य द्रव्यों में अनित्य मानागया है। यह स्पष्ट है, अनित्य द्रव्य में किसी गुण की उत्पत्ति तभी होसकती है, जब स्वयं वह द्रव्य उत्पन्न होजाय। इसलिये अनित्य द्रव्य में एकत्व संख्या का अनित्य होना सर्वथा युक्तियुक्त है। अनित्य द्रव्य में उत्पन्न होनेवाले एकत्व-संख्या गुण का समवायिकारण वह द्रव्य, तथा उस द्रव्य के कारणों में रहनेवाला एकत्व संख्या-गुण असमवायिकारण होता है[1]। तात्पर्य है, कार्यगत एकत्व संख्या का असमवायिकारण—कारणगत—एकत्व है। कार्यद्रव्य के समवायिकारण अवयवों में जो एकत्व है, वह कार्यद्रव्यगत एकत्व संख्या का असमवायिकारण है।

---

१. **'तदेतदेकत्वं···अनित्येषु च कारणैकत्वासमवायिकारणकम्'। उपस्कार, ४।१।११॥**

शंका कीजासकती है, प्रत्येक कार्यद्रव्य के समवायिकारण अवयव अनेक होते हैं। प्रत्येक अवयव में 'एकत्व' संख्या है, मानलीजिये, वे अवयव पांच हैं; तब वह पांच अवयवों में विद्यमान एकत्व, अवयवों से उत्पन्न अवयवी में पञ्च संख्या को उत्पन्न क्यों नहीं करते ?

ध्यान देने की बात है, उन सब अवयवों में जो कार्यद्रव्य अवयवी उत्पन्न होता है, वह स्वरूपेण एक है, इस स्थिति में अवयवों के अपने पृथक् अस्तित्व को खोदेने से वहां अपेक्षाबुद्धि का उत्पन्न होना संभव नहीं, द्वित्वादि की उत्पत्ति के लिये अपेक्षाबुद्धि का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में कारण-अवयव-गत एकत्व संख्या कार्यद्रव्य में एकत्व संख्या को उत्पन्न करसकती है, अन्य को नहीं। द्वित्वादि संख्या के उत्पत्ति-स्थल में एकाधिक द्रव्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है, इसलिये वहां अपेक्षाबुद्धि का होना निर्बाध है, और उससे द्वित्वादि की उत्पत्ति। यह सब आगे स्पष्ट कियागया है।

द्वित्व आदि संख्या सर्वत्र अनित्य होती हैं। किसी द्रव्य में एकत्व का ज्ञान अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करता, इसलिये यह निरपेक्ष हैं; परन्तु द्वित्व का ज्ञान अन्य द्रव्य की अपेक्षा किये बिना संभव नहीं। दो का ज्ञान उसी समय होसकता है, जब एक द्रव्य के साथ अन्य द्रव्य भी उस गणना में सम्मिलित कियाजाय। 'अयमेकः, अयमेकः, इतीमौ द्वौ' यह एक है, यह एक है; ये मिलकर दो हैं। अन्य द्रव्य की अपेक्षा के बिना क्योंकि द्वित्व उत्पन्न नहीं होसकता, इसलिये द्वित्व की उत्पत्ति 'अपेक्षाबुद्धि' से मानीजाती है।

अपेक्षाबुद्धि क्या है ? अनेक वस्तुओं में-उनके एक समूह का आलम्बन कर-जो ज्ञान होता है, उसीका नाम अपेक्षाबुद्धि है[1]। यह ज्ञान सजातीय अथवा विजातीय दो द्रव्यों का चक्षु के साथ सन्निकर्ष होनेपर होता है। पर यह स्पष्ट समझना चाहिये, दो द्रव्यों के विजातीय होने पर भी उनमें द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति उनके किसी साजात्य के आधार पर संभव होती है। हमारे सामने एक घोड़ा और एक ऊंट आरहा हैं; उनको देखकर विजातीय आधार पर द्वित्व का उत्पाद एवं ज्ञान संभव नहीं। उन्हें न 'दो घोड़ा' कहाजासकता है, न 'दो ऊंट'।

---

१. 'अपेक्षाबुद्धिश्च नानैकत्वसमूहालम्बनरूपा, सजातीययोर्विजातीययोर्वा द्रव्ययोश्चक्षुषा सन्निकर्षे।' उपस्कार, ४।१।११।

'अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते।' भा० प०, १०६॥ 'यदा बोद्धुश्चक्षुषा समानासमानजातीययोर्द्रव्ययोः सन्निकर्षे सति··· एकगुणयोरनेकविषयिण्येका बुद्धिरुत्पद्यते' प्रश० भा०।

इनमें द्वित्व का आधार कोई साजात्य है, जो प्राणी या पशु होना आदि कहाजा-सकता है। विजातीय द्रव्यों में द्वित्वादि संख्या की उत्पत्ति होने पर वहां प्रतीति में साजात्य प्रकट हो या न हो, पर उसका आधार वही रहता है।

इसी प्रकार घड़ा और कपड़ा सामने हैं, इनमें द्वित्व का ज्ञान वस्तु या द्रव्य आदि के साजात्य पर आधारित है, घड़ा-कपड़ा दोनों में द्वित्व संख्या-गुण है, पर 'दो घड़ा' या 'दो कपड़ा' व्यवहार असंगत है। जहां दो घड़े अथवा दो कपड़े सामने हैं, वहां वैसा व्यवहार--घड़ा होने या कपड़ा होने साजात्य के आधार पर--सर्वथा युक्तियुक्त है।

द्वित्व-त्रित्व आदि संख्या-गुण की उत्पत्ति नियत द्रव्यों में होती है। जहां द्रव्य अनियत हैं, वहां 'अनेकत्व' अथवा 'बहुत्व' आदि अनिश्चित संख्या प्रकट में आती है। एकत्व और अनेकत्वरूप में संख्या के दो भेद कहे जाते हैं। जिनमें द्वित्व आदि समस्त संख्याओं का समावेश अनेकत्व में मानागया है। ऐसा भेद केवल व्यवहार की स्पष्टता के लिये समझना चाहिये। वस्तुतः संख्या-परिवार में एकत्व संख्या सबका मध्यबिन्दु अथवा केन्द्रबिन्दु है। इसको घटातेजाने अथवा बढ़ातेजाने पर इसके अन्त का कहीं पता नहीं लगता। पर वह सब लोक में अव्यवहार्य होने से शास्त्रकारों ने लोकोपयोगी अर्थव्यञ्जना की भावना से किसी अंश तक उसे उपेक्षित रक्खा है, और साधारण लोकव्यवहार के लिये एकत्वादि परार्द्ध पर्यन्त संख्या का उल्लेख किया है।

द्वित्व आदि का प्रत्यक्ष— आकाश तथा आत्मा के प्रत्यक्षयोग्य विशेषगुणों को दो क्षण तक स्थायी मानाजाता है, तीसरे क्षण में उनका नाश होजाता है। परन्तु अपेक्षाबुद्धि को--जो आत्मा का विशेष गुण है--तीन क्षण तक स्थायी कल्पना कियागया है। यदि ऐसा न मानाजाय, तो द्वित्व का प्रत्यक्ष होना संभव न होगा। उसको समझने की प्रक्रिया इसप्रकार है—

प्रथमक्षण में 'अयमेकः, अयमेकः' (यह एक है, यह एक है) इस रूप में अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। वह अपने प्रथम स्थायी क्षण में दो घटद्रव्य आदि में द्वित्व संख्या को उत्पन्न करती है। अपेक्षाबुद्धि के दूसरे स्थायी क्षण में 'द्वित्वत्व' का निर्विकल्पकज्ञान होता है; उसके अनन्तर तृतीय स्थायी क्षण में 'द्वित्व' का प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्ष तक अपेक्षाबुद्धि का बने रहना आवश्यक है। इसके बाद चौथे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश होजाता है, और उसके बाद द्वित्व का नाश होजाता है। यदि अपेक्षाबुद्धि को दो क्षण तक स्थायी मानकर तीसरे क्षण में उसका नाश मानाजाय, तो द्वित्व का प्रत्यक्ष होने से पहले ही अपेक्षाबुद्धि का नाश होजायगा, और उसके नाश होते ही द्वित्व का नाश निश्चित है; तब द्वित्व

का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अतः द्वित्वप्रत्यक्ष के निर्वाह के लिये अपेक्षाबुद्धि को त्रिक्षणावस्थायी कल्पना कियागया है।

संख्या व्यासज्यवृत्ति—द्वित्व आदि संख्या 'व्यासज्यवृत्ति' कहीजाती हैं, क्योंकि 'एक-एक' मिलकर द्वित्व आदि को उत्पन्न करते हैं। वे द्रव्य यदि सन्मुख मिलित या एकत्रितरूप में चक्षु का विषय न हों, तो वहां अपेक्षाबुद्धि का उत्पाद न होगा, और न द्वित्वादि संख्याओं का। इसलिये व्यासक्त द्रव्यों में अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होने से, और वहां द्वित्वादि की उत्पत्ति के कारण इनको 'व्यासज्यवृत्ति' कहाजाता है।

'संख्या' गुण पदार्थ है, वह सदा द्रव्याश्रित रहता है। परन्तु लोकव्यवहार में 'एकं रूपम्'–यह 'एक रूप' है, इसप्रकार रूप-गुण में एकत्व आदि संख्या का प्रयोग देखाजाता है। संख्या में भी 'एक संख्या, दो संख्या' इत्यादिरूप से संख्या का प्रयोग होता देखाजाता है। वस्तुतः ऐसे प्रयोग यथार्थ न समझकर भाक्त समझने चाहियें। रूपादि गुणों के आश्रय द्रव्य में रहनेवाली एकत्व आदि संख्या का रूपादि गुण में आरोप करलियाजाता है। यह केवल व्यवहार का प्रयोजक है, वस्तुसत्ता ऐसी नहीं।

द्वित्वादि उत्पत्ति का प्रकार—द्वित्व, त्रित्व आदि संख्या की उत्पत्ति अपेक्षा-बुद्धि से होती है, यह गत पंक्तियों में निर्दिष्ट करदियागया है। द्वित्वादि के सम-वायिकारण, उनके अधिकरण वे द्रव्य हैं, जहां द्वित्वादि संख्या उत्पन्न होती हैं। उन द्रव्यों में समवेत एकत्व-द्वय असमवायिकारण हैं; शेष सब अदृष्टादि कारण निमित्तकारण की कोटि में आते हैं। अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि का निमित्तकारण है।

द्वित्वादि उत्पत्ति-प्रक्रिया का विवरण इसप्रकार समझना चाहिये।

प्रथम विवरण—

प्रत्येक बाह्येन्द्रियजन्य ज्ञान में आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से सम्बन्ध निश्चित होता है, इसलिये आगे द्वित्वादि की उत्पत्ति का प्रकार बताने के प्रसंग में इसका उल्लेख नहीं किया; केवल चक्षु इन्द्रिय का घटादि द्रव्य के साथ सम्बन्ध का निर्देश किया है। द्वित्वादि उत्पत्ति का प्रकार यह है—

काल	उत्पत्ति आदि
प्रथमक्षण	(क) चक्षु इन्द्रिय का दो द्रव्यों (घटादि) के साथ संयोग। (ख) पुरोवर्ती चक्षुःसंयुक्त दो द्रव्यों में विद्यमान एकत्व संख्याओं के ज्ञान के लिये–विशेषण ज्ञानरूप से–कारणीभूत 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पादोन्मुखता।

द्वितीयक्षण	(क) 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पत्ति, (ख) अपेक्षाबुद्धि की उत्पादोन्मुखता ।
तृतीयक्षण	(क) एकत्वत्वविशिष्ट एकत्व-द्वय'[1] के ज्ञान [=अपेक्षा-बुद्धि] का उत्पाद, (ख) 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान की विनाशोन्मुखता । (ग) द्वित्व संख्या-गुण की उत्पादोन्मुखता ।
चतुर्थक्षण (अपेक्षाबुद्धि का द्वितीयक्षण)	(क) द्वित्व संख्या की उत्पत्ति । (ख) 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान का विनाश । (ग) अपेक्षाबुद्धि की स्थिति । (घ) 'द्वित्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पादोन्मुखता ।
पञ्चमक्षण (अपेक्षाबुद्धि का तृतीयक्षण)	(क) द्वित्व गुण की विद्यमानता । (ख) 'द्वित्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पत्ति । (ग) अपेक्षाबुद्धि की विनाशोन्मुखता । (घ) द्वित्व गुण-ज्ञान की उत्पादोन्मुखता ।
षष्ठक्षण	(क) द्वित्वत्व' सामान्यज्ञान की विनश्यत्ता । (ख) द्वित्वगुण-ज्ञान की उत्पत्ति । (ग) अपेक्षाबुद्धि का विनाश (चतुर्थक्षण में) (घ) द्वित्व गुण की विनाशोन्मुखता । (ङ) द्वित्वगुणविशिष्ट [द्वे द्रव्ये, इसप्रकार] द्रव्य-ज्ञान की उत्पादोन्मुखता ।
सप्तमक्षण	(क) 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पत्ति । (ख) द्वित्वगुण का विनाश । (ग) 'द्वित्वत्व' सामान्यज्ञान का विनाश । (घ) द्वित्वगुणज्ञान की विनाशोन्मुखता । (ङ) संस्कार (=भावना) की उत्पादोन्मुखता ।
अष्टमक्षण	(क) संस्कार (=भावना) की उत्पत्ति । (ख) द्वित्वगुणज्ञान का विनाश । (ग) 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की विनाशोन्मुखता ।
नवमक्षण	(क) 'द्वे द्रव्ये' ज्ञान का विनाश ।

चतुर्थक्षण अपेक्षाबुद्धि का द्वितीयक्षण है । उस क्षण में अन्य किसी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती । अतः विरोधी गुण के न होने से पञ्चमक्षण [अपेक्षाबुद्धि के तृतीयक्षण] में भी अपेक्षाबुद्धि बनी रहती है । परन्तु उसी क्षण में विरोधी—'द्वित्वत्व' सामान्य का—ज्ञान उत्पन्न होजाता है, इसलिये वह अगले क्षण [षष्ठ-क्षण (अपेक्षाबुद्धि के चतुर्थक्षण)] में अपेक्षाबुद्धि का नाश कर देता है । अपेक्षा-

१. 'अयमेकः, अयमेकः' इसप्रकार दो द्रव्यों के समूह को विषय कर होनेवाला ज्ञान । यही 'अपेक्षाबुद्धि' का स्वरूप है ।

बुद्धि के त्रिक्षणावस्थायी होने से द्वित्व संख्या का–षष्ठक्षण में–ज्ञान होजाना संभव होता है।

अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व का उत्पाद और अपेक्षाबुद्धिनाश से द्वित्वनाश की प्रक्रिया का विवरण दिया गया। इसके अनुसार द्वित्वगुण का उत्पाद चतुर्थक्षण में, द्वित्वगुणज्ञान का उत्पाद षष्ठक्षण तथा द्वित्वगुणविशिष्ट द्रव्य का 'द्वे द्रव्ये' इत्याकारक ज्ञान सप्तमक्षण में होजाता है। द्वित्वोत्पत्ति के विचार से इतना विवरण पर्याप्त था, पर द्रव्यज्ञान-नाश तक की प्रक्रिया को प्रकट करने के लिये प्रसंगवश नवमक्षण तक विवरण प्रस्तुत कर दिया गया है।

द्वितीय विवरण—

यह एक साधारण व्यवस्था है, कि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश हो। कदाचित् ऐसे अवसर आजाते हैं, जब द्वित्व का नाश अन्य किसी कारण से संभव होता है। पूर्वनिर्दिष्ट विवरण के द्वितीय क्षण में 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पत्ति होती है; यदि उसी क्षण में अवयवी के आरम्भक अवयव-संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया की उत्पत्ति किसी कारण से हो-जावे, तो वहां द्वित्व के आश्रय समवायिकारण के नाश से द्वित्व का नाश संभव होजाता है। उस प्रक्रिया का विवरण इसप्रकार समझना चाहिये—

काल	उत्पत्ति आदि
प्रथमक्षण	(क) पूर्वनिर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार चक्षु इन्द्रिय का दो घटादि द्रव्यों के साथ संयोग। (ख) 'एकत्वत्व' सामान्यज्ञान की उत्पद्यमानता।
द्वितीय क्षण	(क) 'एकत्वत्व' सामान्य के ज्ञान का उत्पाद। (ख) अपेक्षाबुद्धि की उत्पादोन्मुखता। (ग) अवयवी के उत्पादक संयोग के विरोधी गुण विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया का द्रव्यारम्भक अवयवों में किसी कारण से उत्पन्न होजाना।
तृतीयक्षण	(क) अपेक्षाबुद्धि का उत्पाद। (ख) द्वित्वगुण की उत्पादोन्मुखता। (ग) पूर्वोत्पन्न क्रिया से द्रव्यारम्भक अवयवों में विभाग की उत्पत्ति। (घ) अवयव-संयोग की नाशोन्मुखता।
चतुर्थक्षण	(क) द्वित्वगुण का उत्पाद। (ख) 'द्वित्वत्व' सामान्य के ज्ञान की उत्पादोन्मुखता। (ग) पूर्वोत्पन्न विभाग से द्रव्यारम्भक अवयवसंयोग का नाश।

पञ्चमक्षण	(क) द्वित्व गुण की विनाशोन्मुखता। (ख) 'द्वित्वत्व' सामान्य के ज्ञान की उत्पत्ति। (ग) पूर्वोक्त अवयवसंयोगनाश से अवयवि-द्रव्य का विनाश। (घ) अपेक्षाबुद्धि की विनाशोन्मुखता।
षष्ठक्षण	(क) अपेक्षाबुद्धि का नाश। (ख) द्वित्वगुण का विनाश।

इस विवरण के अनुसार द्वित्वगुण का और अपेक्षाबुद्धि का एक ही क्षण में अर्थात् समानकाल में ही विनाश होजाता है। पारस्परिक कार्य-कारणभाव के लिये यह व्यवस्था है, कि कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में कारण का विद्यमान होना आवश्यक मानाजाता है। परन्तु प्रकृत प्रसंग में द्वित्वगुणनाश के समानक्षण में ही अपेक्षाबुद्धिनाश होरहा है; इसलिये द्वित्वनाश कार्य का कारण यहां अपेक्षाबुद्धिनाश को नहीं मानाजासकता। फलतः पञ्चमक्षण में हुआ द्रव्यनाश ही स्वाश्रित द्वित्वगुण के विनाश का कारण है।

तृतीय विवरण—

यदि कदाचित् द्रव्यारम्भक अवयवसंयोग के विरोधी गुण विभाग की उत्पादिका क्रिया अपेक्षाबुद्धि के उत्पत्तिक्षण में होजाती है, तो उस दशा में द्रव्यनाश [समवायिकारण का नाश] और अपेक्षाबुद्धिनाश [निमित्तकारण का नाश] दोनों द्वित्वनाश के कारण संभव हैं। इस प्रक्रिया का विवरण निम्नलिखित रीति पर समझना चाहिये। प्रथम विवरण के अनुसार अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति तृतीयक्षण में होती है, वहीं से प्रक्रिया का निर्देश न कर–सुविधा का विचार कर–प्रथमक्षण से ही प्रक्रिया का निर्देश प्रस्तुत है—

काल	उत्पत्ति आदि
प्रथमक्षण	(क) चक्षु इन्द्रिय का घटादि द्रव्यों के साथ संयोग। (ख) 'एकत्वत्व' ज्ञान की उत्पद्यमानता।
द्वितीयक्षण	(क) 'एकत्वत्व' ज्ञान की उत्पत्ति। (ख) अपेक्षाबुद्धि की उत्पद्यमानता। (ग) किसी निमित्त से द्रव्यारम्भक संयोग-विरोधी विभाग की उत्पादिका क्रिया की उत्पादोन्मुखता।
तृतीयक्षण	(क) अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति। (ख) विभागोत्पादिका क्रिया की उत्पत्ति। (ग) 'एकत्वत्व' ज्ञान की विनाशोन्मुखता।

चतुर्थक्षण	(क)	'एकत्वत्व' ज्ञान का विनाश।
	(ख)	द्वित्वगुण की उत्पत्ति।
	(ग)	विभाग की उत्पत्ति।
पञ्चमक्षण	(क)	द्रव्यारम्भक अवयव-संयोग का नाश।
	(ख)	'द्वित्वत्व' सामान्य का ज्ञान।
	(ग)	अपेक्षाबुद्धि की विनाशोन्मुखता।
	(घ)	द्वित्वगुण-ज्ञान की उत्पद्यमानता।
षष्ठक्षण	(क)	अवयवी द्रव्य का विनाश।
	(ख)	द्वित्वगुण-ज्ञान की उत्पत्ति।
	(ग)	अपेक्षाबुद्धि का विनाश।
	(घ)	द्वित्वगुण की विनाशोन्मुखता।
	(ङ)	द्वित्वगुणविशिष्ट-'द्वे द्रव्ये' इत्याकारक द्रव्यज्ञान की उत्पद्यमानता।
सप्तमक्षण	(क)	द्वित्वगुण का विनाश।
	(ख)	'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की उत्पत्ति।
	(ग)	द्वित्वगुण-ज्ञान की विनाशोन्मुखता।
	(घ)	संस्कार [द्वित्वगुणविषयक] की उत्पद्यमानता।
अष्टमक्षण	(क)	द्वित्व गुण के ज्ञान का विनाश।
	(ख)	संस्कार का उत्पाद।
	(ग)	'द्वे द्रव्ये' ज्ञान की विनाशोन्मुखता।
नवमक्षण	(क)	'द्वे द्रव्ये' ज्ञान का विनाश।

इस ज्ञान का नाश पूर्वक्षण में उत्पन्न संस्कार से होता है। किसी भी आत्मनिष्ठ भावनाख्य संस्कार का नाश उसके सर्वान्तिम स्मरण [स्मृति-ज्ञान] से माना गया है।

द्वित्वोत्पत्ति प्रक्रिया के प्रथम कहे हुए दो विवरणों से यह सिद्ध होगया है, कि अपेक्षाबुद्धि-नाश और समवायिकारण-नाश दोनों में द्वित्वगुण का नाश करने की क्षमता है। इस तीसरे विवरण में जो द्वित्वनाश बताया गया है; वह—षष्ठक्षण में उत्पन्न आश्रयनाश [समवायिकारण-द्रव्यनाश] एवं अपेक्षाबुद्धि-विनाश—दोनों से जन्य है। इनमें पौर्वापर्य की संभावना नहीं कीजासकती; ये दोनों द्वित्वगुण-नाश के लिये युगपत् आक्रमण करते हैं। इस विषय में विभिन्न व्याख्याकार आचार्यों ने अपने विचार निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किये हैं—

१—शंकरोपस्कार, ७।२।८—

"यदा तु द्वित्वाधारावयवकर्मापेक्षाबुद्ध्योर्यौगपद्यं तदा द्वाभ्यामाश्रयनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां द्वित्वनाशः।"

२—व्योमवती [प्रशस्तपादभाष्य-टीका], पृ० ४६७। चौखम्बा सीरीज़।

संस्करण—

"यदा त्वपेक्षाबुद्धिसमकालमेकत्वाधारावयवे कर्म चिन्त्यते, तदोभय-विनाशादपि गुणस्य विनाशः सम्भवतीति ज्ञेयम्।"

३—किरणावली [प्रशस्तपादभाष्य-टीका], पृ० २०५, ए० सो० कलकत्ता संस्करण—

"कर्मसमकालमपेक्षाबुद्धिचिन्तनादुभाभ्यामपीति द्रष्टव्यम्।"

पाकज-गुण

पृथिवी-गत गन्ध, रस, रूप, स्पर्श ये चार गुण पाकज मानेजाते हैं। पहले से क्रमशः एक-एक को छोड़कर ये जल, तेज, वायु द्रव्यों के भी गुण हैं। वहां नित्य द्रव्य में रहनेवाले ये गुण नित्य हैं, तथा अनित्य द्रव्य में अनित्य। इन द्रव्यों में नित्य स्थिति परमाणु की है। इसलिये परमाणुगत ये गुण नित्य हैं, द्वयणुकादि समस्त अनित्य द्रव्यों में अनित्य। परन्तु पृथिवी-परमाणुओं में अग्निसंयोग से पहले गुण नष्ट होने और अन्य नये गुण उत्पन्न होजाने से वहां ये गुण अनित्य हैं, क्योंकि ये पाकजन्य हैं।

पाक-प्रक्रियागत भेद—पाकजन्य रूपादि गुणों की उत्पत्ति-प्रक्रिया में नैयायिकों तथा वैशेषिकों का परस्पर भेद है। नैयायिकों का कहना है, कि पाक अवयवी [पिठर–पात्र–सुरचित कच्चा घड़ा आदि] में होता है। यह सिद्धान्त 'पिठरपाकवाद' नाम से प्रसिद्ध है। इसके विपरीत वैशेषिक आचार्यों का कहना है, कि पाक स्वतन्त्र परमाणु [पीलु] में होता है, अवयवी में नहीं। इसीकारण यह सिद्धान्त 'पीलुपाकवाद' कहाजाता है। 'पिठर' पद अवयवी और 'पीलु' परमाणु के लिये प्रयुक्त है।

पिठर-पाक-प्रक्रिया—नैयायिकों की विचारधारा के अनुसार सभी कच्चे मृत्पात्र प्रशिथिलावयवसंयोग वाले होते हैं। तात्पर्य है, वहां अवयवसंयोग दृढ़ नहीं होता, मट्टी से बने कच्चे अवयवी की इस स्थिति को व्याख्याकारों ने 'सच्छिद्र' पद से अभिव्यक्त किया है। जब कच्चा घड़ा आदि मृत्पात्र पकने के लिये आवा में रक्खाजाता है, तब अग्नि के अतिसूक्ष्म अवयव–आम-द्रव्यावयवों के प्रशिथिल संयोगों के अन्तराल से पार होते हुए–आम-द्रव्य के प्रत्येक अवयव में संयुक्त होकर पहले रूपादि गुणों का नाशकर अन्य रूपादि गुणों को उत्पन्न

कर देते हैं। इसप्रकार वह कच्चा घड़ा आदि बाहर भीतर सब जगह से पकजाता है।

यह प्रक्रिया आजकल चीनी के बर्तन बनाये जाने में बहुत स्पष्ट देखीजा-सकती है। भट्टी की तरह चीनी का कच्चा बर्त्तन जरा ठेस लगजाने से बिखर जाता है। वहां भी बिना पकी हालत में अवयवों का संयोग दृढ़ नहीं होपाता। इन बर्तनों को भट्टी में रखकर सीमित स्तर तक गरमी दीजाती है, अथवा कहिये—अग्निसंयोग द्वारा उन्हें पकाया जाता है। उपयुक्त अग्नि-ताप ही उनको ठीक पकाता है। ताप में न्यूनाधिकता होने पर पात्रों में विविध प्रकार के विकार आजाते हैं। जैसे—कोई ताप की न्यूनता से कच्चे रहजाते हैं, उनके रूप आदि वाञ्छनीय स्थिति में नहीं उभर पाते; कहीं अधिक ताप से टेढ़े-मेढ़े हो जाते व टूट जाते हैं; कुछ और अधिक ताप लगने से बाहर का रूप-रंग बिगड़ जाता है। तात्पर्य है, बने-बनाये घटादि अवयवी द्रव्य में अग्नि-ताप से पाक संपन्न होजाता है; अवयवी के आरम्भक अवयव-संयोगों का नाश नहीं होता, न अवयवी द्रव्य नष्ट होकर दुबारा बनता है, जैसा कि दूसरे सिद्धान्त 'पीलुपाक-वाद' में स्वीकार कियाजाता है।

कच्चे घड़े आदि को पकाने के लिये आवा में जिस आकार—प्रकार का रक्खाजाता है, पकने के अनन्तर वह आवा से निकाले जाने पर वैसा ही दृष्टि-गोचर होता है[1]। कोई पात्र पाक के अनन्तर जो विकृत रूप में टेढ़े-मेढ़े या टूटे हुए रहते हैं, उसका कारण ताप की न्यूनाधिकता व पाक के साधन ईंधन आदि का आघात होता है। इसमें कोई प्रमाण नहीं, कि पात्र के इसप्रकार के विकार में—पात्र के परमाणु-पर्यन्त विशीर्ण होजाने पर पुनः दुबारा बनते समय—किसी प्रकार की न्यूनता आदि कारण हो। फलतः अवयवीरूप में बने-बनाये घटादि द्रव्य का ही अग्निताप से पाक होता है, यही सिद्धान्त प्रामाणिक है।

पीलु-पाक प्रक्रिया—पीलुपाकवाद वैशेषिक आचार्यों के सिद्धान्त के रूप में प्रसिद्ध है। उनका कहना है, कि सीधा अवयवी में पाक होना संभव नहीं।

---

१. जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी [पृ० ४३९, वाराणसी-लाजरस संस्करण] में कहा है—

याद‍ृगेव हि निक्षिप्तो घटः पाकाय कन्दुके।
पाकेऽपि ताद‍ृगेवासावुद्गतो दृश्यते ततः॥

यहां 'कन्दुक' पद 'आवा' के लिये प्रयुक्त हुआ है। पाकद्वारा मद्य-संस्कार की भट्टी का नाम 'कन्दु' है। भट्टी की भावना से मृत्पात्र-तापस्थान के लिये यहां इसका प्रयोग है।

इसमें बाधक हैं—कारणगुणपूर्वक कार्यद्रव्य में गुणोत्पत्ति, तथा कार्यद्रव्य में द्रव्यनाश से गुण का नाश। कार्यद्रव्य में कारणगुणपूर्वक गुणोत्पत्ति की व्यवस्था को सूत्रकार ने स्वयं स्थापित किया है [२।१।२४॥७।१।६]। कार्यद्रव्य में गुण का नाश द्रव्यनाश से ही होता है, इस व्यवस्था को व्याख्याकारों ने स्पष्ट किया[२] है।

१. पकजाने पर घड़ा जब आवा से बाहर निकाला जाता है, तब स्पष्ट ही उसमें कच्ची दशा के श्याम रूपादि गुण दिखाई न देकर नये रक्तरूपादि का प्रत्यक्ष होता है। इससे सिद्ध है, कच्ची अवस्था के श्याम-रूपादि गुणों का नाश होगया है, और रक्त रूपादि उत्पन्न होगए हैं। श्याम रूपादि का नाश—निर्धारित व्यवस्था के अनुसार—द्रव्यनाश के विना संभव नहीं; इसलिये कच्चे घट का नाश और पक्के घट की उत्पत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। पूर्वगुणनाश से ज्ञात उसके आश्रय घट-अवयवी का नाश मानने पर यह नाश बीच में न रुककर द्वचणुक पर्यन्त पहुंचता है। इसप्रकार द्वचणुक पर्यन्त अवयवी का नाश होजाने पर स्वतन्त्र परमाणुओं में अग्निसंयोग से श्यामरूप आदि पहले गुणों का नाश होकर अन्य अग्नि-संयोग से रक्तरूप आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। अनन्तर द्वचणुकादि कार्यद्रव्य की उत्पत्ति एवं कारणगुणपूर्वक कार्यगुणोत्पत्ति के प्रक्रम से अन्त्यावयवि-पर्यन्त सजातीय रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती चली जाती है। इसप्रकार सीधा अवयवी में पाक न होकर परमाणुओं में पाक संभव होने से पीलुपाक-सिद्धान्त निश्चित होता है।

२. पिठरपाकवादियों का यह कथन—कि अवयवी के सच्छिद्र अथवा प्रशिथिलावयवसंयोग होने से सीधा अवयवी में पाक संभव है—युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है, कि अग्निसंयोग घट—अवयवी के बाह्य भागों के साथ संयुक्त होने के कारण पूरे अवयवी को व्याप्त नहीं करपाता। जब पाक बाहर ही रह जायगा, अन्दर का भाग कच्चा बना रहेगा। घट-अवयवी के अन्दर अग्नि के प्रवेश में बाधक है—दो स्पर्शवद्द्रव्यों का एक काल में एक ही प्रदेश में न रह-सकना। जहां घट द्रव्य विद्यमान है, उसी समान प्रदेश में अग्नि का पहुंचना या विद्यमान होना संभव नहीं। इसलिये अन्दर-बाहर प्रत्येक अवयव में समवेत

---

२. प्रशस्तपादभाष्य, गुणपदार्थनिरूपण प्रकरण में रूपनिरूपण-प्रसंग, 'आश्रय-विनाशादेव विनश्यतीति'। न्यायकन्दली, पृ० १०६, लाजरस संस्करण।

अवयवी को अग्नि व्याप्त नहीं कर पाता[1]। फलतः प्रशिथिलावयवसंयोग अवयवी में पाक का साधक नहीं मानाजासकता।

३. यह देखाजाता है, आवा से पाक के अनन्तर घट बाहर निकाले जाने पर कभी टेढ़ा-मेढ़ा टूटा-फूटा होता है। यह स्थिति स्पष्ट करती है, कि कच्चा घड़ा आवा में रक्खे जाने के अनन्तर अग्नि-संयोग से नष्ट होगया था, अनन्तर उत्पत्ति के समय किसी उपभोक्ता-अदृष्ट के कारण वैगुण्य को प्राप्त होगया[2]। इससे भी पाकज दशा में अवयवी का नष्ट होना प्रमाणित होता है। इन आधारों पर वैशेषिक के सिद्धान्तरूप में 'पीलु-पाकवाद' स्वीकार कियाजाता है।

उभय-वाद, एक विवेचन—गम्भीरता से विचार करने पर दोनों वादों में बाह्य परिस्थितियों के अतिरिक्त कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता। दोनों वादों के अनुसार पूरा घड़ा पकता है। प्रत्येक वादी अपने कथन के लिये यह आवश्यक समझता है, कि घट का पूर्ण पाक होने में कोई बाधा उपस्थित न कीजासके। पर दोनों पक्षों में कुछ कमियां है, कुछ बाधा हैं।

पिठर-पाकवादी जब अवयवी में परमाणुपर्यन्त पाक मानता है, और ऐसा मानकर अवयवी में पूर्ण पाक का उपपादन करता है; तो एक प्रकार से यह स्वीकार होगया, कि पाक परमाणु अवस्था तक हुआ है। यह दूसरे वाद के साथ समानता की स्थिति है। विशेषता यह है, कि वह अवयवी का नाश नहीं मानता। अवयवी के नाश को वस्तुतः पीलु-पाकवादी सिद्ध नहीं कर पाता। कच्चे घड़े पर जैसी चित्रकारी व रूप-रेखा, अवयव-सन्निवेश आदि पाक से पूर्व रहता है, पाक के अनन्तर भी उस सन्निवेश तथा चित्रकारी आदि में कोई अन्तर नहीं होता; यदि अवयवी परमाणु पर्यन्त विशीर्ण होकर नष्ट होजाता है, तो ठीक उसी रूप में घट के स्वतः पुनर्निर्माण को सिद्ध किया जाना अशक्य है। इस निर्माण में आत्माओं के अदृष्ट को मुख्य कारण बताना वास्तविकता से मुंह मोड़ कन्नी काटकर बच निकल जाने के समान है।

इस वस्तुस्थिति को स्वीकार किया जाना चाहिये, कि कच्चे घड़े का आवा में रक्खे जाने से पूर्व जो कुछ अवयव-सन्निवेश, आकृति आदि है, ठीक वही पाक के अनन्तर बना रहता है। वह परमाणु पर्यन्त विशीर्ण होकर, ठीक उसी अव-

१. **'सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्त्तमानस्य [-अवयविनः] अग्निना व्याप्त्यभावात्।'**
प्र० पा० भा०, पाकज प्रक्रिया प्रसंग।
पृष्ठ १०७, लाजरस संस्करण।

२. **द्रष्टव्य, न्यायमञ्जरी पृ० ४३८, लाजरस संस्करण।**

यव-सन्निवेश के साथ पुनः बना है; इस कथन में कोई प्रमाण नहीं हैं। बने-बनाये अवयवी में अग्नि द्वारा पाक संभव है। अग्नि का संपर्क अवयवी के बाहर की ओर रहेगा, यह कथन उपहासास्पद-जैसा है। अवयवी के बने रहते ही अग्नि-संपर्क पूर्ण अवयवी के साथ व्याप्त रहता है, यह प्रत्यक्षगम्य है। चाय के प्याले में तीव्र-उष्ण चाय अथवा गिलास में दूध डालने पर प्याला और गिलास दोनोंमें अग्नि-संपर्क व्याप्त होजाता है। भीतर भरे उस उष्ण द्रव से वह समस्त पात्र इतना उष्ण रहता है, उसे बाहर से छुआ तक नहीं जासकता। यह स्थिति अग्नि द्वारा समस्त अवयवी के व्याप्त होने में प्रमाण है। प्याला व गिलास विशीर्ण हुए विना सबके सन्मुख विद्यमान रहते हैं।

इस स्थिति को अधिक स्पष्ट समझने के लिये आवश्यक है, प्रथम अवयवी के वास्तविक स्वरूप को समझना। अवयवी क्या है? समस्त अवयवों के सन्निवेश-विशेष के आधार पर एकता का अस्तित्व। वह केवल 'एकत्व' का प्रतीकमात्र है। वस्तुरूप में वह अवयवों से अतिरिक्त कुछ नहीं। पर स्वयं अवयव अवयवी नहीं हैं; अवयव अनेक और अवयवी एक है। पाक 'वस्तु-तत्व' में होता है, उसे किसी नाम से कहलियाजाय। इसप्रकार अवयवी केवल 'एकत्व' का प्रतीक है, और उसका बौद्धिक अस्तित्व है। यही अवयवी की स्वतन्त्र सत्ता है। धारण, आकर्षण, प्रत्यभिज्ञान, एकत्व का बोध आदि सब उस विशेष अवयव-सन्निवेश के आधार पर होते हैं। केवल अवयवों के आधार पर यह सब होना संभव नहीं। अवयवी की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार किये जाने में यही प्रमाण है।

अवयवों के सन्निविष्ट रहने पर पाक की संभावना कहाँ तक है, विचारना चाहिये। पाक के लिये अग्नि किसी वस्तु में तीन प्रकार से प्रसार पाता है। ये तीन प्रकार वस्तुओं के भेद के आधार पर हैं। विभिन्न वस्तुओं का रचना-क्रम और उसके आधार पर उनका गठन अनेक प्रकार का होता है। उसीके अनुसार उनमें पाक के लिये अग्नि का प्रसार तीन प्रकार से पायाजाता है।

१–संचालन–[Conduction=कॉन्डक्शन], यह प्रकार धातुओं में देखाजाता है। अर्थात् धातुओं में ताप की गति का यह प्रकार है। इसमें धातु के एक सिरे का ताप से संपर्क होने पर तप्त अंश अगले संबद्ध अंशों को क्रमशः ताप देताजाता है। धातु का एक भाग ताप से संबद्ध होनेपर समस्त धातुपिण्ड संतप्त होजाता है।

२–संवहन–[Convection=कॉन्वैक्शन], यह प्रकार द्रव पदार्थों में पायाजाता है; जैसे–घृत, जल, बरफ आदि। गैस में भी ताप की गति का यही प्रकार रहता है।

३–विकीर्ण–[Radiaction=रैडिएँक्शन], जहाँ ताप स्वयं पदार्थ तक पहुंचता है, वहां यह प्रकार माना गया है। जैसे–सूर्यका ताप हम तक पहुंचता है। अँगीठी आदि के समीप बैठे हम ताप का अनुभव करते हैं। वस्तुतः पहले दो प्रकारों में भी विकीर्ण-स्थिति मूलरूप से विद्यमान रहती है। आगे आधार की स्थिति विभिन्न होने से उक्त-प्रकार बनजाते हैं।

ताप की गति के आधार पर द्रव्य दो वर्गों में बाँटे गये हैं—**१-सुचालक**= Good Conductor। **२–कुचालक**—Bad Conductor। धातु संख्या एक में, तथा काष्ठ, घट आदि संख्या दो में आते हैं। इनमें [संख्या दो वालों में] ताप संबद्ध अंश से आगे नहीं चलता।

पाक के इन प्रकारों में घटादि द्रव्यों का पाक दूसरे प्रकार के अनुसार समझना चाहिये। इसप्रकार अवयवों की सन्निविष्ट दशा में अर्थात् अविकृत अवयवी में पाक होना संभव है। पार्थिव आदि अवयवी के गठन की अपेक्षा अग्नि अत्यन्त सूक्ष्म रहता है; इसी कारण वह सन्निविष्ट अवयवों में प्रवेश पाजाता है। इस वस्तुस्थिति का आचार्यों ने दोनों प्रकार अभिलापन किया है। अवयवी के आधार प्रत्येक अवयव के पकजाने के कारण अवयवी के अन्तिम-अवयव पर्यन्त विशीर्ण होजाने की कल्पना केवल बौद्धिक है। स्वतन्त्र परमाणु में पाक कहेजाने का यही मूल आधार है। अन्यथा अवयवी में पाक होने की संभावना के लिये कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

कतिपय शास्त्रीय मान्यताएं:—स्वतन्त्र परमाणुओं में पाक की कल्पना के लिये दौड़ क्यों लगाई गई, इसके आधार–कतिपय शास्त्रीय मान्यता हैं। उनपर विचार कर लेना अपेक्षित है। पहली मान्यता है—'कार्यद्रव्य में कारणगुणपूर्वक गुणोत्पत्ति'। इसके अनुसार कार्य घट में गुणोत्पत्ति उसके कारणगत गुणों से होगी। दूसरी मान्यता है–'कार्यद्रव्यनाश से गुण का नाश'। ये दोनों मान्यता सीमित करदीगई हैं–केवल पाकज गुणों के लिये। इसका परिणाम यह है, कि घट आदि अवयवी में पूर्वगुण का नाश, एवं गुणान्तर की उत्पत्ति अग्नि-संयोग से नहीं होसकती। घट के पकने पर देखाजाता है, कि उसमें पूर्वगुण का नाश और गुणान्तर की उत्पत्ति होगई है; यह स्थिति उक्त मान्यताओं के अनुसार घट का नाश हुए विना संभव नहीं; इसलिये घटनाश की कल्पना कीजाती है, और यह नाश सर्वादिम अवयवी पर्यन्त मानना पड़ता है। इसप्रकार द्वचणुक पर्यन्त अवयवी का नाश होकर स्वतन्त्र परमाणुओं में अग्निसंयोग से पूर्वगुणनाश और गुणान्तर की उत्पत्ति को मानागया। परन्तु पाक के अनन्तर आवा से घट बाहर निकाले जाने पर गुणपरिवर्त्तन के अतिरिक्त वह आकार-प्रकार व अवयव-सन्निवेश आदि

में वैसा ही दीखता है, जैसा पाक से पूर्व था; इसलिये उसकी पुनः उत्पत्ति की कल्पना करनी पड़ती है। तब अन्त्यावयवी घट आदि तक कारणगुणपूर्वक कार्य में गुणोत्पत्ति की मान्यता व्यवस्थित होती है।

इन मान्यताओं से परमाणु को बाहर रक्खा गया है, क्योंकि वहां न द्रव्य-नाश से गुणनाश संभव है, और न कारणगुणपूर्वक गुणोत्पत्ति। क्योंकि परमाणु नित्य मानेजाने से न उसका नाश संभव है, और न उसका कोई कारण; जिससे वहां कारणगुणपूर्वक गुणोत्पत्ति हो। ये मान्यता हैं, जिनके कारण अवयवी में पाक होना बाधित होकर उसके लिये परमाणुपर्यन्त दौड़ लगाना आवश्यक समझागया है।

इस विचार में—जैसा प्रथम कहागया--अवयवी का पूर्णनाश होकर पुनः स्वयं उसका उत्पन्न मानाजाना केवल कल्पना-प्रसूत है; इस स्थिति का ध्यान रखते हुए यदि उक्त मान्यताओं में कुछ शिथिलता करदीजाय, तो अवयवी में पाक निर्बाध होजाता है। मान्यताओं के शैथिल्य का स्वरूप इसप्रकार समझना चाहिये अन्त्यावयवी में गुणोत्पत्ति तथा गुणनाश को दोनों प्रकार मानलियाजाय—१—कारणगुणपूर्वक गुणोत्पत्ति तथा द्रव्यनाश से गुणनाश। एवं २—अग्निसंयोग से गुणनाश तथा गुणान्तरोत्पत्ति। इसका विवेक इसप्रकार होगा--परमाणु प्रथम जैसे रूपादि गुणवाले हैं, उनसे द्व्यणुकादि उत्पत्तिक्रम द्वारा कार्य में जो गुण उत्पन्न होंगे वे अन्त्यावयवी पर्यन्त कारणगुणपूर्वक होंगे। यदि उसी दशा में घटादि कार्य--अन्त्यावयवी नष्ट होजाता है, तो द्रव्यनाश से गुणनाश होगा।

अन्त्यावयवी में अग्नि-संयोग होने पर पूर्वगुण का नाश और गुणान्तरोत्पत्ति अग्निसंयोग द्वारा होंगे। जो कार्य परमाणु में मानागया, वह अन्त्यावयवी में मान लेना चाहिये। अब अन्त्यावयवी में पूर्वगुण नष्ट होकर पाकज गुणान्तर उत्पन्न होगये हैं। इसके अनन्तर जब अवयवी का नाश होगा, तो पुनः यहां द्रव्यनाश से गुणनाश होगा। इससे कारणगुणपूर्वक कार्य में गुणोत्पत्ति, तथा अपवादरूप से अन्त्यावयवी में अग्नि-संयोग से भी गुणनाश व गुणोत्पत्ति होगी। इसप्रकार उक्त मान्यताओं का निर्वाह होजाता है।

आशंका कीजासकती है, कि जब अवयवी में पाक होगा, तो अवयवों की क्या दशा होगी? क्या अवयव पाकरहित रहेंगे? क्योंकि अवयव स्वयं अवयवी नहीं हैं? इस आशंका का समाधान तिल की ओट पहाड़ है। इसी कारण अव-यवी का मान्य स्वरूप प्रथम निर्दिष्ट कियागया है। वस्तु-सत्ता के रूप में विशिष्ट सन्निवेश के साथ समस्त अवयव ही अवयवी हैं। यदि अवयवी का पाक होता है, तो अवयव शेष नहीं रहजाते। अवयवी उन्हीं समस्त अवयवों का सन्निविष्ट-

रूप है। इसीकारण प्रथम कहा है--पाक अवयवी में कहाजाय, या अवयव में; इसमें मूलतः कोई विशेष अन्तर नहीं है।

एक अन्य आशंका विद्वानों के सम्मुख है। द्रव्यनाश से गुण का नाश होता है, इस मान्यता के अनुसार पक्व-अपक्व घट आदि द्रव्य जब नष्ट होते हुए आद्य-कार्य द्वयणुक की दशा में आजाते हैं, तब अन्तिम विभागजन्य संयोगादि नाश से द्वयणुक कार्य का नाश होजाता है। कार्यद्रव्यनाश से उसके रूपादि गुणों का नाश होजायगा; तब उन परमाणुओं में कौन-से रूपादि गुण रहेंगे? उस दशा में वहां रूपादि गुणोत्पत्ति का कारण क्या होगा? कदाचित् प्रलयकाल उपस्थित होने पर प्रलयाग्नि-संयोग कारण कल्पना कियाजासके; पर घटादि कार्य की वैसी दशा प्रलयकाल के अतिरिक्त समय में भी संभव है? वस्तुतः अतीन्द्रिय पदार्थ-विषयक ये निगूढ़ आशंका--जिनका कदाचित् कहीं अन्त नहीं--सदा समाधान की अपेक्षा रखती हैं।

परमाणु से कार्यारम्भ के प्रसंग में एक तीसरी मान्यता यह प्रस्तुत कीजाती है, कि दो द्रव्यों का संयोग अव्याप्यवृत्ति [स्वसमानाधिकरणात्यान्ताभावप्रति-योगी] होता है। इस व्यवस्था को--दो कार्यद्रव्यों के संयोग के विषय में--सीमित करदियागया है। तात्पर्य है---कार्यद्रव्य-द्वय का संयोग अव्याप्यवृत्ति होता है। इस मान्यता के अनुसार दो परमाणुओं का संयोग--जो द्वयणुक को उत्पन्न करता है--अव्याप्यवृत्ति नहीं होता; क्योंकि द्वयणुक के अवयव--दो परमाणु कार्यद्रव्य नहीं हैं। अवयवी में पाक माननेवालों का कहना है, कि अवयवी में अवयव-संयोग के अव्याप्यवृत्ति होने के कारण सावकाश होने से अग्नि उस अवकाश द्वारा अवयवी में प्रविष्ट होजाता है; इसप्रकार अवयवी-दशा में पाक संभव है। परन्तु द्वयणुक के अवयव--दो परमाणुओं का संयोग सावकाश न होने से अग्नि का प्रवेश वहां संभव न होगा। तब अवयवी में पाक का कथन संगत नहीं मानाजासकता।

इसके विवेचन में प्रवृत्त अवयवि-पाकवादी का कहना है, कि यदि द्वयणुक के आरम्भक परमाणु-द्वय का संयोग निरवकाश रहता है, तो इसका यह तात्पर्य है, कि परमाणु और द्वयणुक का परिमाण समान है। यदि परमाणु के समान परिमाण वाले द्वयणुक में निरवकाश होने से अग्निद्वारा पाक संभव नहीं, तो उसी परिमाणवाले स्वतः निरवकाश परमाणु में पाक कैसे संभव होगा? तब जैसे पर-माणु में अवकाश न रहने पर पाक संभव है, वैसे ही द्वयणुक में---परमाणु-समान आकार होने से---पाक होता चाहिये। यदि यहां पाक न होगा, तो परमाणु में ही क्यों होगा? परिमाण की व निरवकाशता की उभयत्र समानता से एक [पर-माणु] में पाक हो, अन्य [द्वयणुक] में न हो, इसका कोई नियामक प्रतीत नहीं

होता। यदि द्वयणुक (अवयवी) में पाक संभव है, तो घट (अवयवी) में भी संभव होगा।

इस सब विवेचन से यह स्पष्ट करने का प्रयास कियागया है, कि पाक चाहे अवयव में मानाजाय, अथवा अवयवी में, इससे वस्तु-स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। व्याख्याकारों ने पिठरपाक अथवा पीलुपाक के आधार पर जो विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किये हैं, उनमें शाब्दिक वाद-प्रतिवाद ही अधिक उभरकर सामने आया है। वस्तु-स्थिति की ओर उतना ध्यान नहीं दियागया।

पीलुपाक-वाद के अनुसार द्वयणुक-नाश के अनन्तर स्वतन्त्र पार्थिव परमाणुओं में अग्निसंयोग से पूर्व-विद्यमान श्यामरूपादि का नाश तथा अन्य रक्तरूपादि के उत्पन्न होने में कितने क्षण अपेक्षित होते हैं; इसका विवरण व्याख्याकारों ने विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया है। इस प्रक्रिया का आरम्भ द्वयणुकनाश से किया-जाता है। यद्यपि इससे पूर्व द्वयणुक के आरम्भक परमाणु के साथ अग्नि का 'नोदन' नामक संयोग होता है। उस संयोग से एक परमाणु में क्रिया उत्पन्न हो-कर, वह उस परमाणु का दूसरे परमाणु एवं पूर्वप्रदेश से विभाग करदेती है; अर्थात् उस क्रिया से एक परमाणु में पूर्वप्रदेश से विभाग उत्पन्न होता है। उससे द्वयणुकारम्भक संयोग तथा पूर्व-प्रदेश-संयोग का नाश होजाता है। अनन्तर अस-मवायिकारण अवयव-संयोग के नाश से कार्यद्रव्य-द्वयणुक का नाश होजाता है। तथापि द्वयणुक-नाश से पहले के क्षणों की उपेक्षा करके द्वयणुक-नाश-क्षण से ही गणनामूलक क्षण-प्रक्रिया का आरम्भ कियाजाता है! वह प्रक्रिया निम्नलिखित-रूप में समझनी चाहिये—

प्रथम क्षण—

(क) द्वयणुक-नाश,

(ख) श्यामरूपादि-नाशक 'अ'[1] अग्नि और 'अ'[1] परमाणुसंयोग का उत्पाद,

(ग) श्यामरूपादि की विनाशोन्मुखता,

(घ) रक्तरूपादि के उत्पादक 'आ' अग्नि—'अ' परमाणु-संयोग की उत्पादो-न्मुखता,

(ङ) पूर्वक्षणोत्पन्न क्रिया द्वारा सम्पन्न 'अ' परमाणु का उत्तर-देश के साथ संयोग।

---

१. एक ही अग्नि-संयोग विनाश और उत्पाद का कारण नहीं होता। अतः प्रथम 'अग्नि' पद के सात 'अ' तथा दूसरे के साथ 'आ' संकेत दियागया है। इसी-प्रकार द्वयणुकारम्भक दो परमाणुओं को 'अ' तथा 'आ' से संकेतित किया है।

द्वितीय क्षण—

(क) 'अ' परमाणु में श्यामरूपादि का नाश,

(ख) श्यामरूपादि नाशक 'अ' अग्नि + 'अ' परमाणु-संयोग से 'अ' अग्निगत क्रिया का नाश,

(ग) उत्तर-देश-संयोग से 'अ' परमाणुगत क्रिया का नाश,

(घ) रक्तरूपादि के उत्पादक 'आ' अग्नि और 'अ' परमाणु के संयोग का उत्पाद।

तृतीय क्षण—

(क) 'अ' परमाणु में रक्तरूपादि का उत्पाद,

(ख) 'अ' अग्नि में [अदृष्टादिवश] क्रियान्तर का उत्पाद,

(ग) 'आ' अग्नि की पूर्व-क्रिया का विनाश।

चतुर्थ क्षण—

(क) अदृष्टवदात्म-संयोग से 'अ' परमाणु में द्व्यणुकारम्भक-संयोगानुकूल-क्रिया का उत्पाद,

(ख) 'अ' अग्नि में पूर्वक्षणोत्पन्न क्रिया द्वारा उसका 'अ' परमाणु स तथा पूर्व-देश से विभाग,

(ग) 'आ' अग्नि में [अदृष्टादिवश] क्रियान्तरोत्पाद।

पञ्चमक्षण—

(क) 'अ' परमाणु का पूर्व-प्रदेश से विभाग,

(ख) 'अ' अग्नि के पूर्व-देश-संयोग का नाश,

(ग) 'आ' अग्नि का 'अ' परमाणु से तथा पूर्व-प्रदेश से विभाग।

षष्ठक्षण—

(क) 'अ' परमाणु के पूर्व-देश-संयोग का नाश,

(ख) 'अ' अग्नि का 'आ' परमाणु के साथ तथा उत्तर-देश के साथ संयोग,

(ग) 'आ' अग्नि का 'अ' परमाणु के साथ तथा पूर्व-देश के साथ संयोग का नाश।

सप्तमक्षण—

(क) 'अ' परमाणु का 'आ' परमाणु के साथ तथा उत्तर-देश के साथ संयोग,

(ख) 'आ' परमाणु के श्यामरूपादि का नाश,

(ग) 'आ' अग्नि का 'आ' परमाणु के साथ संयोग।

अष्टमक्षण—

(क) 'आ' परमाणु में 'आ' अग्नि के संयोग से रक्तरूपादि का उत्पाद,

(ख) सप्तमक्षण-गत 'अ-आ' परमाणुद्वय के संयोग से द्वयणुक का उत्पाद ।

नवमक्षण—

(क) द्वयणुक के समवायिकारण 'अ' परमाणु तथा 'आ' परमाणु में क्रमानुसार तृतीयक्षणोत्पन्न एवं अष्टमक्षणोत्पन्न रक्तरूपादि से द्वयणुक में रक्तरूपादि का उत्पाद ।

द्वयणुकद्रव्यनाश से लगाकर पुनः द्वयणुकोत्पत्ति एवं द्वयणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति पर्यन्त जो नव-क्षण प्रक्रिया प्रस्तुत कीगई है, वह न्यायवैशेषिक के उन नव्य आचार्यों के मतानुसार है, जो विभागज-विभाग की उद्भावना को अनावश्यक मानते हैं। इस विभाग को स्वीकार करने वाले प्राक्तन आचार्यों का कहना है, कि एक ही क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी तथा अविरोधी दोनों प्रकार के विभाग को उत्पन्न नहीं करसकती। इसको स्पष्ट करने के लिये व्याख्याकार कमल-दल-विकास का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। कमल जब कली (मुकुल) की अवस्था पारकर खिलने लगता है, उस समय कमल के जिस एक दल (पंखुड़ी) में क्रिया होती है, वह क्रिया अपने आधार (दल) में विभाग को उत्पन्न करती है। वह विभाग उस दल का—एक आकाश-प्रदेश के संयोग का नाश कर—अन्य आकाश-प्रदेश से संयोग उत्पन्न कर देता है। यह क्रियाजन्य विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का अविरोधी है। यदि वही क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी विभाग को भी उत्पन्न कर दे, तो कमल विकसित होने के स्थान पर विनष्ट होजाना चाहिये। आकाशदेश-दलसंयोगनाश के अवसर पर ही द्रव्यारम्भक संयोग का भी नाश होजाने से विकसित न होकर कमल नष्ट होजायगा। इस कारण यह शास्त्रीय व्यवस्था है, कि एक क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी—अविरोधी दोनों प्रकार के विभाग को उत्पन्न नहीं करसकती।

इस व्यवस्था के अनुसार द्वयणुकावयव में उत्पन्न क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करती है। विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग का नाश होजाने पर भी द्वयणुक द्रव्य का नाश प्राप्त न होगा; यद्यपि असमवायिकारण—अवयवसंयोग के नाश से कार्यद्रव्य का नाश होजाना चाहिये। द्वयणुक के नाश न होने का कारण यह है, कि उसके क्रियाश्रय अवयव का आकाश-देश से जो संयोग है, उसका नाशक कोई कारण यहां नहीं है। इसके लिये आचार्यों ने कल्पना की है, कि यह क्रियाजन्य विभाग अपने आगे एक और विभाग को उत्पन्न कर देता है, वह विभाग द्रव्य (-द्वयणुक) के अनारम्भक द्वयणुकावयव-आकाशदेशसंयोग का नाश करदेता है। इसका परिणाम होता है, कि द्वयणुकावयव उस आकाश-देश से हटकर अलग होजाता है, तब द्वयणुक अपने कार्यरूप

को खोदेता है।

कमल-दल-विकास के तर्क पर विभागज-विभाग की कल्पना में नव्य आचार्यों का कहना है, कि वहां क्रिया द्रव्यारम्भकसंयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती, भले ही उसमें उभयविध विभाग को उत्पन्न करने की क्षमता बनी रहे। कारण यह है, कि कमल का द्रव्यारम्भक संयोग दलों के मूल में है, तथा विकास के लिये दलों के अग्रभागस्थित कमल-द्रव्यानारम्भक संयोग का विभाग से नाश होता है। वही क्रियाजन्य विभाग कली-द्रव्य के आरम्भक संयोग का नाशक होता है। कली (-मुकुल) द्रव्य के रूप में दलों का जो परस्पर संयोग है, वह द्रव्यारम्भक संयोग है; उसका यदि नाश न होगा, तो कमल का विकास ही संभव नहीं, वह मुकुल ही बना रहेगा। अतः एक क्रियाजन्य विभाग उभयविध [द्रव्यारम्भक-अनारम्भक] संयोग का नाशक संभव है; तब विभागज-विभाग की कल्पना व्यर्थ है।

प्राक्तन आचार्य यहां भी विभागज-विभाग की कल्पना करते हैं; क्योंकि एक क्रियाजन्य विभाग अपने अधिकरण में एक ही संयोग का नाशक होसकता है। यहां संयोग दो हैं, एक–अवयवों का द्रव्यारम्भक संयोग; दूसरा द्व्यणुकावयव का आकाश-देश से संयोग, जो द्रव्य का अनारम्भक है। क्रियाजन्य विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का नाशकर चरितार्थ होजाता है। पूर्णकाम हुआ वह विभाग अन्य विरोधी–नाश-कार्य के लिये अक्षम होगा, अतः द्रव्यानारम्भक संयोग के नाश के लिये विभागज-विभाग की कल्पना आवश्यक है।

क्रियाजन्य एक ही विभाग के द्रव्यारम्भकसंयोग का विरोधी एवं अविरोधी होने में आचार्य उदयन ने विभाग-गत वैजात्य होने की आपत्ति का उद्भावन किया है। आचार्य का कहना है, कि विभाग-गत वैजात्य उसके कारणभूत कर्म-गतवैजात्य के विना संभव नहीं, तथा कर्म-गत वैजात्य की कल्पना सर्वथा निराधार है; क्योंकि एक ही कार्य में परस्पर विरुद्ध उभयविध वैजात्य [द्रव्यारम्भक-संयोग–प्रतिरोधक विभागजनकत्व एवं द्रव्यारम्भकसंयोगाऽप्रतिरोधक–विभाग-जनकत्व] का उपपादन नहीं कियाजासकता। इस कारण एक क्रियाजन्य विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का विरोधी-अविरोधी उभयरूप नहीं होसकता। अतः क्रिया-जन्य विभाग से द्रव्यारम्भक संयोग का नाश होने पर द्रव्यावयवगत–आकाश-देश-संयोग के नाश के लिये अन्य विभाग अपेक्षित होगा। इसकारण विभागज-विभाग की कल्पना अनिवार्य है।

इस प्रसंग में वस्तुस्थिति यह है, कि द्व्यणुक-नाश के अवसर पर दो संयोग ऐसे हैं, जिनका नाश होने से द्व्यणुक का नाश संभव है। एक–द्व्यणुकद्रव्या-

रम्भकसंयोग; अर्थात् दो परमाणुओं का परस्पर संयोग। दूसरा—द्वचणुकावयव—आकाशदेश-संयोग। यह संयोग द्वचणुक द्रव्य का आरम्भक नहीं है। द्वचणुकावयव में हुई क्रिया से उत्पन्न विभाग पहले संयोग का नाशक होगा। दूसरे संयोग का नाश क्रियाजन्य विभाग से संभव नहीं, क्योंकि वह एक संयोग का नाश कर चरितार्थ होचुका है। इसके अतिरिक्त उन दोनों विभागों में स्वरूपेण वैजात्य है। अतः दूसरे संयोग के नाश के लिये अन्य विभाग अपेक्षित होगा; वही विभागज-विभाग है। तात्पर्य है, क्रियाजन्य विभाग आगे अन्य विभाग को उत्पन्न करदेता है।

उक्त विवरण विभाग की उभयविधता [द्वचणुकारम्भक-संयोगविरोधिता-अविरोधिता; अथवा द्वचणुकारम्भक—अनारम्भकसंयोगविरोधिता] को सम्मुख रख प्रस्तुत कियागया है। इसीको क्रिया के आधार पर इसप्रकार प्रस्तुत कियाजासकता है—एवं क्रिया उस विभाग को उत्पन्न करती है, जो द्रव्यारम्भक-संयोग का नाशक है। वही क्रिया द्रव्य के अनारम्भक-संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न नहीं करसकती। इसलिये द्वचणुकनाश के आधार पर क्रियाजन्य-विभाग द्रव्यारम्भक-संयोग का नाश करेगा; द्वचणुकावयव—आकाशदेशसंयोग का नहीं। अन्य क्रिया की कल्पना वहां न होने से इस संयोग का नाशक विभाग क्रियाजन्य-विभाग से उत्पन्न मानाजाता है। यह स्थिति प्रत्येक द्रव्य-नाश के अवसर पर उपस्थित होती हैं, जब कि मुख्यतः उसका नाश असमवायिकारण के नाश होजाने से होरहा हो।

कारणस्थानीय पूर्वविभाग कार्यस्थानीय विभाग को कौन से क्षण में उत्पन्न करता है; इस विषय में आचार्यों का थोड़ा मतभेद है। एक मत है--क्रियाजन्य विभाग से द्रव्यारम्भकसंयोग-नाश क्षण में अगला विभाग उत्पन्न होजाता है। दूसरा मत है--द्रव्यारम्भकसंयोग-नाश-क्षण में विभागज-विभाग उत्पन्न न होकर उससे अगले द्रव्य-नाश क्षण में उत्पन्न होता है। यह मत आचार्य उदयन का है।

आचार्य का कहना है, कि प्रशस्तपाद के ''कार्यविनाश' पद का अर्थ--द्रव्यारम्भक-संयोग-विनाश' न होकर 'द्रव्यनाश' है। कारण यह है, कि विभाग आगे विभागान्तर के उत्पादन में प्रतिबन्धकाऽभाव की अपेक्षा रखता है। द्रव्यारम्भक-संयोग विभाग का प्रतिबन्धक नहीं होसकता; क्योंकि ऐसा मानने पर संयोग विभाग से प्रबल होगा, तब वह विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का प्रतिबन्धक न

१. 'विभागः कार्यविनाश विशिष्टं कालं···अपेक्ष्य···विभागान्तरमारभते।' प्र० पा०, विभागप्रकरण।

हो सकेगा। एक ही विभाग संयोग का प्रतिबद्ध्य और प्रतिबन्धक होना संभव नहीं। अतः विभाग का प्रतिबन्धक द्रव्य को मानना होगा। द्रव्य की विद्यमानता में विभाग विभागान्तर को उत्पन्न नहीं करसकेगा, द्रव्य-नाश-लक्षण में ही यह संभव होगा। अतः प्रशस्तपाद के 'कार्य-विनाश' पद का अर्थ 'द्रव्य-विनाश' समझना युक्त है।

इस मतभेद के रहने पर जब प्रथम मत के अनुसार द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश क्षण में विभागज-विभाग उत्पन्न होता है; तब पीलु-पाक प्रक्रिया दश-क्षण की बनती है। दूसरे मत के अनुसार एक क्षण आगे, द्रव्य-नाश-क्षण में विभागज-विभाग उत्पन्न होने से पीलु-पाक-प्रक्रिया में एक क्षण और बढ़जाता है। यह मत-भेद इसीकारण है, कि विभागज-विभाग स्वीकार करने पर उसे किस क्षण में उत्पन्न मानाजाय; द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-क्षण में अथवा द्रव्य-नाश-क्षण में।

द्रव्य-नाश-क्षण में विभागज-विभाग की उत्पत्ति मानने पर एक बात विचारणीय है। द्वचणुकावयव में क्रियाजन्य विभाग से द्वचणुकद्रव्यारम्भक परमाणुद्वयसंयोग का नाश होने पर अगले क्षण में द्रव्यनाश अवश्यंभावी है। असमवायिकारण के नाश से द्रव्यनाश मानाजाता है। अब यदि द्रव्यनाश-क्षण में विभागज-विभाग उत्पन्न हुआ मानाजाता है, तो वह विभाग अपनी उत्पत्ति से अगले क्षण में द्वचणुकावयव-आकाशदेश-संयोग का नाश करेगा। जबतक इस संयोग का नाश न होगा, द्वचणुकावयव उस देश से न हटने के कारण द्वचणुक बना रहेगा; क्योंकि आकाश-देश के साथ उसके संयोग का नाश नहीं हुआ है। इसका परिणाम यह होगा, कि असमवायिकारण का नाश होजाने पर भी द्रव्य बना रहेगा, जो अनिष्ट है। इसलिये द्रव्यनाश-विशिष्ट-क्षण से एक क्षण पूर्व अर्थात् द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-विशिष्ट-क्षण में विभागज-विभाग की उत्पत्ति मानना अधिक युक्त है। इससे द्रव्यारम्भक-संयोगनाश होने पर अगले जिस क्षण में द्रव्यनाश होगा; उसी क्षण में प्रथमक्षणोत्पन्न विभागज-विभाग से द्वचणुकावयव-आकाशदेश-संयोग का नाश होगा। ऐसी स्थिति में असमवायिकारण के नाश से द्रव्यनाश में कोई बाधा न रहने से अनिष्टापत्ति न होगी।

द्रव्य (-द्वचणुक) को विभागज-विभाग का प्रतिबन्धक माना, जबतक द्रव्य बैठा है, विभागज-विभाग को उत्पन्न नहीं होने देता। अतः द्रव्यनाशविशिष्ट क्षण में विभागज-विभाग की उत्पत्ति मानना युक्त है। परन्तु ऐसी स्थिति में विभागज-विभाग मानने की आवश्यकता क्या है? द्रव्यनाश का तात्पर्य है—द्वचणुकावयव का उस आकाश-देश से हटजाना, जब आकाशदेश-विशेष के साथ

उस द्वयणुकावयव का संयोग ही न रहा, तो विभागज-विभाग का उत्पन्न होना अनावश्यक है। उस आकाशदेश-विशेष के साथ द्वयणुकावयव-संयोग का नाश करने के लिये ही तो उस विभाग की आवश्यकता थी। द्रव्यनाश होने पर उस संयोग का रहना संभव नहीं। यदि संयोग बना है, तो द्रव्यनाश कहना संगत न होगा। फलतः द्वयणुक-द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-विशिष्ट क्षण में विभागज-विभाग की उत्पत्ति मानना अधिक उपयुक्त है।

संयोग-विभाग का प्रतिबद्धच-प्रतिबन्धकभाव एक ही संयोग-विभाग में असंभव है। जो विभाग संयोग का प्रतिबन्धक है, वही विभाग संयोग का प्रतिबद्धच नहीं होसकता। जहां द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होकर भी द्रव्यावयव में विभाग को उत्पन्न नहीं करती, वहां विभाग द्रव्यावयव-संयोग का प्रतिबद्धच है। दृढ़-संयोग द्रव्यावयवों में विभाग को उत्पन्न नहीं होने देता। संयोग-विभाग का प्रतिबन्धक द्रव्य होता है, ऐसा कथन विचारणीय है। द्रव्य-स्थिति में अवयव-संयोग का रहना अनिवार्य है। तब उसीको विभाग का प्रतिबन्धक क्यों न माना जाय ?

इसप्रकार आचार्यों के विचारानुसार विभागज-विभाग की उत्पत्ति दोनों क्षणों में संभव है। एक—द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-विशिष्ट क्षण में; दूसरे—द्रव्य नाश-विशिष्ट क्षण में। प्रथम विचार के अनुसार द्वयणुक-नाश से लगाकर पुनः उत्पन्न द्वयणुक में रक्तरूपादि गुणोत्पत्ति तक दस क्षण लगते हैं। दूसरे विचार के अनुसार विभागज-विभाग के एक क्षण विलम्ब से उत्पन्न होने पर ग्यारह क्षण लग जाते हैं।

प्रथम प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व इतना समझ लेना चाहिये, कि जब अग्नि द्वयणुक के संपर्क में पहुंचने वाला होता है, तब (१) अग्नि में क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से (२) अग्नि का पूर्वदेश के साथ विभाग होता है; विभाग से (३) अग्नि-पूर्वदेश-संयोग का नाश होजाता है। तब (४) अग्नि का उत्तर देश के साथ तथा द्वयणुकावयव परमाणु के साथ संयोग होता है। इस अग्नि-संयोग से (५) द्वयणुकारम्भक एक परमाणु में क्रिया होती है, तथा अग्नि-निष्ठ क्रिया का नाश होजाता है, अनन्तर (६) द्वयणुकावयव परमाणु में विभाग की उत्पत्ति होती है, [आगे इसी विभाग से परमाणु-आकाश-देश-विभाग उत्पन्न होता है, जिसको विभागज-विभाग कहा है] क्रियाजन्य प्रथम विभाग, (७) द्वयणुकारम्भक परमाणु-संयोग का नाश कर देता है। इसके अनन्तर क्षण में द्वयणुक का नाश होता है; वहीं से दशक्षण-प्रक्रिया का प्रारम्भ है।

दश-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वयणुकनाश,

(ख) द्वयणुकारम्भक-संयोग-नाशक विभाग से परमाणु के आकाश-पूर्वदेश के साथ-विभाग की उत्पत्ति,

(ग) अग्नि-परमाणु संयोग।

द्वितीयक्षण—

(क) श्यामरूपादि-पूर्वगुणनाश,

(ख) परमाणु-आकाश पूर्वदेश-संयोग का नाश,

(ग) अन्य अग्नि का परमाणु से संयोग।

तृतीयक्षण—

(क) परमाणु में रक्तरूपादि गुणों की उत्पत्ति,

(ख) परमाणु का उत्तरदेश के साथ संयोग।

चतुर्थक्षण—

(क) अग्निसंयोगजन्य परमाणुगत क्रिया का नाश।

पञ्चमक्षण—

(क) अदृष्टवदात्म-परमाणुसंयोग से परमाणु में द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया की उत्पत्ति।

षष्ठक्षण—

(क) परमाणु का पूर्वदेश के साथ विभाग।

सप्तमक्षण—

(क) परमाणु का पूर्वदेश के साथ संयोग का नाश।

अष्टमक्षण—

(क) दो परमाणुओं का परस्पर संयोग।

नवमक्षण—

(क) द्वयणुक की उत्पत्ति।

दशमक्षण—

(क) द्वयणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति।

उदयनाचार्य के[1] मतानुसार विभाग से विभाग की उत्पत्ति में द्रव्य-प्रति-

---

१. **किरणावली (-प्रशस्तपादव्याख्या), पृ० ४९६–९७। [ए० सो०, कलकत्ता संस्करण]।**

बन्धक माने जाने के कारण जब तक द्रव्य बैठा रहेगा, विभागज-विभाग उत्पन्न नहीं होसकता। अतः द्रव्य-नाश के अनन्तर क्षण में विभाग उत्पन्न होगा। इसके अनुसार 'एकादश-क्षण प्रक्रिया' व्यवस्थित होती है।

एकादश-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वयणुकनाश,

(ख) अग्नि-परमाणु संयोग।

द्वितीयक्षण—

(क) विभागज-विभाग की उत्पत्ति,

(ख) श्यामरूपादि का नाश।

तृतीयक्षण—

(क) परमाणु का आकाशपूर्वदेश के साथ संयोग का नाश,

(ख) रक्तरूपादि गुणों की परमाणु में उत्पत्ति।

चतुर्थक्षण—

(क) परमाणु का उत्तर-देश के साथ संयोग।

पञ्चमक्षण—

(क) अग्नि-संयोगजन्य परमाणु-क्रिया का नाश।

षष्ठक्षण—

(क) अदृष्टवदात्म-परमाणु संयोग से परमाणु में द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया की उत्पत्ति।

सप्तमक्षण—

(क) परमाणु का पूर्वदेश के साथ विभाग।

अष्टमक्षण—

(क) परमाणु के पूर्वदेश के साथ-संयोग का नाश।

नवमक्षण—

(क) द्रव्यारम्भक परमाणुद्वय-संयोग का उत्पाद।

दशमक्षण—

(क) द्वयणुक की उत्पत्ति।

एकादशक्षण—

(क) द्वयणुक में रक्तरूपादि गुणों की उत्पत्ति।

नवक्षण, दशक्षण और एकादशक्षण प्रक्रिया का उपपादन उसी अवस्था में

होता है, जब द्वयणुक का अवयव एक परमाणु क्रिया का आश्रय रहता है। यदि द्वयणुकारम्भक-संयोग-नाशक विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रिया एक परमाणु में हो, और पुनः द्वयणुकारम्भक-संयोग को उत्पन्न करने वाली क्रिया दूसरे परमाणु में हो; तो पञ्चक्षण से लगाकर अष्टक्षण तक प्रक्रिया की कल्पना कीजाती है।

द्वयणुक के अवयव एक परमाणु में पहले क्रिया की उत्पत्ति, उससे परमाणु-द्वय का विभाग, तदनन्तर परमाणुद्वय-संयोग का नाश; उसी क्षण में द्वयणुक के अवयव अन्य परमाणु में द्रव्यारम्भानुकूल क्रिया की उत्पत्ति; इस स्थिति के अनन्तर क्षण-गणना निम्न-प्रकार होगी।

पञ्च-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वयणुकनाश [प्रथम परमाणु की स्थिति के अनुसार],
(ख) परमाणु का पूर्वदेश के साथ विभाग [द्वितीय परमाणु की स्थिति के अनुसार]।

द्वितीयक्षण—

(क) श्यामरूपादि पूर्वगुण-नाश।
(ख) परमाणु का पूर्वदेश-संयोग-नाश।

तृतीयक्षण—

(क) परमाणु में रक्त रूपादि की उत्पत्ति।
(ख) द्वयणुकारम्भक परमाणु-द्वय का संयोग।

चतुर्थक्षण—

(क) द्वयणुक की उत्पत्ति।

पञ्चमक्षण—

(क) द्वयणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति।

पञ्चक्षणा प्रक्रिया उस अवस्था में होती है, जब परमाणु-द्वय-संयोग-नाश के साथ अन्य परमाणु में कर्मोत्पत्ति होजाती है। यदि संयोग-नाश के अनन्तर द्वयणुक-नाश-काल में अन्य परमाणुगत कर्म उत्पन्न माना जाता है, तो द्वयणुक में रक्तोत्पत्ति होने तक छह क्षण लगेंगे। इसीप्रकार एक परमाणु में रक्तोत्पत्ति-काल तक परमाण्वन्तर में कर्मोत्पत्ति की कल्पना कीजासकती है। उसके अनुसार आठ क्षणतक की प्रक्रिया कल्पना कीगई है।

यदि परमाण्वन्तर में कर्मोत्पाद द्रव्य-नाश क्षण में मानाजाता है, तो षष्ठ-क्षण-प्रक्रिया निम्न प्रकार संभव होती है,

षष्ठ-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वयणुकनाश,

(ख) परमाण्वन्तर में क्रिया की उत्पत्ति ।

द्वितीयक्षण—

(क) श्यामरूपादि का नाश,

(ख) परमाणु का पूर्वदेश से विभाग ।

तृतीयक्षण—

(क) रक्तरूपादि की उत्पत्ति,

(ख) परमाणु का पूर्वदेश-संयोग-नाश ।

चतुर्थक्षण—

(क) द्वयणुकारम्भक परमाणु-द्वय-संयोग ।

पञ्चमक्षण—

(क) द्वयणुक की उत्पत्ति ।

षष्ठक्षण—

(क) द्वयणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति ।

इसीप्रकार श्यामरूपादिनाशक्षण में परमाण्वन्तर में कर्मोत्पत्ति मानने से सप्त-क्षण-प्रक्रिया निम्नप्रकार सम्पन्न होगी ।

सप्त-क्षण-प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वयणुकनाश ।

द्वितीयक्षण—

(क) श्यामरूपादि का नाश,

(ख) परमाण्वन्तर में कर्मोत्पाद ।

तृतीयक्षण—

(क) परमाणु में रक्तरूपादि गुणोत्पत्ति ।

(ख) परमाणु का पूर्वदेश से विभाग ।

चतुर्थक्षण—

(क) परमाणु का पूर्वदेश के साथ संयोग का नाश ।

पञ्चमक्षण—

(क) द्वयणुकारम्भक परमाणु-द्वय-संयोग ।

षष्ठक्षण—

(क) द्वचणुक-द्रव्योत्पत्ति ।

सप्तमक्षण—

(क) द्वचणुक में रक्तरूपादि गुणोत्पत्ति ।

ऐसे ही रक्तरूपादि के उत्पत्ति–क्षण में परमाण्वन्तर में कर्मोत्पत्ति मानने से अष्टक्षण-प्रक्रिया सम्पन्न होती है ।

अष्ट-क्षणा प्रक्रिया

प्रथमक्षण—

(क) द्वचणुकनाश ।

द्वितीयक्षण

(क) श्यामरूपादि गुणों का नाश ।

तृतीयक्षण—

(क) रक्तरूपादि-गुणोत्पाद,

(ख) परमाण्वन्तर में क्रिया की उत्पत्ति ।

चतुर्थक्षण—

(क) परमाण्वन्तर में पूर्वदेश से क्रियाजन्य विभागोत्पाद ।

पञ्चमक्षण—

(क) परमाणु का पूर्वदेश से संयोग का नाश ।

षष्ठक्षण—

(क) परमाणु का अन्य परमाणु से द्वचणुकारम्भक संयोग ।

सप्तमक्षण—

(क) द्वचणुक की उत्पत्ति ।

अष्टमक्षण—

(क) द्वचणुक में रक्तरूपादि-गुणोत्पत्ति ।

पाकज-प्रक्रिया के प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक है, कि पूर्व-द्वचणुकनाश के अनन्तर स्वतन्त्र परमाणु में अग्नि-संयोग से परमाणुगत रक्तरूपादि का उत्पाद होकर द्वचणुक में नवीन रक्तरूपादि की उत्पत्ति तक कम से कम पांच क्षण अवश्य लगजाते हैं। इसकारण पांच क्षण की प्रक्रिया से न्यून क्षण की प्रक्रिया कल्पना नहीं कीजासकती। किसी भी स्तर से प्रारम्भ करने पर तीसरे क्षण से पूर्व परमाणु में नवीन रक्तरूपादि की उत्पत्ति नहीं होपाती। उसके आगे द्वचणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति के लिये दो क्षण और लगजाते हैं। इसप्रकार जल्दी से जल्दी पञ्चम क्षण तक द्वचणुक में रक्तरूपादि की उत्पत्ति

होपाती है। यदि दूसरे तीसरे चौथे क्षणों में द्व्यणुकोत्पत्ति की कल्पना कीजाय, तो द्व्यणुक गुणहीन रहजायेगा, तब आगे द्व्यणुकादि से उत्पन्न जगत् निर्गुण होना चाहिये। ऐसा न होने से पाकज-प्रक्रिया के प्रसंग में द्विक्षण प्रक्रिया, त्रिक्षण-प्रक्रिया तथा चतुःक्षणप्रक्रिया की कल्पना करना संभव नहीं है।



विभागज-विभाग

संयोग-विभाग दोनों परस्पर विरोधी गुण हैं। संयोग-नाश का प्रयोजक होता है–विभाग; ऐसे ही उत्तरदेश-संयोग विभाग-नाश का प्रयोजक मानाजाता है। जैसे संयोग तीन प्रकार का कहागया है, ऐसे ही विभाग तीन प्रकार का होता है–अन्यतर-कर्मज, उभय-कर्मज, विभाग-ज।

अन्यतर-कर्मज विभाग–जहां संयुक्त दो द्रव्यों में से केवल एक द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होकर उन द्रव्यों में विभाग कर देती है, वह विभाग अन्यतर-कर्मज है। प्रत्येक संयोग के समवायिकारण दो द्रव्य होते हैं। उन दोनों में से किसी एक द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होकर उनमें विभाग को उत्पन्न करती है। जैसे–घर पर पक्षी बैठा है, घर और पक्षी का संयोग है। गृह-पक्षी दोनों संयोग के समवायिकारण हैं। एक पक्षी उड़जाता है, पक्षी में उत्पन्न क्रिया दोनों द्रव्यों में विभाग उत्पन्न करदेती है। यह अन्यतर-कर्मज विभाग है।

उभय-कर्मज विभाग–जहाँ संयोग के समवायिकारण दोनों द्रव्यों में क्रिया उत्पन्न होकर उनमें विभाग उत्पन्न करती है; वह विभाग उभय-कर्मज कहा-जाता है। जैसे–दो मेष अथवा दो मल्ल परस्पर संघट्टित होकर पुनः विभक्त होते हैं, वहां दोनों द्रव्यों में उत्पन्न समानकालिक क्रिया उनमें विभाग उत्पन्न कर देती हैं। यह विभाग उभय-कर्मज होता है।

विभाग-ज विभाग–विभाग से उत्पन्न होनेवाला विभाग 'विभाग-ज विभाग कहाजाता है। विभाग गुण है, उसके समवायिकारण द्रव्य होते हैं। पहले दो विभागों के नाम से स्पष्ट है, वे कर्म [=क्रिया]से उत्पन्न होते हैं। इसका तात्पर्य हुआ–उन विभागों का असमवायिकारण कर्म है। इसीप्रकार तीसरे विभागज विभाग का असमवायिकारण–कर्म न होकर–विभाग होता है। यहाँ दो विभाग हैं, दूसरे विभाग का असमवायिकारण पहला विभाग होता है, कर्म नहीं। पहले विभाग का असमवायिकारण कर्म ही रहता है।

यह असमवायिकारणीभूत विभाग-अर्थात् पहला विभाग–दो प्रकार का सम्भव है। एक वह है, जो विभाग के समवायिकारण दो द्रव्यों में उत्पन्न होता है, जैसे–घट के अवयवद्रव्य दो कपालों का विभाग। दूसरा वह है, जो कभी समवायिकारण द्रव्य और अकारण [समवायिकारण से भिन्न] द्रव्य का विभाग है। जैसे–हाथ और वृक्ष का विभाग। ऐसी स्थिति में असमवायिकारणीभूत विभाग के दो प्रकार का होने से उसके कार्य-भूत विभाग का भी द्विविध होना निश्चित होता है। कार्य के इन दो प्रकारों को यथाक्रम 'कारणद्वयविभाग-ज कारणाऽकारणविभाग' एवं 'कारणाऽकारणविभाग-ज कार्याऽकार्यविभाग' कहा-जासकता है।

(१)–कारणद्वयविभाग-ज कारणाऽकारण-विभाग—

इस विभाग को समझने के लिये यह आवश्यक है, कि इसके उपयोग को जानलिया जाय। कौन-सी ऐसी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसको पूरा करने के लिये इस विभाग को आचार्यों ने स्वीकार किया। यह निश्चित है, जिन द्रव्यों में विभाग उत्पन्न होता है, उन द्रव्यों के संयोग को वह नाश करदेता है। घट के समवायिकारण अवयवों–कपालों में उत्पन्न विभाग घट-द्रव्यारम्भक कपाल-द्वय-संयोग का नाशक है। इसप्रकार यह विभाग द्रव्यारम्भक संयोग का नाशक हुआ।

इसी स्थल पर एक और संयोग है, जो द्रव्यारम्भक नहीं है। वह है-घटावयव कपाल का आकाशदेश के साथ संयोग। यह संयोग घट-द्रव्य का आरम्भक नहीं है। घटावयव कपाल का आकाश के साथ संयोग होने पर भी यदि उसका दूसरे घटावयव कपाल के साथ संयोग न होगा, तो घट-द्रव्य उत्पन्न नहीं होसकता। इसलिये कपाल-द्वय का परस्पर संयोग द्रव्यारम्भक तथा कपाल-आकाश संयोग द्रव्याऽनारम्भक संयोग है। जब कपाल में क्रिया [=कर्म] आदि निमित्त से विभाग उत्पन्न होता है, वह द्रव्यारम्भक-संयोग का नाशक होता है। वही विभाग द्रव्याऽनारम्भक-संयोग का नाशक नहीं होसकता, क्योंकि एक ही विभाग में विरुद्धधर्म-द्वय [द्रव्यारम्भकसंयोग-नाशकत्व एवं द्रव्याऽनारम्भक-संयोग-नाशकत्व] का होना संभव नहीं। फलतः कपाल-आकाश संयोग के नाश के लिये दूसरे विभाग का मानना अनिवार्य है।

किसी एक ही 'कर्म' आदि कारण से दोनों विभागों का उत्पन्न होना संभव नहीं, क्योंकि ये दोनों विभाग परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं; एक द्रव्यारम्भक-संयोग-नाशक है, दूसरा द्रव्याऽनारम्भक-संयोग-नाशक। फलतः अन्य किसी कारण के संभव न होने से 'कर्मोत्पन्न प्रथम विभाग से ही द्वितीय विभाग की

उत्पत्ति मानीजाती है। इसका तात्पर्य है—प्रत्येक कार्य के तीन कारण मानेजाते हैं; समवायी, असमवायी और निमित्त। प्रथम विभाग-जो दो कपालों में उत्पन्न हुआ है, उसके समवायिकारण दो कपाल-द्रव्य हैं, असमवायिकारण कर्म है और अदृष्टादि निमित्तकारण हैं। इसीप्रकार कपाल और पूर्व-आकाश-प्रदेश में जो विभाग उत्पन्न होता है, उसके समवायिकरण कपाल और पूर्व-आकाश-प्रदेश द्रव्य हैं, अदृष्ट-काल आदि निमित्तकारण हैं। अब यहां असमवायिकारण की अपेक्षा है। असमवायिकारण वही धर्म [गुण या कर्म] होसकता है, जो समवायिकारण में साक्षात् अथवा परम्परा से सम्बद्ध हो, और प्रकृत में उत्पद्यमान कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखता हो।

प्रस्तुत प्रसंग में आकाश-समवेत शब्दादि तथा कपाल-समवेत रूपादि गुण विभाग को उत्पन्न करने में असमर्थ हैं। कपाल-समवेत कर्म भी द्वितीय विभाग को उत्पन्न नहीं करसकता, क्योंकि वह द्रव्यारम्भक-संयोग-नाशक विभाग [—प्रथम विभाग] को उत्पन्न करचुका है। वही कर्म पुनः द्रव्याऽनारम्भक कपालाकाश-संयोग के नाशक विभाग को उत्पन्न नहीं करसकता। ऐसी स्थिति में उत्पद्यमान विभाग के समवायिकारण कपाल में समवेत प्रथमोत्पन्न विभाग ही द्वितीय विभाग [कपालाकाश-संयोग-नाशक विभाग] की उत्पत्ति में असमवायिकारण मानाजाता है। इसी आधार पर वह विभाग [द्वितीय विभाग], 'विभाग-ज विभाग' कहाजाता है।

विभाग [असमवायिकारण-प्रथम विभाग] क्योंकि एक गुण है, वह कार्य [द्वितीय विभाग] की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य-तत्व की अपेक्षा रखता है। आचार्यों ने ऐसा सुझाया है, कि वह तत्त्व 'अवयविनाशविशिष्ट-काल' समझना चाहिये। अथवा अवयविनाशविशिष्ट स्वतन्त्र अवयव को ही वह तत्त्व मानलियाजाय, तो कोई दोष नहीं।

इस विवरण से स्पष्ट होगया, कि ऐसे प्रसंगों में संयोग दो प्रकार का होता है—एक द्रव्यारम्भक-संयोग, दूसरा द्रव्यानारम्भक संयोग। पहला संयोग, किसी कार्य-द्रव्य के अवयवों [कारण-द्रव्यों] के संयोग का नाम है, जो उस कार्य-द्रव्य का असमवायिकारण होता है। ऐसे संयोग के नाश से कार्य-द्रव्य का नाश हो जाता है। जब घटावयव कपालों में उत्पन्न हुए विभाग ने कपाल-द्वय-संयोग का नाश कर दिया, तब घट का नाश निश्चित होजाना चाहिये; परन्तु अभी कपाल का आकाशदेश के साथ जो दूसरा संयोग है, वह उसीप्रकार विद्यमान है। उसके रहते वह कपाल उस आकाश-प्रदेश को छोड़ नहीं सकता। ऐसी दशा में घट का अनुभूयमान नाश बाधित होजायगा। अतः उस संयोग के नाश के लिये द्वितीय

विभाग को स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

प्रस्तुत उदाहरण के प्रसंग में घट के कारण—दो कपालों—के परस्पर विभाग [पहले क्रियाजन्य विभाग] से घट के कारण कपाल का एवं घटके अ-कारण आकाश का विभाग [दूसरा विभाग] उत्पन्न होता है; इसी आधार पर इस विभाग को 'कारणद्वय-विभाग-ज कारणाकारण-विभाग' कहाजाता है।

पूर्व-व्याख्यात पाकज-प्रक्रिया के प्रसंग में विभाग-ज विभाग का अपेक्षित विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय विभाग की उत्पत्ति किस क्षण में होती है, इसका भी वहां निर्देश किया गया है। आचार्यों का इस विषय में थोड़ा मतभेद हैं। एक मत है—क्रियाजन्य विभाग से द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-क्षण में दूसरा विभाग उत्पन्न होजाता है। अन्य मत है, द्रव्यारम्भक-संयोग-नाश-क्षण में विभाग-ज विभाग उत्पन्न न होकर उससे अगले द्रव्य-नाशक्षण में उत्पन्न होता है। इसे निम्नरीति पर समझना चाहिये।

प्रथमक्षण—

(क) कार्यद्रव्य में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीयक्षण—

(क) द्रव्यावयवों में क्रियाजन्य विभाग का उत्पाद।
(ख) अवयवसंयोग की विनाशोन्मुखता।
(ग) विभाग-ज विभाग की उत्पद्यमानता।

तृतीयक्षण—

(क) अवयव-संयोग नाश।
(ख) विभाग-ज विभाग की उत्पत्ति।
(ग) अवयव-आकाशदेशसंयोगनाशोन्मुखता।

चतुर्थक्षण—

(क) कार्य-द्रव्यनाश।
(ख) अवयव-आकाशदेशसंयोगनाश; अथवा पूर्वदेश-संयोग-नाश।
(ग) कर्म-ज विभाग-विनाशोन्मुखता।

पञ्चमक्षण—

(क) अवयवद्रव्य का उत्तरदेश-संयोग।
(ख) कर्मजन्य विभाग का नाश।

षष्ठक्षण—

(क) क्रिया का नाश।
(ख) विभाग-ज विभाग का नाश।

आचार्यों के द्वितीयमतानुसार जब द्रव्य-नाश क्षण में विभाग-ज विभाग की उत्पत्ति मानी जायगी; तब एक क्षण प्रक्रिया का और बढ़ जायगा। सप्तमक्षण तक प्रक्रिया सम्पन्न होजायगी।

(२) कारणाऽकारणविभाग-ज कार्याऽकार्य-विभाग—

यह प्रथम कहा जाचुका है, कि तीन प्रकार के संयोग के समान विभाग तीन प्रकार का है। तीन प्रकार के संयोगों में एक 'संयोग-ज संयोग' होता है। किसी व्यक्ति ने अपनी अंगुलि वृक्ष के तने पर रक्खी हैं, अर्थात् अंगुली और वृक्ष परस्पर संयुक्त हैं। अंगुली और वृक्ष का संयोग होने पर हाथ-वृक्ष के संयोग, भुजा-वृक्ष के संयोग तथा देह-वृक्ष के संयोग का अनुभव होता है। अंगुली हाथ का अवयव होने से हाथ का समवायिकारण है, वृक्ष हाथ का अ-कारण है; इनका [कारण-अकारण का] संयोग अंगुलि के कार्य हाथ और अ-कार्य वृक्ष के संयोग को उत्पन्न करता है। इस अनुभूत हाथ-वृक्ष संयोग का असमवायिकारण अंगुलि-वृक्ष संयोग है। अंगुलि का वृक्ष के साथ संयोग होने में अंगुलि-समवेत क्रिया असमवायिकारण है; वही क्रिया हाथ-वृक्ष संयोग की उत्पत्ति में कारण नहीं होसकती, क्योंकि क्रिया जिस अधिकरण में उत्पन्न हुई है, उससे भिन्न अधिकरण में संयोगोत्पत्ति के लिये अक्षम रहती है। असमवायिकारण के लिये यह व्यवस्था है, कि कार्य के समवायिकारण में प्रत्यासन्न [समवेत] धर्म ही उस कार्य का असमवायिकारण होता है। प्रकृत में वृक्ष के साथ अंगुलि-समवेत संयोग कार्य का असमवायिकारण अंगुलि-समवेत कर्म [-क्रिया] है। यह कर्म अपने अधिकरण अंगुलि से भिन्न अधिकरण हाथ में—वृक्ष के साथ—संयोग को उत्पन्न नहीं कर सकता।

यद्यपि हाथ-वृक्ष संयोग के समवायिकारण हाथ में हस्तावयव-अंगुलि-समवेत क्रिया की कारणैकार्थ-प्रत्यासत्ति [-स्व-समवायि-समवाय सम्बन्ध] है; तथापि कर्म [-क्रिया] में असमवायिकारणता सर्वत्र केवल कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्ति से मानी जाती है। तात्पर्य हुआ—कार्य के अधिकरण में साक्षात् समवेत क्रिया उस कार्य का असमवायिकारण होसकती है। अंगुलि की क्रिया का हाथ से साक्षात् सम्बन्ध न होकर परम्परा से है। अंगुलि के द्वारा हाथ के साथ क्रिया का सम्बन्ध जोड़ा जाता है, साक्षात् नहीं। फलतः अंगुलि-वृक्ष का अन्यतरकर्म-ज संयोग होने पर वही संयोग हाथ-वृक्ष के संयोग में असमवायिकारण होता है। ऐसे ही भुजा-वृक्ष संयोग में हाथ-वृक्ष संयोग, तथा देह-वृक्ष संयोग में भुजा-वृक्ष संयोग असमवायि-कारण मानाजाता है। पहला संयोग कर्मजन्य है, आगे के सब संयोग संयोग-ज संयोग हैं।

ठीक इसी प्रकार उक्त 'विभाग-ज विभाग' की प्रक्रिया है। एक व्यक्ति की अंगुलि

वृक्ष से संयुक्त है। उसकी इच्छा व प्रयत्न के अनुसार अंगुलि में क्रिया उत्पन्न होती हैं। उससे अंगुलि का वृक्ष से विभाग होजाता है। तात्पर्य हुआ—अंगुलि-समवेत क्रिया [अन्यतर-कार्य] ने अंगुलि और वृक्ष में विभाग उत्पन्न कर दिया। अंगुलि-वृक्ष विभाग होने पर हाथ-वृक्ष विभाग का अनुभव होता है, यहां हाथ-वृक्ष के विभाग में हाथ और वृक्ष समवायिकारण तथा अंगुलि-वृक्ष-विभाग असमवायिकारण है। ऐसे ही भुजा-वृक्ष विभाग में हाथ-वृक्ष विभाग; तथा देह-वृक्ष विभाग में भुजा-वृक्ष विभाग असमवायिकारण रहते हैं, पहला विभाग कर्मजन्य है, शेष सब विभाग-ज विभाग हैं। इस विभाग की प्रक्रिया निम्नलिखितरूप में समझनी चाहिये।

प्रथमक्षण—

(क) वृक्षसंयुक्त अंगुलि में कारणविशेष से क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीयक्षण—

(क) अंगुलि का वृक्ष से विभाग [अन्यतर-अंगुलिनिष्ठ कर्म से अंगुलि और वृक्ष में विभाग की उत्पत्ति]।

तृतीयक्षण—

(क) विभाग से अंगुलि-वृक्ष संयोग का नाश।

चतुर्थक्षण—

(क) अंगुलि का उत्तर-देश के साथ संयोग [यह संयोग अंगुलि-समवेत क्रिया–तथा अंगुलि-वृक्ष विभाग–का निवर्त्तक होता है]।

(ख) हाथ-वृक्ष विभाग [यह विभाग-ज विभाग है, 'अंगुलि-वृक्ष विभाग' इसका असमवायिकारण है] का उत्पाद,

पंचमक्षण—

(क) हाथ-वृक्ष संयोग का नाश।

(ख) अंगुलि-समवेत क्रिया का नाश।

(ग) कर्मजन्य अंगुलि-वृक्ष-विभाग का नाश।

षष्ठक्षण—

(क) हाथ का उत्तर-देश के साथ संयोग [यह उत्तर-देश वही है, जिसके साथ अंगुलि का पहले संयोग होचुका है। हाथ का उत्तर-देश के साथ यह संयोग 'संयोग-ज संयोग' है; क्योंकि यह अंगुलि-उत्तरदेश संयोग (असमवायिकारण) से उत्पन्न हुआ है]।

(ख) भुजा का वृक्ष से विभाग, [यह विभाग-ज विभाग है, हाथ-वृक्ष विभाग इसका असमवायिकारण है]।

सप्तमक्षण—

(क) भुजा का वृक्ष के साथ संयोग का नाश।

(ख) हाथ-वृक्ष विभाग का नाश।

अष्टमक्षण—

(क) भुजा का उत्तर-देश के साथ संयोग। [यह संयोग भी 'संयोग-ज संयोग' है। 'हस्त-उत्तरदेश-संयोग' असमवायिकारण से उत्पन्न हुआ है। यह भुजा-वृक्ष विभाग का निवर्त्तक है]।

(ख) देह का वृक्ष से विभाग। [यह भी 'विभाग-ज विभाग' है। इसकी उत्पत्ति में 'भुजा-वृक्ष विभाग' असमवायिकारण रहता है]।

नवमक्षण

(क) देह-वृक्ष संयोग का नाश।

(ख) भुजा-वृक्ष विभाग का नाश।

दशमक्षण—

(क) देह का 'उत्तरदेश' के साथ संयोग। [प्रस्तुत प्रसंग में 'उत्तर-देश' का अभिप्राय सर्वत्र वही देश है, जिसके साथ अंगुलि का संयोग प्रथम हुआ है।]

यह संयोग देह-वृक्ष विभाग को निवृत्त कर देता है। संयोग का नाश सर्वत्र समानरूप से होता है। जब संयुक्त द्रव्य में किसी कारण से क्रिया उत्पन्न होती है, वह द्रव्य में विभाग को उत्पन्न कर देती है। यही 'विभाग' उस संयोग का नाश कर देता है। संयोग-नाश की सर्वत्र यही प्रक्रिया समझनी चाहिये।

उक्त विभाग-ज विभागों की उत्पत्ति में क्रमिकता का अस्तित्व ज्ञात होता है; परन्तु साधारण प्रतीति में अंगुलि का वृक्ष से विभाग होते ही हस्त, भुज, देह का वृक्ष से विभाग तत्काल भासित होता है। कालक्रम की प्रतीति न होने से यद्यपि इन विभागों में यौगपद्य की आशंका जागृत होती है; परन्तु यौगपद्य की आशंका को ऐसे ही भ्रान्तिमूलक समझना चाहिये, जैसे कमल-पत्र-शत-भेदन में यौगपद्य की प्रतीति भ्रान्त होती है। अंगुलि हस्त आदि का कारण है, कारण में विभाग उत्पन्न होने के अनन्तर ही कार्य में विभागोत्पत्ति की कल्पना संभव है। अंगुलि-कारण तथा हस्त आदि कार्य में विभागोत्पत्ति के यौगपद्य का अवकाश नहीं।

विभाग-विनाश-विवरण

न्याय-वैशेषिक दर्शनों की मान्यताओं के अनुसार प्रत्येक कार्य का उत्पाद और विनाश किन्हीं कारणों से होता है। बिना कारण किसी वस्तु का उत्पाद व विनाश संभव नहीं। यह एक साधारण व्यवस्था है, कि प्रत्येक कार्य का उत्पाद किसी विशेष प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये होता है। उत्पन्न कार्य अपने प्रयोजन को निष्पन्न कर स्वभावतः नष्ट होजाना चाहिये; परन्तु वैशेषिक वहां भी उसके विनाश के कारण को ढूंढ़ता है। क्योंकि कोई कार्य यदि बिना कारण के होने लगे, तो कार्य-कारणभाव में अव्यवस्था का भय उपस्थित होजाता है।

प्रकृत में 'विभाग' की उत्पत्ति के तीन प्रयोजन ज्ञात होते हैं—जिस द्रव्य में विभाग उत्पन्न हुआ है, उसका पूर्वदेश के साथ संयोग का नाश, तथा शब्द एवं उत्तर-विभाग का उत्पाद। जब विभाग का यह प्रयोजन सम्पन्न होजाय, तो उसे भी स्वतः नहीं रहना चाहिये, नष्ट होजाना चाहिये। परन्तु इस शास्त्र के विचारानुसार उत्पाद के समान विनाश भी बिना कारण के संभव नहीं होता। तब देखना चाहिये, विभाग के विनाश के लिये कौन-से कारण होसकते हैं।

साधारणरूप से उत्तर-देश-संयोग को विभाग का नाशक मानाजाता है। जिस द्रव्य में क्रिया [-असमवायिकारण] द्वारा विभाग उत्पन्न हुआ है, उससे पूर्व-देश-संयोग का नाश होकर उत्तर-देश-संयोग होने पर, उस संयोग से विभाग का नाश होजाता है। यहां विभागोत्पादक द्रव्य-समवेत क्रिया को विभाग का नाशक मानने की कल्पना करना अयुक्त होगा। एक ही क्रिया विभाग की उत्पादक हो और नाशक भी यह संभव नहीं। कारण यह है, कि ऐसा मानने पर क्रियाजन्य विभाग से उत्तर-विभाग की उत्पत्ति का होना संभव न रहेगा। विभाग अपने उत्पाद के अनन्तर पूर्व-देश-संयोग का नाशकर उत्तर-देश-संयोग के क्षण में स्वयं—अपने समवायिकारण द्रव्य में समवेत—क्रिया से नष्ट होजायगा। इसी क्षणमें उसने उत्तर—विभाग [विभाग-ज विभाग] को उत्पन्न करना होता है। जब स्वयं नष्ट होजाय, तो आगे उत्पन्न होने वाले कार्य में वह असमवायिकारण कैसे होसकेगा? ऐसी स्थिति में अंगुलि—वृक्ष विभाग से हस्त—वृक्ष विभाग की उत्पत्ति मानना असंभव होगा। फलतः कर्म [-क्रिया] को विभाग का नाशक कहना संगत नहीं।

कहा जासकता है, कि विभाग-ज विभाग स्थलों में उत्तर-विभाग पूर्व-विभाग का नाशक मानलेना चाहिये; जैसे पूर्व-शब्द से उत्पन्न उत्तर-शब्द पूर्व-शब्द का नाशक मानाजाता है। यह कहना भी संगत न होगा। पहली बात तो यह है, कि विभाग सर्वत्र उत्तर–विभाग को उत्पन्न करता हो, ऐसा नियम नहीं है। जहां उत्पन्न नहीं करता, वहां विभाग का नाशक उत्तर-देश-संयोग मानना आवश्यक है। उत्तर–विभाग के उत्पत्ति स्थलों में भी अंगुलि-वृक्ष-विभाग से विभाग-ज विभाग की परम्परा देह-वृक्ष-विभाग तक जाती है। इस परम्परा में उत्तर-विभाग से पूर्व-विभाग का नाश मानने पर सर्वान्तिम देह-वृक्ष-विभाग के नाश के लिये अन्य विभाग उपलब्ध न होगा; तब वहां उत्तर-देश-संयोग को ही नाशक मानना पड़ेगा। अन्त्य–उपान्त्य शब्द के समान सुन्दोपसुन्द-न्याय से अन्त्य-उपान्त्य विभाग-ज-विभाग परस्पर एक-दूसरे के नाशक हो जायेंगे, ऐसी कल्पना भी व्यर्थ एवं निराधार है। समान-स्थल में दो कारणों की कल्पना का कोई फल नहीं; जब उत्तर-देश-संयोग आवश्यकरूप से विभाग-विनाशक विद्यमान है, तब केवल विभाग-ज-विभाग स्थल के लिये एक अन्य विनाशक की कल्पना सर्वथा निष्फल है।

उत्तर-देश-संयोग विभाग के विनाश का एक साधारण कारण है। कुछ अन्य असाधारणकारण ऐसे हैं, जो विभाग के नाशक होते हैं। उनकी असाधारणता इसी आधार पर है, कि ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, जब वे विभाग-विनाश के कारण बनते हों। तात्पर्य है–कारणरूप में उनकी उपस्थिति कादाचित्क होती है।

इसके अनुसार कदाचित् समवायिकारण के नाश से विभाग का नाश होजाता है। विभाग गुण द्विष्ठ होने से कभी विभाग के दो समवायिकारणों में एक नित्य होता है, उसका नाश संभव नहीं; अथवा अनित्य होने पर भी एक के नाश-कारण उपस्थित न होने से उस समवायिकारण का नाश नहीं होपाता। ऐसी स्थिति में 'समवायिकारण–नाश' का तात्पर्य 'एक समवायिकारण का नाश, समझना चाहिये। विभाग दो द्रव्यों में समवेत होने से विभाग की सत्ता अथवा प्रतीति दोनों द्रव्यों की विद्यमानता पर ही संभव है; इसलिये एक समवायिकारण द्रव्य के नाश से विभाग का नाश कभी-कभी देखा जाता है। समवायिकारण-नाश से विभाग-नाश की प्रक्रिया का विवरण आगे लिखे अनुसार समझना चाहिये—

एक पट दो तन्तुओं से बनाया गया। सुविधा के लिये एक तन्तु का नाम 'क' दूसरे का 'ख' है। अब आगे—

प्रथमक्षण—

द्वितन्तुक पट के समवायिकारण 'क' तन्तु के किसी अवयव में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वियीयक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों का क्रियाजन्य परस्पर-विभाग।

(आ) 'ख' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति।

तृतीयक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के आरम्भक संयोग का नाश,

(आ) 'ख' तन्तु का 'क' तन्तु से विभाग,

(ई) 'ख' तन्तु का 'क' तन्तु के अवयवों (अंशुओं) से विभाग[1]।

चतुर्थक्षण—

(अ) 'क' तन्तु का नाश, (असमवायिकारण-संयोग के नाश से यह कार्य-तन्तु का नाश है)।

(आ) 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु के विभाग से द्वितन्तुक पट के आरम्भक संयोग का नाश।

पञ्चमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों का पूर्व-प्रदेश से विभाग।[2]

(आ) तन्तु-द्वय-विभाग के समवायिकारणों में से एक 'क' तन्तु का नाश होजाने से उसमें समवेत तन्तु-द्वय-विभाग का नाश। (प्रकृत में समवायिकारण-

---

१. अंगुलि वृक्ष-विभाग के अवसर पर जैसे अंगुलि में उत्पन्न क्रिया वृक्ष के साथ विभाग के उत्पादन-काल में ही वृक्षावयव से भी अंगुलि के विभाग को उत्पन्न करती है; वैसे ही 'ख' तन्तु में उत्पन्न क्रिया 'क' तन्तु से 'ख' तन्तु के विभागोत्पत्तिकाल में ही 'क' तन्तु के अवयवों से भी 'ख' तन्तु के विभाग को उत्पन्न करती है।

२. यह विभाग 'द्वितीयक्षण' में निर्दिष्ट 'क' तन्तुओं के अवयवों के विभाग से उत्पन्न होने के कारण 'विभाग-ज-विभाग' है। 'क' तन्तुओं के अवयवों में समवेत क्रिया से इसकी उत्पत्ति संभव नहीं; क्योंकि—जैसे प्रथम कहा जा चुका है—यह क्रिया द्रव्यारम्भक-संयोग-विरोधी विभाग को उत्पन्न करती है। वही क्रिया द्रव्यारम्भक-संयोगाऽविरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकती। यह–'क' तन्तु के अवयवों का पूर्व-प्रदेश से–विभाग द्रव्यारम्भक-संयोगाऽविरोधी है।

काश से विभाग का नाश होजाने की यही प्रक्रिया निर्देश्य है)।

(इ) द्वि-तन्तुक पट का नाश। (यहां कार्य-द्रव्य पट के नाश में असमवायि-कारण—संयोग का नाश तथा समवायिकारणऽन्यतर 'क' तन्तु का नाश दोनों कारण हैं)।

षष्ठक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव—तथा पूर्वदेश—में समवेत संयोग का नाश,

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु का पूर्व-प्रदेश से विभाग[1]।

सप्तमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव का उत्तर-देश के साथ संयोग,

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु का पूर्व-प्रदेश के साथ संयोग का नाश।

अष्टमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयव की क्रिया का नाश, [यह नाश सप्तमक्षण (अ) में निर्देशित संयोग से होता है]।

(आ) सक्रिय 'ख' तन्तु का उत्तर-देश के साथ संयोग।

नवमक्षण—

(अ) 'ख' तन्तु-समवेत क्रिया का नाश।

इसके अतिरिक्त आश्रय-नाश से विभाग-नाश के अन्य प्रकार भी संभव हैं। उसका विवरण निम्न-रीति पर समझना चाहिये—

प्रथमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीयक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के अवयवों में परस्पर विभाग की उत्पत्ति,

(आ) 'क' तन्तु में क्रिया की उत्पत्ति[2]।

---

१. 'ख' तन्तु में उत्पन्न क्रिया से 'क' तथा 'ख' तन्तुओं के परस्पर विभाग से यह विभाग उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि पूर्वक्षण में इस विभाग का—आश्रय नष्ट होजाने से—नाश होचुका है। इसलिये अंगुलि-वृक्ष-विभाग से हस्त-वृक्ष-विभाग की उत्पत्ति के समान, तृतीयक्षण (इ) में निर्देशित 'ख' तन्तु का 'क' तन्तु के अवयवों के साथ हुए विभाग से इस विभाग की उत्पत्ति होती है।

२. पहली प्रक्रिया के अनुसार इस क्षण में 'ख' तन्तु-समवेत क्रिया की उत्पत्ति बताई है। यहां क्रिया 'क' तन्तु में कही है। यह इनका परस्पर भेद स्पष्ट

तृतीयक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के आरम्भक-संयोग का नाश,

(आ) 'क' तन्तु-समवेत क्रिया से 'क' तन्तु एवं 'ख' तन्तु में विभाग की उत्पत्ति।

चतुर्थक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के आरम्भक-संयोग का पूर्वक्षण में नाश होजाने से 'क' तन्तु का नाश,

(आ) 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु से निर्मित द्वि-तन्तुक द्रव्य के आरम्भक-संयोग का नाश।

पञ्चमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के विनाश से 'क' तन्तु तथा 'ख' तन्तु के विभाग का नाश। [आश्रय-नाश से विभाग-नाश की इसी प्रक्रिया का यहां निर्देश अपेक्षित है]।

(आ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयव का पूर्व-प्रदेश से विभाग[1]।

(इ) अपने आश्रय 'क' तन्तु तथा अपने आरम्भक-संयोग, इन दोनों (समवायिकारण तथा असमवायिकारण) के नाश से द्वि-तन्तुक द्रव्य का नाश।

षष्ठक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयव का पूर्व-प्रदेश के साथ संयोग का नाश।

सप्तमक्षण—

(अ) 'क' तन्तु के सक्रिय अवयव का उत्तर-देश के साथ संयोग।

अष्टमक्षण—

(अ) पूर्वक्षण-निर्दिष्ट उत्तर-देश-संयोग से 'क' तन्तु के अवयव में समवेत विभाग तथा क्रिया का नाश।

उक्त दोनों प्रक्रियाओं में यह विवरण प्रस्तुत कियागया है, कि द्रव्यारम्भक सजातीय तत्त्वों के संयोग से निर्मित द्रव्य के अवयव में क्रिया की उत्पत्ति से उत्पन्न विभाग का नाश समवायिकारण के नाश से किसप्रकार होता है।

इसके अतिरिक्त ऐसे स्थल संभव हैं, जहां द्रव्याऽनारम्भक विजातीय-द्रव्य-संयोग के आश्रय में विभाग का नाश आश्रय (समवायिकारण) के नाश से तथा

है। इस क्षण में 'क' तन्तु-समवेत क्रिया का उत्पन्न होना संभव है; क्योंकि 'क' तन्तु अभी विद्यमान है। उसका नाश चतुर्थक्षण में होने को है।

१. यह 'विभाग-ज विभाग' है। इसका असमवायिकारण है—द्वितीयक्षण में उत्पन्न 'क' तन्तु के अवयवों का परस्पर विभाग।

उत्तर-देश-संयोग से होता है। इसका विवरण निम्नप्रकार समझना चाहिये—

प्रथमक्षण—

(अ) तन्तु-वीरण-संयोग स्थल में तन्तु के किसी अवयव में क्रिया की उत्पत्ति,

(आ) तत्काल वीरण में क्रिया की उत्पत्ति।

द्वितीयक्षण—

(अ) तन्तु के अवयवों का परस्पर विभाग,

(आ) वीरण-समवेत क्रिया से वीरण का तन्तु तथा आकाश-प्रदेश से विभाग[1]।

तृतीयक्षण—

(अ) तन्तुगत अवयव-विभाग से तन्तु के आरम्भक संयोग का नाश,

(आ) वीरण-तन्तु विभाग तथा वीरण-आकाशदेश विभाग से यथाक्रम वीरण-तन्तु संयोग तथा वीरण-आकाशदेश संयोग का नाश।

चतुर्थक्षण—

(अ) तन्त्वारम्भक-संयोग के नाश से तन्तु का नाश।

(आ) वीरण का उत्तर-देश के साथ संयोग।

पञ्चमक्षण—

(अ) आश्रय (-समवायिकारण) तन्तु के नाश से, तथा वीरण के उत्तर-देश संयोग से वीरण-तन्तु विभाग का नाश[2]; एवं वीरण के उत्तर-देश संयोग से वीरण-आकाशदेश विभाग का नाश तथा वीरण समवेत क्रिया का नाश।

(आ) तन्तु के अवयव का पूर्व-आकाशदेश से विभाग[3]।

---

१. वीरण-तन्तु विभाग, तथा वीरण-आकाशदेश विभाग दोनों एक ही वीरण-समवेत क्रिया से उत्पन्न होसकते हैं। क्योंकि ये विभाग द्रव्यारम्भक संयोग के विरोधी नहीं हैं; प्रत्युत द्रव्याऽनारम्भक संयोग के विरोधी हैं। वीरण-तन्तु संयोग तथा वीरण-आकाशदेश संयोग किसी द्रव्य के आरम्भक नहीं हैं। ये विभाग उन्हीं संयोगों के विरोधी हैं। एक क्रिया द्रव्यारम्भक-संयोग विरोधी तथा द्रव्यारम्भक संयोग–अविरोधी दोनों प्रकार के विभागों को उत्पन्न नहीं करसकती; जैसा–कि प्रथम स्पष्ट कियागया है।

२. प्रस्तुत प्रसंग में यही–विजातीय वीरण-तन्तु संयोग के आश्रय वीरण-तन्तु गत–विभाग का नाश आश्रय (समवायिकारण) तन्तु के नाश से निर्देश्य है। इस विभाग के नाश में वीरण का उत्तर-देशसंयोग भी कारण है।

३. यह विभाग-ज विभाग है। द्वितीय क्षण में उत्पन्न तन्त्ववयव-विभाग इसका असमवायिकारण है।

षष्ठक्षण—

(अ) तन्तु के अवयव का पूर्व-आकाशदेश से संयोग का नाश ।

सप्तमक्षण—

(अ) तन्तु के अवयव का उत्तर-देश-संयोग ।

अष्टमक्षण—

(अ) तन्तु के अवयव में समवेत विभाग का तथा उसी (अवयव) में समवेत क्रिया का उत्तर-देश-संयोग से नाश ।

विशेष परिस्थितियों में ऐसी अन्य प्रक्रियाओं का उद्भावन भी संभव है। इनका विस्तृत विवरण प्रशस्तपादभाष्य तथा उसके व्याख्याकार उदयन, व्योमशिव, श्रीधर आदि आचार्यों के व्याख्याग्रन्थों में उपलब्ध होता है। यथामति यहां अल्प विवरण दिशा-निर्देश की भावना से प्रस्तुत कियागया है। संयोग और विभाग के विषय में मूलसूत्रों [७।२।९-१३] का भी पर्यालोचन करलेना चाहिये ।

कारण

वैशेषिकदर्शन में कारण और कार्य का विवेचन एक मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। तत्त्व एवं पदार्थ की यथार्थता कारण और कार्य के रूप में जब उभरकर आती है, तभी स्पष्ट होपाती है। कौन पदार्थ कारण और कौन कार्य हैं, इसका उल्लेख दर्शन के व्याख्याभाग में यथास्थान होगया है। यहां केवल कारण और कार्य के स्वरूप का उपपादन करना लक्ष्य है।

कारण की परिभाषा—कारण किसे कहते हैं; अथवा कारण का स्वरूप क्या है ? यह जानना आवश्यक है। साधारणरूप से—जो कार्य का उत्पादक हो, वह कारण कहाजाता है। अर्थात् उत्पादक पदार्थ कारण हैं, और उत्पाद्य कार्य। और अधिक स्पष्ट करें तो कह सकते हैं—जिससे कोई वस्तु उत्पन्न हो, वह कारण; और जो उत्पन्न हो, वह कार्य है।

वस्तुतः यह कारण या कार्य की कोई परिभाषा न हुई। इसमें 'उत्पादक' पद 'कारण' पद का पर्यायमात्र है। दोनों पद एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। इसी प्रकार 'उत्पाद्य' पद 'कार्य' पद का पर्याय है। दोनों पद समान अर्थ के बोधक हैं, 'यस्मादुत्पद्यते तत्कारणम्' जिससे उत्पन्न हो, वह कारण है, इतना कहना भी

पर्याप्त नहीं है, क्योंकि कौन किससे उत्पन्न होता है, इसका देखना-परखना सरल नहीं, न पूर्णरूप से संभावित है। यह सब सोचकर आचार्यों ने सुझाया, जो उत्पद्यमान [उत्पन्न होने वाली] वस्तु से पहले विद्यमान रहे, वह कारण है। निश्चित ही उत्पादन सामग्री प्रथम होगी, तभी उससे अन्य वस्तु का निर्माण संभव होगा। अतः 'कार्यपूर्ववर्तित्वम् कारणत्वम्' अथवा 'कार्यपूर्ववृत्ति कारणम्' कार्य से पहले विद्यमान होना कारण का स्वरूप है। यही कारण की परिभाषा है।

सोचने पर ज्ञात होता है, इतना-मात्र कथन कारण का स्वरूप बतलाने के लिये पर्याप्त नहीं है। अनेक बार ऐसा होता है, कि कोई घटना होने के पूर्व विद्यमान भी पदार्थ उस घटना—कार्य के कारण नहीं होते। कल्पना कीजिये जैसे ही मन्दिर में शंख बजा, तत्काल अनन्तर एक फल वृक्ष से गिरा। वह शंख बजने के ठीक अनन्तर गिरा है, पर यह नहीं कहाजासकता, कि फल गिरने का कारण शंख का बजना है। भीत पर पक्षी बैठा है, उसके उड़ते ही भींत गिरगई। पक्षी का उड़जाना भींत गिरने का कारण नहीं है। इसीलिये नहीं हैं, कि शंख बजने के बिना ही फल गिरते रहते हैं, और पक्षी उड़जाने के बिना भींत गिरजाती है; तथा शंख बजते रहने पर एवं पक्षी उड़जाने पर भी न फल गिरते हैं न भींत।

ऐसी स्थिति में आचार्यों ने सुझाव दिया, कि कारण वह होसकता है, जो कार्योत्पाद से अव्यवहित पूर्वक्षण में नियम से [अव्यभिचरितरूप से] विद्यमान रहता हो। तब कारण की परिभाषा होगी—'कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्' इस परिभाषा में 'नियत पद दोनों भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। कारण नियम-पूर्वक कार्य से पूर्व होना चाहिये, कभी उसका व्यभिचार न हो; अर्थात् ऐसा कभी न हो, कि उस कारण के बिना वह कार्य होजाय। साथ ही वह कारण कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान होना चाहिये।

इतना होने पर भी कारण की परिभाषा में कुछ न्यूनता रह जाती है। एक कुम्हार घड़ा बना रहा है, कुम्हार के पिता की विद्यमानता भी आवश्यकरूप से घटोत्पत्ति के पूर्व रहती है। घड़ा बनानेवाला कुम्हार घड़े का कारण है, यदि कुम्हार का बाप न होता, तो कुम्हार कहां से आता ? और घड़ा कैसे बनता ? वस्तुतः कुम्हार के द्वारा बनाये जाते हुए घड़े के बनने में कुम्हार का पिता कारण नहीं है, पर उक्त परिभाषा के आधार पर कारणता से यह हट नहीं पाता। इसी-प्रकार घड़ा बनने के समय कुम्हार का गधा भी नियमपूर्वक वहां विद्यमान रहता है। ऐसे पदार्थ कार्य से नियतपूर्ववर्त्ती होते हुए भी कार्य के कारण नहीं होते।

इस न्यूनता को दूर करने के लिये आचार्यों ने उक्त परिभाषा में एक और पद के सन्निवेश का सुझाव दिया। वह पद है—'अन्यथासिद्धिशून्यत्व' अथवा

'अनन्यथासिद्ध'। कार्योत्पत्ति से पूर्व जो पदार्थ नियमपूर्वक विद्यमान हो, वह कारण है। पर उसकी विद्यमानता अन्यथासिद्ध न होनी चाहिये। 'अन्यथासिद्ध' पद का अर्थ है–अन्य प्रकार से विद्यमानता का होना। कार्य से पहले किसी पदार्थ की सत्ता उस कार्य के कारणरूप से ही होनी चाहिये, अन्य किसीप्रकार या निमित्त से नहीं। कुम्हार के पिता की विद्यमानता वहां कुम्हार का कारण होने से है, अर्थात् कुम्हार का पिता होने से; घटोत्पत्ति का कारण होने से नहीं। जो पदार्थ घटोत्पत्ति के कारणरूप से वहां पूर्ववर्त्ती होगा, वही कारण की परिभाषा में आयेगा। गधा भी मिट्टी आदि ढोने के द्वारा कार्य में सहयोगी होता है; उसी निमित्त से वहां उसकी विद्यमानता है, घटोत्पत्ति के कारणरूप से नहीं। इसलिये कार्योत्पत्ति के अव्यवहितपूर्वक्षण में ऐसे पदार्थों की विद्यमानता अन्यथासिद्ध है, कारणत्वेन [कारणरूप से] नहीं।

इसके फलस्वरूप कारण की परिभाषा बनती है–'अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वम्' अथवा 'अनन्यथासिद्धकार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्'। अन्यथासिद्ध न होते हुए जो पदार्थ नियमपूर्वक कार्योत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में विद्यमान रहता है, वही पदार्थ उस कार्य के प्रति कारण माना-जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा पदार्थ या तत्त्व नहीं है, जो न किसीका कारण हो, न कार्य हो। निश्चित ही कोई किसीका कारण होगा, और कोई किसीका कार्य होगा।

इस आधार पर पदार्थों के तीन वर्ग बन जाते हैं। एक वे हैं, जो किसी के केवल कारण होते हैं, कार्य नहीं। जैसे—पृथिवी, जल, तेज, वायु के मूल परमाणु। ये पृथिव्यादि कार्यों के केवल कारण हैं, ये स्वयं किसी के कार्य नहीं। इसीप्रकार अन्य जितने नित्य पदार्थ हैं, वे किसी कार्य के केवल कारण होते हैं, कार्य किसी के नहीं। दूसरे वे पदार्थ हैं, जो केवल कार्य हैं, वे आगे अन्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं करते, नष्ट होजाते हैं। जैसे–अन्त्यावयवी। मिट्टी से विविध उत्पादन-क्रम द्वारा घट बनता है। यह अन्त्य अवयवी है, आगे यह किसी द्रव्य का उत्पादन नहीं करता। कपास के फोले से विविध उत्पादन-क्रम-पूर्वक कुर्त्ता, कोट आदि धारण-योग्य वस्त्र बनते हैं। ये अन्त्य अवयवी हैं, आगे इनसे कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता। यद्यपि ये स्वयं स्वगत-गुण, कर्म आदि के कारण रहते हैं। तीसरा वर्ग शेष सब उन पदार्थों का है, जो किसीके कार्य हैं, और अन्य किसी के कारण भी। मुख्यरूप से दो ही वर्ग मानें, तो कोई दोष नहीं। एक नित्य पदार्थ हैं, जो केवल कारण हैं। दूसरे सब पदार्थ कार्य होते हैं, और अन्य किसीके कारण भी।

कारण के भेद—

कारण तीन प्रकार का मानागया है। (१) समवायिकारण, (२) असमवायिकारण, और (३) निमित्तकारण। कारणमात्र का समावेश इन तीन वर्गों में होजाता है इनका यथाक्रम विवरण निम्नप्रकार है—

(१) **समवायिकारण** [Intimate Cause]—जिस द्रव्य में समवाय संबन्ध से रहता हुआ कोई कार्य उत्पन्न होता है, वह द्रव्य उस कार्य का समवायिकारण होता है। कार्यमात्र का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। छह भाव पदार्थों में से प्रथम तीन–द्रव्य, गुण, कर्म–कार्य होते हैं। इन सबका समवायिकारण केवल द्रव्य रहता है। प्रत्येक कार्य जिस तत्त्व में आत्मलाभ करता है, अर्थात् जन्म लेता है, वह कार्य उस तत्त्व में समवाय सम्बन्ध से रहता है, और वह तत्त्व केवल द्रव्य होसकता है। कार्य चाहे द्रव्य हो, गुण हो या कर्म हों, उसका समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। अकार्य पदार्थ समवाय सम्बन्ध से यद्यपि द्रव्यातिरिक्त गुण व कर्म में रहते हैं, पर उनका परस्पर कार्यकारणभाव नहीं होता। जैसे–गुण व कर्म में सत्ता तथा गुणत्व व कर्मत्व आदि सामान्य समवाय सम्बन्ध से रहते हैं।

प्रत्येक कार्य अपने समवायिकारण को छोड़कर नहीं रह सकता। ऐसा नहीं है, कि समवायिकारण कार्य को उत्पन्न कर दोनों एक-दूसरे को छोड़कर अलग होजायें। कार्य अपने कारण में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहता है, वह अपने आश्रय को छोड़कर नहीं रह सकता। यद्यपि वे दोनों स्वरूपेण एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनके समवाय सम्बन्ध का यही रहस्य है। घट के समवायिकारण मृदवयव [मृत्–मृत्तिकारूप अवयव] हैं, वे जब विशेष आकार में संयुक्त किये जाते हैं, तब उनमें समवेत घटद्रव्य आत्मलाभ करता है। घट कार्य-द्रव्य अवयवी अपने समवायिकारण अवयवों में आश्रित है। उस आश्रय को छोड़कर अपना अस्तित्व नहीं रखसकता। ऐसे ही पट का समवायिकारण तन्तु हैं। प्रत्येक कार्य-द्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव होते हैं। प्रत्येक कार्य-द्रव्य 'अवयवी' कहा जाता है, और उसके समवायिकारण 'अवयव'। अवयव–अवयवी का परस्पर सम्बन्ध समवाय होता है। अवयव आश्रय हैं, और अवयवी आश्रित।

इस प्रसंग में कारण-द्रव्य को कार्य-द्रव्य का 'उपादान' भी कहाजाता है। तात्पर्य है, यहां जो समवायिकारण है, वह कार्य-द्रव्य का उपादानकारण [Material Cause] है। वह कार्य जिस सामग्री से बना है, वह सामग्री उस कार्य का उपादान है।

(२) **असमवायिकारण** [Non-intimate Cause]—**कार्य अथवा**

कारण के साथ एक अर्थ [आश्रय-द्रव्य] में रहता हुआ जो पदार्थ उस कार्य का कारण होता, वह उस कार्य का असमवायिकारण कहाजाता है। इसके दो भाग हैं, उसीको बताने के लिये प्रारम्भ में पद हैं—'कार्य अथवा कारण'। इनको पृथक् करके बतलाने में असमवायिकारण का पहला प्रकार निम्नरूप में कहा जायगा—

(क) 'कार्य के साथ एक अर्थ [आश्रय-द्रव्य] में समवेत हुआ जो पदार्थ उस कार्य का कारण बन जाता है, वह उस कार्य का असमवायिकारण होता है'।

यह प्रकार प्रायः द्रव्य-कार्य के असमवायिकारण को बतलाने में लागू है। यह निश्चित समझ लेना चाहिये, द्रव्य-कार्यमात्र का असमवायिकारण उसके [कार्य के] कारण–अवयवों का परस्पर संयोग होता है। तात्पर्य हुआ—अवयवों का संयोग–उन अवयवों में उत्पन्न होनेवाले अवयवी का–असमवायिकारण है। जैसे द्रव्य कार्यमात्र का समवायिकारण होता है, ऐसे ही कार्यमात्र का असमवायि-कारण कहीं गुण और कहीं कर्म होता है। द्रव्य किसी का असमवायिकारण नहीं होसकता, और गुण तथा कर्म किसी के समवायिकारण नहीं होसकते।

द्रव्य–कार्यमात्र का असमवायिकारण केवल 'संयोग' गुण होता है; वह है—कार्यद्रव्य–अवयवी के समवायिकारण–अवयवों का परस्पर संयोग। तन्तु अवयवों में पट अवयवी उत्पन्न होता है। यहां पट-अवयवी के समवायिकारण तन्तु-अव-यव हैं; और तन्तुओं में समवेत तन्तुओं का संयोग पट का असमवायिकारण है। यहां कार्य पट है, वह एक अर्थ-तन्तुओं में समवेत [समवाय संबन्ध से आश्रित] है, उसी एक अर्थ [तन्तुओं] में समवेत तन्तुओं का संयोग पट का कारण होता है; अतः तन्तु-संयोग पट का असमवायिकारण है। कार्य [पट] के साथ एक अर्थ [तन्तुओं] में समवेत हुआ जो पदार्थ [संयोग] उस कार्य [पट] का कारण बना है; इसलिये वह [संयोग] उस कार्य [पट] का असमवायिकारण है।

प्रकृत में यह गम्भीर तात्पर्य समझना चाहिये। कोई भी कारण किसी कार्य को उससे असंबद्ध हुआ उत्पन्न नहीं कर सकता। कार्य जिस आश्रय में उत्पन्न होने को है, वहां कारण का संबद्ध होना आवश्यक है। यह बात कार्य के असमवायिकारण के विषय में कही जा रही है। पट-कार्य तन्तु-आश्रय में उत्पन्न होने को है। पट का असमवायिकारण तन्तु-संयोग भी तन्तु–आश्रय में विद्यमान है। कार्य [पट] जहां [तन्तुओं में] समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होरहा है; वहीं [तन्तुओं में ही] तन्तु-संयोग विद्यमान रहता हुआ पट का कारण होता है; अतः तन्तु-संयोग पट का असमवायिकारण है। यह कार्य और कारण

का परस्पर साक्षात् संबन्ध है, कार्य और कारण दोनों एक ही आश्रय में समवेत हैं। इस संबन्ध को 'कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति' कहाजाता है। कारण का–कार्य [पट] के साथ एक अर्थ [तन्तुओं] में प्रत्यासन्न–संबद्ध होना। इसप्रकार कार्य के आश्रय में संबद्ध हुआ कारण कार्योत्पाद में समर्थ होता है, असंबद्ध नहीं।

(ख) असमवायिकारण और कार्य के परस्पर संबन्ध का दूसरा प्रकार निम्नलिखितरूप में कहा जायगा—

'कारण के साथ एक अर्थ [आश्रय-द्रव्य] में समवेत हुआ जो पदार्थ उस कार्य का कारण रहता है, वह पदार्थ उस कार्य का असमवायिकारण माना जाता है।'

यह प्रकार गुणादि कार्य के असमवायिकारण बताने में लागू है। तन्तु-समवेत रूपादि गुण पट-गत रूपादि के असमवायिकारण होते हैं। यहां कार्य पटगत रूपादि हैं, उनके असमवायिकारण हैं—तन्तु-समवेत रूपादि। यहां पटरूपादि के असमवायिकारण तन्तु-रूप और समवायिकारण पट का आश्रय एक ही [तन्तु] है। कार्य-पटगत-रूप का समवायिकारण पट तन्तुओं में समवेत है, और वहीं [तन्तुओं में ही] तन्तु के रूपादि समवेत हैं, जो पटरूप के असमवायिकारण होते हैं। इसप्रकार कार्य–पटरूप के समवायिकारण–पट के साथ एक अर्थ [एक अधिकरण तन्तुओं] में समवेत-संबद्ध हैं रूपादि गुण। फलतः तन्तुओं के रूपादि गुण पटगत रूपादि के असमवायिकारण होते हैं।

कार्य के साथ असमवायिकारण के इस संबन्ध को 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' कहाजाता है। यह कार्यकारण का परम्परा-संबन्ध है, क्योंकि कार्य-पटरूप के समवायिकारण पट के द्वारा यह संबन्ध प्रस्तुत किया जाता है। पहला संबन्ध केवल 'स्वसमवाय संबन्ध' है; जब कि दूसरा 'स्वसमवायिसमवेतत्व संबन्ध'। पहले उदाहरण में कार्य के साथ सीधा असमवायिकारण का सामानाधिकरण्य है। कार्य पट और असमवायिकारण तन्तु-संयोग एक ही अधिकरण तन्तुओं में समवेत है। दूसरे उदाहरण में पटगत रूप-कार्य के समवायिकारण पट के साथ असमवायिकारण [तन्तुरूपादि] का सामानाधिकरण्य है। इसप्रकार रूप-कार्य के समवायिकारण पट द्वारा प्रस्तुत होने से कार्य-कारण का यह संबन्ध परम्परा-संबन्ध मानाजाता है।

असमवायिकारण के इस विवरण को आचार्यों ने संस्कृत पदों में एक पंक्ति द्वारा इसप्रकार संक्षेप से कह दिया है–'कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतं सत् यत्कार्यस्य कारणं भवति, तद् असमवायिकारणं विज्ञेयम्'।

समवायिकारण और असमवायिकारण में परस्पर यह भेद स्पष्ट है, कि

समवायिकारण कार्य को अपने में समवेत रखता है। किसी कार्य को अपने में समवेत रखने का सामर्थ्य केवल द्रव्य में है, अतः प्रत्येक कार्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। असमवायिकारण में यह सामर्थ्य नहीं रहता, वह स्वयं अपने आश्रय में समवेत रहता हुआ ही अन्य कार्य के प्रति कारण बन पाता है। द्रव्य, गुण, कर्म सभी के असमवायिकारण यथायथ गुण व कर्म होते है। गुण व कर्म में कोई कार्य समवेत नहीं रहता। यही इन दोनों कारणों में परस्पर भेद हैं।

समवायिकारण केवल द्रव्य होता है, और असमवायिकारण गुण व कर्म। द्रव्य, गुण-कर्म नहीं होसकता, और गुण-कर्म, द्रव्य नहीं होसकते। इस आधार पर भी इनका भेद समझना चाहिये।

(३) **निमित्तकारण**—उक्त दोनों कारणों से भिन्न जो कारण किसी कार्य के होते हैं, वे सब उस कार्य के 'निमित्तकारण' माने जाते हैं।

जैसे घट का समवायिकारण मृत्तिका हैं, मृदवयवों के परस्पर संयोग असमवायिकारण हैं। इनके अतिरिक्त कुम्हार, दण्ड, चक्र, सूत्र, काल आदि सब कारण 'निमित्तकारण' रहते है। इनमें कुम्हार प्रेरक-कर्त्ता होने से मुख्य निमित्त है, शेष साधारण। इसीलिये अन्य निमित्तकारणों को साधारणकारण अथवा सहकारी-कारण भी कहाजाता है। इसी प्रकार पट आदि कार्यों में तन्तु समवायिकारण, तन्तु-संयोग असमवायिकारण, और तन्तुवाय [जुलाहा], तुरी, वेमा, करघा आदि साधनों को निमित्तकारण समझना चाहिये। प्रत्येक कार्य में कार्य-कारण की यह व्यवस्था लागू रहती है।

असत्कार्यवाद

न्याय-वैशेषिकदर्शन की परम्परा में 'असत्कार्यवाद' सिद्धान्त को पुष्ट करने का प्रबल प्रयास बराबर चलता रहा है। इसकी प्रतियोगिता में दूसरा सिद्धान्त 'सत्कार्यवाद' नाम से प्रसिद्ध है, जो सांख्य, वेदान्त आदि दर्शनों का सिद्धान्त माना जाता है। दर्शनों के व्याख्याग्रन्थों में इन दोनों वादों को लक्ष्य कर विषय का पर्याप्त आलोडन हुआ है। अपने-अपने पक्ष को सिद्ध करने में व्याख्याकारों ने कोई न्यूनता नहीं छोड़ी; और कदाचित् अपने इन व्याख्यानों में इतने अधिक आगे निकल गये हैं, कि सिद्धान्त के मूल आधार दूर रहकर दृष्टि से पूरी तरह ओझल होगये। जड़ का पता नहीं रहा, शाखा-प्रशाखाओं पर वाग्युद्ध

चलता रहा।

असत्कार्य-स्वरूप–प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले 'असत्' रहता है। उत्पन्न होजाने पर उसका यह नूतन आरम्भ है, इससे पूर्व उसका अस्तित्व किसी प्रकार भी कभी नहीं रहा। कार्य की उस दशा का नाम 'कार्य का प्रागभाव' है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव होना, या असत् होना एक ही बात है। प्रागभाव का अन्त होकर कार्य की उत्पत्ति के रूप में कार्य का नवीन आरम्भ होता है; इस आधार पर प्रस्तुत वाद को 'आरम्भवाद' नाम भी दिया-जाता है। जो कार्य है, किसी काल-विशेष में उत्पन्न हुआ है, उसका अन्त आवश्यक है। कोई भी उत्पन्न हुआ भाव-कार्य अनन्त भविष्यत् तक ठहर नहीं सकता; इसलिये प्रत्येक कार्य सादि-सान्त माना जाता है। उत्पत्ति से पहले कार्य सर्वात्मना 'असत्' रहता है, इस सिद्धान्त का नाम 'असत्कार्यवाद' है।

यदि सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार इस बात को मान लिया जाता है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता बनी हुई है, तो कार्य की उत्पत्ति के लिये कर्त्ता का व्यापार सर्वथा व्यर्थ है। इस पर सत्कार्यवादी का कहना है, कि कार्य अपने कारण [समवायिकारण अथवा उपादानकारण] में यदि विद्यमान नहीं, उसकी सर्वत्र सर्वात्मना असत्ता है, तो कार्य घट का जैसा असद्भाव मृत्तिका में है, वैसा ही तन्तुओं में है। इसी प्रकार पट कार्य का जैसा असद्भाव तन्तुओं में है, वैसा ही मृत्तिका में है, तब मृत्तिका से ही घट उत्पन्न हो, और तन्तुओं से ही पट उत्पन्न हो, ऐसी व्यवस्था का होना संभव न होगा। कोई भी कार्य प्रत्येक कारण-वस्तु से उत्पन्न होजाना चाहिये, क्योंकि कार्य का असद्भाव सर्वत्र समान है। पर ऐसा नहीं हैं; किसी विशेष कार्य के लिये विशेष कारणों का ही उपादान किया जाता है; इसलिये उस कार्य का उन विशिष्ट कारणों में अस्तित्व स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

इस विषय में असत्कार्यवादी का कहना है, कि किस वस्तु से क्या कार्य उत्पन्न किया जासकता है; यह वस्तु का अपना सामर्थ्य है। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक कार्य के उत्पन्न करने में समर्थ या शक्त नहीं होता। कर्त्ता व्यक्ति जानता है, कि किस पदार्थ से कौन-सा कार्य उत्पन्न किया जासकता है; कार्य-विशेष के लिये वह उन्हीं पदार्थों का उपादान करता है, अन्य का नहीं। इसके अतिरिक्त उत्पत्ति से पूर्व यदि कार्य की किसी प्रकार की सत्ता मानी जाती है, तो वह सर्वथा अव्यवहार्य है; उस सत्ता का व्यवहार में कोई उपयोग संभव नहीं। उत्पत्ति से पूर्व मृद्रूप में अवस्थित घट से जलाहरण आदि का कार्य नहीं होसकता, और न तन्तुओं में अवस्थित वस्त्र से देहादि का आवरण संभव है, म

शीत आदि का निराकरण। यह सब व्यवहार कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर ही संभव होता है।

बौद्धदर्शन में कार्य की इस स्थिति को 'अर्थक्रियाकारिता' पदों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। प्रत्येक कार्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये उत्पन्न किया जाता है। विशिष्ट प्रयोजन के अनुकूल क्रिया व व्यापार का संपन्न किया जाना कार्य-वस्तु की सत्ता का नियामक है। जैसे घट-कार्य का प्रयोजन जलाहरण आदि है। इसके द्वारा इस क्रिया व व्यापार का संपन्न होना घट की सत्ता का नियामक है। कार्य-वस्तु की इसी स्थिति को वस्तु-गत 'अर्थक्रिया-कारिता' कहाजाता है। यह सब कार्य की उत्पत्ति से पूर्व संभव नहीं। इसलिये उस दशा में कार्य की सत्ता को स्वीकार करना अनपेक्षित एवं अप्रामाणिक है।

विवेचन की इस स्थिति पर सत्कार्यवादी का कहना है, कि घट-कार्य के अपने व्यवहार्यरूप में आजाने से पूर्व उसके द्वारा जलाहरणादि व्यापार का संपन्न होना सत्कार्यवाद को भी स्वीकार्य नहीं है। जब घट अपने व्यवहार्यरूप में न रहकर कारणरूप में अवस्थित रहता है, वह घट-कार्य की अनभिव्यक्त अवस्था है। वह जब विशेष निमित्तों के सहयोग से अपनी अभिव्यक्त दशा में आता है, तभी वह जलाहरणादि व्यापार के लिये उपयोगी होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं, कि अभिव्यक्त दशा में आने से पूर्व कार्य का सर्वात्मना असद्भाव है। कार्यकारण की इस स्थिति के विषय में केवल इतना कहकर सन्तोष नहीं किया-जासकता, कि यह वस्तु का अपना सामर्थ्य है, जो किन्हीं विशिष्ट पदार्थों से विशिष्ट कार्य उत्पन्न होसकते हैं; सब पदार्थों से सब कार्य नहीं। वस्तुतः विभिन्न पदार्थों का ऐसा सामर्थ्य ही उनमें विशिष्ट कार्यों की सत्ता का बोधक है। विभिन्न पदार्थों में जिन कार्यों का सद्भाव है, उन्हीं कार्यों को उनमें से उभारा जासकता है। इसीका यह परिणाम है, कि सब कार्य सब पदार्थों से नहीं निकाले जासकते।

इस प्रसंग में 'उत्पत्ति' और 'अभिव्यक्ति' पदों के आधार पर बहुत-सा लम्बा चौड़ा विवाद प्रस्तुत कियाजाता है। केवल पदों के आधार पर किसी विवाद का खड़ा करना निष्प्रयोजन है। पहला पद किसी वस्तु के नवीन आरम्भ का बोधक है, तथा दूसरा पद पहले से विद्यमान किसी वस्तु के प्रकट होने को बताता है, यह सब पत्तों को भिगोकर पेड़ को जीवित रखने की लालसा के समान है। यहां केवल वस्तु-तत्त्व को समझने का प्रयास करना अपेक्षित है। यदि गम्भीरता से देखाजाय, तो उत्पत्ति पद का तात्पर्य–किसी वस्तु का उभरकर ऊपर आजाना–ही है। इसमें कार्य के व्यवहार्य-रूप में आने से पूर्व भी कार्य की किसीप्रकार की

सत्ता की झलक है। प्रत्येक कार्य की सत्ता को व्यवहार्यस्थिति में लाने के लिये कर्त्ता-व्यक्ति आदि का व्यापार हुआ करता है। ऐसी दशा में-कार्य की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में कार्य का सद्भाव मानने पर कर्त्ता आदि का व्यापार अनावश्यक है-यह कहना निरर्थक होगा।

प्रस्तुत विषय में यह भी एक विचारणीय बात है, कि कार्य को 'असत्कार्य' क्यों कहाजाता है ? ऐसा कहने का यही आधार संभव है, कि वह अपने व्यवहार रूप में आने से पहले असत् था। यहां विचारणीय है, क्या वह असद्भाव उस कार्य का उपादान है ? वैशेषिक दृष्टि से उपादान का तात्पर्य समवायिकारण है। निश्चित है, उस कार्य का समवायिकारण असद्भाव नहीं है, उस स्थिति को प्रागभाव के रूप में वैशेषिक केवल निमित्तकारण की श्रेणी में मानता है, जो एक साधारण कारण है। मृत्तिका आदि जो असाधारण कारण हैं, और सद्रूप हैं, उनके आधार पर कार्य को 'सत्कार्य' क्यों न कहाजाय ? कार्य की कारण-अवस्था में कार्य के व्यवहार्यरूप की अथवा उसके अर्थक्रियाकारित्वरूप की सत्ता को सत्कार्यवाद में भी स्वीकार नहीं कियाजाता। ऐसी दशा में कार्य के व्यवहार्यरूप में आने से पूर्व उसकी कैसी भी सत्ता नहीं है, ऐसा कहना असंगत है; अन्यथा कारण की व्यवस्था का उपपादन करना अशक्य होगा।

गौतम मुनि का विचार—इस विषय में न्यायसूत्रकार गौतम मुनि ने अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। कर्म-फलप्राप्ति प्रसंग में सत्कार्य-असत्कार्यवाद पर विचार करते हुए—उपादान-नियम के आधार पर जो कहाजाता है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् नहीं है, उस असत्ता के विषय में-सूत्रकार ने बताया—'बुद्धिसिद्धं तु तदसत्' [न्या० सू० ४।१।५०]। उत्पत्ति से पूर्व कार्य की जो असत्ता कहीजाती है, उस दशा में कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता को मानना संगत होगा; इसी आधार पर उपादान-नियम की व्यवस्था संभव है।

'बुद्धिसिद्ध' पद का तात्पर्य क्या है ? विचारणीय है। व्याख्याकारों का ऐसा अभिप्राय ज्ञात होता है, कि वस्तु उत्पत्ति से पूर्व अनुपलब्ध या असत् रहती है, उत्पन्न होने पर सद्भाव में आती है; कालान्तर में किन्हीं विरोधी कारणों से नष्ट होकर पुनः अनुपलब्ध व असद्रूप होजाती है। वस्तु के लोकसिद्ध ये उत्पाद विनाश इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं, कि उत्पत्ति से पूर्व वस्तु असद्रूप है। यदि ऐसा न हो, तो प्रत्येक वस्तु को नित्य मानाजाना चाहिये। यदि उत्पत्ति से पूर्व भी वस्तु विद्यमान है, तो वह नित्य का ही स्वरूप होजाता है[1]।

१. **'फल' विवरण प्रसंग के न्यायवार्त्तिक [४।१।४८-५०] में आचार्य उद्योतकर।**

इस विषय में भ्रान्ति का द्वार यहीं से खुल जाता है। सत्कार्यवाद में यह कभी स्वीकार नहीं कियाजाता, कि जलाहरण आदि व्यापार को संपन्न करने योग्य घटाकार अवस्था घटोत्पत्ति से पूर्व मृद्रूप में अवस्थित रहती है। परन्तु इस अवस्था में आने से पहले भी वह आकार कर्त्ता की बुद्धि के अनुसार मृत्तिका-पिण्ड में अवस्थित है, अन्यथा उस आकार को प्रकट में लाने के लिये मृत्तिका का ही उपादान आवश्यक न होता।

व्याख्याकारों का कहना है, कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य का कारण में विद्यमान रहना उपादाननियम का प्रयोजक नहीं है, प्रत्युत वस्तु का सामर्थ्य ही इसका प्रयोजक है। अमुक वस्तु से अमुक कार्य उत्पन्न कियाजासकता है, अमुक नहीं; इसप्रकार कर्त्ता की बुद्धि से उस दशा में कार्य सिद्ध रहता है। इसके अनुसार जिस कार्य की उत्पत्ति के लिये जो कारण समर्थ है, उसका उपादान करलिया जाता है।[1]

उत्पत्ति-विनाश अथवा आविर्भाव-तिरोभाव या अभिव्यक्ति-विलय आदि पदों के आधार पर कोई विवाद प्रस्तुत करना यहां अभिप्रेत नहीं; समझना चाहिये ये पद समान अर्थ को ही प्रकट करते हैं। विचार्य है, उत्पत्ति क्या है? घट के आकार में जो वस्तु है, वह मृत्तिका ही इस रूप में प्रस्तुत कीगई है। उस मृत्पिण्ड से केवल यही एक आकार उभाराजासकता हो, ऐसा नहीं है। उससे शकोरा, करवली, कुण्डा, जार, मटका, हंडिया आदि विविध आकार उभारे जासकते हैं। मृत्पिण्ड में इन सब आकारों का अस्तित्व है। यदि इसे केवल कर्त्ता की बुद्धि का चमत्कार मानाजाय, कारणवस्तु में उसके सद्भाव को नकाराजाय, तो वह बौद्ध-दर्शन में प्रवेश की स्थिति आजाती है। वस्तु की सत्ता उड़जाती है, बुद्धि ही विविध आकारों में भासमान होती रहती है।

बौद्ध-दर्शन में प्रवेश से किसी भय का प्रस्तुत करना अभिप्रेत नहीं है। जो विचारक जिस ओर अधिक बल देदेता है, उसकी दृष्टि से वह विचार एक विशिष्ट कोटि में आजाता है। किसी भी कार्य के आकार को कारण-वस्तु में समझलेना—उस वस्तु से उस आकार को उभारने के लिये—अत्यावश्यक है। बौद्ध दर्शन में इस बुद्धि को विशेष महत्त्व दिआगया, वस्तु-तत्व की उपेक्षा करदीगई;

१. 'नायं सत्त्वादुपादाननियमोऽपि तु सामर्थ्यात्। इदमनेन शक्यं निर्वर्त्तयितुं नेदमनेनेत्येवं बुद्धिसिद्धं कार्यं कृत्वा यद् यस्योत्पत्तये समर्थं तत् तस्योपादीयते न सर्वं सर्वस्य न सर्वस्मात् सर्वमुत्पद्यमानं दृष्टमिति।' [न्यायवार्त्तिक. ४।१।५०], इस प्रसंग की तात्पर्यटीका भी द्रष्टव्य।

अथवा एक ओर बल देने से दूसरे की उपेक्षा होगई। इस भावना को सामने लाने के लिये यहां बौद्ध-दर्शन का उल्लेख हुआ है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता मानकर कारण-वस्तु में उस आकार की विद्यमानता को झुठलाया नहीं जासकता।

स्पष्ट है, प्रत्येक कार्य उसके कारण-वस्तु की ही एक विशेष अवस्था है। यदि 'विशेष' पद-प्रयोग के आधार पर उसमें नवीनता का उद्बोधन करायाजाता है, और उससे एक अपूर्व उत्पत्ति के मानने या कथन करने में किसी को सन्तोष प्राप्त होता है, तो कोई आपत्ति की बात नहीं। वस्तु-तत्त्व की अवस्था बदलती रहती हैं। कार्य-वस्तु का ऐसा स्वरूप है।

गौतम मुनि द्वारा उत्पत्ति से पूर्व कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता स्वीकार करने से यह तथ्य प्रमाणित होता है, कि कारणदशा में कार्य का अव्यवहार्यरूप विद्यमान रहता है। उसको चक्षु से नहीं देखाजाता, बुद्धि से जानाजाता है। जिस विचारक ने बुद्धिज्ञान की उपेक्षा न कर उसपर उपयुक्त बल दिया; उसकी दृष्टि से 'सत्कार्य' सामने आया। अन्य विचारक ने बुद्धिज्ञान की उपेक्षा कर कार्य के व्यवहार्यरूप को अधिक महत्त्व दिया, उस दृष्टि से 'असत्कार्य' सामने आया। इन पदों का प्रयोग परस्पर प्रतियोगी-रूप से नहीं है, प्रत्युत इनके आधार अथवा क्षेत्र का भेद होने से यह नाम-करण है। व्याख्याग्रन्थों में इस विषय पर जो विपुल शास्त्रार्थ प्रस्तुत हुआ है, उसमें शाब्दिक मन्थन ही अधिक है।

इस सब विवरण के आधार पर यह तथ्य सामने आता है, कि 'सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्यवाद' नाम से जिन वादों का उल्लेख शास्त्र में हुआ है, वे परस्पर कोई प्रतिद्वन्द्वी वाद नहीं हैं, न इनमें किसी तरह के परस्पर विरोध का आभास समझना चाहिये। यद्यपि दोनों पदों से आपाततः विरोध की प्रतीति होती है, पर—जैसा अभी कहागया—इस नाम-करण के आधार उनके अपने विभिन्न क्षेत्र हैं। प्रवक्ता ने जिस ओर अधिक बल दिया, उसीके अनुसार उसका नाम रख-दियागया।

वस्तु के व्यवहार्य अवस्था में आने से पहले उसके सद्भाव को स्वीकार करना, वस्तु के व्यवहार्यरूप की नित्यता का आपादक नहीं है। मूलभूत वस्तु-तत्त्व बराबर बना रहता है, आकार बदलते रहते हैं। यह सर्वथा सत्य है, कि वस्तु तत्त्व में जो आकार एक वार उभर आया है, वही आकार फिर दुबारा कभी नहीं उभरसकता, उस—जैसा आकार होसकता है, पर वही नहीं। इसी उभरे आकार को लक्ष्य कर 'असत्कार्यवाद' का उद्भावन हुआ। इसीके साथ यह भी पूर्ण सत्य है, कि वस्तु-तत्त्व अपनेरूप में निरन्तर बना रहता है, और उसमें पुनः उसी-

प्रकार के आकार को उभारा जासकता है। मृत्तिका में घट-आकार उभर आने पर मृत्तिका बराबर मूलरूप में बनी है। उस आकार के बदलजाने पर भी मृत्तिका रहती है। कहना चाहिये, उस आकार का अस्तित्व अन्तर्हित होजाता है; उसीप्रकार के आकार को वस्तु-तत्त्व से पुनः उभारा जासकता है, इस स्थिति के अनुसार 'सत्कार्यवाद' सामने आता है। इसप्रकार कार्य की ये दो अवस्था हैं, जिन पर ये वाद अवलम्बित हैं।

ऐसी स्थिति में प्रत्येक वस्तु के नित्य होने की आशंका या आपत्ति करना व्यर्थ है। वस्तु-तत्त्व के परिवर्त्तनशील अथवा परिणामी होने से साक्षात्कृतधर्मा आचार्यों ने उसकी 'परिणामि-नित्यता' को स्वीकार किया है। जो वस्तु-तत्त्व है, वह कभी 'असत्' नहीं होता। जो मूलतः असत् है, वह वस्तु-तत्त्व के रूप में कभी सत नहीं होता। इसी भावना को गीता में इन शब्दों से अभिव्यक्त किया—

नाऽसतो विद्यते भावो नाऽभावो विद्यते सतः।
सभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥२।१६॥

परिशिष्ट-२

परिशिष्ट-२

वैशेषिक एवं आधुनिक पदार्थ-विज्ञान

आधुनिक पदार्थ-विज्ञान साधारणरूप से दो भागों में विभक्त है। एक—रसायन [Chemistry] दूसरा—भौतिकी [Physics]। अपनी विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर इनका विवेच्य क्षेत्र सीमित होने से पदार्थ-विज्ञान उक्त दो भागों में बाँटा गया है। इससे पदार्थ के विवेचन और उसके वर्गीकरण में सुविधा रहती है। रसायनशास्त्र में जिन तत्त्वों को लक्ष्य कर विवेचन किया जाता है, और जिनके संमिश्रण आदि से विविध निर्माण की प्रतिक्रियाओं का विवरण प्रस्तुत किया जाता हैं, उन तत्त्वों को ऐलीमैंन्ट [Element] कहा जाता है। रसायनशास्त्र में प्रत्येक निर्माण के लिए ये मूल-तत्त्व हैं; यद्यपि ये स्वयं भी किन्हीं अन्य मूल-तत्त्वों से निर्मित हुए हैं।

इस दिशा में पाश्चात्यदेशीय विद्वानों के द्वारा खोज प्रारम्भ किये जाने के कुछ समय बाद रूस के मैण्डेलिएव [D. I. MENDELEYEV] नामक एक रसायन-शास्त्री ने तबतक ज्ञात तत्त्वों [Element] की सर्वप्रथम एक सारिणी [Chart-चार्ट] तैयार की, जो अबतक उसी रूप में मान्यता-प्राप्त है। उस सारिणी में तब केवल बानवें [९२] तत्त्वों का समावेश था, उनके अन्तराल में तबतक कुछ तत्त्व अनुपलब्ध थे। वर्तमान में नई खोजों के आधार पर उन तत्त्वों की संख्या एक-सौ आठ [१०८] तक पहुँच गई है, तथा आगे और बढ़ने की सम्भावना है। उन तत्त्वों की सूची और सारिणी आगे इसी परिशिष्ट में प्रस्तुत कर दी गई हैं।

भौतिकीशास्त्र [Physics] में जिन तत्त्वों का विवेचन किया जाता है, उनकी संख्या पाँच है—ताप-ऊष्मा [HEAT-हीट], प्रकाश [Light-लाइट], ध्वनि [Sound-साऊण्ड], विद्युत [Electricity-इलैक्ट्रिसिटी], चुम्बकत्व [Magnetism-मैग्नेटिज्म]।

भेद के आधार—पदार्थ-विज्ञान के ये भेद जिन तथ्यों व विशेषताओं पर आधारित हैं, उनका समझ लेना अपेक्षित है। आधुनिक समस्त पदार्थ-विज्ञान जिन दो भागों में बाँटा गया है, उनका आधार पदार्थों के अपने विलक्षण स्वरूप में है।

देखा जाता है कि एक विशेष प्रकार के पाषाण में तीव्र चुम्बकत्व निहित है, यह भी स्पष्ट है कि उसका प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर न होकर किन्हीं विशिष्ट रचनाओं पर होता है। संभवतः उस चुम्बकत्व शक्ति को उस पदार्थ से सर्वथा आश्रय-रहित कर स्वतन्त्र स्थिति में नहीं लाया जा सकता, जहाँ वह निहित है। यद्यपि चिन्तन के अन्तिम स्तरों में जाकर शक्ति और शक्तिमान् में कोई भेद नहीं रहता; पर चिन्तन की प्रारम्भिक दशाओं में उनका भेदमूलक विवरण अथवा व्यवहार विशेष आपत्तिजनक न समझा जाना चाहिए।

प्रथम कहा गया, ऍलिमैंन्ट [अणुतत्त्व] स्वयं किन्हीं अन्य मूल तत्त्वों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप अपने विलक्षण अस्तित्व में उभर आते हैं, इसकी वास्तविकता को समझने के लिए आज तक उपलब्ध अणुतत्त्वों की सूची, उनके भार आदि के सहित प्रस्तुत की जाने से पूर्व उसकी [अणुतत्त्व की रचना] के विषय में साधारण जानकारी प्राप्त कर लेना अपेक्षित होगा।

परमाणु [एलिमैन्ट का सबसे छोटा कण] की रचना—परमाणु, तत्त्व का वह छोटे से छोटा कण है जो स्वतन्त्रतावस्था में रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है किन्तु उसमें उस तत्त्व के सभी गुण विद्यमान् होते हैं। परमाणु रासायनिक क्रिया में भाग लेता है। परमाणु के मूल कण [Fundamental particles] हैं—प्रोटोन, न्यूट्रॉन तथा इलैंट्रकॉन। आधुनिक आवर्त्त-सारिणी में तत्त्वों को उनके परमाणु क्रमांक [Atomic number] के आरोहण के अनुसार वर्गीकृत किया गया है। किसी तत्त्व के परमाणु के नाभिक में उपस्थित धनावेशों [Protons] की संख्या को उस तत्त्व का परमाणु क्रमांक कहा जाता है। तत्त्व के परमाणु में विद्यमान प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन की संख्या का योग उस तत्त्व का परमाणु भार होता है।

कुछ तत्त्वों के परमाणु ऐसे होते हैं जिनका परमाणु-क्रमांक तो बराबर होता है किन्तु परमाणु भार भिन्न। इन परमाणुओं में न्यूट्रॉन की संख्या भिन्न होती है। इन्हें उस तत्त्व के समस्थानिक [Isotopes] कहते हैं। इसके विपरीत कुछ तत्त्व ऐसे भी हैं जिनका परमाणु भार बराबर होता है, किन्तु परमाणु-क्रमांक भिन्न। ऐसे परमाणुओं को समभारी [Isobars] कहते हैं। प्रत्येक परमाणु विद्युत उदासीन होता है अर्थात् प्रोट्रॉन [धनावेश] की संख्या इलेक्ट्रॉन [ऋणावेश] की संख्या बराबर होती है। जैसे—कैल्शियम का परमाणु भार ४०·१ है और परमाणु-क्रमांक २० है। इसका तात्पर्य हुआ—कैल्शियम के परमाणु में २० प्रोटॉन, २० इलैक्ट्रॉन तथा २० न्यूट्रॉन हैं। इलैक्ट्रॉन

का भार नितान्त नगण्य होता है। उतने से कुछ अधिक इसमें न्यूट्रॉन् हैं। अब तीस क्रमांक पर ज़िन्क देखिये। इसमें व्यवस्थानुसार तीस से कुछ अधिक न्यूट्रान् रहेंगे, इसका भार ६५.४ है। मध्यगत अणुतत्त्वों की रचना में धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते पांच अंश के लगभग भार अधिक होगया; इसका तात्पर्य-न्यूट्रान् की संख्या अन्य तत्त्व [प्रोटोन्] की संख्या से कुछ अधिक होगई, लगभग अष्टमांश अधिक। अब क्रमांक चालीस पर ज़िरकोनिअम् को देखिये। इसमें चालीस प्रोट्रोन् हैं, तब उसके समान न्यूट्रॉन् होकर इसका भार ८० के लगभग होना चाहिये। परन्तु तीस संख्या के अनुपात से यहां ८० का अष्टमांश लगभग दस भार अधिक बढ़गया है। ज़िरकोनिअम् का वास्तविक भार ९१ है। इसका तात्पर्य है, चालीस से अधिक शेष ५१ इसमें न्यूट्रॉन् हैं।

सारिणी क्रमांक के अनुसार अन्तिम अणुतत्त्वों में यह संख्या दोनों की मिलित संख्या के लगभग चतुर्थांश तक अधिक बढ़गई है। जैसे—नोबैलिअम् को देखें। इसका सारिणी-क्रमांक १०२ है। इसका तात्पर्य है, इतने ही इसमें न्यूट्रान् होने चाहियें, तब भार २०४ होगा। परन्तु भार पूर्ण संख्या का चतुर्थांश बढ़गया है। चालीस क्रमांक के आस-पास न्यूट्रान् की संख्या अष्टमांश के लगभग अधिक थी; पर यहां आने तक वह वृद्धि पूर्ण संख्या के चतुर्थांश तक पहुंच गई। इसीके अनुसार नोबैलिअम् का भार २५४ होता है। इस सब विवरण से यह परिणाम सन्मुख आता है, कि भार की संख्या में से सारिणी क्रम-संख्या को घटादेने पर जो संख्या शेष रहती है, उतनी संख्या उस अणुतत्त्व की रचना में न्यूट्रॉन् की समझनी चाहिये।

अब यह स्पष्ट रीति पर समझाजासकता है, कि कोई ऐलीमैन्ट मूलतत्त्व नहीं है। जब सर्गरचना मूलतत्त्वों से प्रारम्भ होकर बहुत आगे तक बढ़ आती है, तब इस रचना में ऐलीमेंन्ट का स्तर आता है। रचनाक्रम में यह स्तर पदार्थ की एक सूक्ष्म अवस्था है। साधारण व्यक्ति निसर्ग-सुलभ साधनों से इसे जान नहीं पाता। इसके लिये प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा गम्भीर चिन्तन तथा भौतिक विधियों के साथ खोज करना अपेक्षित होता है। साधारण जन जैसे वातावरण से घिरा रहता है, उसीमें सन्तुष्ट व मस्त होकर अपना जीवन पूरा करलेता है। कभी कोई विरल मेधावी जन अपने चारों ओर बिछे-फैले विश्व को आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से देखते हुए इसकी गहराइयों में उतरने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह क्रम अज्ञात काल से प्रारम्भ है; आज भी चालू है, कदाचित् आगे भी इसके रुद्ध होने की सम्भावना प्रतीत नहीं होती।

आधुनिक पदार्थविज्ञान में रसायनशास्त्री तत्त्वज्ञों ने अपने तत्त्व-विषयक

विवरण प्रस्तुत करने के लिए सर्गरचना के इसी स्तर को आधार मानलेना उपयुक्त समझा, जिसको रसायनशास्त्र में ऍलीमैन्ट नाम दियागया है। वस्तुतः ऍलीमैन्ट मूलतत्त्व न होने पर भी इस शास्त्र में इसे मूलतत्त्व के रूप में मानाजाता व व्यवहृत कियाजाता है। रसायन-तत्त्वज्ञों ने अपने विवेचन को इसी स्तर से प्रारम्भ किया है, अतः उनकी दृष्टि से सर्गरचनाक्रम का यह स्तर मूलतत्त्व के रूप में समझाजाना अनुचित नहीं है। इस तथ्य को स्मरण रखना होगा, क्योंकि आगे यह स्पष्ट कियाजाना है, कि वैशेषिक का परमाणु भी सर्गरचनाक्रम के किसी ऐसे ही स्तर का तत्त्व है। उसकी यथास्थिति को समझना अपेक्षित है।

आगे दीगई अणुतत्त्व-सारिणी में पाठक देखेंगे, कि समस्त ऍलीमैन्ट केवल सात वर्गों में विभाजित हैं। वर्ग का जो क्रमांक है, उसमें जितने ऍलीमैन्ट सन्निविष्ट हैं, उनके अणु में मूलतत्त्वों की पर्त्त [लेअर=Layer] उसी क्रमांक के अनुरूप रहती हैं।

पहले वर्ग में दो ऍलीमॅन्ट हैं। इसका तात्पर्य है, न्यूक्लिअस् [Nucleus]-केन्द्रस्थित प्रोटोन मूलतत्त्व के चारों ओर पहले एलीमैन्ट में एक और दूसरे में दो इलैक्ट्रान् चक्कर काटा करते हैं। प्रोटोन के चारों ओर इलैक्ट्रान् का तीव्र गति से घूमना उस अणु की पहली पर्त्त को अभिव्यक्त करता है। इस वर्ग में अथवा पहली पर्त्त में घूमनेवाले दो इलैक्ट्रान् से अधिक की संभावना नहीं होसकती; अथवा इससे अधिक इलैक्ट्रान् वहां घूमते नहीं देखेजाते। जब इससे अधिक इलैक्ट्रान् वहां आयेगा, वह दूसरी पर्त्त बनायेगा, इस पर्त्त में तीन से दस संख्या तक के ऍलीमैन्ट आते हैं। ऍलीमैन्ट का यह दूसरा वर्ग है। इस दूसरी पर्त्त में अधिक से अधिक आठ इलैक्ट्रान् अतिरिक्त समासकते हैं। उसीके अनुसार विभिन्न ऍलीमैन्ट की रचना होतीजाती है।

अब इस परिणाम पर पहुंचते हैं, कि अणु-तत्त्व की पहली पर्त्त मे अधिक से अधिक दो तथा दूसरी पर्त्त में आठ इलैक्ट्रान् घूम सकते हैं। इसके फलस्वरूप प्रथम वर्ग के द्वितीय ऍलीमैन्ट हीलिअम् से लगाकर अन्तिम एलीमैन्ट नोबैलिअम् अथवा लारैन्शिअम् तक समस्त एलीमैन्ट की पहली पर्त्त में दो, तथा द्वितीय वर्ग के अन्तिम [दसवें] ऍलीमैन्ट 'निअोन्' से लगाकार सर्वान्तिम ऍलीमैन्ट तक के अणुओं के दूसरे पर्त्त में आठ इलैक्ट्रान् केन्द्र के चारों ओर चक्कर लगाया करते हैं। तीसरे वर्ग में संख्या ग्यारह से अठारह तक के ऍलीमैन्ट आते हैं। इनके तीसरे पर्त्त में ग्यारह से अठारह तक यथाक्रम एक-एक इलैक्ट्रान् बढ़ता चलाजाता है; उसीके अनुसार उन-उन ऍलीमैन्ट की विभिन्न रचना होती चलीजाती है। इस-

प्रकार समस्त उपलब्ध एलीमैन्ट सात वर्गों में विभाजित खोज कियेगये हैं। सारिणी को इसीके अनुसार देखकर पाठक इन अणुओं की रचना को स्पष्टरूप में समझ सकेंगे।

अणु-परिमण्डलाकारः—इस रचना के विषय में एक बात और ज्ञातव्य है, वह अणु के आकार के विषय में है। जब यह कहा जाता है, कि केन्द्रस्थित प्रोटोन् के चारों ओर इलैक्ट्रान् तीव्रगति से चक्कर लगाया करता है; तब यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि उस चक्कर लगाने की रेखा क्या है ? क्या वह एक निर्धारित निश्चित रेखा में ही चक्कर लगाता है, या उन चक्कर की रेखाओं में स्थानान्तरण होता रहता है ?

विषय के विशेषज्ञों का कहना है, कि इलैक्ट्रॉन् एक ही निर्धारित रेखा में चक्कर नहीं लगाता। यद्यपि प्रत्येक पर्त्त की सीमा [Sphe e स्फिअर] निर्धारित है; पर उसी सीमा में चक्कर लगाने की रेखा निर्धारित नहीं; उसी सीमा में वह स्थानान्तरित होती रहती है। तीव्रगति से घूमना, और घूमने की रेखाओं का स्थानान्तरित होते रहना अणु को एक मण्डल के आकार में अभिव्यक्त करता है। क्योंकि यह आकार सब ओर से समान प्रतीत होता है, इसलिये इसको परिमण्डलाकार कहाजाता है। वैशेषिक शास्त्र में अणु का अपर नाम 'परिमण्डल' बतायागया है। यह नाम उसके प्रतीयमान आकार पर आधारित है।

अब तक विवृत विषय के अधिक स्पष्टरूप में समझलेने की भावना से आधुनिक पदार्थविज्ञान में रसायनशास्त्र के अनुसार जिन अणु-तत्त्वों [ऍलीमेन्ट-Element] की खोजकर जानकारी प्राप्त करलीगई है, उन-तत्त्वों की रचनानुसार सारिणी प्रस्तुत कीजाती है।

अणु-तत्त्वों की सारिणी

वर्ग Peri- od.	आणविक संख्या और ऍलिमैन्ट	Atomic number and name of element.	रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
I	1 हाइड्रोजन	Hydrogen	H	1							१.००८
	2 हीलिअम्	Helium	He	2							४
II	3 लिथिअम्	Lithium	Li	2	1						६.६
	4 बैरिलिअम् [ग्ल्यूसिनम् । Glucinum]	Beryllium	Be	2	2						६.2
	5 बोरोन	Boron	B	2	3						१०.८
	6 कार्बन	Carbon	C	2	4						१२
	7 नाइट्रोजन	Nitrogen	N	2	5						१४
	8 आक्सिजन	Oxigen	O	2	6						१६
	9 फ़्ल्योरिन	Fluorine	F	2	7						१८
	10 निऑन	Neon	Ne	2	8						२०.२
III	11 सोडिअम्	Sodium 'Latin' [नैट्रिअम्-Natrium]	Na	2	8	1					२३
	12 मैग्नेशिअम्	Magnesium	Mg	2	8	2					२४

(Column group heading for K–Q: अणु-कक्ष [पर्त-Layer-लेयर] में इलेक्ट्रान्स् की संख्या / Number of electrons in Layer,)

वर्ग Peri-od	आणविक संख्या और एलिमैन्ट Atomic number and name of element.		रासाय-निक संकेत	अणु-कक्ष [पर्त्त-Layer-लेअर] में इलैक्ट्रान्स् की संख्या Number of electrons in Layer, K	L	M	N	O	P	Q	भार
	13 ऐल्युमिनिअम्	Aluminium	Al	2	8	3					२७
	14 सिलिकन्	Silicon	Si	2	8	4					२८
	15 फ़ास्फ़ोरस्	Phosphorus	P	2	8	5					३१
	16 सल्फ़र	Sulphur	S	2	8	6					३२
	17 क्लोरीन्	Chlorin	Cl	2	8	7					३५.५
	18 आर्गन्	Argon	Ar	2	8	8					४०
IV	19 पोटैशिअम	Potassium 'Latin' [कैलिअम्-Kalium]	K	2	8	8	1				३९
	20 कैल्शिअम्	Calcium	Ca	2	8	8	2				४०.१
	21 स्कैण्डिअम्	Scandium	Sc	2	8	8+1	2				४५
	22 टिटैनिअम्	Titanium	Ti	2	8	8+2	2				४८
	23 वैनेडिअम्	Vanadium	V	2	8	8+3	2				५१
	24 क्रोमिअम्	Chromium	Cr	2	8	8+5	1				५२
	25 मैंगेनीज़्	Manganese	Mn	2	8	8+5	2				५५
	26 आॅयरन् [लोहा]	Iron, 'Latin' [फ़ैरम्-Ferram]	Fe	2	8	8+6	2				५६

वर्ग Period	आणविक संख्या और एॅलिमैन्ट Atomic number and name of element.			रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
IV	27	कोबाल्ट	Cobalt	Co	2	8	8+7	2				५९
	28	निकल	Nickel	Ni	2	8	8+8	2				६०
	29	कॉपर [तांबा] [क्यूप्रम्-Cuprum]	Copper, 'Latin'	Cu	2	8	18	1				६३.६
	30	जिन्क [जस्ता]	Zinc	Zn	2	8	18	2				६५.४
	31	गैलिअम्	Gallium	Ga	2	8	18	3				६९.५
	32	जरमैनिअम्	Germanium	Ge	2	8	18	4				७२.५
	33	आर्सेनिक	Arsenic	As	2	8	18	5				७५
	34	सैलेनियम्	Selenium	Se	2	8	18	6				७९
	35	ब्रोमाइन	Bromine	Br	2	8	18	7				८०
	36	क्रिप्टन	Krypton	Kr	2	8	18	8				८३
V	37	रुबिडिअम्	Rubidiom	Rb	2	8	18	8	1			८५.५
	38	स्ट्रान्शिअम्	Strontium	Sr	2	8	18	8	2			८७.५
	39	इट्रिअम्	Yttrium	Y	2	8	18	8+1	2			८९
	40	ज़िरकोनिअम्	Zirconium	Zr	2	8	18	8+2	2			९१
	41	निओबिअम्	Niobium	Nb	2	8	18	8+4	1			९३

वर्ग Period	आणविक संख्या और एलिमैन्ट Atomic number and name of element.			रासायनिक संकेत	अणु-कक्ष [पर्त्त-Layer-लेअर] में इलैक्ट्रान्स की संख्या Number of electrons in Layer, K	L	M	N	O	P	Q	भार
		[कोलम्बिअम्-Columbium]										
42	मालिब्डिनम्	Molybdenum		Mo	2	8	18	8+5	1			९६
43	टैक्नेशिअम्	Technetium		Tc	2	8	18	8+5	2			९८
		[मैसूरिअम्-Masurium]		Ma								
44	रुथेनिअम्	Ruthenium		Ru	2	8	18	8+7	1			१०१.७
45	रोडिअम्	Rhodium		Rh	2	8	18	8+8	1			१०३
46	पैल्लेडिअम्	Palladium		Pd	2	8	18	18	0			१०६.५
47	सिलवर [चांदी]	Silver 'Latin'										
	अर्जेन्टम्	Argentum		Ag	2	8	18	18	1			१०८
48	कैड्मिअम्	Cadmium		Cd	2	8	18	18	2			११२.५
49	इण्डिअम्	Indium		In	2	8	18	18	3			११५
50	टिन् [रांगा]	Tin 'Latin'										
	स्टैनम्–	Stannum		Sn	2	8	18	18	4			११८.५
51	ऐन्टिमनी	Antimony 'Latin'										
	स्टिबिअम्	Stibium		Sb	2	8	18	18	5			१२२
52	टैल्यूरिअम्	Tellurium		Te	2	8	18	18	6			१२७.५

वर्ग Period.	आणविक संख्या और ऍलिमैंट Atomic number and name of element			रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
	53	आयोडिन्	Iodine	I	2	8	18	18	7			१२७
	54	भैंनन्	Xenon	Xe	2	8	18	18	8			१३०
VI	55	सीजिअम्	Caesium	Cs	2	8	18	18	8	1		१३३
	56	बेरिअम्	Barium	Ba	2	8	18	18	8	2		१३७.५
	57	लैन्थेनम्	Lanthanum	La	2	8	18	18	8+1	2		१३९
	58	सीरिअम्	Cerium	Ce	2	8	18	18+2	8	2		१४०
	59	प्रैजिओडिमिअम्	Presiodymium	Pr	2	8	18	18+3	8	2		१४१
	60	निओडिमिअम्	Neodymium	Nd	2	8	18	18+4	8	2		१४४.५
	61	प्रोमैथिअम्	Promethium	Pm	2	8	18	18+5	8	2		१४६
		इलिनिअम्	Illinium	Il								
	62	सैमेरिअम्	Samarium	Sm	2	8	18	18+6	8	2		१५०.५
	63	यूरोपिअम्	Europium	Eu	2	8	18	18+7	8	2		१५२
	64	गैडोलिनिअम्	Gadolinium	Gd	2	8	18	18+7	8+1	2		१५७
	65	टर्बिअम्	Terbium	Tb	2	8	18	18+9	8	2		१५९
	66	डिस्प्रोज़िअम्	Dysprosium	Dy	2	8	18	18+10	8	2		१६२.५
	67	हाल्मिअम्	Holmium	Ho	2	8	18	18+11	8	2		१६३.५

वर्ग Peri-od.	आणविक संख्या और ऍलिमैन्ट Atomic number and name of element		रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
	68 इर्बिअम्	Erbium	Er	2	8	18	18+12	8	2		१६७.५
	69 थूलिअम्	Thulium	Tu	2	8	18	18+13	8	2		१६९.५
	70 इटर्बिअम्	Ytterbium	Yb	2	8	18	18+14	8	2		१७३.५
	71 ल्युटेशिअम्	Lutetium	Lu	2	8	18	18+14	8+1	2		१७५
	72 हैफ्निअम्	Hafnium	Hf	2	8	18	32	8+2	2		१७८.५
	73 टैण्टेलम्	Tantalum	Ta	2	8	18	32	8+3	2		१८१.५
	74 टंग्स्टेंन्	Tungsten 'German'									
	वुल्फेमिअम्	Wolframium	W	2	8	18	32	8+4	2		१८४
	75 र्‌हीनिअम्	Rhenium	Re	2	8	18	32	8+5	2		१८७
	76 ऑस्मिअम्	Osmium	Os	2	8	18	32	8+6	2		१९१
	77 इरीडिअम्	Iridium	Ir	2	8	18	32	8+7	2		१९३
	78 प्लैटिनम्	Pletinum	Pl	2	8	18	32	8+9	1		१९५
	79 गोल्ड [सोना]	Gold 'Latin'									
	औरम्	Aurum	Au	2	8	18	32	18	1		१९७
	80 मर्करी [पारा]	Mercury 'Latin'									
	हाइड्रार्जिरम्	Hydrargyrum	Hg	2	8	18	32	18	2		२००.६

वर्ग Peri-od	आणविक संख्या और एलिमेन्ट Atomic number and name of element.		रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
	81 थैलिअम्	Thallium	Tl	2	8	18	32	18	3		२०५
	82 लैड [सीसा]	Lead 'Latin'									
	प्लम्बम्	Plumbum	Pb	2	8	18	32	18	4		२०७
	83 बिस्मथ	Bismuth	Bi	2	8	18	32	18	5		२०९
	84 पोलोनिअम्	Polonium	Po	2	8	18	32	18	6		२१०
	85 ऐस्टेटिन्	Astatine	At	2	8	18	32	18	7		२१०
	86 रैडॉन्	Radon'Latin'									
	नाइटोन्	Niton	Nt	2	8	18	32	18	8		२२२
VII	87 फ्रैन्शिअम्	Francium	Fr	2	8	18	32	18	8	1	२२३
	88 रेडिअम्	Radium	Ra	2	8	18	32	18	8	2	२२६
	89 ऐक्टिनिअम्	Actinium	Ac	2	8	18	32	18	8+1	2	२२९
	90 थोरिअम्	Thorium	Th	2	8	18	32	18	8+2	2	२३२
	91 प्रोटोएक्टिनिअम्	Protoactinium	Pa	2	8	18	32	18+2	8+1	2	२३४
	92 युरेनिअम्	Uranium	U	2	8	18	32	18+3	8+1	2	२३८
	93 नैप्चूनिअम्	Neptunium	Np	2	8	18	32	18+5	8	2	२३७
	94 प्ल्युटोनिअम्	Plutonium	Pu	2	8	18	32	18+6	8	2	२४२

वर्ग Prei-od	आणविक संख्या और एलिमेन्ट Atomic numder and name of element.		रासायनिक संकेत	K	L	M	N	O	P	Q	भार
	95 अमेरिकिअम्	Americium	Am	2	8	18	32	18+7	8	2	२४३
	96 क्यूरिअम्	Curium	Cm	2	8	18	32	18+7	8-1	2	२४३
	97 बरकैलिअम्	Berkelium	Bk	2	8	18	32	18+9	8-1	2	२४५
	98 कैलिफोर्निअम्	Californium	Cf	2	8	18	32	18+10	8	2	२४६
	99 ऐन्स्टीनिअम्— आइन्स्टीनिअम्	Einsteinium	En	2	8	18	32	18+11	8	2	२५४
	100 फरमिअम्	Fermium	Fm	2	8	18	32	18+12	8	2	२५३
	101 मैण्डैलेविअम्	Mendelevium	Mv	2	8	18	32	18+13	8	2	२५६
	102 नोबैलिअम्	Nobelium	No	2	8	18	32	18+14	8	2	२५४
	103 लॉरैन्शिअम्	Lawrencium	Lw	2	8	18	32	18+15	8	2	?

यह सूची N. GLINKA. General Chemistry पृष्ठ 154-156 के अनुसार प्रस्तुत कीगई है। यह ग्रन्थ सन् १९६० ईसवी में FOREIGN LANGUAGES PUBLISHING HOUSE, MOSCOW, से प्रकाशित हुआ है।

वैशेषिक का 'परम-अणु'

गत पंक्तियों में यह स्पष्ट किया, कि आधुनिक पदार्थ-विज्ञान के रसायन-शास्त्र द्वारा विवेच्य 'एक सौ तीन' प्रकार के अणु-तत्त्व [Element] स्वरूप से मूलतत्त्व नहीं हैं। प्रत्युत अन्य किन्हीं मूलतत्त्वों द्वारा सर्ग-रचना प्रारम्भ हो-जाने के अनन्तर आगे होनेवाली रचना के किन्हीं स्तरों पर इन 'एॅलीमैन्ट' नामक पदार्थों का क्रम आता है। यह सब रचना प्राकृतिक नियमों अथवा ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार हुआ करती है, या होती रहती है। प्राकृतिक नियमों के अनुसार इन रचनाओं के आगे भी बराबर रचना का क्रम चलता रहता है, और यह क्रम प्रायः वहां तक चालू रहता है, जहां प्राणी अपने जीवन निर्वाह के लिये साधन प्राप्त करपाता है। इसमें ओषधि वनस्पति फल मूल आदि का तथा मानव द्वारा अपनी सुख-सुविधा के लिये निर्मित पदार्थों का समावेश है। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर आगे भी मानव द्वारा विविध रचना की कोई सीमा नहीं है।

इसी सन्दर्भ में विचारणीय है, वैशेषिकशास्त्र द्वारा प्रतिपादित अणु-तत्त्व जगत् का वास्तविक मूलकारण है, अथवा आधुनिक रसायनशास्त्र द्वारा विवेच्य एॅलीमैन्ट के समान यह भी सर्गरचना के निरन्तर चालू प्रक्रम में किसी अवान्तर या मध्यगत स्तर पर आत्मलाभ करता है? साथ में यह भी विचार्य है, कि सर्गरचना के मध्यगत किसी स्तर पर इसकी स्थिति मानने से वैशेषिक आचार्यों द्वारा 'अणु' का नित्य मानाजाना कैसे संगत कहाजायेगा?

इन दोनों बातों पर विवेचन के लिये प्रथम यह जान लेना आवश्यक है, कि वैशेषिक 'अणु' का स्वरूप क्या है? इसके स्वरूप को समझ लेने पर यह अधिक सुविधा के साथ जानाजासकेगा, कि इस 'अणु' का स्थान मूलकारण के रूप में है, अथवा सर्गरचना के किसी मध्यगत स्तर पर आता है।

वैशेषिक आचार्यों ने जगत् के कारणरूप में चार प्रकार के अणु स्वीकार किये हैं—पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय। वैशेषिक के पारिभाषिक वर्गीकरण के अनुसार समस्त स्वीकृत पदार्थों में पृथिवी आदि चारों पदार्थ 'द्रव्य' हैं, इसलिये पृथिवी आदि के 'अणु' भी निश्चितरूप से द्रव्य हैं। पृथिवी आदि चार द्रव्य वही हैं, जिनको महाभूत के रूप में बाह्य इन्द्रियों द्वारा अनुभूत कियाजाता है, और

जिनका इन्हीं 'पृथिवी' आदि पदों द्वारा व्यवहार होता है। इनका सर्वान्तिम अतिसूक्ष्म स्तर 'अणु' है, जो अपने वर्ग के अनुसार 'पार्थिव अणु' आदि नामों से व्यवहृत होता है। इसका तात्पर्य हुआ—पृथिवी द्रव्य का जो सर्वान्तिम अति-सूक्ष्म स्तर है, वह 'पृथिवी–अणु' है। इसीप्रकार आप्य, तैजस और वायवीय अणु की स्थिति है।

वैशेषिक दृष्टि के अनुसार प्रत्येक वर्ग का 'अणु' आकार में अपने कलेवर की भावना से समान है, पर प्रत्येक वर्ग का 'अणु' अपने में समवेत विशेष गुणों के कारण अन्य वर्गीय अणु से अपने-आप को पृथक् रखता है। अपने वर्ग में भी एक अणु दूसरे अणु से भिन्न है, पृथक् है; इसके नियमन के लिये वैशेषिक आचार्यों ने प्रत्येक अणु में 'विशेष' नामक एक पदार्थ को समवेत कल्पना किया है, जो स्वरूप से ही अन्य सबसे भिन्न रहता हुआ स्वाश्रय अणु को अन्य अणु-तत्त्वों से पृथक् रखने में समर्थ होता है। 'विशेष' नामक पदार्थ के विषय में यहां कुछ विवेचय नहीं, उसका विवेचन इसी परिशिष्ट में आगे कियागया है; यहां केवल अणु के स्तर को समझने के लिये उसमें समवेत विशेष गुणों के विषय में आवश्यक विवेचन अपेक्षित है।

'द्रव्य' और 'गुण' ये संज्ञा वैशेषिक शास्त्र में शास्त्रीय परिभाषा के अनुरूप हैं। इन संज्ञा-पदों से किन्हीं विशिष्ट पदार्थों का ग्रहण होता है। प्रथम कहागया, प्रत्येक वर्ग के अणु में अपने विशेषगुण समवेत रहते हैं।[1] उन विशेषगुणों के न्यूनाधिक रहने पर भी अणु के आकार प्रकार में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता, यद्यपि द्रव्य के स्थूलरूप में आने पर उसके गुण स्ववर्गीय द्रव्यों से उसका अन्तर स्पष्ट कर देते हैं, पर अणुदशा में यह स्थिति नहीं रहती। गुणों के आधार पर वस्तु का यह भेद सार्वत्रिक नहीं होता। स्थूलदशा में जहां विभिन्नद्रव्यगत समान गुण दिखाई देते हैं, वहां उन द्रव्यों के परस्पर भेद को अभिव्यक्त करने के लिये उन-उन द्रव्यों के अपने समवायिकारण—अवयवों के भेद को ही निमित्त मानागया है। भेद का यह नियामक वैशेषिक दृष्टि से 'अणु' में संभव नहीं। क्योंकि 'अणु' किन्हीं अवयवों में समवेत नहीं होता, वह स्वयं केवल अवयव-मात्र है। ऐसी दशा में यह और भी गंभीरता के साथ विवेचनीय होजाता है, कि विभिन्न एवं न्यूनाधिक गुणों का आश्रय होते हुए भी प्रत्येक वर्ग का अणु आकार-प्रकार में समान कैसे रहता या मानाजाता है?

---

१. किस द्रव्य में कितने गुण रहते हैं, तथा कौन-सा गुण कितने द्रव्यों में रहता है; इसके लिये देखें प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ३२-३३।

वस्तुतः वैशेषिक अणु की यह स्थिति अनायास इस वैचारिक झुकाव की ओर बाधित करती है, कि यह 'अणु-तत्त्व' सर्वात्मना मूलकारण न होकर सर्गरचना के निरन्तर चालू प्रक्रम में कहीं मध्यगत स्तर पर अपना स्थान पाता है। जैसे आधुनिक रसायनशास्त्र के एॅलीमैंन्ट का सर्गरचना के प्रक्रम में किसी मध्यगत स्तर पर स्थान है; ऐसे ही किसी स्तर पर वैशेषिक के अणु का स्थान है। रसायनशास्त्र अपने विवेच्यक्षेत्र में एॅलीमैन्ट को मूलतत्त्व मानकर आगे विवेचन प्रस्तुत करता है; ऐसे ही वैशेषिक सर्गरचना के किसी स्तर पर अभिव्यक्त हुए 'अणु' को मूल-तत्त्व स्वीकृत कर उससे आगे का विवेचन प्रस्तुत करता है, वह इस विचार की उपेक्षा करता है, कि 'अणु' की रचना कैसे होती है? कहां से होती है? अथवा होती भी है, या नहीं? यदि वह इसपर विचार करे, तो वह अपने विवेच्य-क्षेत्र की सीमा से बाहर चलाजाता है। इसीलिये उसने इसकी उपेक्षाकर 'अणु' को नित्य मान लिया है। वस्तुस्थिति में वह अणु कैसे बनता है, कहां से आता है? यह सब विवेचन करना दर्शन के अन्य क्षेत्र का कार्य है।

वैशेषिक 'अणु' की रचना—अब विचारना चाहिये, सर्गरचना की परम्परा में वैशेषिक अणु का स्थान रचना के मध्यगत किस स्तर पर है। 'मध्यगत' पद का तात्पर्य है—मूलतत्वों से रचना का क्रम प्रारम्भ होचुका है, प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार वे तत्व अवस्थान्तरों में परिणत होते चले आरहे हैं। प्राणि-जगत् अथवा विशेषरूप से मानव प्राणी जिस वातावरण में एवं जिन भौतिक या प्राकृतिक पदार्थों के बीच रहता हुआ अपना जीवन चालू रखने में समर्थ होरहा है, पदार्थों की प्राकृतिक रचना का वह अन्तिम स्तर है। इन दोनों स्थितियों के अन्तराल में रचना के अनेक स्तर हैं। इसी बीच में आधुनिक रसा-यनशास्त्र-अभिमत 'एलीमैन्ट' का स्तर है। यह पद विभिन्न पदार्थ के एक विशिष्ट स्तर का बोधक है। ऐसा नहीं, कि यह किसी एक पदार्थ का नाम हो।

एॅलीमैन्ट की परिभाषा है–'जो वही वह है।' अर्थात् वह केवल एक पदार्थ है, उसमें अन्य किसीका मिश्रण नहीं। जैसे-सोना [सुवर्ण] अपने अन्तिम अणु-कण तक सोना ही सोना है, उसमें अन्य किसी तत्त्व [एॅलीमैन्ट] का संमिश्रण नहीं। परन्तु सोने के अन्तिम अणु-कण का जब विश्लेषण करदियाजाता है, तब वह सोना न रहकर अपने मूलतत्त्वों [प्रोटोन्, इलैक्ट्रान्, न्यूट्रान्] के रूप में बिखर जाता है। मूलतत्त्व एकदम छलांग लगाकर सोना नहीं बनजाते; इनको लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, न मालूम, कितनी अज्ञात अनिर्दिश्यमान अवस्थाओं में होकर उन तत्त्वों को गुजरना होता है, तब कहीं एक निर्धारित स्तर की अवस्था आती है, मानव ने उस अवस्था में इसको पकड़ा। यह 'सोना' संसार के सन्मुख

है। विभिन्न अज्ञात अवस्थाओं की रचना प्रकृति [नेचर–Nature] की भट्टी में सदा चला करती है। इस भट्टी का नियन्त्रण व व्यवस्थापन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता रहता है। इस महान निर्माण की शाला [Laboratory] यह समस्त विश्व हमारे सामने है। उस अनन्त विश्व के अतिक्षुद्र भाग अपनी इस पृथिवी में समस्त एॅलीमैन्ट को हम प्राप्त कररहे हैं।

आधुनिक विज्ञान के परीक्षणों द्वारा यह स्पष्ट होगया है, कि पृथिवी, जल, तेज, वायु पदार्थों की रचना में किन तत्त्वों का कितना उपयोग होता है। पृथिवी के चारों ओर के वायु तथा जल-मण्डलों को साथ लेकर लगभग चौबीस मील[1] गहराई तक का पार्थिव चिप्पड़ मुख्यतः [९९ प्रतिशत] केवल बारह मूलतत्त्वों [Element] से बना है। उसका लगभग आधा भाग तो ऑक्सिजन ही है, और एक लगभग चौथाई सिलिकन है। शेष चौथाई भाग में अन्य दस मूलतत्त्व हैं। पृथिवी के एक परमाणु में संघटित बारह मूलतत्त्वों के नाम और इनके प्रतिशतांक परिमाण का विवरण इसप्रकार है—

नाम	प्रतिशतभाग	नाम	प्रतिशतभाग
ऑक्सिजन	४९.८५	पोटेशिअम्	२.३३
सिलिकन्	२६.०३	मैग्नेशिअम्	२.११
एल्युमीनिअम्	७.२८	हाइड्रोजन्	०.९७
लोहा	४.१२	टिटैनिअम्	०.४१
कैल्शिअम्	३.१८	क्लोरीन्	०.२०
सोडिअम्	२.३३	कॉर्बन्	०.१९
			९९.००
		शेष समस्त मूलतत्त्व	१.००
			१००.००

१— आजकल यद्यपि लगभग दस-बारह वर्ष से दूरी के नाप के लिये 'किलोमीटर' का प्रयोग जहां-तहां होने लगा है। यह वर्त्तमान प्रशासन के द्वारा चालू कियागया है। पर अभी इसका चलन बहुत कम है। पूर्वाभ्यास के अनुसार हमने यहां 'मील' का प्रयोग किया है। १ मील = १.६०९ किलोमीटर। अथवा १ मील = १६०९ मीटर। १ मीटर = १.०९४ गज। अथवा १ मीटर = ३९.३७ इञ्च। फलतः १ मील = १७६० गज = १६०९ मीटर।

यह विवरण पृथिवी के एक अणु की रचना का है। ऐसे अणुओं से मिलकर यह बाह्य पृथिवीमण्डल बना है, पृथिवी का यह सर्वातिशायी छोटा अणु [कण] होने से वैशेषिक में इसको 'परम+अणु=परमाणु' कहागया है। यदि इसका विभाजन अथवा विश्लेषण कर दिया जाय, तो यह पृथिवी-अणु नहीं रहेगा, अपने कारण-तत्त्वों के रूप में बिखर जायेगा। इसीलिये यह पृथिवी-परमाणु के रूप में 'अभेद्य' मानागया है। जबतक वह 'अभेद्य' है, तबतक ही वह 'पृथिवी-परमाणु' है। विश्लिष्ट होजाने पर पृथिवी-परमाणुता ही नहीं रहती।

इसीप्रकार जलीय, तैजस और वायवीय परमाणु की रचना के विषय की जानकारी को भी आधुनिक विज्ञान ने स्पष्ट किया है। जलीय परमाणु का संघटन निम्नलिखित ऐलीमैन्ट से होता है—

नाम	घटक अंश
हाइड्रोजन	२ भाग
ऑक्सिजन	१ भाग

ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति की स्वचालित भट्टी में प्राकृतिक तत्त्वों के विविध परिणाम हुआ करते हैं। अपने स्तर पर जल उन्हीं परिणामों में एक है। इसके घटक अंशों के विषय में विज्ञान द्वारा जानकारी प्राप्त होजाने पर भी सरल साधारण यान्त्रिक विधियों द्वारा यौगिक पदार्थ के घटक तत्त्वों को पृथक् नहीं कियाजासकता। साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये, कि अनेक बार यौगिक के गुण उसके घटक तत्त्वों के गुण-धर्मों से भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ जल को ही लीजिये, यह जिन दो तत्त्वों [हाइड्रोजन+ऑक्सिजन] के योग से बना है, उसमें हाईड्रोजन ज्वलनशील है; आग्नेय-स्वभाव है, और दूसरा ऑक्सिजन जलने में सहायक होता है। परन्तु उनसे बना यौगिक जल अग्नि को बुझादेता है। इससे स्पष्ट होता है, किसी यौगिक का गुण-धर्म कभी अपने मूल-तत्त्व के गुणधर्म का विरोधी होता है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार तैजस परमाणु उस रचना-परम्परा में नहीं आता, जिसमें पृथिवी आदि के परमाणु की रचना का समावेश है। पृथिवी आदि की रचना रासायनिक संमिश्रण पर आधारित है, परन्तु वैशेषिक के अनुसार तैजस-तत्त्व में ताप, प्रकाश आदि का समावेश है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ताप आदि की गणना भौतिकी के अन्तर्गत है। इसका विवेचन भौतिकी प्रसंग में आगे कियागया है।

पूर्वोक्त पार्थिव और जलीय परमाणुओं के समान वायवीय-परमाणु का संघटन आधुनिक विज्ञान के अनुसार दो रूपों में उपपादित कियागया है।

एक—वाल्यूम [Volume=आयतन] के आधार पर, दूसरा—वेट [Weight=भार] के आधार पर। इन दो स्थितियों में वायु के घटक तत्वों के प्रतिशतांश में एक दूसरी से थोड़ा अन्तर रहता है, जो इसप्रकार है।

	वाल्यूम के अनुसार–	वेट के अनुसार
नाम	प्रतिशत-भाग	प्रतिशत-भाग
नाइट्रोजन	–७८.१६	७५.५
ऑक्सिजन	–२०.९०	२३.२
इनर्ट [अक्रिय] गैसेज्–	– ०.९४	१.३
	१००.००	१००.०

इनर्ट गैसेज् [Inert Gases] में निम्नलिखित ऍलीमैन्ट तथा कतिपय यौगिकों की गणना कीजाती है–[1]हीलिअम् (२), निओन (१०), ऑर्गन् (१८), क्रिप्टन् (३६), भैनन् (५४), रैडॉन् (८६)।

वायु के संघटन में जो यौगिक पायेजाते हैं, वे हैं–कॉर्बन डाइऑक्साइड, जल, धूल, धुआं आदि। वायु की रचना[2] इन सब पदार्थों के परस्पर संघटन से होती है। वायु का यह विवरण धरातलीय वायु के विषय में समझना चाहिये।

वैशेषिक दृष्टि के अनुसार जल, धूल, धुआं एवं अन्य कॉर्बन डाइऑक्साइड आदि यौगिक वायु के कारणभूत अंश [अवयव] नहीं हैं। ये पदार्थ वायु के साथ बाह्यरूप [अकारणीभूतरूप] में संयुक्तमात्र रहते हैं। जब तपती लू चलती है, तब वायु में आग्नेय अंश संयुक्त होजाते हैं, जल का पता नहीं लगता। पृथिवी के अनेक भागों पर, विशेषकर पर्वतीय भागों पर विशुद्ध वायु उपलब्ध होता है, वहां धूल तथा अन्य पदार्थों का संमिश्रण उसमें नहीं पायाजाता। इस आधार पर आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं का यह कहना, कि विभिन्नि प्रदेशों में वायु विभिन्न प्रकार का पायाजाता है, और इस तरह कारणभेद से वायु अनेक प्रकार का है; चिन्तनीय है; वस्तुत: वायु अपने कारणीभूत अवयवों से बना सर्वत्र एक-समान पदार्थ है, प्रतीयमान भेद अन्य पदार्थों के बाह्य-संयोगमात्र के कारण है। वे बाह्य पदार्थ वायु के कारणीभूत अवयव नहीं हैं।

१—नाम के आगे कोष्ठक में दी गई संख्या सारिणी-क्रमांक है।

२—रचना का यह प्रकार N. GLINKA, General Chemistry पृष्ठ २८४-२९० के अनुसार प्रस्तुत कियागया है। यह ग्रन्थ सन् १९६० ईसवी में मास्को से प्रकाशित है।

ऐसा बाह्य संमिश्रण न केवल वायु में, प्रत्युत अन्य जल आदि पदार्थों में भी देखाजाता है, पर उतने से उसे जल आदि का कारण नहीं मानाजाता। जैसे विभिन्न प्रदेशों का वायु विभिन्न कहागया, ऐसे जल भी विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार का रहता है। गङ्गा नदी के जल से अन्य नदियों के जल नहीं मिलते। गङ्गाजल–विशेषकर पर्वतीय भाग में उपलब्ध–अतिस्वास्थ्यकर विशुद्ध पवित्र [अन्य पदार्थों से अमिश्रित] पायागया है; जबकि अन्य अनेक स्थानों के जल ऐसे नहीं होते। कहीं का जल भारी, खारी, बसीला, अपाचक आदि पाया-जाता है; परन्तु उन संमिश्रणों को जल के घटक अंश नहीं मानाजाता। ऐसे ही धूल, जल आदि को वायु का घटक अंश नहीं मानाजाना चाहिये। पुष्प-वाटिका से बहता मन्द समीरण विविध गन्धयुक्त अनुभव होता है। पर वह अन्य द्रव्यों के संमिश्रण से है, जो द्रव्य वायु के कारणीभूत अंश नहीं।

अनेक ऍलीमैन्ट एक प्रकार से मट्टी के रूप[1] हैं, जो पृथिवी के विभिन्न प्रदेशों में पायेगये हैं। पृथिवी आदि तत्वों की रचना से पहले के रचना-स्तरों में इनका निर्माण होचुका होता है। रचना-क्रम के उस स्तर में पहुंचने तक अभी पृथिवी आदि का अस्तित्व भविष्यत् के गर्भ में अन्तर्हित रहता है। पृथिवी आदि के अणु जब रचना-क्रम के अनुसार अपने अस्तित्व में उभर आते हैं; वैशेषिक शास्त्र का विवेच्य क्षेत्र पदार्थ के इसी स्तर से प्रारम्भ होता है।

यद्यपि पृथिवी आदि के आद्य अणु अपने कारण से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हैं; परन्तु कणाद ने इसको मूल मानकर आगे की रचना का विवरण प्रस्तुत किया है, इसलिये यहां पृथिवी आदि के अणु को नित्य मानना या कहना अनुपयुक्त नहीं है। यदि वह अणु को अनित्य कहता, तो उसे उसके मूल कारण का उपपादन करना आवश्यकरूप से अपेक्षित होजाता, और ऐसी दशा में वह अपने अभिवाञ्छित विवेच्य क्षेत्र से बाहर निकलजाता। वैशेषिक के विवेचन की यह ऐसी ही स्थिति है, जैसे आधुनिक रसायनशास्त्र द्वारा जगद्रचनाक्रम में स्वाभिवाञ्छित ऍलीमैन्ट-स्तर के पदार्थ का विवेचन है। प्रत्येक ऍलीमैन्ट अपने कारण-तत्वों से उत्पन्न व परिणत पदार्थ है; फिर भी रसायनशास्त्र उसे मूल तत्त्व मानकर उसके आगे के रचना-स्तरों का विवेचन प्रस्तुत करता है। उसे यह बताने या प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं, कि वह किन अन्य मूल तत्त्वों से किसप्रकार उत्पन्न होता या परिणत हुआ करता है।

१—देखें—ऍलीमैन्ट-सारिणी संख्या ५७ से ७१ तक, तथा ९० से उपान्त्य संख्या तक।

पृथिवी आदि का अणु-परमाणु—साधारणतया यह कहाजाता है, कि जब पृथिवी आदि का अणु उत्पन्न हुआ मानागया, तो उसे परमाणु [परम-अणु] नहीं कहना चाहिये; क्योंकि परमाणु तो वह होगा, जो उसका भी कारण है। वस्तुत: 'अणु-महत्' आदि पदों का प्रयोग सापेक्ष होता है, कोई पदार्थ किसी की अपेक्षा अणु होने पर भी अन्य की अपेक्षा महत् कहाजासकता है; एवं अन्य किसी की अपेक्षा वही पदार्थ परम-अणु भी संभव है। जब तत्त्व रचनाक्रमानुसार परिणत होते-होते पृथिवी-रूप में सर्वप्रथम अभिव्यक्त होता है, पृथिवी के रूप में वह तत्त्व 'परम-अणु' है। पृथिवीरूप में उभरने वाला वह तत्त्व सबसे छोटा व सूक्ष्म रहता है। अब आगे जो भी पदार्थ पृथिवीरूप होगा, वह सब उससे बड़ा होगा; क्योंकि उसके परस्पर संयोजन से ही पृथिवी का स्थूल रूप अभिव्यक्ति में आयेगा। इसलिये पृथिवीरूप में उभरा आद्य-अणु 'परमाणु' माना जाये, तो यह दोषावह नहीं है।

परमाणु का उत्पाद—पृथिवी आदि का ऐसा परमाणु उत्पन्न होता है, इसका कथन व उपपादन सांख्य-योगशास्त्र में किया गया है। सांख्य में सर्ग-रचना को दो भागों में बांटा है, एक-अध्यात्म, दूसरा-अधिभूत। समस्त विश्व का मूल उपादान 'सत्त्व-रजस्-तमस्' रूप प्रकृति है। तात्पर्य है—मूलरूप में तीन प्रकार के अथवा तीन वर्गों में विभक्त तत्त्व हैं, जिनके प्रकार अथवा वर्ग का नाम—'सत्त्व-रजस्-तमस्' है। ये अनन्त हैं, एवं अतिसूक्ष्म कण अथवा शक्ति-तरंगों के रूप में कल्पना किये गये हैं। इन सबका सांघिक नाम 'प्रकृति' है। इस पद का भावार्थ है—प्रकृष्टरूप से अथवा पूर्णरूप से कृति-रचना का आधारभूत तत्त्व। समस्त विश्व का उपादान-तत्त्व; जिससे परिणत होकर यह विश्व प्रकाश में आता है। वेद ने इन मूलतत्त्वों को 'त्रिधातु' पद से बताया है। अन्य वैदिक तथा अवैदिक-बौद्ध आदि साहित्य में भी इस पद का प्रयोग मूल आधार-तत्त्व के अर्थ में हुआ है। वेद में विश्व के मूल उपादान तत्त्व के लिये अदिति, स्वधा, तमस्, वृक्ष आदि पदों का भी प्रयोग है, जिन्हें मूल उपादान तत्त्वों का सांघिक नाम समझना चाहिये।

इस अर्थ में 'त्रिधातु' पद बहुत स्पष्टार्थ है। इसमें दो पद हैं—'त्रि' और 'धातु'। दूसरा पद धारणार्थक है। 'धा' धातु से तुन् [उणा० १।३६] प्रत्यय होकर सिद्ध होता है; जिसका तात्पर्य है—धारण करने वाला, अर्थात् समस्त विश्व का आधारभूत–उपादानभूत तत्त्व। इसके साथ 'त्रि' पद का योग होने

पर अर्थ होजाताहै —तीन धातु, अर्थात् तीन प्रकार के अथवा तीन वर्गों में विभक्त आधारभूत तत्त्व। इस पद की स्पष्ट एवं यथार्थ व्याख्या कपिल ने सांख्यदर्शन में प्रस्तुत की है[1]। इन मूलतत्त्वों से जब जगद्रचना का प्रारम्भ होता है, उस समय रचना का स्तर सांख्य में 'अध्यात्म' बताया है। अध्यात्म-रचना के अनन्तर अधिभूत रचना का स्तर प्रारम्भ होता है।

अधिभूत रचना में 'तन्मात्र'—प्रस्तुत प्रसंग में सांख्यविषयक कुछ अधिक न कहकर केवल इतना कहना अपेक्षित है, कि 'अधिभूत' रचना का सर्वप्रथम तत्त्व वहां 'तन्मात्र' बताया है। यह अध्यात्म-रचना के 'भूतादि' नामक अहंकार-स्तर से परिणत होकर इस रूप में उभर आता है। कतिपय नियत मूलतत्त्व—सत्त्व, रजस्, तमस्—से अहंङ्कार की रचना होती है। उस रचना के तीन स्तर हैं—वैकृत, तैजस भूतादि[2]। वैकृत स्तर के अहङ्कार से अध्यात्म वर्ग की एकादश इन्द्रियों [दस बाह्य इन्द्रिय, एक आन्तर इन्द्रिय-मन] की रचना होती है। जिन मूलतत्त्वों से अहङ्कार परिणत होता है, उनमें कुछ न्यूनाधिक होकर उसका 'वैकृत' स्तर प्रकाश में आता है; जिसमें कार्यानुसार तत्त्वों के आपेक्षिक न्यूनाधिक्य से विभिन्न इन्द्रियों की रचना होजाती है।

जब उस अहङ्कार में अन्य कतिपय विशिष्ट, मूलतत्त्व संमिश्रित होते हैं, तब उसका 'भूतादि' नाम होता है। यह अहङ्कार के 'वैकृत' वर्ग से भिन्न वर्ग है। भारतीय दर्शनों में सर्गरचना के जिस स्तर को 'भूत' नाम दियागया है, उसका आरम्भ अहङ्कार की इस रचना के अनन्तर होता है। इसीकारण अहङ्कार के इस स्तरको उक्त नाम दियागया। जब 'भूतादि' अहङ्कार में अन्य अपेक्षित तत्त्वों का संमिश्रण होता है, तब 'तन्मात्र' नामक तत्त्वों का स्तर उभार में आता है। इसके अनन्तर 'भूत' नामक तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम है। 'तन्मात्र' स्तर के विभिन्न तत्त्वों से मिलकर सर्वप्रथम 'सूक्ष्मभूत' अपने अस्तित्व में आते हैं। इनके पांच वर्ग हैं, जो 'पञ्चभूत' नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हीं सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत प्रकाश में आते हैं। इनमें सूक्ष्मता और स्थूलता के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं रहता।

सर्गरचना के रूप में मूलतत्त्वों की यात्रा का यह 'सूक्ष्मभूत' स्तर वैशेषिक का 'परमाणु' है। अपने अव्यवहित पूर्व-स्थित जिन तत्त्वों से उभरकर यह इस

---

१. इस प्रसंग की अधिक जानकारी एवं विस्तृत विवेचन के लिये हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' द्रष्टव्य है।

२. सांख्यकारिका, २४, २५। सांख्यसूत्र, अ० २, सू० १६-१९, तथा अ० ३, सू० १॥

रूप में आया, उनका नाम 'सांख्य-योग शास्त्र' में 'तन्मात्र' अथवा 'अविशेष' है। विचारने पर स्पष्ट होता है, सर्गरचना के प्रक्रम में सांख्य-योगवर्णित 'तन्मात्र' का वही स्तर है, जो आधुनिक रसायनशास्त्र द्वारा वर्णित 'एलीमैन्ट' का है। रसायनशास्त्र में इसकी परिभाषा कीगई है–जो वही वह है, अर्थात् जो एकमात्र तत्त्व वही है, जिसमें समान स्तर के अन्य किसी तत्त्व का संमिश्रण नहीं है। जैसे–हाइड्रोजन अपने अन्तिम अणु तक हाइड्रोजन ही है, उसमें हीलिअम् आदि किसी अन्य एॅलीमैन्ट का कोई संमिश्रण नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक एॅलीमैन्ट 'वही वह है'।

ठीक यही स्वरूप सांख्यवर्णित 'तन्मात्र' का है। इस स्तर के तत्त्व को यह नाम उक्त आधार पर ही दियागया है। 'तन्मात्र' पद का ही यह अर्थ है–'जो वही वह है'। तदेव इति तन्मात्रम्'। अथवा 'तत्प्रमाणमस्य इति तन्मात्रम्'।[१] रचना में जिस वस्तु का जो एक अनोखा रूप उभर आता है, वह अपने रूप में एकमात्र वही है। आधुनिक रसायनशास्त्रवर्णित एॅलीमैन्ट तत्त्व सांख्य में 'तन्मात्र' पद द्वारा उपपादित हुआ है। योग में इसीको 'अविशेष' पद से कहा है[२]। अविशेष से विशेष-संज्ञक पदार्थ परिणत होता है[३]। वैकृत अहंकार [अस्मिता] का परिणाम बाह्य इन्द्रियां तथा आन्तर इन्द्रिय मन है, एवं तन्मात्र का परिणाम पृथिवी आदि पांच भूत। अस्मिता-अविशेष के स्तर की अपेक्षा रचनाक्रम में इन्द्रियों तथा मन का स्तर 'विशेष' संज्ञक है। ऐसे ही तन्मात्र-अविशेष की अपेक्षा पृथिवी आदि पांच भूत 'विशेष' स्तर के पदार्थ हैं। पञ्च-भूतों की यह अति सूक्ष्म अवस्था है। रचनाक्रम में प्राप्त पदार्थ की इसी स्थिति को वैशेषिक द्वारा पृथिवी आदि के 'परमाणु' रूप में वर्णन किया है।

१. द्रष्टव्य, पाणिनि—५।२।३७, ३८।। इन सूत्रों पर व्याख्याग्रन्थ।

२. द्रष्टव्य—'विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि' पा० यो० सू० २।१९।। तथा इस सूत्र का व्यासभाष्य–'तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः।···(एकादशेन्द्रियाणि)···एतानि अस्मितालक्षणस्याऽविशेषस्य विशेषाः।···षड् अविशेषाः—तद्यथा शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रञ्च···पञ्चाऽविशेषाः, षष्ठश्चाऽविशेषोऽस्मितामात्र इति।'
वैकृत-संज्ञक अस्मिता अविशेष के विशेष हैं–एकादश इन्द्रिय; तथा तन्मात्र-अविशेष के विशेष हैं–पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश पञ्चभूत।

३. 'अविशेषाद् विशेषारम्भः' सां० सू० ३।१।।

पदार्थ की इसी स्थिति को मूल मानकर आगे की रचना का विवरण प्रस्तुत करने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिकम्' है 'विशेषमधिकृत्य प्रवृत्तं-शास्त्रं वैशेषिकम्'।[1] वैशेषिक का मुख्य एवं मूलभूत प्रतिपाद्य विषय–पृथिवी आदि सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति आदि का प्रकार, उनके, गुण, कर्म तथा अन्य धर्मों का उपपादन, एवं इन्द्रियों के स्वरूप, कार्य तथा अन्य तत्संबन्धी अपेक्षित विवरणों का–प्रस्तुत करना है। पृथिवी आदि का परमाणु जब अपेक्षित तन्मात्रों से परिणत होकर अपने रूप में उभरता है, तब उसमें गन्ध, रस रूप, आदि विशेष धर्म अभिव्यक्त होजाते हैं, इसी कारण रचना के इस स्तर का नाम 'विशेष' है। पदार्थ का यह स्वरूप 'तन्मात्र' अवस्था में नहीं उभरता, इसीलिये वह 'अविशेष' कहाजाता है। उस अवस्था में 'तन्मात्र' के साथ 'गन्ध, रस, रूप' आदि पदों का [गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र इसप्रकार] प्रयोग–तन्मात्र से उत्पन्न होने वाले कार्य की स्थिति को लक्ष्यकर–शास्त्र में कियागया है। जिन तन्मात्र-तत्त्वों से गन्ध विशेषयुक्त पदार्थ परिणत होता है, वे तन्मात्र शास्त्र में 'गन्ध-तन्मात्र' कहे गये हैं। इसीप्रकार 'रसतन्मात्र' आदि समझने चाहियें।

यह प्रथम स्पष्ट करदिया है, कि पृथिवी आदि का परमाणु किन ऍलीमैन्ट के परस्पर संमिश्रण से बनता है। ऍलीमैन्ट नामक पदार्थ-स्तर के विषय में आधुनिक विज्ञान ने गम्भीर अनुसन्धान व पर्यवेक्षणों के फलस्वरूप जिन वास्तविकताओं तथा रचना-सम्बन्धी गहन सूक्ष्म विशेषताओं का स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किया है, उसके अनुरूप प्राचीन तत्त्वज्ञों द्वारा प्रस्तुत हुआ कोई विवरण आज उपलब्ध नहीं है; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं, और ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं, कि उन मनीषियों ने सर्ग-रचनाक्रम की इन यथार्थताओं को समझा था। इसी कारण उससे जनित बोधित ये शास्त्र तत्त्व-विवेचन में सक्षम हैं।

उक्त पंक्तियों द्वारा स्पष्ट कियागया, तन्मात्र तत्त्व से पृथिवी आदि परमाणु उत्पन्न होता है। इसीलिये पृथिवी परमाणु आदि से तन्मात्र सूक्ष्म हैं। इस विषय को योगदर्शन के सूत्र [१।४५] की व्याख्या में व्यास ने स्पष्ट किया है। यह कार्य की अपेक्षा कारण की क्रमिक सूक्ष्मता 'प्रधान' पर्यन्त जाती है। प्रकृति की उस अतिसूक्ष्म अवस्था से पृथिवी आदि के परमाणु तक की रचना में उन तत्त्वों को इस लम्बी यात्रा के अनेक स्तरों में होकर गुजरना पड़ता है।

---

१. पाणिनि, ४।२।८७॥

तन्मात्र से परमाणु की उत्पत्ति का स्पष्ट निर्देश वाचस्पति मिश्र ने इसी प्रसंग में इसप्रकार किया है—

> 'पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः। एवमाप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रवर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः। एवं तैजसस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्रप्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः। एवं वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादितन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्याम्। एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात्।'
>
> [पा. यो. द. १।४४, सूत्र की तत्त्ववैशारदी],

वाचस्पति मिश्र की रचना तत्त्ववैशारदी के अतिरिक्त सांख्य के अन्य ग्रन्थों में भी पार्थिव आदि परमाणुओं के कृतक होने का उपपादन उपलब्ध होता है। सांख्यसप्तति [ईश्वरकृष्ण-कृत] की एक प्राचीन व्याख्या युक्तिदीपिका में इस विषय का विस्तार के साथ उल्लेख हुआ है। यह सब प्रसंग १५वीं आर्या के व्याख्यान में कलकत्ता संस्करण के पृष्ठ ८३-८४ पर है। ग्रन्थकार ने यहां पार्थिव आदि परमाणुओं के कृतक होने में लगभग दस हेतु उपस्थित किये हैं; तथा स्पष्ट किया है, कि ये परमाणु जगत् के मूल उपादानकारण नहीं हैं। ये अन्य जिन उपादान, तत्त्वों से परिणत होकर इस अवस्था में अभिव्यक्त हुए हैं, उन्हीं तत्त्वों को जगत् का मूल उपादानकारण समझना चाहिये। ग्रन्थकार द्वारा इस विषय में प्रस्तुत हेतु कहां तक सद्धेतु कहे जासकते हैं, यह बात अलग है; पर पार्थिव आदि परमाणुओं की कृतकता के विषय में उसकी भावना स्पष्ट होजाती है।

भारतीय दर्शनशास्त्र में पृथिवी आदि परमाणु की उत्पत्ति को स्वीकार किये जाने पर भी परमाणु को वैशेषिक शास्त्र में नित्य तथा अभेद्य मानेजाने का कारण प्रथम स्पष्ट करदियागया है। नित्य इसलिये कहा, कि इसीको मूल मानकर आगे की रचना का विवरण देना वैशेषिक का लक्ष्य है। अभेद्य इसलिये है, कि 'पृथिवी-परमाणु' की स्थिति में रहते वहां कोई अन्तर आजाने की संभावना नहीं है। विश्लिष्ट होजाने पर वहां पृथिवीत्व ही न रहेगा, इसी कारण 'पृथिवी-परमाणु' रूप में वह अभेद्य कहागया है।

भौतिकी विज्ञान [Physics]

प्रसंग के प्रारम्भ में कहागया, आधुनिक विज्ञान साधारणरूप से दो भागों में विभक्त है। एक-रसायन, दूसरा-भौतिकी। रसायनविषयक अपेक्षित

अंश का निर्देश संक्षेप से गत पंक्तियों में कियागया। उसी सन्दर्भ में वैशेषिक-प्रतिपाद्य पृथिवी, जल और वायु की रचना-पद्धति का उल्लेख कियागया। वहां तेजस् द्रव्य का वर्णन नहीं हुआ। कारण यह है, कि वैशेषिक प्रतिपाद्य तेजस् पदार्थ अथवा द्रव्य आधुनिक विज्ञान की भौतिकी के साथ थोड़ा मेल खाता है, रसायन के साथ नहीं।

जैसा प्रथम कहा गया, आधुनिक भौतिकी विज्ञान में केवल ऐनर्जी [ENERGY—ऊर्जा] का विवरण प्रस्तुत कियाजाता है। ऊर्जा पांच वर्गों में विभाजित है—ताप, प्रकाश, ध्वनि, विद्युत, चुम्बकत्व। प्रसंग के प्रारम्भ में इनका उल्लेख करदियागया है। यहां देखना है, कि वैशेषिक शास्त्र की दृष्टि से इनका स्थान कहां है।

ऊर्जा-तत्त्व गुण हैं—विचारने पर स्पष्ट होता है, भौतिकी के इन ऊर्जा-तत्त्वों का समावेश वैशेषिक दृष्टि से प्रायः गुणों में है, 'गुण' नामक पदार्थ सदा द्रव्य पदार्थ में आश्रित रहता है। प्रसंग के प्रारम्भ में यह निर्देश कियागया है, कि ऊर्जा अन्य पदार्थ में आश्रित रहकर ही अभिव्यक्त होपाती है। यह स्थिति दोनों जगह एक समान विचार को प्रकट करती है।

ताप—सबसे पहले 'ताप' [HEAT-हीट—ऊष्मा] को लीजिये, वैशेषिक द्वारा यह 'उष्णस्पर्श' के रूप में विवेचित हुआ है। यह स्पर्श गुण है, और तेजस् पदार्थ अथवा द्रव्य में आश्रित रहता है। तात्पर्य हुआ, यह तेजस् द्रव्य का गुण है। ऊष्मा का उत्पादन क्रिया [कर्म—संघर्षण] से होता है। जब कोई द्रव्य परस्पर संघट्टन करते हुए क्रियाशील रहते हैं, तब उनमें अन्तर्हित तैजस अणु अभिव्यक्त होजाते हैं, उनमें समवेत ऊष्मा [ताप-उष्णस्पर्श] गुण उभर आता है। इसकी तीव्रता-मन्दता क्रिया की तीव्रता मन्दता पर निर्भर रहती है। आधुनिक विज्ञान के आविष्कर्त्ता व प्रतिष्ठाताओं ने इस दिशा में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किये हैं, वे सब ताप की विभिन्न शाखाओं के विवरण में फैले हैं। मूलभूत तथ्य केवल इतना है, कि ताप और प्रकाश तैजस गुण हैं, अनन्त विश्व के अतिलघु भाग हमारे सौरमण्डल में इनका अटूट भण्डार एवं अजस्र स्रोत केवल सूर्य है। भूमण्डल पर ताप व प्रकाश के जितने साधन—कोयला, तेल पैट्रोल आदि-उपलब्ध हैं, वे सब चिर-संचित सौर आतप का प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सूर्य की रचना में हाईड्रोजन और हीलिअम् ऍलीमैन्ट का अधिक भाग है, जिनमें पहला अतिमात्र ज्वलनशील तथा दूसरा इसमें अतिसहयोगी है। वहां की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप ताप व प्रकाश अभिव्यक्त होते रहते हैं। उससे अपेक्षित कार्य संपन्न होते हैं।

प्रकाश : वैशेषिक में प्रकाश [LIGHT-लाइट] को 'भास्वर-शुक्लरूप' से व्याख्यात कियागया है। यह विशिष्ट रूप केवल तेजस् द्रव्य में आश्रित रहता है। द्रव्य और गुण की परिभाषा के रूप में वस्तुतत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करना वैशेषिक की अपनी एक असाधारण पद्धति है, यदि मोटेरूप में यह कहाजाये, कि रसायनशास्त्र के एॅलीमैन्ट वैशेषिक के द्रव्य-जातीय; तथा भौतिकीशास्त्र के ताप, प्रकाश आदि पदार्थ वैशेषिक के गुण-जातीय हैं, तो इसमें कुछ अधिक असामञ्जस्य न होगा। यद्यपि चिन्तन के अन्तिम स्तरों में जाकर शक्ति और शक्तिमान् एवं गुण और गुणी में कोई अन्तर नहीं रहजाता; परन्तु चिन्तन की प्रारम्भिक दशाओं में उनका भेदमूलक विवरण अथवा व्यवहार विशेष आपत्तिजनक न समझाजाना चाहिये, क्योंकि इसके विना चिन्तन की गाड़ी चलती नहीं। वैशेषिकशास्त्र का तत्त्व-विवेचन इस अवसर को अपने अन्दर समेटे हुए है।

ध्वनि—भौतिकी में इसके लिये 'साऊण्ड' [Sound] पद का प्रयोग किया जाता है। व्यक्त-अव्यक्त एवं प्राणी अथवा अप्राणी द्वारा जनित प्रत्येक प्रकार की ध्वनि [शब्द, आवाज़] का इसमें समावेश है। वैशेषिक के अनुसार यह गुण हैं, यह 'शब्द' पद से व्यवहृत है। इसका आश्रय द्रव्य आकाश मानागया है। आधुनिक विज्ञान ने इस तत्त्व को 'ईथर' नाम दिया है। सुनागया है, अब प्रायः वैज्ञानिक इस तत्त्व को उपेक्षित समझने लगे हैं। उनकी मान्यता है—वायु के होने पर ही शब्द उत्पन्न होता प्रतीत होता है, अतः वह उसीका गुण माना जाना चाहिये। वस्तुतः यह भी कथन आंशिक है। जहां वायु नहीं है जल आदि के अन्दर; वहां भी ध्वनि होती और सुनी जाती है। परीक्षणों से यह जानागया है, कि जल-वायु आदि ध्वनि को वहन करने के माध्यम हैं। बादल में बिजली की चमक [प्रकाश] और गरज [ध्वनि] एकसाथ होते हैं; पर चमक तत्काल दिखाई देजाती है, और गरज उसके कुछ क्षण अनन्तर सुनाई देती है, यहां ध्वनि का वाहक-माध्यम वायुमण्डल है।

सामने खुले मैदान में लगभग फर्लांग की दूरी पर धोबी कपड़े धो रहा है, या बढ़ई कुल्हाड़े से लकड़ी काट रहा है; वहां धोबी जब एक बार कपड़े को पटड़े पर पटक कर दुबारा पटकने के लिये ऊपर उठा लेता है, अथवा बढ़ई एक बार कुल्हाड़े की चोट लकड़ी पर देकर दुबारा चोट देने के लिये कुल्हाड़े को ऊपर

---

१. छात्रावस्था में एकबार कुछ साथी छात्रों ने मिलकर जल में ध्वनि करने और सुनने का परीक्षण किया। यह परीक्षण गंगनहर में कनखल के पुल और ज्वालापुर के रेलवेपुल के मध्य कियागया। दूरी एक मील के लग-

उठाकर तान लेता है, तब कहीं कपड़े की पहली पटक और कुल्हाड़े की चोट की ध्वनि दूर सामने खड़े व्यक्ति को सुनाई देती है। परन्तु इससे भी अधिक दूरी होने पर पानी में ध्वनि तत्काल सुनाई देती है[1]। इससे ज्ञात होता है, वायुमंडल की अपेक्षा जल-मण्डल ध्वनि का तीव्र-वाहक है। विद्युत उससे भी अधिक तीव्र-वाहक है।

आकाश सर्वत्र व्यापक तत्त्व है। 'ईथर' को आधुनिक विज्ञान में ऐसा ही मानाजाता है। इस तत्त्व की मान्यता के लिये वैज्ञानिकों की ओर से उपेक्षा के कारणों के विषय में कुछ कहा नहीं जासकता। संभव है, रसायनशास्त्र की सीमा में इसका समावेश न होसकना उपेक्षा का कारण रहा हो। किसी भी वस्तु तत्त्व की मान्यता के लिये ऐसा होना आवश्यक है। यह एक ध्यान देने की बात है, वस्तुतत्त्व के कार्यरूप स्थूल स्तर की ओर से मूल की दिशा में विवेचन करने के लिये भारतीय दर्शन [वैशेषिक, बौद्ध आदि] में चार विधाओं को माना है—पृथिवी, जल, तेज, वायु। ये और इनके विकार वस्तुरूप हैं, इन्हें देखा व अनुभव कियाजासकता है, ये जगह को घेरते हैं। जबकि आधुनिक भौतिकी विज्ञान के किसी पदार्थ में यह सब नहीं होता। आकाश में भी यह सब नहीं है। पर भौतिकी में भी आकाश की गणना नहीं है। भारतीय दर्शन ध्वनि के आश्रयरूप में आकाश को स्वीकार करता है। यदि आधुनिक विज्ञान के अनुसार ऊर्जा (प्रकृत में ध्वनि) का निराश्रित रहना संभव नहीं, तो उसका कोई आश्रय मानना आवश्यक होगा। आधुनिक विज्ञान इसका क्या समाधान करता है, कह नहीं सकता। यह

भग थी। दो घड़ियों का समय ठीक मिलाकर दो साथियों को दे दी गई। वे निर्धारित समय के अनुसार एक कनखल के पुल के समीप और दूसरा रेलवे पुल के पास पानी के किनारे खड़े होगये। दूसरे दो साथियों में से एक ने ठीक निर्दिष्ट समय के साथ कनखल के पुल की ओर से पानी के अन्दर दो पत्थरों को आपस में धीरे-धीरे टकराया। ठीक उसी समय दूसरी ओर रेलवे पुल के पास अन्य साथी ने पानी में गोता लगाकर पत्थरों की उन चोटों को गिना। उसके ठीक पांच मिनट बाद रेलवे पुल की ओर के साथी ने पत्थरों को पानी के अन्दर बजाया, और कनखल के पुल की ओर के साथी ने गोता लगाकर उन ध्वनियों को सुना। दोनों ओर गिनती ठीक रही, तथा पत्थरों द्वारा ध्वनि करने और उसके सुनने में समय का कोई अन्तर ज्ञात नहीं हुआ। ध्वनि का होना और सुनना एक साथ प्रतीत हुए। इसमें जल की गति का कोई प्रभाव नहीं रहता, जलमण्डल परिपूर्ण एवं निर्बाध होना चाहिये। परीक्षण का यह फल सामने आया।

निश्चित है, कोई एकदेशी वस्तुतत्त्व ध्वनि का आश्रय संभव नहीं। आकाश न सही, पर आकाशाश्रित ध्वनि को आधुनिक विज्ञान भौतिकी में समाविष्ट करता है।

ध्वनि एक उर्जा (Energy-ऐनर्जी) है। आधुनिक विज्ञान की ऐसी मान्यता है, कि एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्त्तित होजाती है। यह स्थिति किन्हीं विशेष निमित्तों के उपस्थित होने पर होती है। रेडियो द्वारा ध्वनि का प्रसारण किया जाता है। यहां ध्वनि विद्युत्तरंगों में परिवर्तित होजाती है। और श्रुतियन्त्र में पहुंचकर वह पुनः ध्वनिरूपमें परिवर्त्तित होजाती है। वस्तुतः यहां भी विद्युत् द्वारा ध्वनि के वहन को वर्णन करने की यह एक वैज्ञानिक रीतिमात्र है। अथवा ध्वनि के तरंगित होने का माध्यम है।

प्राकृतिक अथवा ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उच्चारण और श्रवण के जो साधन सामान्यतः प्राणी को उपलब्ध हैं, सांसारिक व्यवहार को सन्तुलित रखने में उनका महत्वपूर्ण योग है। यदि सामान्यतः ध्वनि का विद्युत् के साथ संपर्क होजाया करता, तो संसार में कोई बात गुप्त नहीं रक्खी जासकती थी; ऐसा होने से मानव समाज परस्पर संघर्ष में फंसकर उच्छिन्न होजाता। मानव ने उस शक्ति का उद्भावन कर उपयोग किया है, वह अत्यन्त सीमित है। फिर भी राष्ट्रों के गुप्त समाचारों की चोरी आदि कर एवं अन्य अनेक प्रकार से ये उद्भावित साधन महान संघर्ष के कारण बनजाते हैं। यद्यपि इनका रचनात्मक उपयोग मानव समाज की विविध सुविधाओं के लिये अत्यन्त अनुकूल है। फलतः ध्वनि एक गुण है, और वह एक आकाश नामक द्रव्य के आश्रित रहता है, वैशेषिक का यह दृष्टिकोण उपेक्ष्य एवं परिहार्य नहीं है।

विद्युत्—ऊर्जा की गणना में अन्यतम एक विद्युत् (Electricity) है। वैशेषिक दृष्टि से यह तैजस तत्त्व है। विद्युत के रूप में इस तैजस तत्त्व की जानकारी का इतिहास बहुत पुराना है। वर्त्तमान काल में इसकी जानकारी और उपयोग के रूप में जो विस्तार है, उसका प्रारम्भ अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ। सोलहवीं शताब्दी में विलियम गिलबर्ट (१५४०-१६०३ ई०) ने आकर्षण शक्ति के रूप में इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसीने इसको 'इलैक्ट्रिक' नाम दिया। 'इलेक्ट्रिसिटी' शब्द का प्रयोग इसके लिये सर्वप्रथम सन् १६५० ई० में वाल्टर शार्ल्टन (Walter CHarlton) ने किया। इसी समय राबर्ट बॉयल (१६२७-१६९१ ई०) ने पता लगाया, कि विद्युन्मय वस्तुएं हल्की वस्तुओं को शून्य में भी आकर्षित करती हैं। शून्य का तात्पर्य है, जहां बाह्य वायु का अस्तित्व नहीं है; अर्थात् विद्युत के प्रभाव के लिये वायु का माध्यम होना आवश्यक नहीं है। इसप्रकार लगभग इन चार शताब्दियों में निरन्तर

कियेगये चिन्तन एवं श्रम का सुपरिणाम वर्त्तमान विद्युत् शक्ति के रूप में सर्व-विदित है।

भारतीय दर्शन में कोई ऐसे स्पष्ट उल्लेख नहीं हैं, जिनसे यह ज्ञात होसके, कि वर्त्तमान काल के समान प्राचीन काल में विद्युत् का ऐसा प्रयोग होता रहा हो। दर्शन की अपेक्षा अन्य भारतीय प्राचीन साहित्य में इस विषय के कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं, जिससे विद्युत् के व्यावहारिक प्रयोग तथा उसकी तात्कालिक सूक्ष्म जानकारी का आभास होता है। ऐसे प्रसंगों में जल, तेजस्, वायु को देवता-रूप मानकर उल्लेख हुआ है, जो इनके दिव्यशक्तिरूप को अभिव्यक्त करता है। ये दिव्य शक्तियां वहां राष्ट्र के सेवक के रूप में निर्दिष्ट कीगई हैं; जिससे इनके जनहित में प्रयोग किये जाने का पता लगता है।[1]

संस्कृत साहित्य अथवा शब्दकोष की एक विशेष बात है, कि किसी एक अर्थ के वाचक रूप में अनेक पदों का प्रयोग होता है। वस्तुस्थिति में प्रत्येक पद उस वस्तु की किसी ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त करता है, जो अन्य पद द्वारा नहीं होती। इसप्रकार पर्यायवाची होते हुए भी वे पद उस अर्थ की किन्हीं विशेषताओं के इतिवृत्त को अपने अन्दर समेटे रहते हैं। संस्कृत में विद्युत् के लिये भी अनेक पदों का प्रयोग होता है। उनमें विद्युत्-विषयक तात्कालिक जान-कारी का बहुत-सा इतिहास छिपा है। उसके उद्घाटन का न यह अवसर है, और न वह अपेक्षित है। यहां केवल उस तत्त्व के स्वरूप एवं उसकी रचना व मूल उपादान आदि के विषय में यथामति प्रकाश डालना प्रसंगानुकूल है। दर्शन के क्षेत्र में इतना ही आता है। प्रयोग का क्षेत्र दूसरा है।

भारत का सर्वप्राचीन साहित्य वेद है। वहां आधिभौतिक दृष्टि से इन्द्र अश्विनी देवों का विद्युत रूप में वर्णन है। अश्विनी का विवरण बड़ा चमत्कार-पूर्ण है। यह दो का ऐसा जोड़ा है, जिनमें से कोई भी एक दूसरे को छोड़कर नहीं रहसकता। फिर 'अश्विनी' नाम इनकी अति तीव्र गतिशीलता को अभिव्यक्त करता है। इस मिथुनीभूत कलेवर की दो दिव्य शक्ति वही हैं, जिनको आधुनिक विज्ञान में पाज़िटिव पॉवर तथा नैगेटिव पॉवर कहाजाता है। ये अनिवार्यरूप से मिथुनीभूत रहकर ही कार्यक्षमता की अवस्था को प्राप्त करती हैं। विद्युत् के कार्यक्षम कलेवर की रचना का रूप वेद के 'अश्विनी' पद में अन्तर्हित है।

ज्वलनशीलता [ताप] और प्रकाशरूपता विशेषताओं के आधार पर विद्युत् को वैशेषिक में तैजस द्रव्यस्वरूप मानागया है। गत पंक्तियों में यह निर्देश किया,

---

१. द्रष्टव्य—वाल्मीकि रामायण, लंकापुरी-वर्णन।

कि ताप और प्रकाश वैशेषिक दृष्टि से पदार्थ के गुण-वर्ग में आते हैं। ये गुण जहां समवेत हैं, वह तेजस् द्रव्य होता है, विद्युत् ऐसा ही है।

चुम्बकत्व—यह पद किसी वस्तु विशेष में 'आकर्षण' के शक्ति-सद्भाव को अभिव्यक्त करता है। एक पदार्थ दूसरे का आकर्षण करता है। जो आकर्षक है, उस में आकर्षण करने की शक्ति है। जो आकृष्ट होता है, अथवा आकृष्यमाण है, उसमें आकर्षण हो रहा है। 'आकर्षण' एक क्रिया है, यह उस पदार्थ का धर्म है, जो आकृष्ट किया जारहा है, आकर्षण करने की शक्ति दूसरे पदार्थ में है, जिसे चुम्बक या मैग्नेट कहाजायेगा। उसमें निहित आकर्षण शक्ति चुम्बकत्व है। नैसर्गिकरूप से बना चुम्बक नाम का पदार्थ पायाजाता है। संस्कृत में उसका नाम 'अयस्कान्त' है। नैसर्गिक अयस्कान्त बहुत कम उपलब्ध होता है। वैज्ञानिक पद्धति से लौहसम धातु में विद्युत् को संक्रान्त करदियाजाता है। उससे वही कार्य संपन्न किया-जासकता है, जो नैसर्गिक चुम्बक से होता है। इससे परिणाम निकलता है, चुम्बक में आकर्षणशक्ति विद्युत का रूप है। उसके योग से लौहधातु शक्ति-संपन्न होजाता है। शक्तिशाली पदार्थ शक्तिहीन को अपनी ओर आकृष्ट कर ले, यह स्वाभाविक है।

किसी [नैसर्गिक या नैमित्तिक] चुम्बकखण्ड में आकर्षण की एक सीमित शक्ति रहती है। यदि आकृष्यमाण अचुम्बक वस्तु अन्य निमित्तों के कारण उससे [चुम्बक से] अधिक शक्तिशाली है; तो वह चुम्बक सन्मुख स्थित उस अचुम्बक वस्तु को आकृष्ट नहीं कर सकेगा। इससे यह परिणाम सामने आता है, कि शक्तिशाली चुम्बक पदार्थ अपनी अपेक्षा शक्तिहीन अचुम्बक पदार्थ को आकृष्ट करता है। आकर्षक चुम्बक पदार्थ में 'आकर्षण-शक्ति' नाम से जो तत्त्व है, वह विद्युत् रूप है, यह स्पष्ट होता है। कहाजाचुका है, वैशेषिक दृष्टि से वह 'तेजस्' पदार्थ के अन्तर्गत आता है। यह आवश्यक नहीं, कि प्रत्येक चुम्बक किसी भी अचुम्बक पदार्थ को आकृष्ट करसके। यह पदार्थ-धर्म की किसी विशेषता पर निर्भर रहता है।

ऊर्जा के अन्य भेद

पांच विधा जो ऊर्जा की गत पंक्तियों द्वारा निर्दिष्ट कीगई हैं, उनके अतिरिक्त ऊर्जा के अन्य प्रकार भी वैज्ञानिकों ने अनुभव किये हैं। उनका कहना है, विविध प्रकार के पिण्डों से संबद्ध ऊर्जा को यन्त्रों की सहायता से कार्यरूप में परिणत होते स्पष्टतः देखा जासकता है। इसी आधार पर इसका नाम 'यान्त्रिक ऊर्जा' कहाजाता है। यान्त्रिक ऊर्जा के दो भेद हैं, एक—स्थितिज ऊर्जा; दूसरी—

गतिज ऊर्जा। इनका संक्षिप्त विवरण इसप्रकार है—

स्थितिज ऊर्जा – किसी भी पिण्ड में स्थित [समवेत] नैसर्गिक शक्ति का नाम 'स्थितिज ऊर्जा' है। यह शक्ति पृथिवी के आकर्षण की प्रतियोगिता में अभिव्यक्त होती है। यदि एक किलोग्राम भार के पिण्ड को एक मीटर ऊपर उठाकर पट्ट पर रखदियाजाय, तो जो शक्ति पृथिवी के आकर्षण के विरुद्ध उसके उठाने में व्यय हुई है, उतनी शक्ति उस पिण्ड में संक्रान्त होकर उस पिण्ड की उतनी कार्यक्षमता को बढ़ा देती है। उस पट्ट से गिरने पर वह पिण्ड उतनी ही शक्ति से पैर को कुचलता है; अथवा जहां गिरे, उस स्थान को विकृत करता है। यह ऊर्जा पृथिवी तथा पिण्ड की आपेक्षिक स्थिति के कारण होती है। इसीलिये इसको 'स्थितिज ऊर्जा' कहते हैं।

जब कभी भी पिण्डों के किसी समुदाय की पारस्परिक दूरी–अथवा एक ही पिण्ड के विभिन्न भागों–की स्वाभाविक स्थिति में अन्तर उत्पन्न होता है, तो स्थितिज ऊर्जा में भी अन्तर आजाता है। कमानी को दबाने से अथवा धनुषको झुकाने से उनमें स्थितिज ऊर्जा आजाती है। इसीप्रकार नदियों में बांध-बांधकर पानी को अधिक ऊंचाई पर इकट्ठा कियाजाता है। इस पानी में स्थितिज ऊर्जा आजाती है। उसीके अनुसार इनकी कार्यक्षमता बढ़जाती है। वृक्षकी टहनी को कुछ नीचे झुकालें, या एक ओर मोड़ लें; उसमें स्थितिज ऊर्जा आजाती है। छोड़ देने पर ऊर्जा के अनुसार कुछ क्षण कम्पन देकर अपनी जगह पुनः स्थिर हो जाती है।

गतिज ऊर्जा—ऊर्जा एक शक्ति या बल है। यह संवेग से अभिव्यक्त होती है। संवेग-मन्द या तीव्र-जितनी क्षमता से परिवर्त्तित होता है, उसी दर से ऊर्जा की कार्यक्षमता रहती है,। यह ऊर्जा उस पिण्ड में उसकी गति के कारण होती है, इसीलिये यह 'गतिज ऊर्जा' कहलाती है। जब हम धनुष को झुकाकर तीर छोड़ते हैं, तो धनुष की स्थितिज ऊर्जा तीर की गतिज ऊर्जा में परिवर्त्तित होजाती है।

स्थितिज ऊर्जा एवं गतिज ऊर्जा के पारस्परिक परिवर्तन का सबसे उपयुक्त उदाहरण सरल लोलक है, एक पतले दृढ़ धागे में लटका लट्टू। जब हम लोलक के गोलक [लट्टू] को एक ओर खींचते हैं, तो गोलक अपनी साधारण स्थिति से थोड़ा ऊंचा उठ जाता है, और इसमें स्थितिज ऊर्जा अभिव्यक्त होजाती है। अभिव्यक्ति का कारण है, उसे व्यक्ति द्वारा एक ओर खींचाजाना। जब हम गोलक को छोड़ते हैं, तो गोलक इधर-उधर झूलने लगता है। पहले इसकी स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्त्तित होजाती है। जब गोलक लटकने की

साधारण स्थिति में आता है, तो इसमें केवल गतिज ऊर्जा रहती है। सवेग के कारण गोलक दूसरी ओर चलाजाता है, और गतिज ऊर्जा पुनः स्थितिज ऊर्जा में परिवर्त्तित होजाती है। साधारणतया वायु के घर्षण के विरुद्ध कार्य करने से गोलक की ऊर्जा कम होती जाती है, और इसकी गति कुछ देर में बन्द होजाती है, यदि घर्षण का प्रतिरोधिक बल न हो, तो गोलक अनन्त काल तक चलता रहसकता है।[1]

वैशेषिक का दृष्टिकोण—यान्त्रिक ऊर्जा के विषय में वैशेषिक का दृष्टिकोण क्या है? विचारणीय है। प्रस्तुत ऊर्जा के विवरण को गम्भीरतापूर्वक समझने पर स्पष्ट होता है, वैशेषिक ने पदार्थ की इस स्थिति को 'संस्कार' नामक गुण के द्वारा विवृत किया है। संस्कार के तीन भेद वैशेषिक में स्पष्ट किये हैं—भावना, स्थितिस्थापक, वेग। भावना को छोड़िये, क्योंकि यह आत्मनिष्ठ संस्कार है, यह आधुनिक विज्ञान के चिन्तन-क्षेत्र से बाहर है। आधुनिक विज्ञान पूर्णरूप से केवल जड़-तत्त्व विषयक चिन्तन तक सीमित है। शेष दो संस्कार जड़-तत्त्व-समवेत रहते हैं। गत पंक्तियों में वर्णित यान्त्रिक ऊर्जा के दोनों भेद इन दोनों संस्कारों के स्वरूप में अन्तर्हित हैं। स्थितिज-ऊर्जा को स्थितिस्थापक संस्कार अभिव्यक्त करता है, तथा गतिज-ऊर्जा को वेग नामक संस्कार। इन दोनों ऊर्जाओं के स्वरूप एवं परिवर्त्तन क्रम को समझाने के लिये जो ऊपर गोलक का उदाहरण दियागया है; उससे ठीक मिलता-जुलता उदाहरण वृक्ष की टहनी को झुकाने का है, जिसका उल्लेख 'स्थितिज ऊर्जा' के प्रसंग में प्रथम हुआ है। ये दोनों उदाहरण पदार्थविषयक समान स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं। जड़-तत्त्वनिष्ठ विशिष्ट शक्ति प्रस्तुत ऊर्जा का अभिव्यञ्जन वैशेषिक शास्त्र में टहनी झुकाने के उक्त उदाहरण द्वारा अनेकत्र कियागया है।

आधुनिक विज्ञान में इसको 'यान्त्रिक ऊर्जा' नाम देने का संभवतः यही कारण मालूम देता है, कि इसे अपनी कार्यक्षमता की अभिव्यक्ति के लिये बाह्य साधन का सहयोग अपेक्षित होता है। इस युग का बाह्य साधन यन्त्र है। यह युग ही यन्त्र का है। समझना चाहिये, बाह्य साधन को 'यन्त्र' पद से अभिव्यक्त किया गया है।

प्रस्तुत ऊर्जा को आधुनिक विज्ञान में निम्नलिखित रूप में व्यवहृत किया जाता है।

१—यान्त्रिक ऊर्जा का विवरण 'नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी' द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी विश्वकोष' के 'ऊर्जा' प्रसंग के आधार पर दियागया है।

यान्त्रिक ऊर्जा = Mechanical Energy. **मिकैनिकल ऐनर्जी,**

स्थितिज ऊर्जा = Potential Energy. **पोटैन्शल ऐनर्जी,**

गतिज ऊर्जा = Kinetic Energy. **काइनेटिक ऐनर्जी,**

ऊर्जा और वैशेषिक—आधुनिक विज्ञान के भौतिकी विभाग में ऊर्जा [Energy ऐनेर्जी] नाम से जिन पदार्थों का विवेचन हुआ है उनका वैशेषिक-दृष्टिकोणसे गत पंक्तियों में अतिसंक्षेप से दिग्दर्शनमात्र कराने का प्रयास किया है। इसके परिणामस्वरूप भौतिकी के प्रायः समस्त पदार्थ वैशेषिक की गुण-परिभाषा के अन्तर्गत आजाते हैं। केवल 'विद्युत्' नामक ऊर्जा ऐसा पदार्थ है, जो शक्तिरूप से तैजस द्रव्य की कोटि में आता है। वह प्रकाश [भास्वर शुक्ल रूप] और ताप [उष्ण स्पर्श] दोनों को अपने में समाये रहता है। गुणरूप ये दोनों पदार्थ जहां भी उपलब्ध होते हैं, वैशेषिक की दृष्टि से वह तैजस द्रव्य है।

ऊर्जा के उपादान—ऊर्जा पदार्थ के विषय में यह ज्ञातव्य है, कि इसके उपादान तत्त्व क्या हैं? यह अपने अभिव्यक्त-रूप में किस मूल स्थान से उभरकर इस अवस्था में आता है। आधुनिक विज्ञान में इसकी अविनाशिता का उल्लेख हुआ है। वहां इसका तात्पर्य यही है, कि ऊर्जा का विनाश नहीं होता; वह रूपान्तरों में परिवर्त्तित होजाता है। भारतीय दर्शन में चिन्तन के अन्तिम स्तरों पर जाकर इस सिद्धान्त को मान्यता दीगई है, कि सर्वात्मना विनाश किसी पदार्थ का नहीं होता। मूलभूत तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहता है, परिणामस्वरूप उसकी अवस्था बदलती रहती है। वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्त्तित होजाता है, पर सर्वथा नष्ट कभी नहीं होता। जो मूलतः नहीं है, उसका कभी भाव नहीं, जो है, उसका सर्वथा कभी नाश नहीं।[१] ऐसी दशा में स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है, कि ऊर्जा जब है, तो उसके मूल उपादान तत्त्व अवश्य होने चाहियें, यदि उसके अन्य कोई मूल उपादान तत्त्व नहीं हैं, तो उसे स्वयं मूलतत्त्व-रूप मानाजाना चाहिये। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से ऐसी मान्यता कहां तक तथ्य है, कह नहीं सकता।

आधुनिक विज्ञान के कतिपय विद्वानों से इस विषय में चर्चा का प्रसंग आया है; पर उससे किसी निश्चय पर नहीं पहुंचाजासका। भौतिकी में विश्व के

---

१. **द्रष्टव्य गीता, २।१६। साख्यसूत्र, १।७९॥१।८६॥ तथा ५।५२॥ प्रथम अध्याय की सूत्रसंख्या इस संस्थान से प्रकाशित सांख्यदर्शन के अनुसार है। इसमें ३५ जोड़कर किसी भी अन्य संस्करण में देखा जा सकता है।**

मूल उपादान-तत्त्व–प्रोटोन्, इलैक्टॉन्, न्यूट्रान् मानेजाते है। क्या ऊर्जा का अभिव्यञ्जन इन्हीं मूलतत्त्वों से होता है? यदि होता है, तो जैसे हाइड्रोजन ऐलीमैंट से लगाकर नोबैलिअम् आदि तक प्रत्येक ऍलीमैंट की रचना में विज्ञान द्वारा इलैक्ट्रान् आदि की उपयुक्त संख्या निर्धारित रूप में जानलीगई है, ऐसे ही प्रत्येक ऊर्जा के अणु में कितने इलैक्ट्रॉन् आदि का उपयोग है, इसका निर्धारण होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो क्या इलैक्ट्रान आदि के समान ऊर्जा को अतिरिक्त मूलतत्त्व मानाजाना चाहिये ? ऐसी मान्यता को अभीतक कोई अवसर प्राप्त नहीं होसका है।

इससे अतिरिक्त एक अन्य व्यवस्था यह हो सकती है, कि ऊर्जा क्योंकि एक शक्तिरूप पदार्थ है, इस कारण इलैक्ट्रान् आदि मूल तत्त्वों में वह अनभिव्यक्त रूप से समवेत [निहित] रहता है, जो मूलतत्त्व का ही स्वरूप है। वस्तुतः मूलतत्त्व में जो विविध शक्तियां अन्तर्हित रहती हैं, उनका जानना समझना साधारणबुद्धिगम्य नहीं है, असाधारण मेधा भी उनके अंशमात्र तक ही पहुंच पाती है। उन शक्तियों का केवल वह स्वरूप जानने में आपाता है, जो मूलतत्त्वों के किसी विशिष्ट वस्तुस्वरूप में आजाने पर वहां अभिव्यक्त हो जाता है,।

मूलतत्त्व में निहित समस्त शक्तियों की गणना करना मानव बुद्धि के बाहर है। मूलतत्त्वों से जब किसी वस्तु का रूप उभरकर आता है, तब विशिष्ट दशाओं एवं वस्तुओं में किसी एक शक्ति का अभिव्यञ्जन होजाता है। वस्तुओं के अनन्त रूप हैं, एवं उनमें विभिन्न अनन्त शक्तियां हैं, वे उन मूलतत्त्वों से सर्गरचनाक्रम में बराबर प्रवाहित होती चली आ रही हैं। किसी एक वस्तुस्वरूप में कोई शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है। उस अभिव्यक्ति की दशा में मानव अपनी मेधा द्वारा उसका अनुभव तथा कार्यों में उपयोग करता है।

इस विवेचन से यह परिणाम सामने आता है, कि मूल उपादान तत्त्व वस्तुरूप पदार्थ है, उसमें विविध शक्ति निहित है। वस्तुतत्त्व को सुविधा के साथ यथार्थरूप में समझने के लिये यदि शक्ति और शक्तिमान् अथवा गुण और गुणी या गुण और द्रव्य की व्यावहारिक परिभाषाओं को मान्यता दीजाती है; तो यह स्पष्ट है, कि मूलतत्त्वों में निहित शक्तियां उनके गुण हैं। वे गुण उस वस्तु तत्त्व को छोड़कर अलग नहीं रह सकते। और न वे गुण अथवा शक्ति-पदार्थ स्वयं वस्तु के रूप में कभी उभरते हैं; ऐसी वस्तु के रूप में, जो जगह घेरती है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान द्वारा प्रस्तुत पदार्थ विवेचन की यह स्थिति वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित पदार्थ-प्रक्रिया से कुछ दूर या अलग नहीं है।

विश्व का उपादान तत्त्व — इस अवसर पर एक बात और ध्यान देने योग्य है। आधुनिक विज्ञान की मान्यता है, कि एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। यह भी सुनने में आता है, कतिपय वैज्ञानिकों ने ऐसी स्थापना का प्रयास किया है, कि ऐनर्जी [ऊर्जा] को मैटर [वस्तुतत्त्व] में तथा मैटर को ऐनर्जी में परिवर्त्तित कियाजासकता है। यदि यह ठीक है, तो निश्चितरूप से कहाजासकता है, कि ऐनर्जी और मैटर का मूल उपादानतत्त्व एक ही है। अथवा मूल में दोनों एक हैं।

इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिये, आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान कारण—प्रोटोन इलैक्ट्रान् न्यूट्रॉन्—नामक तीन प्रकार के तत्त्वों को मानता है। इनकी परिभाषा बताता है, प्रोटोन तत्त्व आकर्षण शक्ति का पुञ्ज है। इसके विपरीत इलैक्ट्रान् अपकर्षण-स्वरूप है। पहला अपनी ओर दूसरे को आकृष्ट करता है, पर दूसरा अपने को अपकर्षण [दूर हटने या रहने] में प्रवृत्त रखता है, इनको यथाक्रम पाजिटिव और नेगेटिव पावर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन् में ये दोनों बात नहीं होतीं। समस्त विश्व के मूल में ये ही पदार्थ हैं, इन्हींसे सब जगत् बना है।

भारतीय दर्शन में मूलतत्त्व 'सत्त्व-रजस्-तमस्' माने हैं। समस्त जड़ जगत् इन्हीं तत्त्वों से परिणत होकर बना है। दर्शनकार कपिल ने इनका स्वरूप इसप्रकार बताया है। सत्त्व प्रीतिरूप है; प्रीति का अर्थ है, दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् अप्रीतिरूप है, दूर हटने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप है और न अप्रीतिरूप। मूलतत्त्व के विषय में ये दोनों [आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन] कितनी अधिक समान परिभाषा को प्रस्तुत करते हैं, यह ध्यान देने योग्य है। यह स्थिति मूलतत्त्व-विषयक जानकारी की सचाई को प्रकट करती है।

इस सन्तुलन के आधार पर न हम यह कहना चाहते हैं, कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है, उसे तत्त्वचिन्तक भारतीय ऋषियों ने पहले ही कह दिया था; और न हमारी इसमें आस्था है, कि कौन बात पहले कही गई तथा कौन अब। यहां केवल सचाई को खोजना और समझना ही मुख्य लक्ष्य है। इसके साथ उक्त सन्तुलन का यह अभिप्राय भी न समझना चाहिये, कि 'सत्त्व-रजस्-तमस्' यथाक्रम सर्वात्मना 'प्रोटोन्-इलैक्ट्रॉन्-न्यूट्रॉन्' हैं। आधुनिक विज्ञान ने सर्गरचना-क्रम में जिस स्तर पर विद्यमान इन तत्त्वों को समझने का यत्न किया है; सम्भव है, भारतीय दर्शनकार ऋषियों का चिन्तन उससे अधिक मूल अवस्था की ओर हो। पर इसमें सन्देह नहीं, कि दोनों विचारधारा मूलतत्त्व के

वास्तविक ठिकाने पर पहुंची हैं।

पृथिवी का गुण रूप

वैशेषिक के अनुसार रूप गुण तेजस्-आपस् और पृथिवी में समवेत बताया गया है। तेजस् में भास्वर शुक्ल रूप है, आपस् में अभास्वर शुक्ल तथा पृथिवी में सात प्रकार का रूप मानागया है। जो इसप्रकार है—श्वेत, रक्त, हरित, नील, पीत, कपिश, चित्र। वैशेषिक के प्रक्रियाग्रन्थों में निर्दिष्ट यह रूपक्रम ध्यान में रखना चाहिये। रूप-निर्देश का यह क्रम रूप-विषयक विशेष स्थिति का संकेत करता है।

आधुनिक विज्ञान ने रूप (रंग) के विषय में एक विशेष परिस्थिति का उद्बोधन कराया है। वह कहता है, विभिन्न प्रकार का रूप सूर्य-किरणों में पायाजाता है। इस कारण यह तेजस् अथवा प्रकाश का धर्म है। अन्य पदार्थ जो रूपयुक्त प्रतीत होते हैं, वह प्रकाश का प्रभाव व चमत्कार समझना चाहिये। वातावरण में जब सूक्ष्म फुहार [जलकण] भरे हों, तब यदि सूर्य पूर्वक्षितिज की ओर है, तो पच्छिम की ओर की फुहारों में; और सूर्य यदि पच्छिम क्षितिज की ओर है, तो पूर्व ओर की फुहारों में सूर्यकिरण प्रतिबिम्बित होकर सतरंगी रेखाओं को धनुषाकार में प्रकट करती हैं। इन रेखाओं को भारतीय परम्परा में 'इन्द्रधनुष' कहाजाता है।

भारतीय साहित्य में आधिभौतिक दृष्टि से इन्द्र पद सूर्य के लिये तथा वर्षा के अधिष्ठातृदेव के लिये प्रयुक्त होता है। इस भावना में सतरंगी रेखाओं का सूर्यकिरणों से स्पष्ट सम्बन्ध ज्ञात होता है। आंग्लभाषा में इसके लिये पद Rain-Bow [रेन्-बो] है, जो इन रेखाओं का सम्बन्ध वर्षा से प्रकट करता है। संभव है, वर्षा ऋतु में इन सतरंगी रेखाओं के प्रायः अधिकता से देखे जाने के कारण उसे यह नाम [Rain Bow] दिया गया हो। इन्द्रधनुष में सात रंगों का क्रम ऊपर से नीचे की ओर इसप्रकार दिखाई देता है—

लाल	Red	[रेॅड]
नारंगी	Orange	[ओरेंज]
पीला	Yellow	[यलो]
हरा	Green	[ग्रीन]
नीला	Blue	[ब्ल्यू]
आसमानी	Indigo	[इन्डिगो]
बेंजनी	Violet	[वायोलेट]

आधुनिक विज्ञान का कहना है, कि न केवल ये सात रूप, अपितु प्रकृति में पाये जानेवाले समस्त रूप तीन प्राथमिक रूपों—लाल, हरा और नीला—से मिल-कर बनते हैं। इन तीन प्राथमिक रूपों को मिलाने की दो विधियां हैं। एक—योज्य विधि [Additive Method ऐडिटिव मैथड्] तथा दूसरी—शेष विधि [Subtractive Method सब्ट्रैक्टिव् मैथड्]। इसके अतिरिक्त इन दोनों विधियों के सम्मिलित प्रभाव द्वारा भी नये रूप बनते हैं।

१. **योज्य विधि**—इस विधि में रूपयुक्त [रंगीन] प्रकाश मिलाया जाता है। यदि सफेद दीवार या चादर पर दो भिन्न रूपों का प्रकाश पड़े, तो वहां एक अन्य रूप की प्रतीति होती है। लाल और हरे रूप का प्रकाश मिलाया जाय, तो पीला दिखाई देता है। सभी रूप उपर्युक्त तीन प्राथमिक रूपों को विभिन्न अनुपात में मिलाने से बनते हैं। तीनों रूपों को एक विशेष अनुपात में मिलाने से सफेद रूप बनजाता है।

पूरक रूप (Complimentary Colours=**कम्प्लिमैन्टरी कलर्स्**)—तीन प्राथमिक रूपों—लाल, हरा और नीला में से किन्हीं दो रूपों को मिलाने से जो रूप बनता है, उसे तीसरे रूप का पूरक रूप कहाजाता है। पीला रूप नीले रूप का पूरक है; क्योंकि पीला रूप, शेष दो प्राथमिक रूप—लाल और हरा—मिलाने से बनता है। किसी रूप में उसका पूरक रूप मिला देने से तीनों रूप इकट्ठे होजाते हैं, और सफेद रूप बनजाता है। इसीलिये इसका नाम 'पूरक रूप' कहाजाता है। किसी रूप को सफेद बनाने के लिये जिस रूप की कमी होती है, उसे पूरक रूप पूरा करता है। निम्न समीकरणों द्वारा इसे अच्छी तरह समझ सकते हैं।

लाल + हरा + नीला = सफेद
लाल + हरा = पीला = नीले का पूरक
अब नीला + नीले का पूरक = नीला + पीला
= नीला + लाल + हरा
= सफेद

इसप्रकार लाल और नीला मिलाने से मंजीठा [Magenta = मजेंटा] रूप बनता है, यह हरे रूप का पूरक होगा। ऐसे ही हरा और नीला मिलाकर आसमानी [Cyan = सिआन] रूप बनता है; लाल रूप का पूरक होगा। इस प्रसंग में रूप अथवा रंग से अभिप्राय रूपयुक्त अथवा रंगीन प्रकाश से है, किसी पदार्थ से नहीं। रूपों के परस्पर मिश्रण की यह पहली 'योज्य विधि' है।

२. **शेष विधि**—इस पद्धति में रूपयुक्त पदार्थ मिलाये जाते हैं, चाहे वे पार-

दर्शी हों अथवा अपारदर्शी। रूपयुक्त पदार्थ सफेद प्रकाश में से किसी रूप का प्रकाश हटा सकते हैं, उनमें रूप [रूप का प्रकाश ?] जोड़ने की क्षमता नहीं होती। इसलिये यह विधि 'शेष विधि' कहलाती है।

शेष विधि में सफेद प्रकाश में से तीन प्राथमिक रूप [लाल, हरा और नीला] हटाये जाते हैं। किसी वस्तु पर रंगीन पदार्थ का लेप, रंगीन छपाई, या रंगीन फोटोग्राफी शेष विधि के कारण ही रंगीन दिखाई देते हैं। इनमें तीन प्राथमिक रंग के पदार्थ होते हैं। जिनके रंग आसमानी (Cyan), मजेंटा तथा पीला हैं। ये तीनों रंग योज्य विधि के पूरक रंग हैं। रंगीन छपाई में भी इन्हीं तीन रंगों की स्याहियां प्रयुक्त होती हैं। इन रंगों को इनके अवयवों द्वारा, या उस रंग द्वारा व्यक्त किया जासकता है, जो सफेद प्रकाश में नहीं है; अर्थात् उसमें से रंगीन पदार्थ द्वारा हटा दियागया है। उदाहरण के लिये :—

पीला = लाल + हरा = —नीला

इसका तात्पर्य हुआ, सामने पीला-रंगीन पदार्थ दिखाई दे रहा है, उसने अपने पर पड़ने वाले सफेद प्रकाश में से नीला हटा दिया है; शेष लाल और हरा रहगया है। वे मिला देने से पीला बनजाता है, इसी कारण पदार्थ पीला दीखता है। इसीप्रकार जब पदार्थ मजेंटा है, तब —मजेंटा = लाल + नीला = —हरा; समझना चाहिये सफेद प्रकाश में से उस रंगीन पदार्थ ने हरे रंग को हटा दिया है। ऐसे ही—सिआन = हरा + नीला = —लाल; यहां सिआन रंगीन पदार्थ ने सफेद प्रकाश में से लाल रंग को हटा दिया है; अतः ऐसे प्रकाश से प्रकाशित वह पदार्थ सिआन रंग का दिखाई दे रहा है।

सफेद प्रकाश में से तीनों रंग निकाल लेने से काला दिखाई देता है। अर्थात् कोई प्रकाश दिखाई नहीं पड़ता, [यहां भी 'रंग' का अर्थ रंगीन प्रकाश है।][1]

सप्तरश्मि सूर्य—आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत विवरण द्वारा स्पष्ट कियागया, कि सब प्रकार का रूप प्रकाशगत धर्म है। प्रकाश के केन्द्र सूर्य की किरणों में सात प्रकार के रूप देखने में आते हैं, जिनका उल्लेख प्रथम कर दियागया है। रूपविषयक यह मान्यता भारतीय ज्ञान–परम्परा में

---

१. रूप-विषयक यह विवरण 'हिन्दी विश्वकोष' में 'रंग' पद पर दियेगये विवरण के आधार पर है। वहां सर्वत्र विवरण में 'रंग' अथवा 'रंगीन' पदों का प्रयोग हुआ है। यहां उनके स्थान पर अनेकत्र 'रूप' तथा 'रूपयुक्त' पदों का प्रयोग कर दिया है; क्योंकि भारतीय दर्शन में अभिमत प्रस्तुत अर्थ के लिये इसी पद का प्रयोग मान्य है।

अविदित नहीं है। भारत के अतिप्राचीन साहित्य वेदों में अनेकत्र[1] सूर्य के लिये 'सप्तरश्मि' पद का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। निर्धारित 'सप्त' संख्या का प्रयोग पदार्थ की किसी विशेषता पर ही आधारित होसकता है। वह विशेषता सूर्य रश्मियों में सप्तविध रूप के अस्तित्व के अतिरिक्त और कुछ कल्पना नहीं कीजासकती।

भारतीय साहित्य में 'सप्तरश्मि' पद के अतिरिक्त सूर्य के अर्थ में 'सहस्र-रश्मि' पद का प्रयोग बहुतायत से देखा जाता है। यद्यपि वेदों में यह पद प्रयुक्त नहीं है; पर वहां इसी अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले 'सहस्रशृङ्ग' पद का अनेकत्र प्रयोग हुआ है।[2] इससे जिज्ञासा होती है, क्या 'सप्तरश्मि' पद के समान 'सहस्रशृङ्ग' पद के लिये कोई ऐसा आधार है, जिससे सूर्य के सहस्र शृङ्ग अथवा रश्मि का प्रामाणिक व्याख्यान कियाजासके? वस्तुतः इस विषय में यह स्पष्ट है, कि 'सप्त' पद एक नियत संख्या का बोध कराता है। इसकी तुलना में 'सहस्र' पद अपरिमित संख्या का वाचक है। वह नियत सहस्र संख्या का बोध नहीं कराता। वेद के व्याख्याकारों ने उक्त पद का यही अर्थ किया है; लोक व्यवहार में भी इस पद का प्रयोग ऐसे ही अर्थ में होता है। फलतः अपरिमित किरणों वाले सूर्य का 'सप्तरश्मि' नाम किसी विशेष आधार का द्योतक है, जिसके अनुसार इस नाम की सार्थकता स्पष्ट होती है। वह आधार है, सूर्य किरणों का सप्तविध-रूपयुक्त होना।

कणाद का तेजस् द्रव्य—ऐसी स्थिति में यह गम्भीरतापूर्वक विचारणीय होजाता है, कि कणाद ने तेजस् द्रव्य को एक भास्वर-शुक्ल रूपयुक्त किस आधार पर कहा है। विचारने पर तथा आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी यह स्पष्ट है, कि जहां सब रूप मिलजाते हैं, वह सफेद [शुक्ल] दीखता है। क्योंकि रूप का आधार प्रकाश है, इसलिये वह प्रकाश शुक्ल रूपयुक्त होगा। प्रकाश की जो प्राकृतिक रचना है, वह समस्त रूपों के साथ है, अतः प्रकाश निरन्तर शुक्लरूप युक्त रहेगा। उसे इसप्रकार फाड़ा नहीं जासकता, कि यह नीला प्रकाश है, और यह पीला। यह कहना, कि रंगीन पदार्थ पर जब प्रकाश पड़ता है, तो वह पदार्थ प्रकाश के अन्य विजातीय रूप को अवशोषित करलेता है, और उस प्रकाश में रंगीन पदार्थीय रूप अवभासित होता है, नितान्त क्लिष्ट कल्पना है।

१. द्रष्टव्य, ऋ० १।१६४।१॥२।१२।१२॥४।५०।४॥६।४४।२४॥ अथर्व ६।५।१५॥ ११।१।३६॥१६।५३।१॥२०।३४॥१३॥ तै० ब्रा० २।८।२।७॥ जै० उ० ब्रा० १।६।१।२॥१।६।२।७–८॥

२. ऋ० ७।५५।७॥ अथर्व० ४।५।१॥१३।१।१२॥

पहले यह विचारना चाहिये, कि पदार्थ रंगीन कैसे है ? रंग या रूप तो केवल प्रकाश का धर्म है। वह पदार्थ में कैसे आया ? फिर यह भी ध्यान देने की बात है, आधुनिक विज्ञान के अनुसार पदार्थ का रूपयुक्त होना किसी अन्य बाह्य निमित्त से होसकता है। प्रकाश निसर्गतः रूपयुक्त है। उसीको रूप का स्रोत कहाजासकता है, वह अन्य किसी नैमित्तिक स्थिति के पदार्थ से अभिभूत व अवशोषित होजाय, यह वस्तुस्थिति का शीर्षासन कर देने के समान है।

व्यवहार में देखाजाता है, फूल की एक पंखुड़ी में तीन-तीन चार-चार विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। प्रत्येक उतने अंश से प्रकाश किरण परावर्त्तित होकर चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त होने पर उन-उन रूपों का पंखुड़ी के अलग-अलग भागों में प्रत्यक्ष होता है। क्या वह रूप पंखुड़ी में न होकर प्रकाश में स्वीकार करना चाहिये ? प्रकाश न रहने पर क्या पंखुड़ी में रूप का अस्तित्व नष्ट हो जाता है ? इस विषय के एक विद्वान् से चर्चा होने पर उन्होंने कहा था, वस्तुतः फूल का वह रूप उस दशा में नष्ट होजाता है, नहीं रहता। क्या आधुनिक विज्ञान की वस्तुतः यही मान्यता है ? यदि ऐसी बात है, तो प्रकाश के अभाव में क्या वस्तु का भी नाश मानना होगा ? क्या न दीखने की दशा में देखनेवाले की आंख को भी समाप्त मानना होगा ? यह स्थिति गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

वस्तुतः प्रकाश सदा शुक्लरूपयुक्त है। देखने का साधन चक्षु इन्द्रिय किसी भी वस्तु को देखने के लिये प्रकाश की अपेक्षा रखता है। चक्षु रूप एवं रूपयुक्त वस्तु को देखसकता है। जब प्रकाश नहीं है, घोर अन्धेरा है, हाथ को हाथ नहीं सूझता; तब भी त्वक् इन्द्रिय के द्वारा वस्तु को स्पर्शकर पहचाना जासकता है; शब्द को श्रोत्र इन्द्रिय से सुनाजासकता है; रसन इन्द्रिय से स्वाद चखाजासकता है। इसका अभिप्राय है, प्रकाश का सहयोग केवल चक्षु इन्द्रिय द्वारा रूप तथा रूपयुक्त पदार्थ को देखने में होता है। इस रीति पर प्रकाश रूप का स्रोत है।

भारतीय दर्शन की मान्यता है, कि रूप का उद्भव सर्वप्रथम तेजस् द्रव्य द्वारा होता है। तेजस् द्रव्य सदा एकरूप युक्त इसीलिये रहना चाहिये, क्योंकि वहां सब रूप सम्मिलित रहते हैं, और उस सम्मिलन को किसी प्रकार विशृंखलित नहीं कियाजासकता। जैसा पहले कहा गया, समस्त वस्तुरूप पदार्थ पृथिवी-जल-तेज-वायु एवं इनके किसी प्रकार के विकाररूप में उपलब्ध होते हैं, जो जगह को घेरते हैं। जगह घेरनेवाला कोई पदार्थ इनसे अतिरिक्त नहीं है। सर्वप्रथम तेजस् द्रव्य में उद्भूत रूप का पृथिवी तक पहुंचना समझने के लिये इन पदार्थों के मूलतत्त्वों की ओर दृष्टिपात करना होगा।

पृथिवी में सात रूप—दर्शन के उच्चस्तरीय चिन्तन में पहुंच कर इस

भावना को प्रायः सब ओर से मान्यता प्राप्त रही है, कि कोई वस्तु जब अपने व्यक्तित्व में उद्भूत होती है, उससे पूर्व भी उसका अव्यक्त अथवा अनभिव्यक्त अस्तित्व रहता है। सर्वात्मना असत् का कभी सद्भाव संभव नहीं। तेजस् द्रव्य के उद्भव में आने पर जब रूप वहां प्रकाश में आता है, तब इसका तात्पर्य है, वह अपने मूल उपादान तत्त्वों से यथाक्रम यात्रा करता हुआ यहां आपहुंचा है। तेजस् और पृथिवी के उपादान तत्त्वों में से अनेक उपादान तत्त्व प्रत्येक में समान हैं। उन्हीं तत्त्वों से इन पदार्थों में रूप का उद्भव होता है। पृथिवी पदार्थ के प्रत्येक कण में उपयुक्त अनुपात से उन तत्त्वों का समावेश ठीक उसीप्रकार नहीं होता, जैसा तेजस् द्रव्य के कण में होता है। तेजस् में उपादान तत्त्वों के अनुपात के अनुरूप समस्त रूप व्यवस्थित क्रम से समवेत रहते हैं; परन्तु पृथिवी की रचना में वैसा अनुपात नहीं रहता, कि सर्वत्र समस्त रूपों का व्यवस्थित क्रम उद्भव में आये। जहां ऐसा होता है, वहां तेजस् के समान शुक्ल रूप अभिव्यक्ति में आयेगा। जैसे कपास का फोला। कपास के फोले में भी मूल उपादान तत्त्वों के विपर्यास से रूपान्तर होजाता है। समस्त वनस्पति जगत्—जो पूर्वोक्त पदार्थ की चार विधाओं का विकार है, विविध रूपों का आधार इसी कारण है। प्रत्येक पत्ते और फूल की पंखुड़ियों के विविध रूप उनके उपादान तत्त्वों के कारण हैं। प्रकाश केवल उनके देखने में चक्षु-साधन का सहयोगी होता है, इनके रूप का न उपादान है, न प्रयोजक।

पृथिवी-रूपों का निर्दिष्ट क्रम—वैशेषिक के प्रक्रिया-ग्रन्थों में पृथिवी के सात रूपों का जिस क्रम से उल्लेख रहता है, उसमें रूप गुणसम्बन्धी कुछ अन्तर्हित रहस्य की झलक प्रतीत होती है। क्रम है—शुक्ल, रक्त, हरित, नील, पीत, कपिश, चित्र। गत पंक्तियों में आधुनिक विज्ञान निर्दिष्ट रूप विषयक मिश्रण विधि के निर्देश से स्पष्ट है, प्राथमिक तीन रूपों के आनुपातिक मिश्रण से अन्य विविध रूपों की प्रतीति हुआ करती है। जहां सब प्राथमिक रूप मिल जाते हैं, तब सफेद रूप प्रतीत होता है। क्योंकि समस्त रूपों का सर्वप्रथम उद्भव तेजस् तत्त्व में होता है, इसलिये तेजस् तत्त्व प्रकाशरूप से सदा श्वेत प्रतीत होता है। इसी कारण उक्त क्रम में सबसे पहले 'श्वेत' रूप का निर्देश है। वह श्वेत जिन प्राथमिक रूपों के समवाय–परस्पर मिथुनीभाव–से उभरता है, उनका निर्देश आगे किया गया—रक्त,हरित, नील। रक्त-हरित के मेल से पीत बनता है, अतः उनके आगे 'पीत' का निर्देश है। लाल और नीले को मिलाने से मजेंटा [मटियाला सा] रूप बनता है, उसको आगे 'कपिश' पद से निर्दिष्ट किया है। यह दिशा-मात्र बताकर अन्त में विविध रूपों के मेल से जो विभिन्न प्रकार के रूपों की

प्रतीति होती है, उसे 'चित्र' पद द्वारा अभिव्यक्त किया है।

विविध रूपों को वैशेषिक द्वारा पृथिवी में समवेत बताने का आधार अनुभव-मूलक व्यवहार है। यह तथ्य अनेकत्र स्पष्ट कर दिया गया है, कि कणाद का तत्त्व-विवेचन सर्गरचनाक्रम के उस स्तर से प्रारम्भ किया गया है, जिसमें प्राणी सांस ले रहा है। मानव तथा अन्य जीव-जगत् सीधा जिस वातावरण में रह रहा है, उसीको लक्ष्य बनाकर वैशेषिक का विवरण है। प्राणी पृथिवी, जल, तेज, वायु से घिरा है। उसके सब ओर प्रत्यक्ष में यही तत्त्व हैं। जगत् की इस स्थिति का जैसा अनुभव होता है, वैशेषिक के तत्त्व-विवेचन में वह एक मान्य आधार है।

उस अनुभव को भ्रान्तिपूर्ण समझना तथ्य न होगा। पार्थिव विकारों में रूप का अस्तित्व कारणगत विशेषताओं से ही उभार में आता है। प्रकाशनिष्ठ रूप को ही विभिन्न पदार्थों में प्रतीत होने की आधुनिक विज्ञान-निर्दिष्ट पद्धति नितान्त क्लिष्ट कल्पना है। वैशेषिक का पृथिवीगत रूप विषयक विवरण प्रत्यक्ष अनुभव के सर्वथा अनुकूल है।

सुवर्णादि धातु और पञ्चभूत—वैशेषिक शास्त्र की मान्यता है, कि समस्त जगत् की उत्पत्ति पांच भूतों अथवा चार प्रकार के परमाणुओं से होती है। इसलिये यह जगत् पाञ्चभौतिक अथवा चातुर्भौतिक है। आधुनिक तत्त्वविदों का कहना है, कि वैशेषिक की यह मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि अनेक पदार्थ ऐसे हैं, जिनमें पृथिव्यादि भूतों का कोई अंश नहीं है। उदाहरण के लिये सुवर्ण को लीजिये, इसका विश्लेषण करने पर अन्तिम कण तक यह केवल सुवर्ण है, इसमें अन्य किसी भूत आदि का कोई अंश या संमिश्रण उपलब्ध नहीं होता।

आधुनिक तत्त्वविदों का ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं है, पर सुवर्ण में पृथिवी आदि भूतों की तलाश करना ऐसा ही है, जैसे कपास के फोले में कुर्त्ते का ढूंढना। सर्ग-रचना के जिस स्तर पर सुवर्ण का क्रम आता है, उसके अनन्तर पृथिवी आदि के अणु-कणों की रचना होती है। आधुनिक विज्ञान-संमत ऐलीमेन्ट [Element -तन्मात्र] की रचना के अनन्तर पृथिवी आदि की रचना का क्रम आता है। सुवर्ण एक ऐलीमैन्ट है। उसमें पृथिवी आदि भूत का तलाश करना बेकार है।

इस सन्दर्भ में यह अवश्य विचारणीय है, कि सुवर्णादि धातुओं का अन्तर्भाव वैशेषिक द्वारा तैजस पदार्थों में मानेजाने का आधार क्या होसकता है? जगह घेरने वाले सब पदार्थों को वैशेषिक शास्त्र चार वर्गों में विभक्त करता है पृथिवी, जल, तेज, वायु, अति स्थूल पदार्थ पृथिवी वर्ग में, तरल जल वर्ग में, ज्वलनशील तेजस् वर्ग में तथा गैसिज् को वायु वर्ग में माना है। स्थूल पदार्थों में से धातु समुदाय को तैजस वर्ग में गिना गया है। ऐसा क्यों माना गया? इसका उपपादन

निम्न प्रकार संभव है।

विभिन्न पदार्थों से अग्नि का संपर्क होने पर सब जगह ताप का प्रभाव समान नहीं होता। विभिन्न पदार्थों में ताप के प्रभाव व गति के आधार पर पदार्थ दो भागों में बंट गये है। एक-कुचालक-Bad conductor दूसरा-सुचालक-Good conductor। काष्ठ आदि पदार्थ कुचालक हैं, अग्नि का संपर्क होने पर ताप को आगे बढ़ने से रोकते हैं। ताप की गति में बाधा उपस्थित करने से काष्ठ आदि का तेजस् से विजातीय होना प्रकट होता है। धातुवर्ग इससे विपरीत हैं, अर्थात् ताप का सुचालक है। सुवर्णादि धातु-पिण्ड या छड़ के एक भाग से तेजस् का संपर्क होने पर समस्त धातुपिण्ड आदि में ताप का संचार होजाता है। इससे धातुवर्ग ताप को अनुकूलता से चालित कर देने के कारण उसका सजातीय प्रमाणित होता है।

धातुवर्ग का तैजस-सजातीय होने में यह भी एक उपोद्बलक है, कि धातुवर्ग में ताप के अन्तर्भुक्त करने की शक्ति भी कम होती है। अधात् पदार्थ भिन्नजातीय होने से ताप को अधिक अन्तर्भुक्त करलेता है। एक यूनिट ताप के संपर्क से जल में या काष्ठ आदि में जो टैम्प्रेचर होगा, उतने ही ताप से धातु में कई गुना अधिक टैम्प्रेचर होगा। यह स्थिति धातु समुदाय को तैजस वर्ग में माने जाने के लिये बाधित करती है।

पञ्चतत्त्व अथवा पञ्चभूत—गत पंक्तियों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया, कि मूलभूत पञ्चतत्त्वों की मान्यता का वास्तविक आधार क्या है। जगद्रचना की यात्रा में संलग्न तत्त्वों के मूलस्थान एवं मूलरूप को खोजने के लिये अति प्राचीन काल से मानव द्वारा महान एवं सफल प्रयत्न होते रहे हैं। चिन्तनशील मानव ने उसकी जानकारी के लिये स्थूल जगत् से प्रतियात्रा प्रारम्भ की। कतिपय तत्त्वविद् मनीषियों ने लोककल्याण की भावना से जनसाधारण की ज्ञानग्रहण क्षमता का विचार करते हुए तत्त्वों की सर्वाधिक स्थूल स्थिति के प्रथम कण से जगत् की व्याख्या करने का सत्प्रयास किया। उन्होंने पृथिवी, जल, तेज, वायु के प्रथम कणों को मूलतत्त्व मानकर जो जगद्रचना-प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत किया है, उसका यह कारण नहीं है, कि वे तत्त्ववेत्ता मनीषी उस काल में उतना ही जानपाये थे, अथवा उनका इतना जान लेना भी उस अन्धकारमय या अज्ञानमय काल में बहुत महत्त्व रखता था, जबकि आज का केवल भौतिक वादी अहंमन्य मानव उनपर दया दिखाने की दृष्टि से उनके सत्प्रयासों को उक्त आधारों पर बढ़ावा देकर उनको उपहास का विषय बनाना चाहता है।

विचारपूर्वक देखा जाय तो उक्त रूप में उनके तत्त्व-विवेचन का मुख्य

आधार यही है, कि इस जगद्रचना के लिये मूलतत्त्व-यात्रा की लम्बी परम्परा के उतने ही अंश का विवरण उक्त आचार्यों ने उन तत्त्वज्ञानार्थी अधिकारियों की दृष्टि से प्रस्तुत किया, जो प्रारम्भिक स्तर पर वहीं तक जाने की क्षमता रखते थे। आगे कदम बढ़ाने का उन्होंने किसीको निषेध नहीं किया। वे तत्त्वों की वास्तविक स्थिति को जानते थे, उन्होंने ज्ञानपूर्वक ऐसा किया है, अज्ञानवश नहीं। उन मनीषियों का वह काल न अन्धकारमय था न अज्ञानमय। प्रत्येक दिशा में उनकी सतर्कता अनुकरणीय रही है, यह उनकी कृतियों से स्पष्ट है। निर्मूल विरोधी भावनाओं से रहित कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति उन क्रान्तदर्शी मनीषियों के अगाध ज्ञानाब्धि के अनुपम रत्नों का अवलोकन करसकता है।

कणाद गौतम के पञ्चतत्त्वप्रतिपादन का आधार—जिज्ञासु की योग्यता के अनुरूप शास्त्रीय अर्थ का प्रतिपादन उपयोगी होता है, इस भावना से प्रेरित होकर कणाद और गौतम ने अपने शास्त्रों का प्रवचन किया। इन शास्त्रों में प्रतिपाद्य विषय के क्षेत्र को व्यक्त जगत् के एक विशिष्ट अंश तक सीमित रक्खा गया है। इसीलिये गौतम ने व्यक्त जगत् की उत्पत्ति व्यक्त कारण से स्वीकार की है[1]। वात्स्यायन मुनि ने उस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—भूत कहे जाने वाले व्यक्त, परमसूक्ष्म पृथिवी आदि [पृथिवी के परमाणुरूप आद्य कण] से शरीर आदि अन्य व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होते हैं। जो इन्द्रियों से जाना जाता है वह व्यक्त है, उसके समान होने से उसका कारण भी व्यक्त है। दोनों में समानता क्या है? रूप आदि गुणों का योग। रूप आदि गुणों से युक्त नित्य पृथिवी [परमाणु] आदि से रूपादि-गुणयुक्त शरीर एवं अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है, कि रूपादिगुणयुक्त जैसी मिट्टी होती है, वैसा ही घड़ा आदि द्रव्य उससे बनता है। इसीके अनुसार न देखे हुए का अनुमान कर लिया जाता है। मूल उपादान और उसके विकार में रूप आदि का अन्वय देखे जाने से अतीन्द्रिय पृथिवी [पृथिवी तत्त्व के परमाणुरूप आद्य कण] आदि की कारणता का अनुमान हो जाता है।

इस विवरण से स्पष्ट है, यह स्थूल जगत् जिस रूप में दीखता है, कणाद आदि आचार्यों ने उसीके आधार पर इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं, कि इस स्थूल दृश्यमान पृथिवी के पीछे छोटे से छोटा पृथिवी का कण विद्यमान है। यह ऐसा ही स्वीकृत संमान्य मूलतत्त्व है, जैसे आधुनिक रसायन शास्त्र में एलीमैन्ट का कण। उस कण की रचना कैसे हुई है, इस विषय

१—द्रष्टव्य, गौतमीय न्यायसूत्र—'व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' [४।१। ११]।

को कणाद ने अपने शास्त्र की सीमा में नहीं लिया। जैसे रसायनशास्त्र ऐलीमैन्ट के कण की रचना का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, उसीको मूल मानकर आगे का विवेचन करता है। इस कारण दृश्यमान चारों भूततत्त्वों के परमसूक्ष्म कणों को ही जगत् का मूल मानकर कणाद ने उसके आगे का जगद्रचनाविषयक विवरण प्रस्तुत किया है। उसे इस विवेचन से कोई प्रयोजन नहीं, कि उन कणों की रचना कैसे होती है। इसी कारण उन्हें नित्य मान लिया गया है। फलस्वरूप यह समझना निराधार होगा, कि इससे आगे उन तत्त्वों के विषय में उन आचार्यों को जानकारी न थी, वस्तुतः ऐसा कहने या समझने वाले अपनी जानकारी का दिवालियापन ही प्रकट करते हैं।

जिन महान पारदर्शी तत्त्वविद् मनीषियों ने अथक परिश्रम एवं दिव्य मेधा के द्वारा उन गहन-गम्भीर अचिन्तनीय विषयों का विवेचन किया, संसार-अरण्य में भटकते मानव के लिये यथार्थ का पथ प्रशस्त किया, केवल लोक-कल्याण की भावना से जिन्होंने अपना स्पृहणीय जीवन ऐसे सत्प्रयासों के लिये अर्पण किया है, वे चाहे प्राचीन हैं या नवीन, हमारे लिये सभी वन्दनीय हैं। प्रायः देखा यह जाता है, कि पल्लवग्राहीपाण्डित्य के गर्वपूर्ण पचड़े में पड़े विद्वन्मन्य विभिन्न विज्ञानों के वास्तविक विवेच्य स्तर को जाने बिना प्राचीन-अर्वाचीन पदार्थविज्ञान के संघर्ष में फंसे रहते हैं। यथार्थता तक पहुंचने में यही बाधा सदा उनके सामने पिशाची बनी आतंकित करती रहती है।

वैशेषिक का 'विशेष' नामक पदार्थ

प्रत्येक कार्य द्रव्य अन्य कार्य से भिन्न है, वैशेषिक शास्त्र में इस व्यवस्था का नियामक उस कार्य के अपने कारण-अवयवों को माना जाता है। किन्हीं नियत कारण-अवयवों से कोई कार्य उत्पन्न होता है। अन्य कार्य किन्हीं अन्य नियत-अवयवों से उत्पन्न होगा। तात्पर्य है—प्रत्येक कार्य का अन्य कार्य से भिन्न होने का नियामक उसका अवयव-भेद है। उन्हीं नियत अवयवों से कोई दो भिन्न कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। यह व्यवस्था उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म द्व्यणुक द्रव्य से लगाकर महत् द्रव्य पर्यन्त सर्वत्र लागू रहती है।

कार्य द्रव्य के लिये यह व्यवस्था ठीक है, परन्तु जो कार्य द्रव्य नहीं हैं, उनके लिये क्या व्यवस्था होगी? यह ज्ञातव्य है। वैशेषिक के अनुसार नौ द्रव्यों में आकाश, काल, दिशा, आत्मा मन ये नित्य द्रव्य हैं। पृथिवी, जल, तेज वायु नित्य भी हैं, और अनित्य भी। इनमें कार्यपृथिवी आदि अनित्य हैं, तथा परमाणुरूप पृथिवी आदि नित्य हैं। अनित्य द्रव्यों में अवयवभेद के समान कहीं गुण और क्रिया भी तदाश्रय

द्रव्यके अन्य द्रव्योंसे-भेदक मानेजाते हैं। नित्य द्रव्यों में भी आकाश के लिये शब्द गुण को द्रव्यान्तरों से भेदक कहा जा सकता है, परन्तु सर्वत्र यह व्यवस्था संभव नहीं। अतः नित्य द्रव्यों में भेदकरूप से अवयवभेद की सर्वथा असंभावना होने पर वहां एक ऐसे पदार्थ की कल्पना कीगई है, जो उन समस्त प्रत्येक अनन्त नित्य पदार्थ में समवेत रहता है। प्रत्येक पदार्थ में एक विशेष रहने से विशेष भी अनन्त हैं। वह विशेष स्वरूपेण स्वतः अन्य सब पदार्थों से भिन्न रहता है, उसका स्वरूप ही भेदक माना गया है, अतः उसके आगे अन्य किसी भेदक की कल्पना अनावश्यक है। इसीलिये इसे 'अन्त्य' कहा जाता है, सबसे अन्त में रहने वाला।

विचारणीय है, इसप्रकार के 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करना कहां तक अपेक्षित व साधार है। जो बात विशेष नामक पदार्थ के स्वरूप के विषय में कही जाती है, वही उसके आश्रय-द्रव्य के विषय में क्यों नहीं हो सकती। प्रत्येक नित्य द्रव्य का अपना स्वतः एकमात्र व्यक्तित्व है, वह व्यक्तित्व अन्य कोई नहीं। उसका व्यक्तित्व ही उसको अन्य समस्त से भिन्न रखता है। ऐसा व्यक्तित्व अनित्य द्रव्य में संभव नहीं, क्योंकि प्रत्येक अनित्य द्रव्य अनेक अवयवों के सहयोग से बनता है। वहां स्व-तन्त्र एकमात्र व्यक्तित्व नहीं है। अतः वहां अवयवभेद को अन्य से द्रव्य का भेदक मानना आवश्यक है। इसके विपरीत स्व-तन्त्र व्यक्तित्व केवल नित्य द्रव्यों में संभव है। इसलिये नित्य द्रव्य का अपना एकमात्र व्यक्तित्व ही उसको अन्य समस्त से भिन्न रख सकता है। वहां अन्य 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना करना अनपेक्षित है। अथवा यह कहाजासकता है, कि नित्य द्रव्य के अपने एकमात्र व्यक्तित्व से अतिरिक्त 'विशेष' नामक कोई पदार्थ नहीं है।

संभव है, 'विशेष' नामक पदार्थ की कल्पना के मूल में यह भावना रही हो, कि वस्तुगत्या पृथिवी आदि का आद्यकण परमाणु यद्यपि अन्य मूल तत्त्वों से उद्भव में आता है; फिर भी उस स्थिति को यहां–सीमित स्तर तक पदार्थ-विवेचना की भावना से—अन्तर्हित रख परमाणु को नित्य व मूलतत्त्व मानलिया-गया है। इस व्यवस्था को निर्बाध रखने के लिये आवश्यक है, कि प्रत्येक परमाणु में परस्पर व्यवच्छेद का नियमन हो। उसीके लिये 'विशेष' नामक पदार्थ को स्वीकार कियागया।

वैशेषिक का 'इन्द्रिय' विषयक विचार

सांख्य वेदान्त आदि अन्य भारतीय दर्शन तथा शेष प्रायः समस्त वाङ्मय में इन्द्रियों की संख्या ग्यारह बताई जाती है। इसके दो भेद हैं–बाह्य इन्द्रिय तथा आन्तर इन्द्रिय। आन्तर इन्द्रिय के विषय में सभी का ऐकमत्य है। वह आन्तर

इन्द्रिय 'मन' है। बाह्य इन्द्रियों को दो वर्ग में रक्खा गया है—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रिय पांच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् श्रोत्र। कर्मेन्द्रिय भी पांच हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, इन सब इन्द्रियों के अपने पृथक् कार्य हैं, अथवा कहना चाहिये, इनका उपयोग एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् कार्य के लिये होता है, इसलिये बाह्य इन्द्रियों की दस संख्या अपरिहार्य है। विविध साहित्य में रूप से इनका उल्लेख उपलब्ध होता है।[1]

यद्यपि भारतीय विविध-विषयक साहित्य में ग्यारह इन्द्रियों का उल्लेख उपलब्ध होता है, परन्तु अनेकत्र छह इन्द्रियों का भी उल्लेख पाया जाता है। गीता [१५।७,९] में 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' पदों द्वारा स्पष्ट रूप से छह इन्द्रियों का उल्लेख है। वे छह इन्द्रियां कौन-सी हैं, यह इसीके आगे नवम श्लोक में स्पष्ट किया है। उनका नाम लिखा है—श्रोत्र, चक्षु, स्पर्शन [त्वक्], रसन, घ्राण और मन। इनमें पहली पांच बाह्येन्द्रिय और छठा मन आन्तर इन्द्रिय है। इसीप्रकार महाभारत में अन्यत्र[2] भी इन्द्रियों की छह संख्या का निर्देश देखा जाता है।

संभवतः पौराणिक साहित्य का एक श्लोक छात्रावस्था से स्मरण है—

वने ऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
जितेन्द्रियाणां स्वगृहं तपोवनम्॥

ऐसे प्रसंगों में वस्तुतः पांच इन्द्रियों का उल्लेख ज्ञान-साधन की भावना से किया जाता है। वैशेषिक एवं न्याय का इन्द्रियविषयक विचार ज्ञान के साधन रूप में ही हुआ है। पांच बाह्य विषयों का ग्रहण करने के लिये बाह्य साधन पांच इन्द्रिय हैं। प्रमाणों की प्रवृत्ति में इन्हींका उपयोग होता है। इनके साथ आन्तर इन्द्रिय मन है। अतः प्रकरणानुकूल होने के कारण इन दर्शनों में केवल छह इन्द्रियों का उपपादन हुआ है। अन्य के निषेध या अभाव में इसका तात्पर्य नहीं है।

१. सांख्यसूत्र, २।१९॥ सांख्यसप्तति, ३३॥ मनुस्मृति, २।८९–९२॥ प्रश्नोपनिषद्, ४।८॥ बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।५।१२॥
२. 'चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि' म. भा उद्योग पर्व, ३६।४८॥ गोरखपुर-संस्करण।

पानी का जमना

वैशेषिक सूत्र [५।२।८] में जलों के संघात और विलयन का उल्लेख है। नैसर्गिक स्थिति के अनुकूल जलों की उपलब्धि तरल-रूप में होती है। सूत्रकार ने स्वयं इसका निर्देश किया।[1] इसके विपरीत जलों को बरफ या ओले आदि के रूप में पत्थर के समान कठोर जमा हुआ भी पायाजाता है। जिज्ञासा होती है, स्वभावतः तरल जल जम कैसे जाता है ?

मानव द्वारा अपनी प्रतिभा से उद्भावित आधुनिक विज्ञानमूलक उपाय जल को जमाने का इसप्रकार बतायाजाता है। उपयुक्त बन्द बृहत् पात्रों में जलों को भरकर उनके मध्य में नलियों द्वारा अमोनिया गैस को गुजारा जाता है। यान्त्रिक विधि से अमोनिया गैस पर जब धीरे-धीरे दबाव बढ़ता है, तब उसमें उत्तरोत्तर शीताधिक्य बढ़ता जाता है। शीत के उपयुक्त स्तर पर आने की दशा में पानी की तरलता तिरोहित होजाती है, और वह कुछ काल में ठोस जमजाता है। इसी-प्रकार के अन्य उपाय भी यान्त्रिक विधियों द्वारा इस कार्य के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं। मानव द्वारा उद्भावित ये कृत्रिम उपाय हैं। देखना चाहिये, प्राकृतिक अवस्थाओं में यह कैसे होता है ? जहां पृथिवी और अन्तरिक्ष में विशाल समुद्र जैसे जमे देखे जाते हैं।

जलों का नैसर्गिक तरलभाव उनमें अनुकूल ताप के सहयोग से रहता है। उसमें थोड़ी-बहुत न्यूनाधिकता होने पर जल केवल न्यूनाधिक शीत व उष्ण प्रतीत होते हैं। यदि जलों में तीव्र ताप का सहयोग होगा, तो वे वाष्प के रूप में चले जायेंगे, तथा पुनः अनुकूल वातावरण पाकर अपने उसी नैसर्गिकरूपमें आ-जायेंगे। इसके विपरीत यदि अत्युग्र शीत के सहयोग से जलों की तरलता के अनुकूल ताप को अन्तर्हित कर दिया जायगा, तो तरलता भी अन्तर्हित होकर काठिन्य के उद्भव को अवसर मिलजायेगा। अन्तरिक्ष या पृथिवी पर जहां उतने स्तर का शीताधिक्य प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार होजाता है, वहां जलों का तरलभाव अन्तर्हित होकर काठिन्य उभर आता है। यह केवल नैमित्तिक है। उस अनुकूल ताप के प्रतिरोधी निमित्तों के न रहने पर जल पुनः तरलभाव को ग्रहण करलेते हैं।

जलविषयक इस विवरण को अभिव्यक्त करने के लिये सूत्रकार ने यह सूत्र लिखा है—

अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात् ।

१. रूपरसस्पर्शवत्य आपोद्रवाः स्निग्धाः, २।१।२॥

सूत्र में जलों के संघात [जमना] और विलयन [द्रवीभाव] दोनों के लिये 'तेजःसंयोग' एक ही निमित्त बताया है। यह संभव है, दोनों कार्यों के लिये 'तेजःसंयोग' परस्पर विलक्षण हों; जिससे दो विपरीत कार्यों के सम्पादन में सुविधा व अनुकूलता बनी रहे। प्रायः सभी व्याख्याकारों ने संघात और विलयन दोनों कार्यों के लिये 'तेजःसंयोग' को निमित्त माना है।

इस विषय में केवल एक व्याख्याकार चन्द्रकान्त भट्टाचार्य का सुझाव है, कि सूत्र को दो भाग में पढ़ना चाहिये। एक–'अपां संघातः'। दूसरा–'विलयनं च तेजःसंयोगात्'। पहले भाग के साथ 'शीताधिक्य' कारण का आक्षेप कर जलों के संघात का उसे कारण मानना चाहिये। विलयन का कारण 'तेजःसंयोग' सूत्र-पठित है। कृत्रिम उपायों से वातावरण को अधिक शीत बनाने में 'तेजःसंयोग' का उपयोग होना संभव है; और इस आधार पर संघात के लिये भी 'तेजःसंयोग' को निमित्तता की सीमा में लाया जा सकता है।

द्वितीय परिशिष्ट समाप्त।
इति श्री **उदयवीर–शास्त्रिणा** समुन्नीतस्य
वैशेषिकसूत्रभाष्यस्याऽनन्तरं संलग्नं
परिशिष्टद्वयं पूर्णतामगात्।

सूत्र–सूची

(अकारादिक्रमानुसार)

ह

विषय-निर्देशिका

(अकारादिक्रमानुसार)

आ

इ

ग

ह



ग्रन्थ-संकेत सूची

यजु०	यजुर्वेद
वा०	वार्त्तिक
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सं०	संवत् (विक्रमी)
सां० सू०	सांख्यसूत्र
साम०	सामवेद
सू०	सूत्र

ग्रन्थ-संकेत सूची

यजु०	यजुर्वेद
वा०	वार्त्तिक
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सं०	संवत् (विक्रमी)
सां० सू०	सांख्यसूत्र
साम०	सामवेद
सू०	सूत्र